हिन्दी-समिति-ग्रन्थमाला—३०

उद्योग और रसायन

WHAT INDUSTRY OWES TO
CHEMICAL SCIENCE

का

भाषानुवाद

अनुवादक
गोरखप्रसाद श्रीवास्तव, एम० फार्म०, पी-एच० डी०
रीडर, फ़ार्मास्युटिक्स विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

प्रकाशन शाखा, सूचना विभाग
उत्तर प्रदेश

प्रकाशकीय

उत्तर प्रदेश प्रशासन ने राष्ट्रभाषा हिन्दी के वाङमय की गौरव-वृद्धि और उसके विविध अंगों की सम्पूर्ति के लिए हिन्दी समिति के तत्त्वावधान में जो योजना परिचालित की थी, उसके अन्तर्गत अभी तक २९ ग्रन्थ प्रकाशित किये जा चुके हैं। इनमें ज्योतिष के २, ललित कला सम्बन्धी ३, शिकार सम्बन्धी १, कोश ३, साहित्य के २, गणित विषयक १, दर्शन के ४, राजनीति के ३, भाषा-विज्ञान विषयक १, धर्म और संस्कृति के २, तथा विज्ञान के ६ ग्रन्थ निकले हैं। विद्वानों तथा हिन्दी-प्रेमियों ने इनका अच्छा स्वागत किया है जिससे हमें यथेष्ट बल और प्रोत्साहन प्राप्त हुआ है। अन्यान्य विषयों के ग्रन्थ भी प्रकाशन के लिए प्राप्त हो चुके हैं और कितने ही इस समय लिखाये जा रहे हैं। इस कार्य में हमें अनेक सुविज्ञ और कुशल लेखकों तथा सुनिष्णात अनुवादकों का सहयोग प्राप्त हो गया है जिससे हमें आशा है कि हम उत्तरोत्तर प्रगति करते हुए अधिक क्षिप्रता से आगे बढ़ सकेंगे।

प्रस्तुत पुस्तक हिन्दी-समिति-ग्रन्थमाला का तीसवाँ पुष्प है। यह अंग्रेजी ग्रन्थ 'व्हाट इण्डस्ट्री ओज टु केमिकल साइन्स' का हिन्दी अनुवाद है। इसमें अपने अपने विषय के सुख्यात लेखकों की ऐसी महत्त्वपूर्ण रचनाएँ संगृहीत हैं जिनमें यह दिखलाया गया है कि संसार के विभिन्न उद्योगों की आज की आश्चर्यजनक प्रगति में रसायनज्ञों और रसायन-विज्ञान का भी काफी हाथ रहा है। विज्ञान ने आधुनिक जीवन में कितना परिवर्तन कर दिया है, इसका धूमिल सा ज्ञान तो सामान्य मनुष्यों को भी है किन्तु उर्वरकों, खाद्यान्नों, दुग्ध-पदार्थों, तेल, चीनी, कागज, मुद्रण-कला, रोशनाई, साबुन, क्रीम, धुलाई-उद्योग, दवाओं के निर्माण, वस्त्रोद्योग, चर्मोद्योग, मृत्तिका-उद्योग तथा रेलों, जहाजों आदि सम्बन्धी उद्योगों की समुन्नति में रसायन-विज्ञान ने कितनी महत्त्वपूर्ण सहायता की है, इसकी यथेष्ट जानकारी हमारे सुशिक्षित वर्ग को भी नहीं है। इस पुस्तक के पढ़ने से उनके ज्ञान का विस्तार तो होगा ही, साथ ही वे अनुभव करने लगेंगे कि देश की औद्योगिक प्रगति के लिए प्रशिक्षित रसायनज्ञों की संख्या में शीघ्र वृद्धि होना आवश्यक है। कोई भी बड़ा कारखाना या उद्योग तब तक सफल नहीं हो सकता जब तक उसके कर्मचारियों में दो-चार-दस रसायनज्ञ न हों। छोटे उद्योगों या संस्थाओं को भी एकाध ऐसे कर्मचारी की आवश्यकता होगी ही जिससे परामर्श कर वे

अलाभकर बातों से अपने को बचाते हुए सफलता की ओर अग्रसर हो सकें। इससे स्पष्ट है कि कोरे एम० ए०, बी० ए० बनने का प्रयत्न करने के बजाय हमारे युवकों को विज्ञान के, विशेषकर रसायन-विज्ञान के, तथा प्राविधिक विषयों के अध्ययन की ओर झुकना चाहिए। इस दिशा में उनके लिए अभी पर्याप्त क्षेत्र पड़ा हुआ है।

पुस्तक का हिन्दी अनुवाद काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के प्राध्यापक डाक्टर गोरख प्रसाद श्रीवास्तवने किया है। आप फार्मास्युटिक्स (भैषजिकी) के अच्छे विद्वान् हैं और हिन्दी में भी विशेष रुचि रखते हैं। आपने ४–५ वैज्ञानिक पुस्तकों की रचना की है और भेषजी पत्रिका का सम्पादन भी आप कई वर्षों तक कर चुके हैं। आपने मूल लेखों का भाव हिन्दी में ठीक ठीक ले आने का भरपूर प्रयत्न किया है। आपके लिखने का ढंग सीधा-सादा और सरल है तथा अनुवाद की भाषा भी यथासंभव सुबोध ही रखने की चेष्टा की गयी है। आशा है, हिन्दी के पाठक और उद्योग-विस्तार में लगे हुए लोग इस पुस्तक को पढ़कर यथेष्ट लाभान्वित होंगे।

भगवतीशरण सिंह
सचिव हिन्दी समिति

अनुवादक के दो शब्द

'उद्योग और रसायन' रॉयल इन्स्टिट्यूट ऑफ केमिस्ट्री, लन्दन के तत्त्वावधान में प्रकाशित 'WHAT INDUSTRY OWES TO CHEMICAL SCIENCE' नामक ग्रन्थ के तृतीय संस्करण का भाषानुवाद है। इस कार्य का सुझाव उत्तर प्रदेश सरकार की 'हिन्दी समिति' ने दिया था। मुझे प्रसन्नता है कि मैं इसे पूरा कर सका और अब यह उसी की ओर से प्रकाशित हो रहा है।

इस ग्रन्थ में अपने अपने विषय के विशिष्ट एवं धुरन्धर लेखकों के ५० से ऊपर लेख हैं, जिनमें विविध उद्योगों में रासायनिक योगदान का बड़ा सुन्दर चित्रण किया गया है। इन्हीं लेखों को हिन्दी में प्रस्तुत करने की चेष्टा की गयी है। सम्प्रति हमारे देश में वैज्ञानिक हिन्दी का अभिनव विकास हो रहा है, इसमें पारिभाषिक शब्दावली एवं भाषा की शैली का बड़ा भारी प्रश्न है। मेरे विचार से वैज्ञानिक हिन्दी की चार प्रमुख आवश्यकताएं हैं—(१) भाषा स्पष्ट तथा सुतथ्य होनी चाहिए, (२) उसकी प्रकृति और उसका सौन्दर्य बना रहना चाहिए, (३) भाषा दुरूह नहीं सुबोध होनी चाहिए और (४) विज्ञान के हिन्दीकरण से हमें अन्तरराष्ट्रीय वैज्ञानिक क्षेत्र से एकलित न हो जाना चाहिए। इन चारों बातों का समन्वय कठिन किन्तु परमावश्यक है। इनकी पूर्ति के लिए हिन्दी भाषा की मर्यादा की रक्षा करते हुए उसमें नयी नयी वैज्ञानिक अभिव्यक्तियों एवं अनेक विदेशी शब्दों को खपाना होगा। यही हमारी आज की समस्या है और इसी का हल हमारा ध्येय।

प्रस्तुत कार्य उपर्युक्त ध्येय की पूर्ति में एक लघु प्रयास है। पारिभाषिक शब्दों के लिए भारत सरकार द्वारा प्रकाशित शब्दावलियों को मानक मानकर यथासंभव जो शब्द उनमें मिले हैं उन्हीं का प्रयोग किया गया है। शेष शब्दों के लिए आचार्य रघुवीर कृत 'आंग्ल-हिन्दी महाकोष', भारतीय हिन्दी परिषद, प्रयाग द्वारा प्रकाशित 'अंग्रेजी-हिन्दी वैज्ञानिक कोष' तथा नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित पुरानी शब्दावली एवं उसके 'संक्षिप्त शब्द-सागर' का आश्रय ग्रहण किया गया है। अंग्रेजी भाषा के अपनाये गये शब्दों को छोड़कर हिन्दी पारिभाषिक एवं अर्धपारिभाषिक शब्दों के साथ कोष्ठक में प्रायः उनके अंग्रेजी पर्याय दिये गये हैं, जिससे उन्हें समझने में विशेष कठिनाई न हो। किन्तु ये अंग्रेजी शब्द नागरी लिपि में लिखे गये हैं, इसके

दो कारण हैं—एक तो मुद्रण की सुविधा और दूसरी बात यह है कि जब ये शब्द रोमन में लिखे जाते हैं तो पाठकों की दृष्टि केवल उन्हीं पर पड़ती है और बेचारा हिन्दी शब्द उपेक्षित रह जाता है, अतः कहीं कहीं अंग्रेजी शब्द देने का एकमात्र उद्देश्य हिन्दी शब्द का परिचय कराना है। फिर भी कुछ पारिभाषिक शब्द अंग्रेजी लिपि में भी पाद टिप्पणियों के रूप में यत्रतत्र दे दिये गये हैं। पुस्तक में अन्तिम लेख के बाद एक हिन्दी-अंग्रेजी शब्दावली दी गयी है, जिसमें हिन्दी शब्द अकारादि क्रम से लिखे गये हैं और उनके अंग्रेजी समानार्थी रोमन लिपि में। इससे पाठकों को पुस्तक पढ़ते समय किसी भी पारिभाषिक शब्द को समझने जानने में सहायता मिलेगी, कठिनाई न होगी। किन्तु ग्रन्थ-सूचियों को रोमन लिपि में लिखने के कारण का स्पष्टीकरण भी आवश्यक है। अंग्रेजी ध्वन्यात्मक भाषा नहीं है अतः नागरी में लिखे अंग्रेजी शब्द का मूल अक्षर-विन्यास जानना कठिन होता है, और शब्दों का सुनिश्चित रूप जाने बिना अभिदेशन संभव नहीं होता। फिर इन अभिदेशनों में फ्रेंच और जर्मन भाषाओं के भी शब्द हैं अतः इन्हें मूल रोमन लिपि में ही लिखना वांछनीय माना गया।

पुस्तक के विविध लेखों के विभिन्न लेखक हैं और उनकी विभिन्न शैलियाँ भी हैं, कुछ क्लिष्ट कुछ सरल। इससे अनुवाद में थोड़ी कठिनाई का अनुभव हुआ। कभी कभी हिन्दी की प्रकृति और अनुवाद की यथार्थता दोनों को सँभालना कठिन जान पड़ा तथा उनके बीच का मध्य मार्ग अपनाकर ही कठिनाई का निवारण किया जा सका। किन्हीं किन्हीं स्थानों पर हिन्दी के मर्यादानुसार वाक्यों की रचना के लिए शाब्दिक अनुवाद नहीं भावानुवाद करना पड़ा है किन्तु विषय की सुतथ्यता को सदा प्राथमिकता दी गयी है। इस प्रयास में मुझे कितनी सफलता मिली है इसका निर्णय तो पाठकगण ही कर सकते हैं।

राष्ट्रभाषा की सेवा का यह सुयोग देने के लिए मैं उत्तर प्रदेश सरकार का कृतज्ञ हूँ।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

गोरखप्रसाद श्रीवास्तव

विषय सूची

अध्याय पृष्ठ

अध्याय पृष्ठ

भूमिका

"ह्वाट इण्डस्ट्री ओज़ टु केमिकल सायन्स" के प्रथम संस्करण में कुल २० लेख थे, जो १९१६–१७ में 'दि इंजिनियर' नामक पत्रिका में छपे थे। उसकी भूमिका में स्वर्गीय सर जार्ज बीलबी, एफ० आर० एस० ने उसके उद्देश्य बताते हुए लिखा था कि 'व्यावहारिक जीवन में रसायनज्ञ का क्या स्थान है तथा मनुष्य के औद्योगिक एवं सामाजिक विकास में उसका क्या कार्यभाग है?' इस प्रश्न का उत्तर प्रस्तुत करने के लिए ही यह ग्रन्थ प्रकाशित किया गया था।

प्रथम महायुद्ध (१९१४) के प्रारम्भिक काल में विज्ञान के महत्त्व एवं उद्योग में उसके प्रयोग के बारे में बड़ी जिज्ञासा तथा चर्चा थी और उसके संबन्ध में लोगों में काफी विचार-विमर्श होने लगा था। इसी संदर्भ में "रसायनज्ञ ने इस दिशा में क्या क्या किया अथवा क्या क्या कर सकता है?"—इस प्रश्न के उत्तर की अपेक्षा की गयी। एतदर्थ '(रायल) इन्स्टिट्यूट ऑफ केमिस्ट्री' के रजिस्ट्रार (रिचर्ड बी० पिल्चर) को आमंत्रित किया गया, किन्तु संयोगवश वे स्वयं रसायनज्ञ न थे। अत: उन्हें अपने मित्र फ्रैंक बट्लर-जोन्स से सहायता लेनी पड़ी। बट्लर-जोन्स महोदय ने औद्योगिक रसायन की प्राविधिक बातों की उत्तम व्याख्या की और एक संयुक्त कृति के रूप में तत्संबन्धी लेखों को प्रकाशित करके सर्वसाधारण को रसायन-विज्ञान का महत्त्व समझाने का प्रयत्न किया।

'दि इंजिनियर' में छपे लेख काफी जल्दी में लिखे गये थे और उस समय उन्हें पुस्तक के रूप में प्रकाशित करने का भी कोई विचार न था, किन्तु 'कॉन्स्टेब्ल कंपनी' ने उपर्युक्त पत्रिका से उन लेखों को लेकर १९१८ में उन्हें पुस्तक के रूप में प्रकाशित किया। उसके बाद इसका प्रकाशनाधिकार (कापीराइट) 'दि इंजिनियर' ने पुन: अपने हाथ में ले लिया किन्तु आगे चलकर १९२२ में उसे उक्त रजिस्ट्रार महोदय को सौंप दिया। अगले वर्ष इस पुस्तक का दूसरा संस्करण प्रकाशित हुआ। यह संस्करण पुनरावृत्त एवं कुछ संवर्धित भी था, लेकिन थोड़े ही समय में समाप्त एवं अप्राप्य हो गया।

१९३९ में प्रकाशकों ने सूचना दी कि इस पुस्तक की बड़ी माँग हो रही है और साथ ही उसे पुन: प्रकाशित करने की इच्छा भी प्रकट की। इस पर रजिस्ट्रार ने एक

'बेनिवोलेण्ट फण्ड' अर्थात् 'कल्याणकारी निधि' के लिए इन्स्टिट्यूट की कौंसिल को पुस्तक की कापीराइट देने का प्रस्ताव किया जो उक्त कौंसिल द्वारा स्वीकृत हो गया। सौभाग्यवश उनके सहलेखक, बट्लर-जोन्स भी राज़ी हो गये लेकिन उस समय विदेश में होने के कारण नये संस्करण के प्रकाशन में सक्रिय सहयोग न कर सके। (१९४१ में जब थाईलैण्ड में जापानियों ने प्रवेश किया तब बट्लर-जोन्स की मृत्यु की दुर्भाग्य-पूर्ण सूचना मिली)।

द्वितीय संस्करण के प्रकाशन के बाद औद्योगिक रसायन में महती प्रगति हुई, अतः पुस्तक का आकार एवं उसके लेखों को बढ़ाने का निश्चय किया गया। लेखन-कार्य चुने हुए विशेषज्ञों को सौंपा गया और मूल लेखों के संशोधन एवं परिवर्धन का भी अधिकार दिया गया। मूल लेखों के अलावा कुछ नये लेखों के लिखाने का भी प्रबन्ध किया गया जिससे अन्य ऐसे उद्योगों की भी समीक्षा की जा सके, जिनमें रसायन-विज्ञान का सुस्पष्ट प्रयोग होता है। इस सबका फल यह हुआ कि यद्यपि सामान्य योजना पुरानी थी किन्तु पुस्तक प्रायः सर्वथा नवीन रूप में निकली। इस बात को ध्यान में रखते हुए कि रसायन शास्त्र के विद्यार्थियों के अलावा प्रस्तुत पुस्तक अन्य लोगों के लिए भी सुबोध हो, लेखकों ने उद्योगों में रसायन की उपयोगिता का स्पष्ट प्रमाण दिया है और ऐसे प्राविधिक विषयों का कोई विस्तृत विवरण नहीं दिया, जिन्हें समझने में अधिक विज्ञान न जाननेवालों को विशेष कठिनाई हो।

नयी पुस्तक के प्रकाशन का निरीक्षण इन्स्टिट्यूट की 'प्रकाशन समिति' विशेषकर श्री ए० एल० बैकारैक (अध्यक्ष, १९४०–४१) तथा श्री एफ० पी० डन (अध्यक्ष, १९४२–४५) ने किया। विशिष्ट लेखकों से 'कल्याणकारी निधि' (बेनिवोलेण्ट फण्ड) के लाभार्थ सहायता की याचना की गयी और उन्होंने मुक्तहस्त होकर सह-योग किया।

जब लेख तैयार हो गये तब कागज की उपलब्धि में कठिनाई होने के कारण 'कॉन्स्टेब्ल कं०' ने पुस्तक प्रकाशन में अपनी असमर्थता प्रकट की, अतः यह काम 'सर्वश्री डब्लू० हेफ़र ऐण्ड सन्स, लि०' को सौंपा गया।

मूल कापीराइट के मालिक होने की हैसियत से इन्स्टिट्यूट के रजिस्ट्रार महोदय ने यह आश्वासन दिया कि इस प्रकाशन से प्राप्त समस्त लाभ 'कल्याणकारी निधि' में दिया जायगा और प्रकाशकों के साथ 'निधि' के पक्ष में करार भी कर लिया गया। ग्रन्थ की इस छोटी सी कहानी के साथ उसकी थोड़ी समीक्षा देना भी आवश्यक है।

सर जार्ज बीलबी महोदय ने अपनी मूल भूमिका में यह मत प्रकट किया था कि रसायनज्ञ का अधिकांश काम प्रत्यक्ष न होने के कारण उसे कोई समझता ही न था।

उस समय ब्रिटिश वैज्ञानिक कार्यकर्ताओं को अन्य देशों के कार्यकर्ताओं से हीन समझने की एक ऐसी प्रवृत्ति थी जिसके निराकरण के लिए दोनों के कार्यों और सफलताओं की निष्पक्ष समीक्षा आवश्यक थी। इस संदर्भ में लेखक ने अपने उपसंहार में जो भावनाएं अभिव्यक्त की हैं वे उद्धृत करने योग्य हैं।

"हमने यह दरशाने का प्रयत्न किया है कि यद्यपि प्रतिभा किसी देश विशेष की वासिनी नहीं है फिर भी ब्रिटिश वैज्ञानिकों ने औद्योगिक विकास में उत्तम कार्यभाग अदा किया है और उन्होंने ऐसा बहुधा बहुत अनुकूल परिस्थिति में नहीं उसके अभाव में किया। अतः उनके कार्यों को हीन समझने का कोई कारण नहीं है, और उन लोगों की बातों पर विचार करने एवं ध्यान देने की भी आवश्यकता नहीं जो इंग्लैण्ड की औद्योगिक एवं वाणिज्यिक स्थिति को तुच्छ समझने और उस पर पश्चात्ताप करने मात्र में सुख मानते हैं, किन्तु कभी कोई रचनात्मक सुझाव नहीं देते।"

१९१४–१८ वाले युद्ध की आवश्यकताओं से बहुतों को यह समझने में सहायता मिली कि ब्रिटिश उद्योग और उसके कर्णधार विज्ञान से अभी तक जितना लाभ उठाया गया था, उससे अधिक लाभ उठा सकते थे। प्राविधिज्ञों अर्थात् टेक्नॉलोजिस्टों के शिक्षण-प्रशिक्षण की उन्नति करने तथा उसे बढ़ाने में भी इस युद्ध ने बड़ी सहायता की। तत्कालीन उद्योगों का विकास एवं वर्धन हुआ तथा ऐसे ऐसे नये उद्योगों का समारम्भ भी हुआ जो उसी समय से इंग्लैण्ड में जम गये।

१९१५ में प्रीवी कौंसिल ने 'सायण्टिफिक ऐण्ड इण्डस्ट्रियल रिसर्च' के लिए एक समिति की स्थापना की। १९१६ में इस समिति को 'इम्पीरियल ट्रस्ट फॉर दि एन्करेजमेण्ट आफ सायण्टिफिक ऐण्ड इण्डस्ट्रियल रिसर्च' के रूप में 'रायल चार्टर' प्राप्त हुआ और एक पृथक् विभाग बना जिसे संसद में अपना अलग मत प्राप्त था। वर्तमान 'नेशनल फिज़िकल लैबोरेटरी', 'केमिकल रिसर्च लैबोरेटरी', 'फ़ुयेल रिसर्च स्टेशन', 'बिल्डिंग रिसर्च स्टेशन' तथा अन्य कितनी ऐसी संस्थाओं और प्रयोगशालाओं का नियंत्रण इसी विभाग (डिपार्टमेण्ट) द्वारा होता है। २० से भी अधिक औद्योगिक अनुसन्धान ऐसोसियेशनों के कार्यकलाप का भी संबन्ध इस विभाग से है।

यह भी उल्लेखनीय है कि सर जार्ज बीलबी ने अपने निम्नलिखित वक्तव्य में जो दूरदर्शिता प्रकट की थी वह चरितार्थ होकर रही—

"हमारे राष्ट्रीय जीवन में रसायन का जो महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है और है उसे बहुत से शिक्षित लोग भी ठीक ठीक नहीं समझ पाये हैं, और निकट भविष्य में यह और भी व्यापक एवं महत्त्वपूर्ण स्थान ग्रहण करेगा इसमें संदेह नहीं। माता-पिता तथा शिक्षकों के लिए यह एक विशेष संदेश है कि बहुत जल्द ही औद्योगिक एवं आधिकारिक

पदों के लिए प्रशिक्षित रसायनज्ञों की भारी माँग होने वाली है। अतः उन्हें उस समय एवं परिस्थिति के लिए तैयार हो जाना चाहिए।"

और आज स्थिति यह है कि शायद ही कोई ऐसा औद्योगिक उपक्रम अथवा संस्था हो जो बिना रसायनज्ञ की सहायता के सफलतापूर्वक चल सके। छोटी छोटी संस्थाओं में भी कम से कम एक रसायनज्ञ नियुक्त होता है, या उन्हें परामर्शदाता रसायनज्ञों से सलाह लेनी पड़ती है। १९१४ की अपेक्षा आज इंग्लैण्ड में कई गुने सुयोग्य एवं प्रशिक्षित रसायनज्ञ हैं। विशेष बात यह है कि इस बीच की अवधि में भी बेकार रसायनज्ञों की संख्या २% से कभी अधिक नहीं रही, जबकि अन्य व्यवसायों में बेकारों का कहीं अधिक अनुपात रहा।

इस ग्रन्थ के मूल लेखकों ने बड़ा प्रशंसनीय काम किया और उससे जो सफलता उन्हें मिली है वह उचित ही है। प्रस्तुत संस्करण के लेखन एवं संकलन में भी परम सुयोग्य तथा अनुभवी लेखकों ने सहर्ष हाथ बँटाया है, उनका ध्येय न केवल 'रायल इन्स्टिट्यूट ऑफ केमिस्ट्री' की कल्याणकारी निधि में योगदान करना था, प्रत्युत उद्योग में रसायन-विज्ञान के महत्त्वपूर्ण स्थान को और भी व्यापक रूप से सर्वसाधारण के समक्ष प्रस्तुत करना भी उनका वांछित ध्येय रहा है।

इन्स्टिट्यूट की कौंसिल, प्रकाशन समिति तथा कल्याणकारी निधि समिति उन सभी लोगों का परम आभार मानती है जिन्होंने इस कार्य में सहयोग किया है।

३० रसल स्क्वायर,
लन्दन डब्लू० सी० १
अगस्त १९४५

एलेक्ज़ेण्डर फिण्डले
अध्यक्ष, रायल इन्स्टिट्यूट ऑफ केमिस्ट्री
(१९४३–१९४६)

अध्याय १

कृषि

[उर्वरक, पशु-खाद्य, तम्बाकू]

उर्वरक

प्रोफेसर एन० एम० कॉम्बर, डी० एस-सी० (लन्दन), आई० सी०

विज्ञान और कृषि का संबन्ध, अन्य उद्योगों से उसके संबन्ध की अपेक्षा, कुछ एक महत्त्वपूर्ण बातों में बहुत भिन्न है। कृषि की मूलभूत प्रक्रिया[1] यानी 'मिट्टी में पौध के विकास' को न तो किसी वैज्ञानिक ने कभी सोचा और न ही उसका आविष्कार किसी प्रयोगशाला में हुआ। इसके विपरीत प्रायः समस्त रासायनिक उद्योगों की आधारभूत प्रक्रियाएं पूर्वयोजित होती हैं किन्तु कृषि विद्या हमें स्वतः प्रकृति से मिली है। सच तो यह है कि हम अभी तक इस विद्या को पूरी तरह समझ भी नहीं पाये हैं। फलस्वरूप हमने बिना सोचे समझे यह धारणा बना ली है कि कृषि एक प्राकृतिक उद्योग है जिसकी देख भाल प्रकृति स्वयं करती है और करती रहेगी। परन्तु वस्तु स्थिति यह है कि वर्तमान कृषि उद्योग एक तरह से प्रकृति के विरुद्ध सतत् युद्ध है, क्योंकि यद्यपि पौधा-विकास की मूलभूत प्रक्रिया हमें प्रकृति से निष्पन्न रूप में मिली है, फिर भी उसकी सारी सफलता मनुष्य की उस योग्यता और चतुराई पर निर्भर है जिससे वह प्रकृति के अवांछित पौधों के विकास को रोककर ऐसे पौधे उत्पन्न करता है जो शायद प्रकृति स्वयं कभी न उपजाती। बीज को रोप कर उसका विकास और उसकी वृद्धि प्रकृति पर छोड़ देना कृषि कर्म की कुशलता नहीं है; कुशल कृषि कर्म तो ऐसे स्थान पर जौ, गेहूँ और धान उपजा लेना है जहाँ प्रकृति के भरोसे केवल एक विकट जंगल खड़ा हो जाता, क्योंकि निसर्ग तो आज भी हमारे उर्वर खेतों में ऐसे ही जंगल उत्पन्न कर देने के लिये तत्पर है। अतः अनुकूल कृषि-कर्म (क्रॉप हसबैण्ड्री) के लिये मिट्टी में उन खनिज पोषक पदार्थों

[1] Process प्रक्रम

की कृत्रिम व्यवस्था करनी पड़ती है जो वांछित फसल के लिए आवश्यक हैं। रसायनज्ञ एवं कृषि का यही प्रथम संबन्ध है।

उर्वरक--किन्तु 'प्रकृति सर्वथा हमारे विरुद्ध है' ऐसा कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि धरती माता हमारे प्रयासों का सुन्दर फल भी हमें देती है। वह तो पशु एवं मनुष्य के लिए खाद्य की उपज को पूर्णरूपेण विकसित करने के लिए विज्ञान को एक असीम क्षेत्र सुलभ करती है। रसायनज्ञ मिट्टी की परीक्षा करके उन साधनों को खोज निकालता है, जिनसे वह धरती की उर्वरता उन्नत कर सके। इसी प्रकार वह अनुपजाऊ भूमि को उपजाऊ बनाने में सफल होता है। यहाँ यह बताना आवश्यक है कि प्रयोगशाला की परीक्षा किसी मिट्टी के अध्ययन का केवल एक अंग है; क्षेत्रावलोकन (फील्ड ऑब-जर्वेशन) भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है क्योंकि उसको ध्यान में रखकर रासायनिक विश्लेषण के फलों की सही-सही व्याख्या की जा सकती है, और तभी मिट्टी को अनुकूल बनाने के लिए निश्चित और सही रास्ता मिल सकता है।

जिन प्राकृतिक खादों के द्वारा धरती अपनी उत्पादक शक्ति पुनः प्राप्त करती है वे सदा पर्याप्त नहीं होती और उनकी पूर्ति कृत्रिम उर्वरकों से करनी पड़ती है। इसी प्रकार खाद्यान्नों की उपज भी बढ़ायी जाती है। सोडियम नाइट्रेट का प्रयोग नाइट्रो-जनीय खादों के रूप में किया जाता है। सोडियम नाइट्रेट दक्खिनी अमेरिका के पश्चिमी भाग में बहुतायत से मिलता है। अपरिष्कृत सोडियम नाइट्रेट के शोधन के लिए उसका केलासन (क्रिस्टलाइज़ेशन) करना पड़ता है। अमोनियम सल्फेट भी एक मूल्यवान नाइट्रोजनीय खाद है। यह पहले कोयले और 'शेल' के आसवन (डिस्टि-लेशन) पदार्थों से बनाया जाता था।

वर्गेरा[1] का यह अनुमान था कि दक्षिणी अमेरिकावाले सोडियम नाइट्रेट के क्षेत्र १९२३ तक समाप्त हो जायँगे, किन्तु यह अनुमान ठीक न था। ज्ञात क्षेत्रों के परीक्षण से यह मालूम हुआ है कि वे अभी अगले ५० वर्षों तक या उससे भी अधिक समय तक हमारी आवश्यकता पूरी करते रहेंगे। उस देश की सामान्य प्रकृति को देख कर यह सहज अनुमान किया जा सकता है कि उसमें इतने बड़े बड़े क्षेत्र हैं जो आगामी २०० वर्षों तक सारे संसार की मांग पूरी करते रहेंगे। लेकिन यह भी संभव है कि प्राकृतिक स्रोत शीघ्र ही समाप्त हो जायँ, क्योंकि इनसे प्राप्त सोडियम नाइट्रेट न केवल एक उर्वरक के रूप में प्रयुक्त होता है वरन् पोटासियम नाइट्रेट, नाइट्रिक अम्ल

[1] Vergara

तथा नाइट्रोजन के अन्य यौगिक (कम्पाउण्ड) बनाने के लिए भी इस्तेमाल होने लगा है। इसीलिए वायुमण्डलीय नाइट्रोजन का उपयोग करने का प्रयास किया गया है। इसके लिए वायु को एक विशेष विद्युत भट्टी में गरम करके नाइट्रोजन औक्साइड बनाये जाते हैं। इस भट्टी में विद्युत-चुम्बक का ऐसा प्रबन्ध होता है कि चाप (आर्क) चन्द्राकार रूप धारण कर लेता है।

इस प्रकार उत्पन्न नाइट्रोजन ऑक्साइड को एक आक्सीकरण वेश्म (चेम्बर) में ले जाकर वायुमण्डलिक आक्सीजन द्वारा उसका और उच्च ऑक्साइड बनाया जाता है। इसके बाद चूना, सोडा, पोटास अथवा अमोनिया जैसे पैठिक पदार्थ[1] से उसका संयोजन कराया जाता है। मूलतः सर विलियम क्रुक्स द्वारा आविष्कृत प्रक्रिया (प्रक्रम[2]) को पहले मैक्डूगल और हावेल्स ने अमेरिका में और बाद में बर्कलैण्ड तथा आइड ने नार्वे में इस्तेमाल किया। जर्मनी में बने पीठ (बेसेज़) नार्वे भेजे जाते थे। और वहाँ से वे नाइट्रेट बन कर लौटते थे, क्योंकि नार्वे में विद्युत शक्ति सस्ती थी।

सायनामाइड विधा (प्रक्रिया) आज जर्मनी के एक बहुत बड़े उद्योग का आधार बन गयी है। इस प्रक्रिया में नाइट्रोजन को कैल्सियम कार्बाइड के साथ विद्युत भट्टी में गरम किया जाता है। नाइट्रोजन प्राप्त करने के लिए द्रव वायु को प्रभागशः उबाला जाता है। हाइड्रोजन बनाने में प्रयुक्त वाटर गैस या प्रोड्यूसर गैस के अवशेष के रूप में भी नाइट्रोजन प्राप्त होता है। सायनामाइड अपने रसी रूप में खाद के लिए इस्तेमाल किया जाता है। जल से सम्पर्क होने पर साधारण ताप पर भी इसमें से धीरे-धीरे अमोनिया का उद्विकास होता है, जिसे मिट्टी में मौजूद नाइट्रिफाइंग जीवाणु नाइट्रोजन के ऐसे यौगिकों में परिवर्तित कर देते हैं, जिन्हें पौधे बड़ी सरलता से ग्रहण कर लेते हैं।

प्रथम महायुद्ध में विस्फोटक तैयार करने के सिलसिले में नाइट्रोजन-हाइड्रोजन के संयोजन (कॉम्बिनेशन) से अमोनिया बना कर वायुमण्डलिक नाइट्रोजन के स्थिरीकरण का व्यापक विकास किया गया था। और तब से यह विधा अमोनियाई उर्वरकों के उत्पादन का आधार ही बन गयी है।

पोटासियम उर्वरक तो मुख्यतः स्टासफ़ुर्ट और एलास्के-लोरेन वाले प्राकृतिक क्षेत्रों से ही प्राप्त होते हैं तथा सल्फेट, क्लोराइड अथवा मिश्रित लवण के रूप में उनका प्रयोग किया जाता है।

[1] Base [2] Process

हड्डियों में वर्तमान त्रिकल्सियम फास्फेट प्रथम फास्फटिक उर्वरक था। इंगलैण्ड में उर्वरक उद्योग का महत्त्वपूर्ण प्रारम्भ हड्डियों का सल्फूरिक अम्ल से उपचार करके जल विलेय एक-कल्सियम फास्फेट बना कर ही हुआ था। खाद के रूप में सीधे प्रयुक्त होने में अथवा सल्फूरिक अम्ल उपचार से अधिफास्फेट (सपर फास्फेट) बनाने में हड्डियों का स्थान खनिज फास्फेटों ने ले लिया है। संश्लिष्ट (सिन्थेटिक) अमोनिया के उत्पादन से भी फास्फैटिक उर्वरकों का इस नाते संबन्ध है कि अमोनियम फास्फेट से नाइट्रोजन और फास्फोरस दोनों प्राप्त होते हैं। इसीलिये इसका अधिकाधिक प्रयोग होने लगा है।

इस्पात उद्योग से प्राप्त पैठिक धातुमल (बेसिक स्लैग) तो बहुत दिन पहले से ही एक मूल्यवान फास्फैटिक उर्वरक के रूप में प्रतिष्ठित हो चुका था। चरागाहों में रामपर्ण (क्लोवर) उपजाने में इसके कारण विशेष सफलता मिली थी। कृषि योग्य भूमि में भी इसका प्रयोग किसी प्रकार कम नहीं होता है। पिछले २५ वर्षों में इस्पात उद्योग में जो परिवर्तन हुए हैं, उनकी वजह से कम फास्फेट वाले धातुमल मिलने लगे हैं और साथ ही उनकी प्राप्ति भी कम हो गयी है। किन्तु आज कल ऐसे साधन स्थापित हो गये हैं, जिनके द्वारा उपयोगी और अनुपयोगी धातुमलों की पहिचान सरलता से की जा सकती है। इन साधनों में निरन्तर उन्नति भी हो रही है।

इंग्लैण्ड में कृत्रिम उर्वरकों की उत्तमता की सुरक्षा कुछ हद तक 'फर्टिलाइज़र्स ऐण्ड फीडिंग स्टफ्स ऐक्ट' के प्रावधानों द्वारा की जाती है। इस अधिनियम (ऐक्ट) के अनुसार उस देश में कृत्रिमतया उत्पन्न या आयातित (इम्पोर्टेड) उर्वरक-विक्रेताओं को उनमें विद्यमान उपयोगी संघटकों (इन्ग्रेडियेण्ट्स) के संबन्ध में खरीदार को अध्याभूति (वारेण्टी) देनी पड़ती है और यह वचन देना पड़ता है कि बीजक में लिखित उपयोगी संघटकों की मात्रा वांछित मात्रा से भिन्न न होगी। इस अधिनियम के प्रशासन में सहायता करने के लिये आधिकारिक विश्लेषक तथा न्यादर्शक (सैम्पलर्स) नियुक्त किये जाते हैं। कृषि मंत्रालय (इंग्लैण्ड) को इस अधिनियम को क्रियान्वित करने के लिए नियम-उपनियम बनाने का भी अधिकार प्राप्त है।

ग्रन्थसूची

AGRICULTURE, MINISTRY OF:—*Leaflets dealing with use of specific Fertilizers and Fertilizers on Specific Crops.* H.M. Stationery Office.

BARKER, A. S. : *Use of Fertilizers.* Oxford University Press.

COMBER. N. M. : *Introduction to the Scientific Study of the Soil.* Edward Arnold & Co.

ROBINSON, G. W. : *Soils and their Origin, Constitution and Classification.* Thomas Murby & Co.

RUSSELL (SIR) E. J. : *Artificial Fertilizers in Modern Agriculture.* (*Ministry of Agriculture Bulletin* No. 28.) H. M. Stationery Office.

RUSSELL (SIR), E. J. : *Soil Conditions and Plant Growth.* Longmans, Green & Co., Ltd.

पशुखाद्य

जे० एस० विलकॉक्स, बी० एस-सी० (लन्दन), ए० आर० आई० सी०

पशु प्राशन (स्टॉक फीडिंग) की आधुनिक रीतियों में उनके खाद्यों के निबन्ध (काम्पोज़ीशन) और पोषक मान (न्युट्रीटिव वैल्यू) जानने की बड़ी आवश्यकता पड़ती है तथा उनके लिए अनेक आंकड़ों की भी ज़रूरत होती है। किसानों के मार्ग-दर्शन के लिए समय समय पर ऐसे आंकड़ों की सारणियाँ प्रकाशित होती रहती हैं। इस विषय में रसायनज्ञों के योगदान (कॉण्ट्रिब्यूशन) का यह प्रबल प्रमाण है। साधा-रणतः प्रयुक्त होने वाले बहुत से पशुखाद्यों (फीडिंग स्टफ्स) के औसत रासायनिक निबन्ध के अंक तो उपलब्ध हैं किन्तु उनके अकार्बनिक (इन्ऑर्गेनिक) अर्थात् भस्म की मात्रा तथा उनकी प्रकृति के बारे में सर्वथा पूर्ण ज्ञान नहीं है।

गत कुछ वर्षों से खाद्यों में विद्यमान पोषक पदार्थों की श्रेणी तथा उनकी मात्रा को अधिक महत्त्व दिया जाने लगा है। रसायनज्ञों ने पशु-खाद्यों के प्रोटीनों के जैविकीय मान (बायोलाजिकल वैल्यू) के निश्चयन की समस्याओं के अध्ययन में विशेष समय लगाया है। उन्होंने इस बात के निश्चय करने की ओर अधिक ध्यान दिया है कि विविध खाद्य प्रोटीनें कृषि पशुओं के पोषण, वृद्धि और दुग्धन संबन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति किस हद तक करतीं हैं। अनेक पशुखाद्यों में वर्तमान वसा (फैट) और तेलों तथा पशु वसा की रासायनिक प्रकृति के संबन्ध में बहुत अनुसन्धान किया गया है। विविध खाद्य वसाओं की पशुओं की नंवनीत वसा (बटर फैट) तथा देह वसा (बाडी फैट) की रासायनिक एवं भौतिक प्रकृति पर क्या प्रभाव पड़ता है, इसकी भी गवेषणा की गयी है। दुग्धालय पशुओं के लिए विटामिन डी के शक्तिशाली स्रोत के रूप में कोको के छिलकों की क्षमता, तथा ताल बीजों की उनके दूध में वसा बढ़ाने

की शक्ति सदृश पशु-खाद्यों के विशेष गुण भी रासायनिक अनुसन्धान के विषय रहे हैं।

ऐसी जानकारी पशु-प्राशकों (स्टॉक•फीडर्स) के लिए बड़ी मूल्यवान सिद्ध हुई हैं, क्योंकि इससे वे अपने पशुखाद्यों का उचित उपयोग कर सकते हैं और अपने पशुओं को ऐसे खाद्य दे सकते हैं जिनसे उनकी पोषक आवश्यकताएँ पूरी हो जाँय और वे मितव्ययिता से उच्च कोटि के पदार्थ उत्पन्न करने में सफल हो सकें।

कृत्रिम उर्वरक तैयार करने के अलावा प्राकृतिक खाद्य पदार्थों के उत्पादन से रसायनज्ञों का कोई बहुत घनिष्ठ संबन्ध नहीं है। फिर भी चारा तथा दूसरी फसलों की वृद्धि की विभिन्न अवस्थाओं में उनके पोषक मान का पता लगाना रासायनिक अनुसन्धान का ही काम है। उदाहरण के लिए गोचरों (पास्चर) के छोटे पत्तीदार हरे चारे का पोषक मान उन चारों की अपेक्षा अधिक होता है, जिन्हें साधारणतया अधिक बढ़ा कर काटा जाता है। चराने की परिभ्रमण प्रणाली (रोटेशनल सिस्टम) से गोचर का चारा हरा, छोटा और पोषक बना रहता है। अधिकतम उपज के समय संहरित-संग्रहण (एनसिलिंग) करके अथवा अन्य कृत्रिम तरीकों से सुखाकर चारों को जाड़ों में इस्तेमाल के लिए बड़ी अच्छी तरह से रखा जा सकता है। इस प्रकार के सभी ज्ञान रासायनिक अनुसन्धानों से ही प्राप्त हुए हैं। यह भी एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है कि चारे की घास तथा दूसरी फसलें कब काटी जायँ जिससे उनका पोषक मान अनुकूलतम हो। इस सवाल के हल में भी रसायनज्ञ ही किसान की सहायता करता है। कृत्रिम रूप से सुखाने तथा संहरित-संग्रहण जैसे चारा संरक्षण के तरीकों और चारों के पोषक मान पर इन तरीकों के प्रभाव का अध्ययन भी रसायनज्ञों ने ही किया है। ऐसे अध्ययनों के फल युद्धकाल में विशेष महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुए हैं क्योंकि उस समय आयातित पशुखाद्य की मात्रा में बड़ी कटौती हुई और उसके कारण पशु प्राशक को अपने देश में उत्पन्न पदार्थों पर ही अधिकाधिक निर्भर रहना पड़ा तथा जाड़ों के लिए उन्हीं पदार्थों का संरक्षण भी करना पड़ा। घास, ओट, टेअर्स, लुसरने, काले तथा अन्य फसल और पी-कैनेरीज़ के कचरे जैसे क्षेप्य (वेस्ट) पदार्थों को सुस्वाद एवं उच्च पोषक मान वाले संहरितों (साइलेज) के रूप में परिणत करना भी रसायनज्ञों के प्रयास से ही संभव हुआ। युद्धकाल में शिविरों के कच्चे तथा विधायित (प्रोसेस्ड) पेयों (स्विल) और नगरों की रसोइयों के क्षेप्यों के रासायनिक निबन्ध एवं पोषक मान की भी गवेषणा की गई थी। ये सभी चीज सूअरों और कुक्कुट आदि (पोल्ट्री) को खिलाने के लिए बड़े व्यापक रूप में प्रयुक्त हुई थीं। पयालों का पोषक मान बढ़ाने के लिए उचित रीतियाँ निकालने में भी रासायनिक अनुसन्धानों ने उत्तम योग दिया

और बहुत सी ऐसी चीजों के पोषक मान का ज्ञान कराया जो साधारणतया पशुखाद्य के रूप में इस्तेमाल नहीं की जाती थीं।

बहुत से पशुखाद्य विविध उद्योगों के उपजातों (बाइ-प्रॉडक्ट) के रूप में उत्पन्न होते हैं। इनमें अलसी, बिनौला, सोयाबीन, मूँगफली, तालबीज, नारियल इत्यादि से तेल निकालने के बाद बची खली अथवा चूर्ण उल्लेखनीय हैं। ये सांद्रित (कॉन-सेन्ट्रेट) प्रोटीन के रूप में प्रयुक्त होते हैं और इसी प्रकार मांसचूर्ण (मीट मील), मांस तथा अस्थि चूर्ण, मत्स्य चूर्ण, व्हेल चूर्ण एवं सुखाये रुधिर जैसे पशु उपजात भी काम में लाये जाते हैं। और भी अन्य उद्योगों के उपजात पशुखाद्य के रूप में इस्तेमाल होते हैं। चुकन्दर के चीनी कारखानों से प्राप्त रेशे तथा यवासवनियों (ब्रूअरीज़) एवं आसवनियों (डिस्टिलरी) के धान्य ऐसे उपजातों के अच्छे उदाहरण हैं।

जिस प्रकार कृत्रिम उर्वरकों की उत्तमता की सुरक्षा 'फर्टिलाइज़र्स ऐण्ड फीडिंग स्टफ्स ऐक्ट' के द्वारा की जाती है, उसी प्रकार कृत्रिम रूप से उत्पन्न पशुखाद्यों की उत्तमता की भी उसी अधिनियम से सुरक्षा होती है, जिसके प्रशासन में आधिकारिक विश्लेषकों की हैसियत से रसायनज्ञों का बड़ा हाथ होता है।

ग्रन्थसूची

CARLOS, A. S. : *Feeding Stuffs.* Chapman & Hall, Ltd.

HALMAN AND GARNER : *Principles and Practice of Feeding Farm Animals.* Longmans, Green & Co., Ltd.

HENRY AND MORRISON : *Feeds and Feeding.* Wisconsin Press.

MAYNARD, E. L. : *Animal Nutrition.* McGraw Hill Book Co., Inc.

तम्बाकू

लेफ्टिनेण्ट कर्नल सिडनी डब्लू० बंकर, डी० एस० ओ०, बी० एस-सी० (लन्दन), एफ० आर० आई० सी०

साधारण उपयोग के लिए तीन प्रकार के तम्बाकू की खेती की जाती है—(१) वर्जीनिया तम्बाकू (निकोटियाना टुबैकम), (२) सीरियाई तम्बाकू (एन० फुस्टिका) और (३) शीराज़ी तम्बाकू (एन० पर्सिका)। पहले प्रकार के तम्बाकू की बड़ी

गहन खेती होती है तथा इसका प्रयोग भी बड़ा व्यापक है। इसके विशिष्ट गुण इसके कृषि-स्थान के अनुसार काफी बदलते रहते हैं। सीरियाई प्रकार से ही तुर्की और लटाकिया तम्बाकू भी बनायी जाती है। शीराज़ी तम्बाकू का प्रयोग बहुत कम है; यह प्रायः अन्य प्रकार के तम्बाकू के साथ मिलाकर ही इस्तेमाल की जाती है।

धूम्रपान की प्रथा सबसे पहले अमेरिका में शुरू हुई थी। यूरोप में इसका प्रचलन १५५९ ई० में हरमैण्डेज़ डि टोलेडो ने तथा इंग्लैण्ड में १५६५ ई० में सर जॉन हाकिन्स ने कराया था। किन्तु जनसाधारण में प्रचलित परम्परा के अनुसार धूम्रपान के प्रथम प्रवर्तक सर वाल्टर रैले माने जाते हैं, यद्यपि इतिहासज्ञ केवल इस बात से सहमत हैं कि सर वाल्टर ने उच्च समाज में धूम्रपान की प्रथा चलायी थी। जिस समय उनके मित्र इसेक्स फाँसी पर लटकाये गये, सर वाल्टर उस समय भी अपनी पाइप पी रहे थे। इसके लिए उनकी काफी भर्त्सना की गयी थी।

रॉबर्ट बर्टन (१५७७–१६४०) लिखित "एनॉटमी आफ मेलॉङ्कली" में तम्बाकू वर्णन का निम्नलिखित उद्धरण बड़ा रोचक है:—

"तम्बाकू, दिव्य, बिरला एवं अति श्रेष्ठ तम्बाकू सर्वभेषज (पैनेसिया) है, पेय स्वर्ण तथा पारस मणि से भी बढ़कर है, यह सब रोगों की महौषधि है। किन्तु चूँकि अधिकांश लोगों ने इसका दुरुपयोग किया है तथा इसका सेवन उसी प्रकार किया है जैसे चोर-जुआरी मदिरा का करते हैं, इसीलिये यह एक व्याधि, हानिकर दुर्गुण और स्वास्थ्य, भूमि, सम्पत्ति को नष्ट करने वाली, नारकीय, पैशाचिक तथा अति निन्दित वस्तु बन गयी है, जो शरीर और आत्मा दोनों का नाश करती है।"

तुर्की में धूम्रपान महा अपराध माना जाता था तथा बर्न के उपनगर में भी इसका प्रयोग निषिद्ध था। इंग्लैण्ड में बादशाह जेम्स (प्रथम) ने तम्बाकू के विरुद्ध एक फतवा जारी किया था, जिसमें "नेत्र के लिए घृणित, नासिका के लिए असह्य, मस्तिष्क के लिए हानिकारक तथा फेफड़ों के लिए भयंकर" प्रथा के रूप में धूम्रपान का वर्णन किया गया था। यद्यपि समय समय पर इसकी भीषण भर्त्सना की गयी है, फिर भी आज यह धनी और निर्धन दोनों के लिए बड़ी लोक-प्रिय विलास-वस्तु के रूप में प्रतिष्ठित है। ब्रिटिश नरेश की सम्मति के विपरीत 'वेस्टवर्ड हो' में लिखे किंग्सले के निम्नलिखित विचार रोचक एवं उल्लेखनीय हैं—"संसार की समस्त वस्तुओं में केवल तम्बाकू एक ऐसी वस्तु है जो अकेले का साथी, अविवाहित का मित्र, ठिठुरते हुए के लिए अग्नि, अनिद्रित के लिए निद्रा, भूखे के लिए भोजन तथा उदासीन के लिए स्फूर्तिदायक औषध है। आकाश, पाताल की कोई भी वस्तु इसकी बराबरी नहीं कर सकती।"

यद्यपि तंबाकू की खेती संसार के प्रायः सभी देशों में होती है, लेकिन संयुक्त राज्य अमेरिका में इसके सबसे विस्तृत खेत हैं। कनाडा, भारत, उत्तरी तथा दक्षिणी रोडेसिया, दक्षिणी अफ्रीका और वेस्ट इण्डीज़ में तम्बाक का खूब जमा हुआ उद्योग है तथा यह बराबर बढ़ता जा रहा है। अब आस्ट्रेलिया और मलय देश में भी इसकी खेती शुरू कर दी गयी है। यूनान, तुर्की, मकदूनिया, डच ईस्ट इण्डीज, बोर्नियो और चीन में भी अनेक वर्षों से तम्बाकू की काफी विस्तृत खेती होती है।

इंग्लैण्ड में बाहर से आये तम्बाकू की खपत के निम्नलिखित अंकों से इसके उद्योग की विशालता का आभास मिलता है। वार्षिक राजस्व (रेवेन्यू) का यह एक बड़ा महत्त्वपूर्ण स्रोत है। यह बात कर (ड्यूटी) की निम्नलिखित धनराशियों से स्पष्ट है—

वर्ष (३१ मार्च तक समाप्त)	ब्रिटेन की कुल जनसंख्या	ब्रिटेन में प्रयुक्त कुल भार (पौण्ड)	प्रति व्यक्ति पीछे खपत (पौण्ड)	कर की धनराशि (पौण्ड)
१९२२	४७,१२३,०००	१३६,०५९,०३९	२.८९	५५,१९७,९०७
१९२९	४५,५७७,०००	१४१,९१०,६९२	३.११	५९,०८६,१५१
१९३९	४७,४८५,०००	१९१,९९९,२६५	४.०४	८४,८१२,८३५

संसार में कोई ऐसा बड़ा देश नहीं है जहाँ तम्बाकू पर सरकार का या तो एकाधिकार (मानोपाली) न हो या उस पर सीमा कर (कस्टम्स ड्यूटी) अथवा उत्पादन कर (एक्साइज़ ड्यूटी) अथवा दोनों न लागू हों। अतः यदि संसार भर में लगे तम्बाकू पर राजस्व की कुल धनराशि का संकलन किया जाय तो उसकी संख्या प्रायः कल्पनातीत होगी।

तम्बाकू की खेती में मिट्टी सर्वप्रथम कारक (फैक्टर) है। इसके रासायनिक निबन्ध के ज्ञान से तो प्रत्याशित (एक्सपेक्टेड) परिणाम का केवल एक अपूर्ण आभास प्राप्त होता है। इसीलिये मिट्टी का अध्ययन यांत्रिक एवं जैविकीय अवस्थाओं को ध्यान में रख कर करना ही उचित है। बेहन (सीडलिंग) तथा बीज को प्रत्यक्षतः एक ही प्रकार की मिट्टी और जलवायु में रोपने पर भी फल भिन्न एवं विशिष्ट होते हैं। यह भेद अधिकांशतः भूमि की जैविकीय[1] परिस्थितियों की विभिन्नता के कारण होता है।

[1] Biological

रासायनिक उर्वरकों के उपचार से तम्बाकू के पौधे पर बहुत प्रभाव पड़ता है, इसीलिये विशेष अवस्थाओं को ध्यान में रखकर वांछित परिणाम के लिए नाइट्रोजन, फास्फोरस और पोटाश जैसे मुख्य मुख्य तत्त्वों का सावधानी से संतुलन करना पड़ता है। नाइट्रोजन की कमी से उसकी वृद्धि रुक जाती है और उसकी अधिकता से पत्तियाँ काली, खुरदरी तथा सबल होती हैं और उनमें निकोटिन की मात्रा भी बढ़ जाती है। धूमन के लिए तम्बाकू में जलते रहने की उत्तम क्षमता भी होनी चाहिये। परन्तु पोटाश के अभाव अथवा क्लोराइडों या सल्फेटों की अधिकता वाली मिट्टी में उपजे तम्बाकू में यह गुण कम हो जाता है। परिपक्व तम्बाकू के सुवास का भी मिट्टी में फास्फेट की मात्रा से बड़ा घनिष्ठ संबन्ध है। रंग, रूप, दृढ़ता तथा अवनम्यता (प्लायबिलिटी) आदि तम्बाकू की पत्तियों के बड़े महत्त्वपूर्ण गुण हैं।

केवल सुखा करके तम्बाकू में से जल निकाल देना मात्र ही उसके अभिसाधन (क्योरिंग) की रीति नहीं, बल्कि किण्वन (फर्मेण्टेशन) प्रक्रिया से उसके रंग, रूप, सुवास तथा अन्य भौतिक गुणों का विकास होता है। तम्बाकू की पत्तियों में अनेक रासायनिक पदार्थ होते हैं और उनमें बहुत से जटिल जीव-रासायनिक परिवर्तन भी होते रहते हैं। इन्हीं कारणों से अभिसाधन अर्थात् क्योरिंग की रीति बड़ी महत्त्वपूर्ण मानी जाती है।

"अभिसाधन की कुछ रीतियों में शर्करा शेष रह जाती है जब कि अन्य रीतियों में वह ग़ायब हो जाती है तथा उससे साइट्रिक, मैलिक और आक्ज़लिक अम्ल बन जाते हैं। आगे चल कर ये अम्ल अधिकांशत: कार्बन डाइऑक्साइड और जल में परिवर्तित हो जाते हैं। इस परिवर्तन में साइट्रिक अम्ल का आक्सीकरण उतनी सरलता से नहीं होता जितनी से औरों का। एक दूसरी रीति में एसेटिक अम्ल की मात्रा छः गुनी बढ़ जाती है और नाइट्रिक अम्ल की मात्रा घट कर आधी रह जाती है। एक और अन्य रीति में देखा गया है कि नाड़ियों के लवण मध्यनाड़ी से होकर डण्ठल में चले जाते हैं।" (Jr. Industrial eng. chem., XIV, 1922)

उत्पादन कर के संबन्ध में सरकारी प्रयोगशालाओं में प्रति वर्ष हज़ारों की संख्या में तम्बाकू की आर्द्रता एवं खनिज भस्म का निश्चयन किया जाता है। तम्बाकू की आर्द्रता भी एक सुनिश्चित सीमा के अन्दर ही रखी जाती है, क्योंकि इससे न केवल कुछ भौतिक दशाओं का रक्षण होता है बल्कि अन्य अवस्थाएँ एक जैसी होने पर भी तम्बाकू में केवल आर्द्रता की मात्रा भिन्न होने से उसके धूम्र में संघटकों का अनुपात बदल जाता है। निर्माता लोग तम्बाकू में निकोटीन की मात्रा पर भी नियंत्रण रखते हैं, क्योंकि यद्यपि स्वयं निकोटीन की मात्रा तम्बाकू की श्रेणी का कोई माप नहीं है फिर भी इससे

इस बात का निश्चय अवश्य हो जाता है कि मिश्रित तम्बाकू के अन्य गुणों का मानकीकरण[1] किया गया है।

ग्रेट ब्रिटेन में तम्बाकू में अन्य पदार्थ मिलाने पर भी वैधानिक रोक है, लेकिन कुछ दशाओं में 'बोर्ड ऑफ ट्रेड' द्वारा नियंत्रित शर्तों के साथ कुछ छूट भी दी जाती है। वहाँ बिकने वाले साधारण सिगरेटों में कृत्रिम सुगंध तथा वाह्य वस्तु नहीं होती। पाइप में पिये जाने वाले तम्बाकू में सुरभि बढ़ाने के लिए उनका कुछ विशेष उपचार किया जाता है। इन सुरभिक पदार्थों के, जो मुख्यतः वाष्पशील तेलों के ऐल्कोहलीय विलयन होते हैं, निर्माण और मिश्रण पर भी वैधानिक नियंत्रण रहता है। दूसरी ओर संयुक्तराज्य अमेरिका में ग्लिसरीन के केसिंग अथवा डाइइथिलीन ग्लाइकोल प्रायः सार्वत्रिक रूप से शक्कर, शीरा, चाकलेट, फलों के रस तथा वाष्पशील तेल के साथ मिला कर प्रयुक्त होता है।

सिगरेट के लिए कागज निर्माण में भी वैज्ञानिक नियंत्रण की बड़ी आवश्यकता होती है, जिससे उसके आवश्यक भौतिक गुणों की सुरक्षा हो सके। ऐसे कागज में किसी अशुद्धता का सूक्ष्मतम लेश भी रहने से तम्बाकू की सुगन्ध पर बड़ा प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। कागज की दाह्यता न तो बहुत तेज और न बहुत धीमी होनी चाहिए, उसका रंग साफ और स्वच्छ होना चाहिए तथा उसे तम्बाकू में से एक उचित सीमा से अधिक रंग नहीं सोखना चाहिए। कागज का आतनन (टेन्साइल) गुण भी ऐसा होना चाहिए कि जिससे बिना कागज के फटे अथवा अन्य प्रकार से क्षत हुए प्रति मिनट लगभग १५०० सिगरेट मशीन से बन कर निकल सके।

तम्बाकू में ऐल्कलायड निकोटीन तथा उसके निकट संबन्धित यौगिकों के अतिरिक्त सामान्य वनस्पति कार्बनिक पदार्थ भी होते हैं। निकोटीन कुछ कार्बनिक अम्लों के संयोजन से बने विभिन्न स्थायित्व वाले लवणों के रूप में रहता है।

तम्बाकू की विशेष सुगन्धि वाष्पशील तेलों, अलियो-रेज़ीनों तथा रेज़ीनों की लघु मात्रा के कारण होती है, किन्तु रासायनिक विश्लेषण से इसकी श्रेणी (क्वालिटी) का ठीक ठीक निश्चय नहीं किया जा सकता और न ही अन्य किसी साधन से। अच्छी श्रेणी के तम्बाकू में प्रायः कार्बोहाइड्रेट की मात्रा ऊँची तथा प्रोटीन की मात्रा कम होती है।

जलने की क्षमता पत्तियों में प्राप्य खनिज पदार्थों की संरचना[2] पर निर्भर होती है। और यह एक बड़ी महत्त्वपूर्ण बात है क्योंकि दहन जितना पूर्ण होगा सुगंध भी

[1] Standardisation [2] Composition

उतनी ही आनन्ददायक होगी। अपूर्ण दहन से उत्पन्न पदार्थ निश्चित रूप से अरुचिकर होते हैं।

तम्बाकू के धूम्र संबन्धी अनुसन्धान पर बहुत कम ध्यान दिया गया है। इसका कारण प्रायः यह है कि इस कार्य में अनेक कठिनाइयाँ हैं, जैसे धूमन की अवस्थाओं का मानकीकरण, उसकी समस्त उत्पत्तियों का पूर्ण संग्रहण, धूम में होने वाले पदार्थों के जटिल समूहों का विश्लेषण तथा रासायनिक यौगिकों के विभिन्न वर्गों का पृथक्करण इत्यादि। परिवर्तित तथा अपरिवर्तित ऐल्कलायड, फिनाल, ऐल्डिहाइड, ऐल्कोहल, टर्पीन, रेज़ीन और वस्तुतः धूम में प्रायः सभी कार्बनिक वर्गों के यौगिक पाये जाते हैं। तम्बाकू के धुएँ पर अधिकांश काम वाणिज्यिक संस्थानों में किया गया है, अतः वैज्ञानिक पत्र-पत्रिकाओं में उनका विशेष उल्लेख नहीं पाया जाता। निर्माताओं में विशुद्ध शैक्षणिक महत्त्व की गवेषणा करने कराने की कुछ विशेष प्रवृत्ति नहीं होती। इस प्रकार तम्बाकू उद्योग का रसायन शास्त्र से संबन्ध बहुधा उसके कुछ सामान्य कारकों के नियंत्रण तक ही सीमित है।

ग्रन्थसूची

CAPUS, G., LEULLIOT, F., ET FOEX, E. : *Le Tabac*. Le Societe des — Editions Geographiques, Martimes & Colòniales.

CONTI, COUNT : *History of Smoking*. George Harrap & Co., Ltd.

HAREHOLT, F. W. : *Tobacco History and Associations*. Chapman & Hall, Ltd.

SCHMUCK, A. : *Chemistry of Tobacco*. Published in Krashodar, U. S. S. R.

अध्याय २

खाद्य

[आहार और पोषण; आटा-पिसाई; रोटी; दूध और दुग्धालय पदार्थ; खाद्य तेल और वसा; शर्करा; स्टार्च; कोको; चाकलेट; मिठाई; डब्बाबन्दी; शीतसंग्रहण; यवासवन; ऐल्कोहाल; मदिरा और स्पिरिट]

आहार और पोषण

ए० एल० बकारैक, एम० ए० (कैण्टैब), एफ० आर० आई० सी०

खाद्योद्योग की विभिन्न शाखाओं में रसायनज्ञों ने अनेक सेवाएँ की हैं तथा जन-साधारण के कल्याण में हाथ बँटाया है। इसमें संदेह नहीं कि रसायन शास्त्र ने केवल अकेले नहीं वरन् जीवाणुविज्ञान (बैक्टिरियालोजी), इंजीनियरिंग तथा कृषि के साथ मिलकर इस उद्योग का उच्चस्तरीय प्राविधिक विकास किया है, हाँ उसका भाग महत्त्वपूर्ण अवश्य है। जिस ज्ञान के आधार पर यह विकास हुआ है उसे मैक्कुलम ने 'आहार-पोषण का नवीन ज्ञान' की संज्ञा दी है। इस नवीन ज्ञान से हमारे आहारसंबन्धी ज्ञान, विशेषकर उसकी कोटि और श्रेणी के बारे में हमारे दृष्टिकोण पर बड़ा प्रभाव पड़ा है। दृष्टिकोण का यह परिवर्तन अधिकांशतः रसायनज्ञों के अध्यवसाय का ही फल है। इसी अध्यवसाय के परिणामस्वरूप इस उद्योग में वैज्ञानिक रीतियों एवं साधनों को अपना करके इसकी उन्नति की गयी है, जो जन-समुदाय के लाभ का प्रत्यक्ष साधन बनी।

इस शताब्दी के प्रारम्भ में ऐसा समझा जाता था कि मनुष्य अर्थात् स्त्री, पुरुष एवं बच्चों के पोषण के लिए केवल प्रोटीन, वसा, कार्बोहाइड्रेट, जल, सोडियम, कैल्सियम, लोहा और क्लोरीन पर्याप्त हैं। परन्तु आहारविज्ञान में गत ३-४ दशकों में जो महत्त्वपूर्ण विकास एवं उन्नति हुई तथा उससे जो ज्ञान प्राप्त हुआ उसके सामने हम प्रायः यह भूल-सा गये कि हमें प्रोटीन, वसा इत्यादि सदृश उपर्युक्त खाद्यतत्त्वों (फुड फैक्टर्स) की अब भी आवश्यकता है। विविध प्रकार के खाद्य-पदार्थों का रासा-

यनिक विश्लेषण करके ही हमने मनुष्य की वृद्धि और सर्जन की आवश्यकताओं के बारे में ज्ञान प्राप्त किया है। खाद्य पदार्थों की विविधता जानने के लिए हमें एस्किमो लोगों से लेकर मौरी तक, तिब्बतियों से काफिरों, आरान निवासियों से ईस्ट इण्डियनों तक तथा पश्चिमी यूरोप के रहने वालों से लेकर उत्तरी अमेरिकियों तक के आहारों का अध्ययन करना पड़ेगा। रसायनज्ञों द्वारा नियोजित एवं प्रयुक्त विश्लेषण की उत्तम रीतियों से ही आहार-रचना संबन्धी हमारे उस ज्ञान की उत्पत्ति हुई है जिसके अभाव में हम आहार पोषण के मूल सिद्धान्तों के बारे में अन्धकार में ही भटकते रह जाते।

जैसा कि ऊपर बताया गया है, हमारा यह 'नवीन ज्ञान' निस्संदेह रासायनिक विश्लेषणों पर ही आधारित है। विश्लेषण की ये रीतियाँ अब इतनी उन्नत एवं परिष्कृत हो गयी हैं कि उनके द्वारा खाद्य पदार्थों में उन तत्वों का भी आगणन संभव हो गया है, जो उनमें केवल सहस्रांशों में ही विद्यमान होते हैं। ये तत्त्व अपनी दैहिक प्रक्रिया (फिज़ियालोजिकल ऐक्शन) के कारण मानव स्वास्थ्य के लिए आवश्यक बड़े बड़े खाद्य तत्त्वों से किसी प्रकार कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। पहले इनके मात्रात्मक विश्लेषण की बात तो अलग थी, खाद्य पदार्थों में इनका पता लगाना भी दुस्तर कार्य था। रसायनज्ञ केवल अपने रासायनिक ज्ञान से ही सभी समस्याएँ हल नहीं करते बल्कि समय समय पर जीव-रसायनज्ञों की भी सहायता लेते हैं या आवश्यकता पड़ने पर उनका कार्य स्वयं अपने ऊपर लेकर पशु-परीक्षणों द्वारा विटामिनों एवं अन्य खाद्य तत्त्वों की जांच करते हैं।

खाद्य पदार्थों की रचना संबन्धी हमारे ज्ञान में निरन्तर वृद्धि हो रही है तथा इसी बढ़ते हुए ज्ञान पर खाद्योद्योग की प्रगति निर्भर है। आहार तथा पोषण मान के मुख्य प्रश्नों को हल करने के अतिरिक्त हमारा यह ज्ञान अन्य बातों में भी लाभदायक सिद्ध हुआ है। आहारों के निर्माण एवं विधायन (प्रोसेसिंग) के लिए तथा उसके पूर्व और पश्चात् खाद्य के संग्रहण काल में उत्पन्न होने वाले परिवर्तनों को समझने के लिए भी यह ज्ञान आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है। आहारों, विशेषकर विटामिनों, की पाच्यता, स्वाद एवं स्थायित्व जैसे गुणों के नियंत्रण के लिए भी इसकी परम आवश्यकता है। इसके अलावा भोजन पकाने अथवा जीवाणुहनन (स्टेरिलाइज़ेशन) अथवा वैसी ही अन्य कार्यविधाओं (प्रोसीड्योर) में उत्पन्न होने वाले परिवर्तनों को जानना-समझना भी अत्यावश्यक है, क्योंकि खाद्यों के पोषण-मान पर इनका महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। इस ज्ञान से आहारों की श्रेणी या कोटि के बारे में हमें जानकारी प्राप्त होती है।

खाद्य पदार्थों में अधिकतम पोषक गुण, स्वाद और स्थायित्व की सुरक्षा करना आज के आहार-प्रौद्योगिकीविद् (फुड टेक्नालोजिस्ट) का मुख्य ध्येय होता है। कच्चे माल तथा विधायन[1] की रीतियों का नियंत्रण करके वह इस बात की प्रतिभूति प्रदान करता है कि उपभोक्ता को उसकी चाही प्रकृति एवं श्रेणी की वस्तु मिले तथा किसी अनचाही वस्तु के मिलने से उसकी क्षति न होने पावे।

बड़े पैमाने पर विटामिनों के निर्माण अथवा प्राकृतिक स्रोतों से उन्हें एकलित (आइसोलेट) या सांद्रित (कान्सेन्ट्रेट) करने में रसायनज्ञों का कार्यभाग भी उल्लेखनीय है। कुछ ऐसे खाद्य पदार्थ होते हैं। जिनमें विटामिन मिलाने की आवश्यकता होती है या विधानतः उनका मिलाना अनिवार्य होता है। इन पदार्थों में आवश्यक विटामिन या उनके सांद्रित मिलाने की रीतियों का बड़ा कड़ा रासायनिक नियंत्रण होता है। आजकल ग्रेट ब्रिटेन में मानव उपभोग के लिये बन रही मार्गरीत में विटामिन ए सांद्रित (या कैरोटीन) अथवा कैल्सिफेराल (विटामिन डी) मिलाया जाने लगा है। यह भी रसायनज्ञों के कार्यों क ही फल है। आजकल संयुक्त राज्य अमेरिका में रोटी में यथेच्छया विशुद्ध विटामिन बी$_1$ (एन्यूरीन यानी थायामीन), विशुद्ध रिबोफ्लवीन तथा विशुद्ध निकोटिनिक अम्ल मिलाया जाता है, इसका श्रेय भी रस यनज्ञों को ही है। ऐस्कार्बिक अम्ल अर्थात् विटामिन सी का बड़े पैमाने पर निर्माण भी रसायनज्ञों के परिश्रम से ही संभव हुआ है। अब यह विटामिन फलपाकों (जैम) अथवा अन्य परिरक्षित (प्रिज़र्व्ड) खाद्य पदार्थों में सरलता से मिलाया जा सकता है। रासायनिक इंजीनियरों की सहायता और सहयोग से रसायनज्ञों ने पिरिडाक्सीन (विटामिन बी$_६$), पण्टोथिनिक अम्ल, बायोटीन (विटामिन एच) मिथिल नप्थोक्विनोन (विटामिन के), विटामिन डी$_३$ और टोकोफेराल (विटामिन ई) इत्यादि के संश्लेषण में जो सफलता प्राप्त की है वह प्रशंसनीय है। उनका यह प्रयास आहार-प्रौद्योगिकी एवं संश्लेषण रसायन का मध्यमार्ग है।

काउण्टी और बरो[2]—अधिकारियों द्वारा नियुक्त सार्वजनिक विश्लेषक (पब्लिक ऐनेलिस्ट्स) उपभोक्ताओं के हितों की शाश्वत रक्षा करते हैं। ये विश्लेषक स्वास्थ्याधिकारी (हेल्थ अफसर) के सहयोग से बराबर काम करते रहते हैं, यद्यपि इन विश्लेषकों के जिम्मे खाद्य विश्लेषण के अलावा भी अनेक काम होते हैं। ग्रेट ब्रिटेन में सभी जन-विश्लेषक (पब्लिक ऐनेलिस्ट) उच्च योग्यता प्राप्त रसायनज्ञ

[1] Prccessing [2] Borough

होते हैं। उनके लिए 'रायल इन्स्टिट्यूट ऑफ केमिस्ट्री' द्वारा आयोजित आहार एवं भेषज रसायन तथा सूक्ष्मदर्शिकी (माइक्रॉस्कोपी) की परीक्षा में उत्तीर्ण होना आवश्यक है। उन सबको 'इन्स्टिट्यूट' का 'फेलो' या 'असोसियेट' भी होना पड़ता है तथा उनकी नियुक्तियाँ स्वास्थ्य मन्त्रालय द्वारा अनुमोदित की जाती हैं।

यह कहना उचित नहीं कि सार्वजनिक विश्लेषकों और उद्योगों में काम करने-वाले आहार-रसायनज्ञों में परस्पर विरोध होता है, प्रत्युत इसके विपरीत 'दि सोसा-यटी ऑफ पब्लिक ऐनेलिस्ट्स ऐण्ड अदर ऐनेलिटिकल केमिस्ट्स' तथा 'फुड ग्रूप ऑफ दि सोसायटी ऑफ केमिकल इण्डस्ट्री' जैसी संस्थाओं में निकटतम सहयोग होता है। इसके अलावा आहार उद्योग में काम करने वाले अधिकांश रसायनज्ञ भी 'रायल इन्स्टिटच्यूट ऑफ केमिस्ट्री' के 'फेलो' या 'असोसियेट' होते हैं, जिसका अर्थ यह है कि उनकी प्रशिक्षा भी वैसी ही और उतनी कड़ी होती है जितनी जन-विश्लेषकों की। एक ही संस्था के सदस्य होने के नाते वे समान व्यावसायिक शीलाचार (कोड ऑफ प्रोफेशनल एथिक्स) के नियमों से आबद्ध होते हैं। इन्हीं कारणों से खाद्य पदार्थों के उत्पादन एवं वितरण में काम करने वाले सभी प्रकार के रसायनज्ञों में स्वतंत्र विचार-विनिमय और वैज्ञानिक विषयों पर खुला वादविवाद संभव तथा सार्थक होता है। इंग्लैण्ड जैसे देश में, जहाँ खाद्य पदार्थों के लिए कोई सुनिश्चित वैधानिक मानक नहीं बने हैं, इस प्रकार का पारस्परिक सहयोग बड़े महत्व का विषय है। किसी खाद्य पदार्थ से किसी उपभोक्ता को हानि हुई अथवा नहीं, इस प्रश्न का अन्तिम निर्णय तो न्यायालयों में ही होता है, लेकिन इस प्रकार के मामले न्यायालयों तक पहुँचते ही बहुत कम हैं। जन-विश्लेषक का ही एक शब्द विक्रेता अथवा निर्माता के लिए पर्याप्त होता है और प्राय: उतने से ही सभी मामलों की गलती पकड़ एवं सुधार ली जाती है। आहार रसायनज्ञ ही नहीं वरन् अच्छे विचारों वाले निर्माता भी खाद्य विश्लेषक को मित्र एवं हितैषी के रूप में मानते हैं। यद्यपि उनका विशेष कर्तव्य जनसाधारण के हितों की सुरक्षा करना है, लेकिन वे अविवेकी व्यवसायियों तथा बेईमान विक्रेताओं की अवांछनीय कार्रवाइयों के विरुद्ध उन निर्मताओं के हितों की भी बराबर रक्षा करते हैं, जो सुयोग्य रसायनज्ञों को काम पर लगाने के लिए सदा सचेष्ट एवं इच्छुक रहते हैं। खाद्य पदार्थों के निर्माण में सचाई और ईमानदारी ही सर्वोत्तम नीति मानी जानी चाहिए, और विश्लेषकों का परम कर्त्तव्य है कि वे इसकी निरन्तर चेष्टा करें कि यह नीति बराबर अपनायी जाय। यह बड़ी सुखद बात है कि उनको अपने इस कर्तव्य के पालन में शायद ही कभी वैधानिक यंत्र की सहायता लेनी पड़ती है। इसका मुख्य कारण यह है कि उनको अपने कार्य की पूर्ति में उच्च योग्यता वाले सहयोगियों

से बराबर सहायता मिला करती है, जो अपने सारे नवीनतम रासायनिक ज्ञान को आहार उद्योग की उन्नति में लगाते तथा लगाने के लिए तत्पर रहते हैं।

ग्रन्थ-सूची

BACHARACH, A. L. : *Science and Nutrition.* C. A. Watts & Co., Ltd.

DAVIDSON, L. S. P., AND ANDERSON, I. A. : *Textbook of Dietetics.* Hamish Hamiltion, Ltd.

DRUMMOND, J. C., AND WILBRAHAM, A. : *The Englishman's Food.* Jonathan Cape, Ltd.

HARRIS, L. J : *Vitamins in Theory and Practice.* Cambridge University Press.

MCCOLLUM, E. V., ORENT-KEILES, E., AND DAY, H. G. : *The Newer Knowledge of Nutrition.* Macmillan & Co., Ltd.

MOTTRAM, V. H. : *Food and the Family.* Nisbet & Co., Ltd.

PARSONS, T. R. : *Fundamentals of Biochemistry.* W. Heffer & Sons, Ltd.

SHERMAN, H. C., AND LANFORD, C. S. : *Essentials of Nutrition.* Macmillan & Co., Ltd.

HUTCHINSON, SIR ROBERT, AND MOTTRAM, V. H. : *Food and Dietetics.* Edward Arnold & Co.

आटा-पिसाई में रसायनज्ञ का कार्यभाग

टी० एच० फेयरब्रदर, एम० एस-सी० (मैन०), एफ० आर० आई सी०

आटा-पिसाई में वैज्ञानिक ज्ञान का प्रयोग होना अभी हाल की बात है। यद्यपि आटा पीसने का काम किसी न किसी रूप में सारे संसार में स्मरणातीत काल से होता आया है लेकिन बीसवीं शताब्दी के पहले इस उद्योग में उसकी समस्याओं को हल करने के लिए रसायनज्ञों तथा जीव रसायनज्ञों की सहायता का पूरा पूरा उपयोग नहीं किया जाता था। और न इन समस्याओं को वैज्ञानिक ढंग से हल करने का कोई प्रयत्न ही किया जाता था। इस शताब्दी के पूर्व धान्यों अर्थात् अनाजों का अध्ययन केवल कृषि-अन्वेषण का ही अंग माना जाता था और तत्सम्बन्धी कोई भी अनुसन्धान कार्य मुख्यतः उपज बढ़ाने तथा कृषि की रीतियों को उन्नत बनाने के ही ध्येय से किया जाता रहा है।

धान्य विज्ञान अर्थात् धान्यों का अध्ययन तथा पिसाई और सेंकाई प्रक्रमों[1] में होने वाले भौतिक एवं रासायनिक परिवर्तनों का अध्ययन वस्तुतः बीसवीं शताब्दी की देन है। इसके पहले भी कुछ अनुसन्धान हुए थे ; जैसे गेहूँ प्रोटीन संबन्धी ऑसबोर्न एवं ऊर्हीस का कार्य जो १८९४ में 'अमेरिकन केमिकल जर्नल' में प्रकाशित हुआ था। १७२८ में बेक्कारी ने यह बताया था कि गेहूँ के आटे को दो भागों में पृथक किया जा सकता है, जिन्हें उन्होंने 'वनस्पति' तथा 'प्राणी' प्रकृति वाले भाग कहा था। किन्तु इन अवलोकनों की व्यापकता कुछ विशेष न थी और न उनके समन्वय पर ही कोई खास ध्यान दिया जाता था। वस्तुतः धान्य रसायन (सीरियल केमिस्ट्री) का प्रारम्भ १९०७ में हुआ और उड महोदय उसके प्रवर्तक थे, क्योंकि उन्होंने गेहूँ प्रोटीन के रसायनिक निबन्ध पर प्रथम अनुसन्धान किये। उसके बाद ही देश-विदेश में रसायनज्ञों ने पिसाई संबन्धी समस्याओं को हल करने का अधिकाधिक प्रयास किया।

पिसाई उद्योग वाले रसायनज्ञों के काम सूक्ष्म रसायन, रंजक एवं भेषज निर्माण में लगे रसायनज्ञों के काम से कुछ बातों में बहुत भिन्न है। इनकी तुलना केवल इस हद तक की जा सकती है कि दोनों वर्गों के रसायनज्ञों को अति परिशुद्ध रासायनिक विश्लेषण करने पड़ते हैं। आटा-पिसाई प्रयोगशाला का विश्लेषण-विभाग ही सबसे महत्त्वपूर्ण माना जाता है, क्योंकि विश्लेषक द्वारा की गयी परीक्षाओं के फल पर ही गेहूँ की मिलावट तथा अनुकूलन जैसी क्रियाएँ निर्भर करती हैं। धान्य रसायनज्ञ का यह काम है कि वह ऐसे गेहूँ से, जिनकी श्रेणी में काफी उतार-चढ़ाव होता है, बराबर एकसम आटा उत्पन्न करने में चक्की वालों की सहायता करे। रसायनज्ञ की सहायता उपलब्ध होने के पहले चक्की वाले गेहूँ को दाँत से कुतर करके ही गेहूँ में आर्द्रता की मात्रा तथा उसके बीज की कठोरता और मृदुता का अनुमान कर लेते थे; और फिर उसे चबाते थे जिससे उसका सारा स्टार्च गायब हो जाता और अश्लेष (ग्लूटेन) की जुगाली मात्र बच रहती। इसी अश्लेष के लचीलेपन से उन्हें गेहूँ की शक्ति के बारे में अपना निष्कर्ष निकालना पड़ता था।

जैसा कि ऊपर कहा गया है चक्कीवालों के कच्चे माल अर्थात् गेहूँ की श्रेणी में बड़ा उतार-चढ़ाव होता है। बाज़ार में गेहूँ की एक हज़ार से ऊपर किस्में पायी जाती हैं। किस्मों की इस विभिन्नता का कुछ आभास फेयरब्रदर की प्रयोगशाला में एक ही ऋतु में प्राप्त नमूनों के विश्लेषणों से प्राप्त हो सकता है, उनकी आर्द्रता की मात्रा

[1] Process

८·५ प्रतिशत से लेकर २१ प्रतिशत तथा प्रोटीन मात्रा ७·० प्रतिशत से १५ प्रतिशत तक थी। इस श्रेणी भेद का ठीक ठीक आगणन[1] गेहूँ को केवल कुतर अथवा चबाकर ही नहीं किया जा सकता। यह तो सुग्राही तुला, मानक विलयनों एवं परिशुद्ध रीतियों से युक्त योग्य रसायनज्ञ की ही सहायता से किया जा सकता है और तभी गेहूँ की श्रेणी का ठीक ठीक ज्ञान हो सकता है। आर्द्रता, प्रोटीन, भस्म, स्टार्च, सेलुलोज़, वसा, माल्टोज़ विटामिन इत्यादि की मात्रा का निश्चयन रसायनज्ञ के वैश्लेषिक कार्य के कुछ उदाहरण हैं। माल्टोज़ के निश्चयन से रोटी के चिपकनेवाले गूदा (स्टिकी क्रम्ब) सबन्धी कठिन समस्या को हल करने में बड़ी सहायता मिली है। कुछ गेहूँ में डायस्टेज़ की सक्रियता अत्यधिक और कुछ में बहुत कम होती है। विभिन्न प्रकार और श्रेणी वाले गेहूँ को मिलाकर तथा डायस्टेज की कम सक्रियतावाले नमूनों में माल्ट मिलाकर ऐसे दोषों को ठीक किया जाना चाहिये।

आटा-पिसाई उद्योग वाले रसायनज्ञों को परिशुद्ध विश्लेषण करने के अलावा अपने परिणामों का बड़े पैमाने पर व्यवहार भी करना चाहिये। जैसे रंजक कारखानों अथवा अन्य रासायनिक निर्माणियों में संपरीक्षा संयन्त्र (एक्सपेरिमेण्टल प्लाण्ट्स) लगे रहते हैं उसी प्रकार आजकल पिसाई उद्योग के रसायनज्ञों की प्रयोगशाला में भी ऐसे संयन्त्र लगे मिलेंगे। यह बड़ी महत्त्वपूर्ण बात है, क्योंकि विविध प्रकार के गेहूँ के नमूनों को वह स्वयं पीस कर यह ठीक ठीक बता सकते हैं कि वे किस हद तक चक्की-वालों के काम के होंगे तथा उनके बारे में अपने उचित सुझाव भी दे सकते हैं। गेहूँ के नमूनों से इस प्रकार की संपरीक्षा कर वह चक्कीवालों को गेहूँ की खरीद के बारे में भी उचित सलाह दे सकते हैं। अगर गेहूँ खरीदा जा चुका है तो वह उसके मिश्रण अनुकूलन अथवा पिसाई के संबंध में भी निर्देश कर सकते हैं। यों तो कोई चक्कीवाला उत्तम गेहूँ से आटा बना सकता है, लेकिन रसायनज्ञ उसे इससे अधिक भी कुछ करने में सहायता करते हैं। वह तो अपने प्रयोगों के आधार पर ऐसे गेहूँ का उपयोग कराते हैं जिसे या तो फेंक दिया जाता या फिर उसे पीस कर निकृष्ट आटा तयार किया जाता।

उपर्युक्त बातों से चक्कीवालों को उपलब्ध रसायनज्ञों की कुछ प्रत्यक्ष सेवा-सहायता की एक झलक मिलती है, परन्तु वैज्ञानिक प्रशिक्षा प्राप्त बुद्धिमान् रसाय-नज्ञ तो अन्य कितनी ही दिशाओं में उपयोगी सिद्ध हो सकता है। आटा-पिसाई तो ऐसा उद्योग है जिसकी मूल्य गणना प्रणाली में दशमलव के विन्दुओं का भी विशेष महत्त्व

[1] Estimate

होता है अतः उन पर कड़ी दृष्टि रखने की आवश्यकता होती है। प्रति बोरा पैनी के एक अंश का भी हानि या लाभ पर बड़ा गम्भीर प्रभाव पड़ता है। रसायनज्ञ अपने विश्लेषणों द्वारा यह बता सकते हैं कि गेहूँ में आर्द्रता की लाभप्रद कितनी मात्राएँ रखी जा सकती है। यह प्रायः निरर्थक जान पड़ता है क्योंकि लोग बहुधा यही सोचते हैं कि आर्द्रता की जितनी अधिक मात्रा होगी आटे का भार उतना ही अधिक होगा, फलतः लाभ की राशि भी उतनी ही बढ़ जायगी। किन्तु यह बात सही नहीं है, क्योंकि विभिन्न प्रकार के गेहूँ की एक ऐसी अनुकूलतम आर्द्रता होती है जिससे सर्वोत्तम एवं सर्वाधिक आटा प्राप्त होता है। उदाहरण के लिए मैनिटोबा नं० १ गेहूँ की उत्तम पिसाई के लिए आर्द्रता की मात्रा आस्ट्रेलिया के गेहूँ से बहुत भिन्न होती है। मैनिटोबा गेहूँ में बड़ा शक्तिशाली ग्लूटेन होता है और उसका आटा भी बहुत रवादार होता है। इस गेहूँ से अधिकतम प्राप्ति पाने के लिए इसमें १८%आर्द्रता रखनी पड़ती है अन्यथा इसका अच्छा आटा बन कर बोरे में एकत्र होने के बजाय केवल दलिया बनकर चक्की के नीचे तली[1] में जमा हो जाता है। दूसरी ओर आस्ट्रेलियाई गेहूँ के लिए भिन्न उपचार की आवश्यकता होती है क्योंकि अगर १५% आर्द्रता के ऊपर उसकी पिसाई की जाय तो वह ऊन के समान हो जाता है और फिर ठीक से छन नहीं सकता। रसायनज्ञों ने यह भी बताया है कि सबको मिलाकर एक साथ अनुकूलित करने के बनिस्बत विभिन्न प्रकार के गेहूँ का अलग-अलग अनुकूलन अधिक लाभदायक होता है। प्रत्येक प्रकार के गेहूँ की जांच अलग अलग होनी चाहिए और उत्तम फल प्राप्त करने के लिये उनके गुणों के अनुसार उनका अलग-अलग उपचार किया जाना चाहिये। उनको अलग-अलग भाण्डों में रखना चाहिए और केवल पीसने के पूर्व ही एक में मिलाना चाहिये।

इस उद्योग में शुद्धता का प्रश्न भी बड़े महत्त्व का है और इसका नियंत्रण भी रसायनज्ञों का ही कर्तव्य है। उन्हें इस मामले में बड़ी सावधानी बरतनी पड़ती है जिससे खट्टा या फफूँदी लगा गेहूँ अथवा ऐसा गेहूँ जो भीगकर खराब हो गया है, चक्की में पिसने के लिए न चला जाय। उन्हें कभी-कभी जीव-रसायनज्ञ का भी काम करना पड़ता है और अपने सूक्ष्मदर्शी (माइक्रास्कोप) तथा संवर्ध शरावक (पेट्री डिश[2]) का भी प्रयोग करना पड़ता है। आटे की चक्की में बार बार आने वाले नाशिकीटों (पेस्ट) का भी अध्ययन करना पड़ता है, उदाहरणार्थ भूमध्यसागर वाले पतंगे (मॉथ) ऐसा डिम्भीय (लार्वल) जाल बनाते हैं कि चक्की का निकास ही बन्द

[1] Offal　　[2] Petri dish

हो जाता है, तथा ऐसे विविध प्रकार के घुन होते हैं जो न केवल गेहूँ में लगकर उसे खाते हैं बल्कि उसके शेषांश में जीवाणु दोष उत्पन्न कर देते हैं जिससे काफी क्षति होती है। फिर कुछ ऐसे कृमि भी होते हैं जिनके रूपान्तर से काले काले भृग उत्पन्न हो जाते हैं। इनके अलावा अनेकों और प्रकार के नाशिकीट होते हैं जो आटा चक्की में प्रायः पलते हैं। हैमलेट का कथन है: "यह एक बेनिराया हुआ उपवन है जहाँ सभी प्रकार के पौधे उग गये हैं (हरित भूमि तृन संकुल समुझि परै नहिं पंथ—तुलसीदास) और जहाँ प्रकृति के अवांछित घास-फूस का ही राज्य है।" उसी प्रकार कोई कह सकता है कि यह उपेक्षित आटे की चक्की है जिसमें मैल और धूलि जमी है और जिसमें नाशिकीटों और सभी अशोभनीय चीजों का ही राज्य है। अतः रसायनज्ञों को नाशि-कीटों के लक्षणों की ओर से सदा सावधान रहना चाहिए जिससे वह उनके द्वारा होने वाले नाश से अपनी चक्की की रक्षा कर सकें। उन्हें धूमन की विविध रीतियों से अवगत होना चाहिये और समय समय पर यथावश्यकता चक्की के गहादि का धमन कराते रहना चाहिये। उनकी बुद्धिमानी इसमें है कि वह नाशिकीटों के आने की प्रतीक्षा न करें बल्कि उनके आगमन का अनुमान पहले से कर सकें और उनके आक्रमण के पहले ही सजग हो जायँ। एतदर्थ समय समय पर चक्की की सफाई और धूमन कराते रहना-चाहिए।

ऐसे ही अन्य अनेक काम हैं जिनका प्रतिपादन रसायनज्ञ द्वारा हो सकता है। है। उनके काम का एक महत्त्वपूर्ण भाग यह भी है कि वह वाणिज्यिक गेहूँ में प्रायः पाये जान वाले अन्य बीजों के गुणों की जाँच तथा उनका वर्गीकरण करें। ऐसे कुछ बीज तो अर्गट जैसे विषाक्त होते हैं और हृदयशुक्ति (कॉक्ल) जैसी अशुद्धियाँ पशुओं के लिये हानिकारक होती हैं, अतएव ऐसी चीजों को आटे से अलग करना अत्या-वश्यक है।

गेहूँ और आटे के काम के अलावा रसायनज्ञ अनेक अन्य उपयोगी काम भी करते हैं। उदाहरण के लिए चक्की में लगे रंगलेप की जांच करना तथा ईंधन की खपत पर चौकसी रखना इत्यादि भी उन्हीं की जिम्मेवारी मानी जाती है। वस्तुतः उन्हें हर बात पर विज्ञान की चौकन्नी दृष्टि रखनी पड़ती है तथा छोटी बड़ी जो भी समस्याएँ सामने आयें उन्हें अपनी वैज्ञानिक बुद्धि से हल करना पड़ता है। आटे की चक्की वाले रसायनज्ञों का संबन्ध मनुष्य के प्रमुख एवं सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण खाद्य पदार्थ से होने के कारण उनका काम अत्यन्त उत्तरदायित्वपूर्ण होता है। आटे की बनी रोटी की श्रेणी पर ही तो सारे राष्ट्र का स्वास्थ्य और कल्याण निर्भर करता है। रसायनज्ञ को अपनी परम्पराओं का आदर करना तथा प्रत्येक बात पर निष्पक्षता से विचार

करना चाहिए। हठधर्मी लोगों की बातों को सुन लेने में हर्ज नहीं किन्तु उनसे सहमत होने तथा उसके अनुसार काम करने की जरूरत नहीं। उन्हें सर्वदा याद रहना चाहिए कि उनका काम राष्ट्र के लिये यथासंभव सर्वोत्तम रोटी तैयार करना है नकि किसी की विक्षिप्त बातों पर विचार करना, विशेषकर जब ऐसी बातें सचमुच किसी सुदृढ़ सिद्धान्त पर आधारित न हों।

राष्ट्र की रोटी की उत्तमता का निश्चय करने वाले रसायनज्ञ का काम युद्ध-काल में तो और भी गुरुत्वपूर्ण होता है। शान्ति काल में जब गेहूँ का प्रचुर नौवहन होता था तब चक्की वाले गेहूँ से लगभग ७०% सफेद मैदा बनाते थे तथा कुछ सीमित मांग की पूर्ति के लिये कभी कभी १००% पूर्ण चूर्ण (होल मील) भी तैयार कर लेते थे। किन्तु युद्धकाल की आपाती आवश्यकताओं की वजह से नौवहन (शिपिंग) का प्रयोग अन्य अधिक जरूरी कामों के लिए करना पड़ा फलतः गेहूँ की उपलब्धि में कमी हो गयी और जितना प्राप्य था उससे अधिक से अधिक मैदा तैयार करना आवश्यक हो गया। १९४१ में गेहूँ से मैदे की प्राप्ति ७५% और १९४२ में ८५%तक बढ़ायी गयी। इस परिवर्तन के कारण आटा-पिसाई की प्रविधि में आमूल संशोधन करना पड़ा और मैदे की श्रेणी का स्थायीकरण भी। इसमें रसायनज्ञों का बड़ा महत्वपूर्ण योगदान था। मैदे के तत्कालीन सरकारी मानक निम्नलिखित है: "आटे में यथासंभव अधिक अंकुर, विटामिन बी$_१$—१.०-१.५ अन्तर्राष्ट्रीय एकक, तन्तु कम से कम ०.६५% और भस्म लगभग ०.८५% होना चाहिए तथा नं० ८ की रेशम छन्नी से छानने पर ११% से अधिक चोकर न हो।" इन मानकों को देखकर कोई भी यह समझ सकता है कि आटा पिसाई की विधा पर किस प्रकार रसायनज्ञ का पूरा नियंत्रण एवं अधिकार होता है।

युद्धान्तर काल में भी रसायनज्ञ पर बड़ी जिम्मेदारी है क्योंकि जनता श्वेत रोटी चाहती है जब कि ऐसी रोटी बनाने में उसके कुछ महत्त्वपूर्ण विटामिन और खनिज पदार्थ नष्ट हो जाते हैं। इन आवश्यक तत्त्वों का पता रसायनज्ञों ने ही लगाया है तथा उनके संश्लेषण की विधा (प्रक्रिया) भी उन्हीं की सफलता का फल है। सफेद मैदे में ये तत्त्व कैसे और किस मात्रा में मिलाये जायँ कि उससे रोटी बनने पर उसके स्वाद में तनिक भी अन्तर न पड़ने पाये। इस समस्या का हल भी रसायनज्ञ के ही हाथ में है। संयुक्त राज्य अमेरिका में वाणिज्यिक पैमाने पर तैयार होने वाली रोटियों में भी ऐसे तत्त्व मिलाये जाने लगे हैं। इन तत्त्वों को या तो मैदे में ही डाल दिया जाता है या फिर उन्हें गुँधे हुए पिष्ट में मिलाया जाता है। पहली अक्तूबर १९४३ को मैदे के लिये जो मानक निश्चित किया गया था वह इस प्रकार है: प्रति पौण्ड मैदे में थायामीन

२·०—२·५ मिलीग्राम, रिबोफ्लैवीन १·५ मिलीग्राम, निकोटिनिक अम्ल १६·०—२०·० मिलीग्राम तथा लोहा १३·०—१६·५ मिलीग्राम।

कनाडा में भी पिसाई की प्रविधि में कुछ परिवर्तन करके विटामिन युक्त सफेद मैदा तैयार किया जाने लगा है, यद्यपि इसमें विटामिन यथेष्ट मात्रा में नहीं होता। इस प्रविधि के विकास में भी रसायनज्ञ का ही प्रयास निहित है। ऐसा लगता है कि भविष्य में प्रायः सभी जगह रोटी में जीव-रसायनज्ञों द्वारा निर्धारित मात्रा में संश्लिष्ट विटामिन मिलाकर उसे अधिक पौष्टिक बनाया जायगा। इंग्लैण्ड में एन्यूरीन (विटा० बी$_1$) तैयार करने के लिये संयन्त्र स्थापित किया जा चुका है और यदि नौवहन की कठिनाई न हुई होती और ७०% मैदा बनाना जारी रहता तो उसमें एन्यूरीन मिलाकर उसे अवश्य ही अधिक पौष्टिक बनाया जा सकता। विटामिनों से परिपूर्ण एक विशेष प्रकार का किण्व (यीस्ट) तैयार करके विटामिन-समृद्धिकरण (एनरिचमेण्ट) की एक नई रीति निकालने का प्रयत्न हो रहा है।

गत समय में भी रसायनज्ञों ने पिसाई उद्योग में महान् योगदान किये हैं, लेकिन भविष्य में तो इसकी संभावनाएँ और भी अधिक हैं। इस उद्योग में अब रसायनज्ञों का पूरी तरह से स्थायी स्थान बन गया है और यह निश्चित है कि वे अपने नमक का बदला अवश्य चुकायेंगे।

ग्रन्थ-सूची

AMERICAN ASSOCIATION OF CEREAL CHEMISTS: *Cereal Chemistry*, Vols. 1-21, *American Cereal Laboratory Methods.*

BAILEY, C. H. : *Chemistry of Wheat Flour.* Reinhold Publishing Co.

BAILEY, C. H. : *The Constituents of Wheat and Wheat Products.* Reinhold Publishing Co.

DULY, S. J. : *Grain.* Oxford University Press.

FAIRBROTHER, T. H. : *Wheat and Flour Section Food Industries Manual.* Leonard Hill, Ltd.

KENT-JONES, D. W. : *Modern Cereal Chemistry.* Northern Publishing Co., Ltd.

SCOTT, J. H. : *Flour Milling Processes.* Chapman & Hall, Ltd.

SIMON, E. D. : *Physical Science of Flour Milling.* Northern Publishing Co., Ltd.

रोटी

डी० डब्लू० केण्ट-जोन्स, बी० एस-सी०, पी०-एच० डी० (लन्दन),
एफ० आर० आई० सी०

मनुष्य को गेहूँ उपजाने की कला प्रागैतिहासिक काल से ही मालूम थी। उसने रोटी बनाना कब सीखा यह बात भी प्राचीनता के ही गर्भ में छिपी हुई है। प्रस्तर युग में भी गेहूँ उपजता था और उसे कूट कर तथा पानी में सान कर पिष्ट बनाया जाता और उसी का टिक्कड़ बना कर संभवतः तप्त पत्थरों पर ही सेंक लिया जाता था।

शुरू शुरू में रोटी बनाने की एक घरेलू कला थी। पहले रोटी विना ख़मीर उठाये बनती थी, फलतः वह अवातित (अनएरेटेड) होती थी। यह किंवदन्ती है कि वातित (एरेटेड) और हल्की रोटी संयोगवश एक यूनानी नौकर की कामचोरी के फलस्वरूप बनी थी। उस भलेमानस ने एक दिन डर के मारे अपनी जान बचाने के लिए पहले दिन का सना हुआ आटा मिला कर रोटी के लिए पिष्ट बनाया। इसी घटना के परिणामस्वरूप ख़मीरी रोटी बन गयी क्योंकि बासी पिष्ट में यीस्ट[1] उत्पन्न हो गया था, जिसकी वजह से उसमें किण्वन (फर्मेण्टेशन) और वातन[2] हो गया और उत्तम एवं हल्की रोटी तैयार हो गई। मैदे को पानी में सान कर बनाया गया पिष्ट यीस्ट के प्रजनन एवं वर्धन के लिए बड़ा उपयुक्त माध्यम होता है, इसलिए अगर किसी बासी पिष्ट पर वन-यीस्ट आ पड़ें और उन्हें कुछ समय मिल जाय तो उनका गुणन इतना शीघ्र होगा कि थोड़े ही समय में वह पिष्ट केवल एक निर्जीव पिण्ड नहीं वरन् एक जीवित पुञ्ज बन जायगा।

कुछ समय बाद नियंत्रित विधा से जीवित यीस्ट का प्रयोग किया जाने लगा और सक्रिय किण्वक (फर्मेण्टिग एजेण्ट) के शीघ्र गुणन योग्य मिश्रण पर यीस्ट तैयार करके उसे ताज़े बने पिष्ट में मिलाया जाता था। आगे चल कर अधिक सक्रिय प्रकार का यीस्ट ही पिष्ट में मिलाया जाने लगा। इस रीति का उत्तम फल हुआ क्योंकि मिश्रण बना कर डालने से किण्वक बहुत धीरे धीरे उत्पन्न होता था।

पहले बिअर बनाने में प्रयुक्त होने वाला यीस्ट ही रोटी बनाने के काम में भी आता था, लेकिन बाद में यह पता लगा कि कुछ अन्य प्रकार के यीस्ट से रोटी बनाने में अधिक सक्रिय किण्वन होता है। आसवकों (डिस्टिलर्स) द्वारा प्रयुक्त होने वाला

[1] Yeast [2] Aeration

यीस्ट विशेष रूप से सक्रिय जान पड़ा। इस प्रकार ऐलकोहाल तैयार करने वाली आसवनी (डिस्टिलरी) का एक उपपदार्थ रोटी बनाने में बड़ा महत्त्वपूर्ण संघटक बन गया। किन्तु कालान्तर में परिस्थिति एकदम बदल गयी। रोटी बनाने के लिए ही इस प्रकार के यीस्ट की विशाल मात्रा की ज़रूरत पड़ने लगी और इसे मुख्य रूप से तैयार करना पड़ा, फलतः ऐलकोहाल स्वयं उपपदार्थ बन गया।

जैसे जैसे रोटी बनाने का उद्योग बढ़ने लगा और घरों में रोटी बनना कम होने लगा वैसे वैसे यह भी ज़रूरी हो गया कि किण्वन विधा को ठीक ठीक समझा जाय। संसार भर से गेहूँ मँगा कर मैदा तैयार करने वालों ने अनुभव किया कि रोटी वाले अब कुछ विशेष प्रकार के गेहूँ के मैदे की ही माँग करने लगे हैं, क्योंकि एक विशेष प्रकार का मैदा इस्तेमाल करने से कुछ ख़ास भ तिक गुणों वाला पिष्ट तैयार होता था जिससे रोटी वाले अपनी किण्वन प्रक्रिया से बड़ी आकर्षक, सुन्दर रंग एवं सुगन्ध वाली पाव रोटी बना सकते थे। ऐसी रोटी की जनता में बड़ी माँग होती। धीरे धीरे रसायनज्ञों ने ऐसी परीक्षाओं एवं जाँच करने की रीतियों का विकास किया जिनसे विभिन्न प्रकार के गेहूँ और मैदे की परीक्षा करके यह बताया जा सकता था कि वह उत्तम रोटी बनाने के लिये उपयुक्त है अथवा नहीं। कुछ मैदे प्रत्यक्ष रूप से साधारण सेंकाई के लिये संतोषजनक नहीं सिद्ध हुए क्योंकि वे कुछ बातों में हीन थे। उदाहरण के लिए जिस प्रकार उनकी प्रोटीन मात्रा कम थी उसी प्रकार उनके ग्लूटेन के भौतिक गुण भी भिन्न थे तथा उनमें डायस्टीय सक्रियता भी कम थी। डायस्टीय सक्रियता कम होने के कारण उनमें स्टार्च के जलांशन (हाइड्रोलिसिस) से प्रचुर मात्रा में शर्करा नहीं बन पाती थी इत्यादि।

भिन्न-भिन्न रोटी वालों के विभिन्न प्रकार की अपनी अपनी प्रक्रियाएँ प्रयोग करने के कारण यह विषय बड़ा जटिल हो गया है। कभी तो सब संघटकों अर्थात् मैदा, यीस्ट, लवण और पानी को एक साथ मिला कर किण्वन के लिए छोड़ दिया जाता है। ऐसे मिश्रण को "स्ट्रेटडफ़" अर्थात् "ऋजुपिष्ट" कहते हैं और यह कम समय (३–४ घण्टे) अथवा अधिक समय (१०–१२ घण्टे) वाली दोनों विधाओं के लिए तैयार किया जा सकता है। वस्तुतः समय तो मुख्यतः यीस्ट की मात्रा पर ही निर्भर होता है। लेकिन यह ज़रूरी नहीं कि जो मैदा कम समय वाली विधा (प्रक्रिया) के लिये उपयुक्त हो वही लम्बी प्रक्रिया के लिए भी ठीक हो। कभी कभी रोटी वाले 'स्पंज और डफ' प्रणाली से रोटी बनाना पसन्द करते हैं। इस प्रणाली में भी समय बढ़ाया घटाया जा सकता है। 'स्पंज और डफ़' रीति में मैदे के केवल थोड़े से भाग का पिष्ट बनाया जाता है और उसी में सारा यीस्ट मिला दिया जाता है। जब इस पंज में कुछ समय तक किण्वन हो चुकता

है तब उसमें जल डाल कर उसकी लेई बना ली जाती है और तब उसीमें बचा हुआ मैदा और लवण डाल कर अन्तिम पिष्ट तैयार किया जाता है। इससे किण्वन में बहुत कम समय लगता है। विभिन्न प्रक्रियाओं के हानि-लाभ का सविस्तर विवरण यहाँ अनावश्यक है, किन्तु यह स्पष्ट है कि जब इतने विविध प्रकार की प्रक्रियाएँ प्रयुक्त होती हैं तो समस्याएँ भी अनेकानेक उठती हैं।

रोटी बनाने की प्रक्रिया एक जटिल जैविकीय प्रक्रिया है, जिसमें जीवित यीस्ट का प्रयोग होता है। पहले रोटी बनाने वाले यह नहीं समझ पाते थे कि किण्वन में कौन कौन सी क्रियायें घटित होती हैं। उनके लिये तो दीर्घकालीन अनुभव ही उनका एक-मात्र पथ-प्रदर्शक होता था। परन्तु आगे चलकर वैज्ञानिकों ने अपने अन्वेषणों से ऐसे आविष्कार किये जिनकी वजह से रोटी बनाने की कला वैज्ञानिक सिद्धान्त पर आधारित हुई तथा रोटी बनाने वालों की कठिनाइयों का वैज्ञानिक ढंग से निवारण किया जाने लगा। जनसंख्या के वर्तमान वितरण के कारण विशाल पैमाने पर रोटी का उत्पादन प्रायः अनिवार्य-सा हो गया है। इसीलिये आजकल 'संयन्त्र रोटीघर' (प्लाण्ट बेकरी) कहलाने वाली बड़ी-बड़ी निर्माणियों[1] में रोटी बनाना आवश्यक हो गया है। इन विशाल रोटीघरों में बिना वैज्ञानिक निर्देशन एवं नियंत्रण के किसी कुशल रीति से संतोषप्रद रोटी बनाना संभव नहीं।

रोटी निर्माण में रसायनज्ञों के कार्यभाग का कुछ विस्तृत विवरण देने के पहले यह समझना आवश्यक है कि रोटी बनाने की क्रिया में वस्तुतः क्या क्या होता है। पिष्ट में जब किण्वन होता है तो मैदे की शर्करा पर यीस्ट की प्रक्रिया के कारण कार्बन डाइआक्साइड गैस उत्पन्न होती है और उसीसे उसमें ख़मीर उठती है। वातन (एरेशन) प्रारम्भ होते ही पिष्ट को सेंककर रोटी बनाना ठीक नहीं होता, क्योंकि ऐसा करने से छोटी, दबी हुई और भारी रोटी बनती है। जैसा कि पहले बताया जा चुका है, किण्वन के लिये आवश्यक समय उसमें यीस्ट के अनुपात पर निर्भर होता है, परन्तु पिष्ट के परि-पक्व होने के लिए तो कुछ समय बीतना ज़रूरी होता है, यानी ग्लूटेन में उसके ठीक ठीक भौतिक गुण आ जाने चाहिए। जब पिष्ट यथार्थतः परिपक्व हो जाता है तभी उसके छोटे-छोटे भागों को सांचों में ढाल कर पाव रोटी का आकार प्रदान किया जाता है, क्योंकि कम परिपक्व अथवा अधिक परिपक्व पिष्ट से बनी रोटी निम्न श्रेणी की होती है। इसके बाद भी सेंकने के पूर्व पिष्ट में थोड़ी और ख़मीर उठने दिया जाता है जिससे

[1] Factories

वह फूल करके सचमुच पाव रोटी की शकल की बन जाय। परन्तु ख़मीर का यह उठान तभी संभव होगा जब यीस्ट सक्रिय हो और उसकी प्रक्रिया के लिए पिष्ट में पर्याप्त शर्करा मौजूद हो। कभी-कभी उपयुक्त परिपक्वता उत्पन्न करने के लिए दीर्घकालीन किण्वन में मूल शर्करा समाप्त हो जाती है। यह शर्करा भी आटे के स्टार्च पर डायस्टीय एंज़ाइमों की प्रक्रिया से उत्पन्न होती है। इससे प्रकट है कि यह सारी प्रक्रिया बड़ी सूक्ष्म और संतुलित है। ग्लूटेन का ठीक-ठीक परिपक्व होना अत्यन्त आवश्यक है। और उसी के साथ साथ यथेष्ट मात्रा में कार्बन डाइआक्साइड गैस का उत्पन्न होना भी।

यीस्ट अथवा मैदे में किसी दोष अथवा सेंकाई प्रविधि में किसी भूल के कारण ही अक्सर अच्छी और संतोषजनक रोटी नहीं बन पाती। अगर दोष मैदे में हो तो यह जानने की ज़रूरत होती है कि क्या उसके ग्लूटेन की मात्रा अथवा प्रकृति इस अवांछित फल का कारण तो नहीं अथवा यीस्ट के एंज़ाइमों की सक्रियता में तो कोई गड़बड़ी नहीं अथवा अन्य किस अभाव के कारण अच्छी रोटी नहीं बनी। और अगर सेंकाई में कुछ भूल हुई तो ग़लती कब, कहाँ और कैसे हुई ? इन सभी प्रश्नों के सही उत्तर जान लेने पर ही संतोषप्रद परिणाम प्राप्त हो सकता है।

पिसाई उद्योग वाले रसायनज्ञों के लिए यह देखना अत्यावश्यक है कि मैदा किण्वन की विशिष्ट प्रक्रिया के लिए उपयुक्त है कि नहीं। उन्हें गेहूँ एवं मैदे के सेंकाई गुणों का ज्ञान होना चाहिये, तथा यह जानना भी ज़रूरी है कि रोटी में चिपकदार गूदा सदृश दोष किन कारणों से उत्पन्न होते हैं, जिससे वे उसका सफल निवारण कर सकें। यद्यपि आजकल रोटी बनाने वाले अपनी विशेष किण्वन प्रक्रिया के सुनिश्चित ज्ञान से यथा-संभव—मैदे के गुणों की जाँच कर लेते हैं, लेकिन उन्नतिशील एवं कुशल रोटीघरों में रसायनज्ञों की सेवा आवश्यक समझी जाती है। सामान्यतः इनके अनुसन्धानों की तीन मुख्य दिशाएँ हैं—

(१) आर्द्रता-परीक्षण, प्रोटीन और भस्म आगणन, डायस्टीय सक्रियता और रंग निश्चयन जैसे रासायनिक विश्लेषण।

(२) मैदे से बने वास्तविक पिष्ट का भौतिक एवं यांत्रिक परीक्षण। यह परीक्षण बड़ा महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि रोटी बनाने वाला पिष्ट के भौतिक गुणों को देखकर अपने अनुभव से बड़ी सरलता से यह जान लेता है कि उससे अच्छी रोटी बनेगी या नहीं और इसी आधार पर वह किसी मैदे को पसन्द या नापसन्द करता है। पहले पिष्ट के भौतिक गुणों की परीक्षा उसे छूकर अथवा हाथ में लेकर की जाती थी, इसीलिए ऐसे निर्णय बहुधा भ्रमात्मक होते थे। परन्तु अब तो पिष्ट-परीक्षण के लिये भी यंत्र तैयार हो गये हैं जिनसे उनका मूल्यांकन ठीक-ठीक किया जा सकता है और प्राप्त परिणाम

कार्यकर्ता की वैयक्तिक धारणाओं से मुक्त होते हैं तथा वैज्ञानिक परिशुद्धता से निकाले जा सकते हैं। बड़े बड़े रोटीघरों में रसायनज्ञों ने पूर्वगामी विधाओं में परिवर्तन करके अब उन्हें अपने कार्यानुरूप बना लिया है। पिष्टपरीक्षण यंत्रों द्वारा की गई संपरीक्षाओं के विश्वसनीय परिणामों के आधार पर कुछ बहुत सुन्दर सुझाव भी दिये जा सके हैं।

(३) सेंकाई का नियंत्रित परीक्षण—ये परीक्षण उचित और निश्चित रूप से तभी किये जा सकते हैं जब उनकी परिस्थितियों पर ठीक-ठीक वैज्ञानिक नियंत्रण हो।

रोटी निर्माण से संबन्धित समस्याओं को हल करने के अलावा अन्य बातों में भी विशाल रोटीघरों वाले रसायनज्ञों के परामर्श की आवश्यकता पड़ती है, जो बड़े लाभ-दायक होते हैं। रोटी बनाने में इस्तेमाल होने वाले पदार्थ, जैसे यीस्ट, यीस्ट-सक्रियकर्ता, लवण, दुग्धचूर्ण और माल्ट के ही विश्लेषण नहीं करने पड़ते बल्कि शर्करा, वसा और फलों जैसे मिष्ठान्न बनाने में काम आने वाली अनेक अन्य चीजों का भी परीक्षण करना पड़ता है। 'मेजेण्टेरिकस' नामक जीव से उत्पन्न होने वाले रोटी-रोग के निवारण सदृश जैवाणवि समस्याएँ आती हैं और उनका अध्ययन एवं समाधान करना पड़ता है। प्रत्येक बिस्कुट निर्माणी में समस्याओं को हल करने के लिए रसायनज्ञ की आवश्यकता होती है। विविध प्रकार के बिस्कुट तैयार करने के लिए अलग अलग किस्म के मैदे की ज़रूरत होती है। मैदे की विशिष्टियाँ (स्पेसिफिकेशन्स) भी निर्धारित की जा सकती हैं। कभी-कभी बिस्कुट जल्द टूटने या चिटकने वाले हो जाते हैं। यह भी रसायनज्ञ की ही समस्या होती है। इसी प्रकार की अन्य और कितनी समस्याएँ उनके सामने आतीं है, कहना कठिन है।

रोटी, मिठाई और बिस्कुट बनाना अब एक कला मात्र नहीं रह गया है, क्योंकि अगर सचमुच मितव्ययिता से सर्वोत्तम परिणाम प्राप्त करना हो तथा अपव्यय रोकना हो तो इन वस्तुओं को तैयार करने के लिये सुनिश्चित वैज्ञानिक प्रक्रियाओं और वैज्ञानिक पर्यवेक्षण की आवश्यकता पड़ती है।

रसायनज्ञों को मधुमेह के रोगियों के लिये भी विशेष प्रकार की रोटियाँ तैयार करनी पड़ती हैं। वस्तुतः रोटी के पोषण-मान का सारा विषय ही उनके मस्तिष्क में बराबर घूमा करता है। यद्यपि सफ़ेद रोटी की अधिक खपत होती है, किन्तु कुछ परिस्थितियों में भूरी रोटी तथा अंखुआई रोटी की भी माँग होती है क्योंकि उनके अपने विशेष लाभ होते हैं। अतः उनके बारे में भी रसायनज्ञ को सोचना पड़ता है।

रोटी उद्योग में लगे रसायनज्ञ को विशुद्ध रासायनिक कार्यकलाप के अलावा जीव रसायनज्ञ का भी काम करना पड़ता है। रोटी के पोषण-मान तथा विटामिन

संबन्धी प्रश्नों के हल में भी उसे संलग्न होना पड़ता है। १९४० में श्वेत मैदे में संश्लिष्ट विटामिन बी डाल कर उसे अधिक पौष्टिक बनाने की प्रथा प्रारम्भ हुई थी, जिसके फलस्वरूप विटामिन का परीक्षण भी रसायनज्ञ के जिम्मे आ पड़ा। लेकिन इस प्रकार श्वेत मैदे की बड़ी भारी कमी दूर हो गयी तथा इसका उत्पादन जारी रखा जा सका। भूरी रोटी में यही विटामिन (बी) बना रहता है यानी नष्ट नहीं होने पाता, इसीलिये यह श्वेत रोटी की अपेक्षा अधिक पौष्टिक होती है। संश्लिष्ट विटामिन उपलब्ध हो जाने के बाद रोटी का पुष्टिकरण (फार्टिफिकेशन) यथार्थ वैज्ञानिक नियंत्रण में ही करना संभव हुआ। रोटियों में अब तन्तु अन्न (रफ़ेज) डालने की आवश्यकता नहीं होती। अतः पिसाई उद्योग के इन उपपदार्थों को पशु एवं कुक्कुटादि को खिलाने के लिये इस्तेमाल किया जा सकता है। यह न भूलना चाहिये कि ये प्राणी इन्हीं पदार्थों को खाकर हमारे लिए दूध, मक्खन, अण्डे और अनेक अन्य मूल्यवान् पदार्थ उत्पन्न करते हैं। बाद में नौवहन परिस्थिति में कठिनाई हो जाने से मितव्ययिता की आवश्यकता हुई और सफ़ेद मैदा बनाना रोक कर गेहूँ का ८५% आटा बनने लगा। शुरू में तो यह आटा निश्चित रूप से भूरे चूर्ण की तरह था किन्तु कुछ समय बाद उसकी उन्नति की गई और वह सफ़ेद मैदे से कुछ ही कम श्वेत रह गया। लेकिन वांछनीय बात यह थी कि उसकी विटामिन $बी_१$ मात्रा अपेक्षाकृत कम नहीं हुई। यह मात्रा लगभग १·० अन्तर्राष्ट्रीय एकक प्रतिग्राम अथवा १·३५ मिलीग्राम प्रति पौण्ड थी। मैदे के बोरे में चूर्णित बरूथिका (स्कूटिलम) मिलाई जाने से ही विटामिन $बी_१$ की मात्रा बढ़ जाती थी। बरूथिका धान्य का वह भाग है जिसमें विटामिन $बी_१$ की अधिकतम मात्रा होती है। जब अनाज को तनिक सूखी अवस्था में पीसा जाता है तब सुचूर्ण्य बरूथिका भी पिस कर बोरे में एकत्र होती है, अन्यथा वह एक उपजात[1] के रूप में प्राप्त होती है।

यह विवादग्रस्त प्रश्न है कि क्या आटे की पिसाई ऐसी हो कि उसमें विटामिन की क्षति न हो अथवा उसका श्वेत मैदा बना कर उसमें अलग से संश्लिष्ट विटामिन मिलाये जायँ? ब्रिटेन की नीति तो श्वेत मैदा बना कर उसमें विटामिन $बी_१$ मिलाने की रही है और इसी नीति का प्रसार संयुक्त राज्य अमेरिका में भी हुआ है। वहाँ श्वेत मैदा बनाने की अनुमति तो है परन्तु यह ज़रूरी है कि उसका पुष्टिकरण इस प्रकार हो कि उसमें आवश्यक तत्त्वों की मात्राएँ निम्नलिखित हों :

[1] Byproduct

		प्रति पौण्ड मैदे में न्यूनतम मात्रा
विटामिन बी₁ (एन्यूरीन अर्थात् थायामीन)	...	२·० मिलीग्राम
निकोटिनिक अम्ल	... ...	१६·० ,,
रिबोफ्लैवीन	... ...	१·२ ,,
लोहा ...	... ...	१३·० ,,

यद्यपि अनिवार्य नहीं फिर भी कनाडा में प्रायः ७८% आटा बनता है, जिसका रंग उतना सुन्दर नहीं होता जितना श्वेत मैदे का। इसमें विटामिन बी₁ की मात्रा लगभग ०·८ अन्तर्राष्ट्रीय एक प्रति ग्राम अर्थात् १·१ मिलीग्राम प्रति पौण्ड होती है।

इतना होने पर भी इस दिशा में अभी काफी काम करना बाकी है। व्यावाहरिक अभिरुचि वाले वैज्ञानिकों तथा वैज्ञानिक अभिरुचि वाले रोटी बनाने वालों के निकट सहयोग से बहुत सी रूढ़िवादी रीतियों को हटा कर वैज्ञानिक रीतियाँ अपनायी गयी हैं, फिर भी अभी प्रर्याप्त काम शेष है।

इस विषय पर प्रति वर्ष प्रकाशित होने वाले वैज्ञानिक लेखों की संख्या देख कर रोटी, बिस्कुट इत्यादि के निर्माण में रसायनज्ञ के बढ़ते हुए कार्य भाग का सरलता से अनुमान किया जा सकता है। प्रकृति की सबसे महत्त्वपूर्ण देन अर्थात् गेहूँ का सर्वोत्तम उपयोग करना तथा उससे मैदा और रोटी बनाना अतिशय महत्त्व वाले विषय हैं और इनके प्रतिपादन में रसायनज्ञ को अभी काफी योगदान करना शेष है। इसका अर्थ यह है कि रसायनज्ञ को इन विषयों पर निरन्तर ध्यान देने की आवश्यकता है।

ग्रन्थ-सूची

BAILEY, C. H. : *Chemistry of Wheat Flour*. Reinhold Publishing Co.

BAILEY, C. H. : *Constituents of Wheat and Wheat Products*. Reinhold Pub. Corp.

BENNION, E. B. : *Breadmaking*. Oxford University Press.

JAGO, W. AND W. C. : *Technology of Breadmaking*. Simpkin, Marshall, Hamilton, Kent & Co., Ltd.

KENT-JONES, D. W. : *Modern Cereal Chemistry*. Northern Publishing Co., Ltd.

KENT-JONES, D. W. : *Practice and Science of Breadmaking*. Northern Publishing Co., Ltd.

KOZMIN, N. B. : *Das Problem der Backfahigkeit.* Verlag von Moritz Schafer.
MAURIZIO, A. : *Die Nahrungsmittel aus Getreide.* Paul Parey.

दूध तथा दुग्धालय पदार्थ

ई० बी० ऐण्डरसन, एम० एस-सी० (लन्दन), एफ० आर० आई० सी०

गोदुग्ध एक जैविकीय[1] पदार्थ है, जिसकी संरचना बड़ी जटिल है। इसमें वसा, प्रोटीन, कार्बोहाइड्रेट, एंज़ाइम[2], विटामिन तथा खनिज लवणों के अतिरिक्त कितने ही अन्य लघु संघटक[3] विद्यमान हैं। दूध की पोषक शक्ति में इन सभी संघटकों का योग होता है। दुग्धालय के अन्य पदार्थों के बनाने में इन सबमें कुछ न कुछ परिवर्तन होता है, परन्तु यहाँ केवल बड़े बड़े संघटकों का ही संक्षिप्त वर्णन किया जायगा। ये संघटक निम्नलिखित हैं : नवनीत-वसा (बटर फैट), लैक्टोज़ (दुग्ध शर्करा) और प्रोटीन-केज़ीन तथा लैक्टैंअलबूमिन। दूध में वसा जल-तेल पायस के रूप में होती है और इसकी गोलिकाएँ[4] सूक्ष्मदर्शी (माइक्रॉस्कोप) की सहायता से देखी जा सकती हैं। नवनीत-वसा का घनत्व जल से कम होता है, इसलिये अगर दूध को कुछ समय के लिये स्थिर छोड़ दिया जाय तो वसा उतरा जायगी और ऊपर मलाई यानी क्रीम की एक तह बन जायगी। वसा के उतराने की यह गति 'स्टोक्स नियम' के अनुसार अपेक्षित गति से अधिक तीव्र होती है। संभवतः इसका कारण यह है कि छोटी-छोटी गोलिकायें आपस में मिल कर एक बड़ा पुँज बना लेती हैं जो अपेक्षाकृत तेजी से ऊपर उठता है। लक्टोज़ अर्थात् दुग्ध शर्करा ईख की शर्करा से कम मीठी और कम जल-विलेय होती है। लक्टिक जीवाणुओं द्वारा लक्टोज़ का परिवर्तन हो कर लक्टिक अम्ल बनता है। दूध में लैक्टोज़ की मात्रा ४–५% होती है। केज़ीन नामक प्रोटीन में कार्बन, हाइड्रोजन, नाइट्रोजन और आक्सीजन के अतिरिक्त फास्फोरस और गंधक भी होते हैं। यह प्रोटीन कैल्सियम लवण तथा कल्सिय ट्राइफास्फेट के कलिलीय-जटिल (कोलायडल कॉम्प्लेक्स) के रूप में रहती है। विलयनों में से रिनेट द्वारा इसका अवक्षेपण[5] होता है, और यह अवक्षेप रासायनिकतः अपरिवर्तित रूप में होता है। किन्तु अम्ल अवक्षेपण से उपर्युक्त जटिल

[1] Biological [2] Enzymes [3] Minor constituents
[4] Globules [5] Precipitation

भंग हो जाता है। दूध को केवल कुछ समय तक १००° से० पर गरम करने मात्र से प्रोटीन का अवक्षेपण नहीं होता। दूध में प्रोटीन की मात्रा लगभग ३% होती है, जिसमें लैक्टैल्व्युमिन प्रायः ०·५% होती है, जो रिनेट द्वारा अवक्षेपित नहीं होती, लेकिन ६०° से०° के ऊपर गरम करने पर स्कंदित (कोआगुलेटेड) हो जाती है। दूध के संघटकों की चर्चा करते हुये यह बताना आवश्यक है कि गोदुग्ध का पीला रंग एक रंग द्रव्य अर्थात् कैरोटीन के कारण होता है। कैरोटीन विटामिन ए का पूर्वगामी द्रव्य माना जाता है। यह द्रव्य नवनीत-वसा में मिला रहता है। गोदुग्ध में एक पीले रंग का यौगिक होता है जिसे रिबोफ्लैवीन यानी विटामिन बी$_2$ कहते हैं, गोदुग्ध का पीला रंग इसीके कारण होता है।

द्रव दूध—दूध कच्चा अथवा पाश्चरीकृत करके पिया जाता है। पाश्चरीकरण के लिये दूध को १४५°—१५०° फ० ताप पर कम से कम ३० मिनट तक गरम किया जाना चाहिये। किन्तु अभी हाल में आधिकारिक रूप से स्वीकृत 'उच्च-ताप-अल्प-काल' (हाई-टेम्परेचर-शॉर्ट-टाइम) प्रक्रिया के अनुसार दूध को १६२° फ० (७२·२° से०) पर कम से कम १५ सेकेण्ड तक गरम करना आवश्यक माना गया है। पाश्चरी-करण के दो उद्देश्य हैं: (१) रोगोत्पादक प्राणियों का नाश करना, तथा (२) दूध के परिरक्षी गुण को बढ़ाना, जिससे गर्मी में दूध खट्टा न होने पावे और इस प्रकार दूध के खट्टे हो जाने के कारण होने वाली क्षति को रोककर आर्थिक हानि बचाना। दूध को गरम करके पीना अब भी एक विवादग्रस्त विषय है, यद्यपि जब हम अपनी रोटी सेंककर खाते हैं तथा आलू और अण्डा उबालकर, मांस भी पकाकर ही खाया जाता है तब दूध को ही गरम करने पर इतना व्यापक विवाद क्यों खड़ा हो गया समझ में नहीं आता।

द्रव दूध के वैज्ञानिक नियंत्रण के लिये उसमें वसा तथा उसके अलावा सान्द्रों की मात्रा का निश्चयन किया जाता है। इससे उसकी पोषक शक्ति तथा उससे अन्य पदार्थ बनाने के लिये उसकी उपयुक्तता का पता लगता है। अम्लता के निश्चयन से दूध की ताजगी का पता चलता है। मिथिलीन ब्लू-परीक्षा या पात्री-गणन (प्लेट काउण्ट) अथवा दोनों से उसके जीवाणिवीय[1] गुण का ज्ञान होता है। कुछ समय से मिथिलीन ब्लू के स्थान पर रिसाज़ुरीन नामक रंजक का प्रयोग होने लगा है, किन्तु पुरानी रीति अब भी उत्तम मानी जाती है। दूध में पानी मिलाकर उसका प्रायः अपमिश्रण

[1] Bacterial

(ऐडलट्रेशन) किया जाता है, लेकिन हिमांक परीक्षा से इसकी अच्छी जाँच हो जाती है, क्योंकि दूध में विद्यमान लवणों के विलयन के तनूकरण से उसका हिमांक (फ्रीज़िंग प्वाइण्ट) नीचे गिर जाता है। अतः यह परीक्षा उपर्युक्त धोखेबाजी से बचने के लिए अच्छा साधन है। दूध में एंज़ाइम भी होते हैं और इनमें एक एंज़ाइम के ऊपर उष्मा का प्रभाव पाश्चरीकरण के नियंत्रण के लिये सबसे नई और सर्वोत्तम परीक्षा है।

मलाई—मलाई अर्थात् क्रीम वस्तुतः दूध के उस स्तर (लेअर) को कहते हैं जो दूध के कुछ समय तक रखे रहने पर उसके ऊपर उठ आता है, इसमें नवनीत वसा की मात्रा अधिक (३०%) होती है। मलाई बनाने की यह रीति आर्थिक दृष्टि से लाभ-दायक नहीं क्योंकि इस तरह शेष बचे दूध में भी वसा की पर्याप्त मात्रा बच जाती है। अपकेन्द्र (सेन्ट्रीफ्यूगल) पृथक्करण की रीति प्रयोग करने से यह दोष दूर हो गया और अब बचे दूध में लगभग ०·१ प्रतिशत वसा छोड़ कर शेष सब अलग कर ली जाती है। बाज़ार में मलाई की कितनी ही श्रेणियाँ बिकती हैं, जिनमें २० प्रतिशत से लेकर ५०% तक वसा होती है। निम्न मात्रा वाली मलाई साधारणतः खाने के लिये प्रयुक्त होती है। स्कंदित मलाई में लगभग ६०·प्रतिशत वसा होती है। इसके बनाने के लिये पहले दूध को यों ही छ ड़ दिया जाता है जिससे मलाई ऊपर उतरा जाय और तब उसको स्टोव पर लगभग १९% फ० (८७.८° से०) तक गरम रखा जाता है; इससे उसकी आवश्यक गाढ़ता प्राप्त हो जाती है। यह तो हुई कुटीर प्रथा। दूसरी प्रथा में ३०% वसा वाली मलाई के पतले स्तर को जल-उष्मक पर गरम करके स्कंदित मलाई तैयार की जाती है। दोनों प्रथाओं में ठंढा हो जाने पर स्कंद (क्लॉट) को ऊपर से उतार लिया जाता है। मलाई के श्रेणी-नियंत्रण में नवनीत-वसा और अम्लता की मात्रा तथा उसकी श्यानता (विस्कॉसिटी) का निश्चय किया जाता है। मलाई को समांग (होमोजिनस) बना कर अर्थात् प्रबल दाब से उसे अतिसूक्ष्म छिद्र द्वारा निकाल कर उसकी बड़ी बड़ी वसा गोलिकाओं को सूक्ष्म बना कर उसकी श्यानता बदली जा सकती है। यह कार्य उष्मन और शीतन की विशिष्ट विधा (प्रक्रिया) से भी किया जा सकता है।

नवनीत—मलाई में गोलिकाओं के रूप में वसा की जलीय द्रव में असंतत कला (डिस्कॉण्टिनुअस फेज़) होती है, किन्तु यदि नवनीत ठीक ढंग से बना हो तो उसमें वसा की संतत (कॉण्टिनुअस) कला होती है और अतिसूक्ष्म विन्दुकों के रूप में जल की असंतत कला होती है। यह कला-परिवर्तन यानी एक प्रकार के पायस का दूसरे प्रकार में बदलना उस समय होता है जब उसका मंथन किया जाता है। इसके लिए ३० प्रतिशत मलाई को ५०° फ०, (१०° से०) तक ठंढा करके हवा की उपस्थिति में उसका क्षोभण

किया जाता है। इस प्रकार मन्द सुवास वाला मीठा मलाई-नवनीत (क्रीम-बटर) बनता है। यदि अधिक सुवास वाला नवनीत तैयार करना हो तो पास्चरीकरण के बाद मलाई में कोई ऐसा आरम्भक (स्टार्टर) डाला जाता है, जिसमें लक्टोज़ से लैक्टिक अम्ल बनाने तथा साइट्रिक अम्ल से सुवास द्रव्य बनाने की क्षमता वाले प्राणी विद्यमान हों। अम्ल की उपस्थिति से मलाई की श्यानता भी कम हो जाती है, जिससे उसका मंथन सरल हो जाता है। इस दृष्टि से जब अम्लता की मात्रा लगभग ०·२५% हो जाती है तब मंथन के लिए मलाई उपयुक्त मानी जाती है। मंथन से गाढ़ा फेन बनता है और नवनीत-वसा के कण आपस में मिलकर बड़े बड़े कणों का रूप धारण कर लेते हैं, जिसका फल यह होता है कि सारा फेन एकाएक बैठ जाता है और वसा की असंतत कला (डिस्कॉण्टिनुअस फेज़) बदल कर संतत (कॉण्टिनुअस) हो जाती है। इस प्रकार नवनीत बन जाता है। छाछ अर्थात् बटर मिल्क को निथारने के बाद नवनीत को ठंढे पानी से अच्छी तरह धोया जाता है जिससे बचा हुआ छाछ भी धुल जाय। अन्त में मथानी (चर्न) के अन्दर ही या उसके बाहर नवनीत को समांग (होमोजीनस) बनाया जाता है। इस विधा के अन्तर्गत आर्द्रता की जाँच भारमितिक[1] परीक्षा द्वारा की जाती है जिससे वह १६·०% की वैध सीमा के बाहर न होने पाये। लवण की मात्रा की भी परीक्षा की जाती है। नवनीत का सबसे सामान्य दोष उसकी पूतिगंधिता (रैनसिडिटी) है, जो सूक्ष्म जीवाणुओं द्वारा वसा के विच्छेदन से उत्पन्न ब्युटिरिक अम्ल के कारण होती है। सूर्य प्रकाश में खुला रखने से पूर्व-विटामिन, कैरोटीन नामक रंगीन पदार्थ का आक्सीकरण हो जाता है और इसी से नवनीत विरंजित हो जाता है।

पनीर—ग्रेट ब्रिटेन में पनीर (चीज़) से साधारणतः 'चेड्डार पनीर' अथवा 'चेशायर पनीर' का ही मतलब समझा जाता है। इनके निर्माण के लिए कच्चे अथवा पास्चरीकृत दूध का प्रयोग किया जाता है। दोनों रीतियों के सामान्य सिद्धान्त एक ही हैं, लेकिन उनमें थोड़ा अदल-बदल करने से विभिन्न प्रकार के पनीर तैयार होते हैं। आरम्भक (स्टार्टर) अर्थात् लैक्टिक अम्ल उत्पन्न करनेवाले सूक्ष्म प्राणियों के संवर्ध (कल्चर) को ७०° फ० (२१·१° से०) तक गरम किये दूध में डाला जाता है, इसके आध घण्टे बाद उसका ताप लगभग ८६° फ० (३०° से०) तक बढ़ाकर उसमें रिनेट डाल दिया जाता है जिससे दही का अवक्षेपण[2] होता है। इस अवक्षेप में केज़ीन तथा उसी में आबद्ध वसा रहती है। जब उसमें वांछित दृढ़ता आ जाती है तो दही को एक विशेष

[1] Gravimetric tests [2] Precipitation

प्रकार की छुरी से काट-काट कर उसके छोटे-छोटे घन बनाये जाते हैं; और तब ताप को धीरे-धीरे १००° फ० (३७·८° से०) तक बढ़ाया जाता है। इस बीच में दुग्ध शर्करा पर आरम्भक में विद्यमान प्राणियों की प्रक्रिया के फलस्वरूप उत्पन्न अम्लता धीरे-धीरे बढ़ती रहती है। लैक्टिक अम्ल की यह वृद्धि बड़ी महत्त्वपूर्ण होती है, क्योंकि इससे दधिकणों में से छाछ निकल जाता है। दधिकण पहले तो मुलायम और सरलता से टूट जाने वाले होते हैं, लेकिन अम्ल का प्रभाव बढ़ने से कठोर और रबर के समान लचीले हो जाते हैं। इन कणों को कुछ समय के लिए छाछ में ही विचालित करने के बाद फिर नीचे बैठ जाने के लिए छोड़ दिया जाता है। जब दधिकण नीचे बैठ जाते हैं तब छाछ को ऊपर से निथार लिया जाता है। इन कणों के मिल जाने से दही का एक पुञ्ज (मास) बन जाता है। इस पुञ्ज को खण्डों में काटकर एक दूसरे के ऊपर ढेर लगा देने से वे अन्त में पूरी तरह से मिल जाते हैं। इस सम्पूर्ण क्रिया के नियंत्रण के लिए उसकी प्रत्येक अवस्था में दूध या छाछ में अम्लता की बराबर परीक्षा की जाती है। पनीर बनानेवालों की कला की सफलता इस बात में होती है कि वह समस्त क्रिया का ऐसा उपचार तथा भिन्न-भिन्न अवस्थाओं पर उसके ताप को इस प्रकार नियंत्रित करें कि उसकी हर दशा में अम्लता की ठीक मात्रा प्राप्त होती रहे। जब दही खण्ड परिपक्व हो जाते हैं तब उन्हें छोटे-छोटे टुकड़ों में काट कर और लवण मिलाकर उन्हें साँचों में भर दिया जाता है और इन साँचों को ऐसे पीडित्र (प्रेस) में दबाकर रखा जाता है जिसमें उन पर कई टन का दबाव होता है। २–३ दिन के बाद पनीर को सांचे में से निकाल कर परिपक्व होने के लिए रख दिया जाता है। इस विधा (प्रक्रिया) के अन्दर दूध में मूलतः विद्यमान रिनेट और सूक्ष्म प्राणियों के द्वारा केज़ीन का विच्छेदन होता है जिससे सुवास देने वाले पदार्थ उत्पन्न होते हैं और स्वयं केज़ीन सुकोमल हो जाता है तथा रबर की तरह नहीं रह जाता। साथ ही साथ वसा भी कुछ अंश तक जलांशित हो जाती है, जिससे निम्न वसीय अम्ल (फैटी एसिड) उत्पन्न होते हैं। इन अम्लों के कारण भी परिपक्व पनीर में विशेष गंध और सुवास उत्पन्न होती है। पनीर-निर्माण की मुख्य समस्या 'आरम्भक' को शुद्ध और सक्रिय बनाये रखना है।

संघनित दूध—दूध को सुवाह्य अवस्था में परिरक्षित करने के लिए उसमें शर्करा डालकर शून्यक[1] में इस प्रकार सांद्रित[2] किया जाता है कि उसके सान्द्र की मात्रा ७२% हो जाय। इसमें ४०% शर्करा और ३२% दूध के अन्य सान्द्र होने चाहिए।

[1] Vacuum [2] Concentrated

इस प्रकार सांद्रित दूध में उसे विच्छेदित करनेवाले प्राणियों की वृद्धि नहीं हो सकती। दूध का मानकीकरण करके पहले उसमें सान्द्रों की सांद्रता ठीक कर ली जाती है और तब उसमें शर्करा मिला कर उसका पाश्चरीकरण कर लिया जाता है। इसी पाश्चरीकृत गरम दूध को एक प्रभावशून्यक कड़ाह में लेकर १२०° फ० (४८·९° सें०) पर उसका सांद्रण किया जाता है जिससे निश्चित घनता प्राप्त हो जाय। द्रव के ठंढ़ा होने पर शर्करा विलयन के अतिसंतृप्त (सूपर-सैचुरेटेड) हो जाने के कारण उसमें केलासन होने लगता है। इसीलिये उसे ठंढ़ा करने में ऐसी सावधानी बरतनी चाहिए जिससे केलास इतने सूक्ष्म बनें कि वे सरलता से श्यान द्रव के नीचे न बैठने पायें। इसके लिए श्यानता भी बड़ा महत्त्वपूर्ण कारक होता है। इससे स्पष्ट है कि परिस्थितियों का बड़ी सावधानी से नियंत्रण करना अत्यावश्यक है क्योंकि तभी उत्तम परिणाम प्राप्त हो सकते हैं। वैश्लेषिक नियंत्रण के लिए नवनीत-वसा, दूध-सान्द्र, केलासों का परिमाण तथा श्यानता इत्यादि के निश्चयन की बड़ी आवश्यकता होती है।

उद्वाष्पित दूध—यह दूसरे प्रकार का सांद्रित दुग्ध-पदार्थ है, जिसमें शर्करा नहीं मिलायी जाती। सांद्रण के बाद दूध को समांग बनाया जाता है, जिससे उसमें से वसा पृथक् न हो सके। उसके बाद उद्वाष्पित दूध को टिनों में रख कर १००° सें० के ऊपर गरम किया जाता है जिससे उसका जीवाणुहनन[1] हो जाय। इस क्रिया के बाद जीवाणुओं द्वारा दूध नष्ट नहीं होता।

शुष्क दूध—शुष्क दूध भी एक सुवाह्य दुग्ध पदार्थ है जिसमें न तो शर्करा डाली जाती है और न वह अधिक ताप पर गरम ही किया जाता है। आजकल दूध दो रीतियों से सुखाया जाता है: (१) बेलन अर्थात् रोलर रीति तथा (२) शीकरन (स्प्रे) रीति। पहली रीति में दूध को यों ही या थोड़ा सांद्रित करके भाप (स्टीम) से तप्त लोहे के बेलन पर पतले स्तर में लेप कर दिया जाता है जिससे वह प्रायः तत्क्षण सूख जाता है। बेलन पर दुग्ध लेपन की विविध रीतियाँ प्रचलित हैं। यद्यपि बेलन का ताप १००° से० से भी ऊपर होता है, लेकिन उससे दूध का सम्पर्क बड़ा क्षणिक होता है और सूखते ही वह बेलन पर से उस पर लगी छुरी के द्वारा खुड़च कर तुरन्त पृथक् कर दिया जाता है। इस प्रकार प्राप्त दुग्धचूर्ण को चलनी से चालने के बाद डब्बों में भर दिया जाता है। दूसरी अर्थात् शीकरन विधा में सांद्रित दूध लिया जाता है और शीकरक (स्प्रेयर) द्वारा एक बड़े वेश्म (चेम्बर) में उसका शीकरन किया जाता है। इस वेश्म में बड़े-

[1] Sterilisation

बड़े पंखों की सहायता से गरम हवा परिचालित की जाती है जिससे वेश्म का ताप १००° से० के ऊपर रहता है, परन्तु शीकरित होने के कारण दूध तत्काल सूख जाता है, और जल के उद्वाष्पन से दूध का ताप भी संभवतः १००° से० से ऊपर नहीं जाने पाता। शीकरित दूधचूर्ण शीत जल में प्रायः पूर्णतया विलेय होता है, जब कि बेलन चूर्ण गरम जल में भी ९०% से अधिक विलेय नहीं होता। दूध सुखाने की परिस्थितियों का इस प्रकार नियंत्रण किया जाता है कि अधिकतम विलेयतावाला दूध प्राप्त हो सके। आक्सीकरण के कारण सम्पूर्ण दूधचूर्ण की वसा में एक अजीब-सी गंध उत्पन्न हो जाती है। प्रकाश, आर्द्रता तथा ताम्र-जैसी धातुओं की लेशमात्रा की उपस्थिति से दूध का यह अवह्रासन (डिटीरियोरेशन) और भी त्वरित हो जाता है। लेकिन उपयुक्त उष्मोपचार से दूध का यह दोष भी बहुत हद तक दूर किया जा सकता है।

दूध तथा उसके अन्य पदार्थों के उत्पादन में रसायन शास्त्र, भौतिकी, और जीवाणु विज्ञान का अर्वाचीन ज्ञान अधिकाधिक प्रयुक्त हो रहा है। यही कारण है कि उन्नत और एक सम श्रेणी के पदार्थ न्यूनतम लागत पर तैयार होते हैं तथा कच्चे दूध के उत्तम पोषक गुण भी उनमें सुरक्षित रहते हैं। वैज्ञानिक ज्ञान के ही उपयोग से निरन्तर बढ़ते हुए दूध उद्योग को सफलतापूर्वक चलाने के लिए बड़े-बड़े नवीन यंत्रों और संयंत्रों को बनाना संभव होता है तथा उनकी और भी उन्नति करते रहने की सदा चेष्टा होती रहती है।

ग्रन्थसूची

DAVIES, W. L. : *Chemistry of Milk.* Chapman & Hall, Ltd.

HUNZIKER, O. F. : *Condensed Milk and Powder.* La Grange : Author.

ROGERS, ASSOCIATES OF : *Fundamentals of Dairy Science.* Reinhold Publishing Co.

TOTMAN, C. C., MCKAY, G. L., AND LARSEN, C. : *Butter.* John Wiley & Sons, Inc.

VAN SLYKE, L. L., AND PRICE, W. V. : *Cheese.* Kegan Paul, Trench, Truebner & Co., Ltd.

खाद्य तेल और वसा

टी० पी० हिल्डिच, डी० एस सी० (लन्दन), एफ० आर० एस०,
एफ० आर० आई० सी०

खाद्य वसाओं को तीन वर्गों में बांटा जा सकता है, (१) नवनीत अर्थात् मक्खन, जो मुख्यतः बिना पकाये प्रयुक्त होता है, (२) चर्बी, जिसका प्रयोग पेस्ट्री (लेई की वस्तुएँ) बनाने तथा अन्य पकायी हुई वस्तुओं को तैयार करने में किया जाता है, और (३) कोको बटर, जिसका प्रयोग सामान्यतः चाकलेट तथा अन्य मिठाइयों के बनाने में होता है। इन तीनों प्रकार की वसाओं की अनुपूर्ति विविध अन्य वसाओं से की जाती है; जैसे, (क) नवनीत प्रतिस्थापक[1] अथवा मार्गरीन, (ख) चर्बी प्रतिस्थापक यानी पाक वसा, और (ग) मिठाइयोंवाली वसा। प्राकृतिक वसाओं का क्षेत्र इतना बड़ा और विस्तृत है कि रसायनज्ञ के लिए उपर्युक्त तीनों वर्गों में से प्रत्येक के आवश्यक गुणोंवाला कोई एक या एक से अधिक वसाओं के मिश्रण को चुनना अब कुछ विशेष कठिन काम नहीं रहा। इसके अलावा जब से सबेटियर के कार्यों पर आधारित वसाओं के हाइड्रोजनन की प्रथा प्रचलित हुई है तब से वसाओं का क्षेत्र और भी व्यापक हो गया है। क्योंकि इस विधा से तेल विशेषकर ह्वेल, बिनौला, सोयाबीन और मूंगफली के तेल बड़ी सरलता से किसी वांछित ठोसतावाली वसा में परिवर्तित किये जा सकते हैं।

प्राकृतिक वसाओं के व्यापक-विस्तार के कारण खाद्य वसाओं से संबन्धित रसायनज्ञ को बड़ा व्यापक दृष्टिकोण अपनाने की आवश्यकता होती है। वनस्पतियों (फलों या उनके बीजों) तथा स्थलचर और जलचर पशुओं से उत्पन्न होनेवाली विविध प्रकार की वसाओं का ज्ञान उनके लिए आवश्यक है और उन्हें यह भी जानना चाहिए कि ये वनस्पतियाँ तथा पशुप्राणी किन-किन अवस्थाओं में फलते-फूलते या प्रफुल्ल रह सकते हैं। इनसे वसा निकालने तथा उन स्थानों या देशों में उन्हें पहुँचाने की रीतियाँ भी उनके लिए ज्ञातव्य हैं, जहाँ उनसे खाद्य-वसा तैयार की जाती है। दूसरे शब्दों में उन्हें कभी-कभी वनस्पति एवं प्राणिशास्त्र का ज्ञान होना चाहिए तथा भौगोलिक एवं आर्थिक परिस्थितियों से भी अवगत रहना चाहिए। वनस्पतियों के ऊतकों (टिशू) अथवा पशुओं के वपोति (एडिपोज़), यकृत इत्यादि से निस्सारित अपरिष्कृत वसा को क्षार से उदासीन (न्यूट्रल) करके तथा सक्रियित[2] फुलर्स अर्थ, चारकोल आदि से

[1] Substitute [2] Activated

विरंजित करके परिष्कृत किया जाता है। कभी-कभी उसके साथ रहनेवाले अवांछनीय गंधयुक्त अवसीय पदार्थों को निकालने के लिए वसा में अतितप्त भाप (सुपरहीटेड स्टीम) की धारा प्रवाहित की जाती है और उसका दुर्गन्धहरण किया जाता है। यह विधा शून्यक यानी वैकुअम में सम्पन्न की जाती है। द्रव वसा को उपयुक्त गाढ़तावाली वसा में परिवर्तित करने के लिए उसका बड़ी सावधानी से हाइड्रोजनन करना पड़ता है। इसके लिए रासायनिक इंजीनियरी का ज्ञान बड़ा आवश्यक होता है। इस प्रकरण में नवनीत, चर्बी तथा कोको बटर की अनुपूरक प्राकृतिक वसाओं के प्रयोग तथा लाभ का वर्णन आवश्यक है।

नवनीत प्रतिस्थापक—मार्गरीन एक अच्छा नवनीत प्रतिस्थापक (बटर सब्स्टि-ट्यूट) है; इसमें कुछ ऐसी वसाओं की मिलावट होती है जिनका गलनांक नवनीत के समान होता है। इन वसाओं को दूध में मथने से दूध के जल में उनका पायसन हो जाता है जिससे उसमें नवनीत की कुछ मन्द सुवास भी आ जाती है। इसके बाद उसे इस प्रकार बेल्लित यानी रोल तथा निपीड़ित किया जाता है कि वह बदलकर वसा-जल पायस का रूप धारण कर ले तथा उसमें जल की मात्रा उतनी ही रह जाय जितनी साधारण नवनीत में होती है (१३–१६%)। उत्तम श्रेणी की गो-वसा को (जिसे "प्रीमियर जुस" कहते हैं तथा जिसके परिष्करण की आवश्यकता नहीं होती) गंध रहित द्रव वसा (गो-वसा का द्रव भाग), बिनौले के तेल या उसी तरह के किसी अन्य वनस्पति तेल में मिलाकर मार्गरीन तैयार किया जाता है। यद्यपि मार्गरीन बनाने के लिए गो-वसा (प्रीमियर जुस) का आजकल भी प्रयोग होता है, किन्तु अब उसका स्थान अधिकांशतः नारियल, तालबीज या ताल तेलों ने अथवा ह्वेल, बिनौले या सोया-बीन की हाइड्रोजनित वसाओं ने ले लिया है और द्रव वसा (गो-वसा का द्रव भाग) के लिए भी सोयाबीन, मकई, मूंगफली, सरसों तथा अन्य वनस्पति तेलों का प्रयोग होने लगा है। इन वसाओं के मिश्रण का चुनाव कई बातों पर निर्भर करता है, जैसे मार्गरीन कारखाने का स्थान, प्रयुक्त होनेवाली विभिन्न वसाओं द्वारा निश्चित पदार्थ की बनावट (टेक्स्चर) तथा वसाओं के दाम में उतार-चढ़ाव।

मार्गरीन के निर्माण में केवल वसाओं का ही प्रश्न नहीं है, क्योंकि उसमें विटामिन विशेषकर ए और डी मिलाना भी नितान्त आवश्यक है। ये विटामिन प्राकृतिक नवनीत अर्थात् मक्खन में होते हैं तथा स्वास्थ्य को बनाये रखने एवं उसकी वृद्धि के लिए अत्या-वश्यक हैं। मार्गरीन बनाने में इस्तेमाल होनेवाली उपर्युक्त वसाओं में ये विटामिन नहीं होते और जो थोड़े-घने होते भी हैं वह परिष्करण के समय नष्ट हो जाते हैं। इसलिए आधुनिक समय में परिष्कृत वसाओं के मिश्रणों में विटामिन ए और डी की

सुनिश्चित मात्राएं डालकर ऐसी मार्गरीन तैयार की जाती है जो इन विटामिनों के पदों में प्राकृतिक मक्खन के समान हो। ये विटामिन कुछ संश्लेषण से तैयार किये जाते हैं और कुछ मछली या ह्वेल-यकृत तेलों से निस्सारित किये जाते हैं। इन तेलों में उपर्युक्त विटामिनों की प्रचुर मात्रा होती है। आजकल मार्गरीन के निर्माण में रसायन विज्ञान, रासायनिक इंजीनियरी, जीव रसायन, भौतिक रसायन जैसे विभिन्न वैज्ञानिक विषयों का महत्त्वपूर्ण योगदान होता है।

पाक वसा—चर्बी के स्थान पर पाक वसा (कुकिंग फैट) के रूप में आजकल सूअर की पीठ से निकाली हुई तथा अंशतः हाइड्रोजनित मृदु चर्बी अथवा यथावश्यकता हाइड्रोजनित बिनौला, सोयाबीन या मूंगफली के तेल प्रयोग किये जाते हैं। घरेलू पाक कार्यों के लिए इन वसाओं के विविध प्रकार और छाप (ब्राण्ड) उपलब्ध हैं। बिस्कुट बनाने में बहुत-से अन्य प्रकार की हाइड्रोजनित वसा इस्तेमाल की जाती हैं। इनके अलावा आजकल तली मछली बनाने में भी पाक वसाओं की अधिक मात्रा लगती है। इस व्यापार के लिए आजकल कुछ विशिष्ट गुणोंवाली ऐसी हाइड्रोजनित वसाएँ बनायी जाती हैं जिनकी गाढ़ता कम हो और वे अपेक्षाकृत कुछ अधिक द्रव हों।

मिष्ठान्न वसा—चाकलेट बनाने में कोकोबटर का व्यापक प्रयोग इसलिए किया जाता है कि उसमें निम्न गलनांक के साथ-साथ भंगुरता का एक असाधारण गुण होता है। यह गुण उसके ग्लिसराइडों के विचित्र मिश्रण के कारण होता है। इसी निबन्ध वाली अन्य वनस्पति वसा खोजकर अथवा अन्य प्राकृतिक वसाओं में परिवर्तन करके कोको बटर के प्रतिस्थापक (सब्स्टिट्यूट) तैयार किये जाते हैं। उदाहरण के लिए नारियल तेल के अधिक ठोस संघटक (कोकोनट स्टियरीन) अथवा हाइड्रोजनित नारियल तथा ताल तेल इस काम के लिए प्रयुक्त होते हैं।

खाद्य वसाओं के निर्माण में रसायनज्ञों के कार्यभाग की ऊपर लिखी रूपरेखा यद्यपि बड़ी सामान्य एवं संक्षिप्त है, फिर भी इससे इस क्षेत्र की समस्याओं का एक आभास तो मिल जाता है तथा यह भी मालूम होता है कि ये समस्याएँ किस हद तक हल की जा सकी हैं।

ग्रन्थसूची

BOLTON, E. R. : *Oils, Fats and Fatty Foods*. J. & A. Churchill, Ltd.
DEAN, H. K. : *Utilization of Fats*. A Harvey.
ELSDON, G. D. : *Edible Oils and Fats*. Ernest Benn, Ltd.

HEFTER-SCHONFELD : *Chemie und Technologie der Fette and Fetteprodukte.* Vols. I and II. Julius Springer.

HILDITCH, T. P. : *Chemical Constitution of Natural Fats.* Chapman & Hall, Ltd.

HILDITCH, T. P. : *Industrial Fats and Waxes.* Bailliere. Tindall & Cox, Ltd.

SABATIER, P. : *La Catalyse en Chimie Organique.*

शर्करा

ल्युविस इनॉन, बी-एस० सी० (लन्दन), एफ० आर० आई० सी०

प्रकृति में अनेक शर्कराएँ होती हैं, किन्तु इनमें से ईख शर्करा अर्थात् 'सूक्रोज़' आर्थिक एवं आहारिक दृष्टि से बड़ी महत्त्वपूर्ण है। इसे 'सूगर' या 'चीनी' भी कहते हैं। यह शर्करा अनेक वनस्पतियों में होती है, किन्तु ईख और चुकन्दर—दो ही औद्योगिक महत्त्व के स्रोत हैं।

ईख शर्करा—८०० ई० पू० बंगाल तथा चीन में ईख से शर्करा बनाने की प्रथा प्रचलित होने की बात कही जाती है। संलेखों से यह भी ज्ञात हुआ है कि आज से प्रायः १,१०० वर्ष पहले मिस्र, अरब और फारस में ईख शर्करा का प्रचलन था। आजकल वेस्ट एवं ईस्ट इण्डीज़, लौसियाना, दक्खिनी अमेरिका, दक्खिनी अफ्रीका, मोरिशश, चीन, फार्मोसा, जावा, हवाई और क्वीन्सलैण्ड में ईख की अच्छी खेती होती है (और भारत में भी—अनु०)। ईख की खेती में जावा संसार का सर्वप्रथम देश है, उस द्वीप में ईख की एक विशेष जाति उपजा करके प्रति एकड़ भूमि से ६–७ टन शर्करा प्राप्त की जा सकी है।

शर्करा बनाने की पुरानी रीति में ईख को, जिसमें चीनी की मात्रा २०% तक होती थी, बेलनों के बीच पेरकर उसमें से रस निकाला जाता था और इस रस में चूने का पानी डालकर उसकी अम्लता मारी जाती थी। इसके बाद उसे छानकर चीनी के केलास प्राप्त करने के लिए छानित (फिल्ट्रेट) को उद्वाष्पित किया जाता था। केलासन के बाद मातृद्रव को छिद्रित पीपों के द्वारा निथार कर केलास पृथक् कर लिये जाते तथा मातृद्रव (मदर लिकर) को चोटा या शीरा के रूप में बेच दिया जाता।

इस शीरे का किण्वन[1] करके मदिरा भी तैयार की जाती थी। किन्तु आजकल ईख के रस में चूना जल डालने के बाद उसमें कार्बन डाइ आक्साइड प्रवाहित किया जाता है, जिससे कैल्सियम कार्बोनेट का अवक्षेपण होता है और उसी के साथ बहुत से कलिलीय पदार्थ और अशुद्धियाँ भी अलग हो जाती हैं। अर्वाचीन यांत्रिक एवं रासायनिक उन्नतियों के कारण अब इस उद्योग की कार्यकुशलता बहुत बढ़ गयी है। उदाहरणार्थ बहु-प्रभाव-उद्‌वाष्पन कड़ाहों (मल्टी इंफेक्ट इवैपोरेटिंग पैन) के प्रयोग से ईंधन के खर्च में बड़ी कमी हो गयी है और अपकेन्द्रित (सेण्ट्रीफ्यूज) की सहायता से केलासों के पृथक्करण में समय की अत्यधिक बचत होती है। विसरण (डिफ्यूज़न) प्रक्रिया के प्रचलन से ईख पेरने की कठिनाई भी अब बहुत हद तक दूर हो गयी है। इस प्रक्रिया में ईख के टुकड़े करके उन्हें पानी में भिगो देने से ईख की कोशाओं में से शर्करा का विसरण होता है और वह जल में विलीन हो जाती है। शर्करा निस्सारण की इस रीति से उसकी प्राप्ति में बड़ी वृद्धि हुई है।

चुकन्दर शर्करा—मार्ग्राफ नामक एक जर्मन रसायनज्ञ ने १७४७ ईसवी में चुकन्दर से शर्करा बनाने का आविष्कार किया था। परन्तु १८०१ तक उसके निस्सारण के लिए कोई कारखाना स्थापित न हो सका। उसी वर्ष में एचार्ड ने साइलेसिया में एक कारखाना स्थापित किया। अनुगामी घटनाओं से जर्मनी में इस उद्योग को काफी उत्तेजना प्राप्त हुई। बोनापार्ट द्वारा प्रशा के ब्लॉकेड अर्थात् स्थल समवरोध के कारण उस देश में शर्करा का उत्पादन अत्यावश्यक हो गया। बोनापार्ट ने फ्रान्स में भी इस उद्योग को बड़ा उत्साहित किया। आजकल यह उद्योग यूरोप, संयुक्त राज्य अमेरिका और कनाडा में बड़ी सफलतापूर्वक चल रहा है। साधारणतया चुकन्दर में चीनी की मात्रा कम होती थी, किन्तु कृषि एवं अभिजनन (ब्रीडिंग) की नवीन वैज्ञानिक रीतियों से अब प्रति १०० पौण्ड चुकन्दर में १५ पौण्ड शर्करावाली जाति उत्पन्न की जाने लगी है। पहले प्रति १०० पौण्ड चुकन्दर में केवल ६ पौण्ड या उससे भी कम शर्करा होती थी। आजकल चुकन्दर की प्रति एकड़ उपज भी बढ़ायी जा सकी है। इन उन्नतियों के बावजूद भी चुकन्दर शर्करा की प्रति एकड़ प्राप्ति १·०—१·५ टन से अधिक न बढ़ायी जा सकी। ईख शर्करा की तुलना में यह प्राप्ति बहुत कम है। स्पष्ट है कि राजसाहाय्य (सब्सिडी) के बिना चुकन्दर से शर्करा बनाने का उद्योग कभी पनप नहीं सकता।

[1] Fermentation

प्रारम्भिक रीति में चुकन्दर के कटे हुए टुकड़ों को ऊनी थैलों में रखकर उन्हें द्रवचालित दबाव से निचोड़ लिया जाता था, किन्तु अब विसरण प्रक्रिया से ही इसका निस्सारण किया जाता है। कतरे हुए चुकन्दर के टुकड़ों को विसरण-पात्रों में रखकर अन्तिम पात्र में स्वच्छ, ताज़ा और गरम जल प्रवेश कराया जाता है। यही जल बारी-बारी से पहलेवाले पात्रों में चलता जाता है जिससे इसमें अधिकाधिक शर्करा विलीन होती जाती है। अन्त में जब यह जल प्रथम पात्र में पहुँचता है, तो इसकी शर्करा-मात्रा लगभग उतनी ही हो जाती है जितनी ताज़े (अनिस्सारित) चुकन्दर के रस की। इस प्रक्रिया का लाभ यह है कि चुकन्दर की कोशाओं की दीवारें कलिलों के लिए अभेद्य होती हैं, अतः अनेक कलिलीय पदार्थ निस्सार में न आकर चुकन्दर में ही रह जाते हैं। इसलिए निस्सार के परिष्करण का बहुत बड़ा काम बच जाता है। चुकन्दर के शर्करा-रहित टुकड़ों को पशु-खाद्य के रूप में इस्तेमाल किया जाता है। चुकन्दर के निस्सार का शेष विधायन उसी प्रकार होता है जैसे ईख रस का।

ग्राहम के व्याश्लेषण (डायालिसिस) संबन्धी कार्य पर आधारित रसाकर्षण (ऑस्मोज़) विधा (प्रक्रिया) एवं स्टीफेन और शीब्ल द्वारा विकासित प्रोद्धावन (इल्यूशन) प्रक्रिया के कारण चुकन्दर और ईख दोनों की केलासीय शर्कराओं की प्राप्ति में समुचित वृद्धि हुई है। पहली प्रक्रिया में शर्करा का चर्मपत्र की झिल्ली के द्वारा जल में विसरण[1] किया जाता है। इस विधा से केलासन रोधी सभी पदार्थ चर्मपत्र द्वारा रोक लिये जाते हैं और केवल शर्करा जल में विलीन हो जाती है। विस्तृत विलयन के विधायन से शर्करा और आनुसंगिक पोटासियम नाइट्रेट पृथक् कर लिये जाते हैं। और अवशेष द्रव को उपपदार्थों के निर्माण के लिए आसवनियों[2] में भेज दिया जाता है।

कैल्सियम या स्ट्रान्शियम और शर्करा के संयोगन से उनके अल्पशः विलेय लवणों अर्थात् सैकरेटों का बनना ही प्रोद्धावन विधा का आधार माना जाता है। शीरे की शर्करा से ये यौगिक शुद्धावस्था में बना लिये जाते हैं और इन्हें जल में आलम्बित करके उन पर कार्बन डाइ आक्साइड की प्रक्रिया करायी जाती है, इससे सैकरेट का विच्छेदन[3] हो जाता है। और शर्करा तथा कैल्सियम या स्ट्रान्शियम कार्बोनेट बन जाता है। कैल्सियम कार्बोनेट जल में अविलेय होने के कारण सरलता से पृथक् किया जा सकता है। इसी प्रकार की अन्य प्रक्रियाएँ भी आविष्कृत हुई हैं परन्तु आजकल स्ट्रान्शियम हाइड्राक्साइड प्रयुक्त करनेवाली विधा (प्रक्रिया) अधिक इस्तेमाल होती है।

[1] Diffusion [2] Distillaries [3] Decomposition

शर्करा-परिष्करण—उपर्युक्त प्रक्रिया से प्राप्त शर्करा को अपरिष्कृत शर्करा कहते हैं। कभी-कभी ईख की अपरिष्कृत शर्करा तो यों ही इस्तेमाल कर ली जाती है, किन्तु चुकन्दर की अपरिष्कृत शर्करा में असुखकर मिट्टी की गंध होने के कारण वह पसन्द नहीं की जाती। चुकन्दर तथा ईख दोनों की शर्कराओं को बाजार में बिकने लायक सफ़ेद बनाने के लिए परिष्करण आवश्यक होता है। परिष्करण प्रक्रिया में अपरिष्कृत शर्करा को गरम जल में घोलकर उसे केज़लगूर-जैसे किसी स्वच्छकर्ता की सहायता से छान लिया जाता है, और फिर छने हुए विलयन को पशु चारकोल की सहायता से अरंजित करके केलासन के लिए उद्वाष्पित किया जाता है। अन्तिम पदार्थ को उनकी शुद्धता के अनुसार विभिन्न श्रेणियों में बाँट दिया जाता है। शर्करा-परिष्करण प्रक्रियाओं में वैज्ञानिक नियंत्रण से बड़ा लाभ हुआ है। दृष्टान्त के लिए यह उल्लेखनीय बात है कि एक वाणिज्यिक संस्था ने अपने रसायनज्ञों के वेतन तथा प्रयोगशाला के अन्य खर्चों पर प्रतिवर्ष २०,००० पौण्ड व्यय करके ७५,०००—१००,००० पौण्ड सालाना का अतिरिक्त लाभ कमाया है। इसके अलावा शर्करा परिष्करण में कठोर वैज्ञानिक नियंत्रण के कारण असाधारण उच्च शुद्धता की श्वेत शर्करा प्राप्त होती है जिसमें विशुद्ध शर्करा की मात्रा ९९·९५—९९·९९ प्रतिशत तक होती है।

पिछले कुछ वर्षों में सक्रियित कार्बन सदृश विशिष्ट अरंजनकर्ताओं के प्रयोग से, अपरिष्कृत शर्करा का अन्तर्वर्ती पृथक्करण किये बिना ही ईख अथवा चुकन्दर से श्वेत शर्करा (प्लैण्टेशन ह्वाइट और डाइरेक्ट कांज़म्पशन सूगर) का सीधा उत्पादन संभव हो गया है। इस श्वेत शर्करा की शुद्धता इतनी ऊँची नहीं होती जैसी परिष्कृत शर्करा की और कुछ समय के बाद यह तनिक पीली भी पड़ जाती है।

शर्करा की उपलब्धि और खपत—संसार में शर्करा की वर्तमान शान्तिकालीन उत्पत्ति लगभग ३ करोड़ टन प्रतिवर्ष है। इस राशि की दो-तिहाई ईख-शर्करा होती है। ग्रेट ब्रिटेन में शर्करा का प्रवेश प्रायः १५वीं शताब्दी में हुआ था, लेकिन उस समय से लेकर कम से कम १७वीं शताब्दी तक उसका मूल्य इतना अधिक था कि कुछ गिने-चुने धनिक लोग ही उसे खरीद सकते थे। चाय और कहवा यानी काफी के प्रचलन से उसकी माँग बढ़ी तथा साथ ही साथ क्षेत्रों, निर्माणियों और प्रयोगशालाओं में गहन अनुसन्धान भी होने लगे, जिनके फलस्वरूप उसका मूल्य घटा और उसकी खपत भी बढ़ने लगी। इंग्लैण्ड में १७०० ई० में शर्करा की खपत प्रति व्यक्ति प्रति वर्ष केवल ४ पौण्ड थी, १८२० में यह बढ़कर १८ पौण्ड हुई और आज ९०-१०० पौण्ड है। पिछले ८० वर्षों से इंग्लैण्ड में चुकन्दर से चीनी तैयार करने के उद्योग को प्रतिष्ठित करने का प्रयास हो रहा था, परन्तु १९२५ तक उसमें कोई विशेष सफलता प्राप्त नहीं

हुई। १९२५ में ही "ब्रिटिश सूगर सब्सिडी ऐक्ट" पारित हुआ और उसीके बाद इस उद्योग विशेष का बड़ी शीघ्रता से विकास होने लगा। ग्रेट ब्रिटेन में वहाँ की आवश्यकता की केवल २५–३० प्रतिशत शर्करा तैयार होती है और शेष उपनिवेशों से आती है।

स्टार्च शर्करा

स्टार्च शर्करा, जिसे रसायनज्ञ लोग ग्लूकोज़ अथवा डेक्स्ट्रोज़ कहते हैं, अपने नामानुकूल स्टार्च से तैयार की जाती है। १८११ में किचार्फ नामक एक जर्मन रसायनज्ञ ने यह आविष्कार किया कि जब स्टार्च को सल्फ्युरिक अम्ल के साथ गरम किया जाता है तब वह शर्करा के रूप में परिवर्तित हो जाता है। इसी आविष्कार से यह महत्त्वपूर्ण उद्योग विकसित हुआ। इसके निर्माण की वर्तमान विधा में आलू या मकई के स्टार्च को जल और तनिक सल्फ्युरिक अम्ल अथवा हाइड्रोक्लोरिक अम्ल के साथ उच्च दाब पर गरम किया जाता है। परिवर्तित द्रव में चाक या सोडियम कार्बोनेट डालकर उसे उदासीन करने के बाद छाना और अस्थि चारकोल की सहायता से अरंजित तथा अन्त में सांद्रित किया जाता है। यह गाढ़ा मिष्टोद (सिरप) या तो ऐसे ही बिकने के लिए भेज दिया जाता है या उसीसे केलासित करके अधिक शुद्ध शर्करा बनायी जाती है। जर्मनी में मुख्यतया आलू स्टार्च से यह शर्करा बनायी जाती है, किन्तु संयुक्त राज्य अमेरिका में मकई स्टार्च से बनी शर्करा अधिक प्रचलित है। स्टार्च शर्करा प्रधानतः तीन वर्गों में विभाजित की जा सकती है—

(१) द्रव ग्लूकोज़, जिसमें १०-१२% जल, कुछ डेक्स्ट्रीन और कुछ ऐसे अन्य पदार्थ होते हैं जिनके कारण ग्लूकोज़ का केलासन नहीं हो पाता, (२) ठोस ग्लूकोज, यह साबुन की गाढ़ता का एक पदार्थ होता है, जिसमें सूक्ष्म केलासीय दशा में ७०-८०% ग्लूकोज़ रहता है, (३) शुद्ध केलासीय ग्लूकोज़, जिसमें ९९.५% शर्करा (ग्लूकोज) होती है।

शुद्ध ग्लूकोज़ का निर्माण अभी कुछ ही दिनों से प्रारम्भ हुआ है। इसके लिए शर्करा के केलासन की अनुकलतम दशा की खोज में कठिन वैज्ञानिक अनुसन्धान करना पड़ा है। शुद्ध केलासीय ग्लूकोज़ सीधी खपत के लिए बाज़ार में बिकता है, लेकिन मिठाई बनानेवाले अपने उद्योग के लिए तीनों प्रकार की शर्करा का प्रयोग करते हैं।

ग्लूकोज़ के निर्माण के लिए स्टार्च के स्थान पर लकड़ी के प्रयोग पर काफी अनुसन्धान हुए और पेटेण्ट भी लिये गये हैं। इसके परिवर्तन के लिए स्टार्च की अपेक्षा

कहीं अधिक कठोर विधाओं की आवश्यकता होती है और सामान्यतः बड़े प्रबल खनिज अम्ल इस्तेमाल करने पड़ते हैं। लेकिन इससे प्राप्त ग्लूकोज़ बड़ा अपरिष्कृत होता है। अतः केवल पशुखाद्य के लिए ही इसका प्रयोग किया जाता है, मनुष्यों में इसकी खपत नहीं होती।

ग्रन्थसूची

CLAASSEN, H. : *Beet Sugar Manufacture.* John Wiley & Sons, Inc.
DEERR, N. : *Cane Sugar.* Norman Rodger.
FAIRRIE, G. : *Sugar.* Fairrie & Co., Ltd.
GEERLIGS, H. C. PRINSEN : *Cane Sugar and its Manufacture.* Norman Rodger.
LYLE, O. : *Technology for Sugar Refinery Workers.* Chapman & Hall, Ltd.
WOHRYZEK, O. : *Chemie der Zuckerindustrie.* Julius Springer.

स्टार्च

लेविस इनॉन, बी० एस-सी० (लन्दन), एफ० आर० आई० सी०

वनस्पति सृष्टि में उत्पन्न विपुल संख्यक पदार्थों में स्टार्च सर्वाधिक महत्त्व की वस्तु है, कम से कम, मात्रा में तो सर्वोपरि है ही। पौधों की पत्तियों में सूर्य प्रकाश के प्रभाव से प्रतिदिन स्टार्च बनता रहता है। इस स्टार्च का एक भाग तो पौधे की तात्कालिक आवश्यकता के लिए प्रयुक्त हो जाता है और उसका शेष भाग शर्करा में परिवर्तित हो कर बीज, कन्द और प्रकन्द-जैसे अंगों में जाकर फिर स्टार्च बन जाता है। कुछ पौधों के इन्हीं अंगों में संचित स्टार्च ही औद्योगिक महत्त्व का पदार्थ होता है।

स्टार्च का निर्माण इस युग के पहले की बात है, परन्तु अपेक्षाकृत अभी हाल तक इसके लिए एकमात्र गेहूँ ही कच्चा माल माना जाता था तथा बहुत समय तक स्टार्च का प्रयोग केवल धुलाई के कामों में होता रहा। बालों में छिड़कने के काम में स्टार्च का प्रयोग प्रायः १६वीं शताब्दी से प्रारम्भ हुआ और १८वीं शताब्दी की औद्योगिक क्रान्ति के बाद ही यह पदार्थ प्राविधिक कार्यों के लिए भी प्रयुक्त होने लगा। उसी समय से जर्मनी में आलू से स्टार्च बनने लगा। कसावा, सागो, ताल और आरारूट की विभिन्न जातियों (स्पीसीज़) से भी अब स्टार्च बनाया जाता है।

पादप कोशाओं के सूक्ष्म कणों के ही रूप में स्टार्च ऊतकों में होता है। उसके निर्माण में मुख्यतः दो पद होते हैं—(१) पौधों की कोशीय रचना को भंग करना, जिससे उसमें से स्टार्च के कण निकल आय, और (२) इस प्रकार बाहर आये स्टार्च कणों को अन्य पादप पदार्थों से अलग करना।

आलू स्टार्च—आलू से स्टार्च बनाने के लिए पहले आलू को कूट कर लुग्दी बनायी जाती है जिससे स्टार्च कण कोशाओं से बाहर निकल आयें और तब लुग्दी को चलनी में रखकर धोया जाता है; इससे स्टार्च धुलकर और तन्तुओं से छनकर नीचे चला जाता है; चलनी में केवल तन्तु शेष रह जाते हैं। चलनी से छने अपरिष्कृत स्टार्च दुग्ध में भी कुछ तन्तु एवं जलविलेय पदार्थ चले जाते हैं। बार-बार तलछटीकरण करने और निथारने से अथवा अपकेन्द्र पृथक्करण से इन अशुद्धियों का निरसन किया जाता है। अन्त में स्टार्च को गरम-हवा वेश्मों में अथवा परिभ्रामी ढोलों में सुखा लिया जाता है। बाजार में बिकनेवाले आलू के स्टार्च में जल की मात्रा १८-२०% होती है।

गेहूँ स्टार्च—गेहूँ स्टार्च का निर्माण अनेक रीतियों से किया जाता है। एक विधा में गेहूँ को पानी में भिगा करके तब कूटा जाता है और फिर उसमें और अधिक पानी डालकर किण्वन के लिए छोड़ दिया जाता है। ऐसा करने से स्टार्च का धोना आसान हो जाता है। दूसरी विधा में गेहूँ का पिष्ट बनाकर छोड़ दिया जाता है और कुछ समय बाद उसे गूधते हुए जल प्रधार (जेट) से धोया जाता है, इससे स्टार्च पृथक् कर लिया जाता है। इस प्रक्रिया से यह लाभ है कि एक मूल्यवान उपजात के रूप में गेहूँ का ग्लूटेन भी प्राप्त हो जाता है। इसका शेष उपचार आलू स्टार्चसे भिन्न नहीं होता। गेहूँ के बाज़ारू स्टार्च में प्रायः ११-१५% जल होता है।

मकई स्टार्च—इसके निर्माण के लिए अन्न को ऐसे जल में भिगोया जाता है, जिसमें सल्फ्यूरस अम्ल या कैल्सियम बाइसल्फाइट की थोड़ी मात्रा घुली रहती है। भिगोये अन्न को पीसकर उसके आलम्ब में से स्टार्च को तलछटीकरण रीति से अलग किया जाता है। शोधन विधा में कभी-कभी स्टार्च दुग्ध में थोड़ा सा सल्फ्यूरस अम्ल अथवा दह सोडा डाला जाता है। अम्ल अथवा क्षार डालकर बनाये गये स्टार्च के गुण भिन्न-भिन्न होते हैं। अम्ल के प्रयोग से स्टार्च का रंग ज़रा अच्छा होता है, लेकिन गरम जल से उसकी श्यान लेपी नहीं बन पाती।

चावल स्टार्च—चावल में स्टार्च के कण अत्यन्त छोटे-छोटे होते हैं तथा अविलेय ग्लूटेन से घिरे रहते हैं। इस वजह से उनके पृथक्करण की यांत्रिक रीति व्यावहारिक नहीं होती, अतः प्रायः दह सोडा जैसे रासायनिक पदार्थ की सहायता लेनी पड़ती

है। चावल को दह सोडा के तनु विलयन (०·३–०·५%) में भिगो दिया जाता है और उसे समय-समय पर विचालित करते रहते हैं। इस क्रिया से ग्लूटेन विलीन हो जाता है। उसके बाद चावल को पीसकर तथा दुग्धीय स्टार्च आलम्ब को निथार कर या अपकेन्द्रित करके उसमें से तन्तु अलग कर दिये जाते हैं और तब उसे रेशम की चलनी से छानकर स्टार्च अलग किया जाता है। यह पृथक्करण तलछटीभवन अथवा अपकेन्द्रण से भी सम्पन्न किया जा सकता है।

अन्य स्टार्च—खाद्य पदार्थों के लिए तथा अन्य प्राविधिक कामों के लिए कसावा स्टार्च, सागो स्टार्च तथा आरारूट स्टार्च इस्तेमाल किये जाते हैं। टैपिओका स्टार्च कसावा स्टार्च का एक अंशत: श्लिषीकृत (जिलैटिनाइज्ड) रूप है।

विविध स्टार्चों के कण आकार और परिमाण में भिन्न-भिन्न होते हैं तथा उनके कणों में जो रेखाएँ होती हैं वे भी भिन्न होती हैं। इनके कारण बहुत से स्टार्च सूक्ष्म दर्शी की सहायता से ही पहिचाने जा सकते हैं। आलू स्टार्च के कण अपेक्षाकृत बड़े होते हैं और यों भी देखे जा सकते हैं। लेकिन चावल स्टार्च के कण अत्यन्त सूक्ष्म होते हैं और अपने इसी गुण के कारण चावल स्टार्च चेहरे पर लगाने के पाउडर में इस्तेमाल किया जाता है।

भिन्न स्टार्चों को जल में मिलाकर बनायी गयी लेपी अथवा विलयन के गुण भिन्न भिन्न होते हैं। उदाहरण के लिए कुछ स्टार्चों से बनी लेपी अन्य स्टार्चों की अपेक्षा अधिक श्यान होती है।

स्पष्ट है कि स्टार्च निर्माण की प्रक्रियाएँ अधिकतर यांत्रिक होती हैं और उनमें अनुसन्धानों द्वारा उन्नति करने की खास गुंजाइश नहीं है। लेकिन स्टार्च से व्युत्पन्न पदार्थों के निर्माण में रासायनिक अन्वेषण एवं नियन्त्रण बड़े महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुए हैं। जैसे विलेय स्टार्च यानी गरम जल में न्यूनाधिक पूरी तरह से घुल जाने वाले स्टार्च का निर्माण रासायनिक अनुसन्धान का एक अच्छा खासा विषय रहा है और इसके लिए अनेक पेटेण्ट भी लिये गये। विलयनीकरण की अनेक रीतियों से अब यह संभव हो गया है कि प्राय: किसी भी श्यानता का विलयन बनाने के लिए विलेय स्टार्च तैयार किया जा सकता है और आवश्यकतानुसार उन्हें विविध कामों के लिए इस्तेमाल किया जा सकता है। इनमें से अधिकांश रीतियों में स्टार्च का किसी अम्ल अथवा आक्सीकर्ता द्वारा उपचार किया जाता है। इससे स्टार्च में प्राय: कोई रासायनिक परिवर्तन नहीं होता लेकिन जल के प्रति उसका आचरण सर्वथा बदल जाता है। अनुपचारित स्टार्च में उष्ण जल मिलाने से श्यान एवं गंदली लेपी बनती है किन्तु विलयनी कृत (सॉलुबलाइज्ड) स्टार्च से अधिक स्वच्छ और चलिष्णु (मोबाइल)

विलयन बनता है। डेक्स्ट्रीन के निर्माण में भी परिस्थितियों के वैज्ञानिक नियंत्रण की आवश्यकता होती है, जिससे सदा एकरूप पदार्थ प्राप्त हो। स्टार्च को अकेले अथवा अल्प मात्रा में किसी अम्ल के साथ भूँनने (रोस्टिंग) से डेक्स्ट्रीन तैयार होती है। कागज, वस्त्र, धुलाई तथा चमड़ा-उद्योग जैसे अनेक कामों में स्टार्च, विलेय स्टार्च तथा डेक्स्ट्रीन का प्रयोग होता है।

ग्रन्थसूची

EYNON, L., AND LANE, J. H. : *Starch, its Chemistry, Technology and Uses.* W. Heffer & Sons, Ltd.
RADLEY, J. A. : *Starch and its Derivatives.* Julius Springer. Chapman & Hall, Ltd.
REHWALD, F. : *Starch Making.* Scott Greenwood & Sons, Ltd.
SAARE, O. : *Die Fabrikation der Kartoffelstarke.*

कोको, चाकलेट और मिठाई

टाम मैकारा, एफ० आर० आई० सी०

यूरोप में कोकोबीन का प्रवेश कोलम्बस के द्वारा हुआ था। आज के कोको और चाकलेट इसी कोकोबीन से बनते हैं। कोको का इतिहास तथा उससे बने पदार्थों की कहानी बड़ी रोचक है जो हमें एज़टेक्स के दिनों की याद दिलाती है। इस विषय का बड़ा सुन्दर और संक्षिप्त विवरण ए० डब्लू० नैप-लिखित 'कोको ऐण्ड चाकलेट' नामक पुस्तक में दिया गया है। यद्यपि कोको का मूल देश मेक्सिको है किन्तु आजकल इस्तेमाल होनेवाला कोको अधिकांशतः पश्चिमी अफ्रीका के उपनिवेशों से प्राप्त होता है। फिर भी पूर्वी और पश्चिमी इण्डीज़, मध्य तथा दक्षिणी अमेरिका और श्रीलंका से भी इसकी काफी मात्रा प्राप्त होती है।

कोको के वृक्ष की यह एक विचित्रता है कि उसके फूल और फलियाँ उसके तने और मोटी-मोटी शाखों पर ही लगती ह। पक जाने पर फलियाँ तोड़ ली जाती हैं और उन्हें खोलकर उनमें से बीज यानी 'बीन' निकाल ली जाती हैं। इन बीनों को किण्वन के लिए रख दिया जाता है। यद्यपि किण्वन की विधाएँ भिन्न-भिन्न होती हैं परन्तु परिणाम प्रायः एक ही जैसे होते हैं। चिटेण्डन ने १८९९ में प्रथम बार इस

विधा (प्रक्रिया) का अध्ययन किया था। उन्होंने यह दरशाया था कि किण्वन की प्रथम अवस्था यीस्टों द्वारा सिद्ध होती है परन्तु उसमें लैक्टिक और ब्युटिरिक अम्ल उत्पन्न करनेवाले जीवाणु भी मौजूद रहते हैं। अनुगामी अन्वेषकों ने इस संबन्ध में बहुत से फफूँदों और जीवाणुओं का वर्णन किया है परन्तु वे इतने बहुसंख्यक हैं कि उनकी चर्चा यहाँ संभव नहीं है, हाँ नैप ने यीस्टों के बाद एसिटिक अम्ल जीवाणुओं को ही महत्त्वपूर्ण बताया है। इन्हीं जीवाणुओं के कारण जो द्वितीयक किण्वन होता है उसमें बीनों का ताप ४६° से० और कभी-कभी ५०° से० तक बढ़ जाता है। उत्तम श्रेणी के कोको के उत्पादन में ताप का प्रभाव बड़ा महत्त्वपूर्ण जान पड़ता है। अगर किण्वन को इस अवस्था से आगे बढ़ने दिया जाय तो अन्य जीवाणुओं के कारण अवांछनीय गन्ध उत्पन्न होने लगती है।

इस विषय के वर्तमान ज्ञान का पूर्ण विवरण नैप द्वारा प्रकाशित किया गया है। इन्होंने प्रक्रिया के प्रकार एवं बीन में होनेवाले परिवर्तनों के बारे में बड़े सारगर्भित निष्कर्ष निकाले हैं। मुख्य-मुख्य परिवर्तन निम्नलिखित हैं—(१) बैंगनी रंग बदल कर चाकलेटी भूरा रंग हो जाता है, (२) सुवास में उन्नति होती है, और (३) कसैलापन कम हो जाता है।

किण्वन के बाद बीनों को किसी मञ्च पर यथासंभव धूप में सुखाया जाता है। कभी-कभी सुखाने की कृत्रिम रीति भी अपनायी जाती है, लेकिन नैप और कॉवर्ड के आविष्कार ने यह सिद्ध किया कि यीस्ट में लगे हुए स्टीरोल पर सूर्यप्रकाश की परा-नीललोहित (अल्ट्रावायलेट) किरणों के प्रभाव से ही कोको के छिलकों में विटामिन डी उत्पन्न होता है। इसलिए बीनों को धूप में सुखाना श्रेयस्कर है।

कोको चूर्ण—जब बीन निर्माणी में आती है तो साफ करनेवाले यंत्र द्वारा उसको अवर पदार्थों से अलग करके भूँना जाता है। कोको और चाकलेट के निर्माण में यह बड़ी महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है, क्योंकि निष्पन्न पदार्थ की सुवास अधिकांशतः इसी की कुशलता पर निर्भर होती है। सर्वप्रथम भूँनने के लिए गोलाकार पात्र इस्तेमाल किया जाता था, यह पात्र कोक की आग पर घूमा करता था। लेकिन कालान्तर में रम्भाकार पात्र प्रयुक्त होने लगा और इसे गैस द्वारा गरम किया जाने लगा। यद्यपि यह युक्ति अब भी काम में लायी जाती है, लेकिन भुँजाई के सबसे नये यंत्र में तप्त धातु-कुण्डलों द्वारा आवश्यक ताप तक गरम की हुई हवा प्रवेश करायी जाती है। इस क्रिया से बीनों की सुवास में परिवर्तन होता है और कसैलापन कम हो जाता है, साथ ही साथ इससे छिलका भी ढीला हो जाता है जिसे कूटफटक कर निबों से आसानी से अलग किया जा सकता है।

निबों को पत्थर की चक्की या विशेष वियोजन (डिसइन्टिग्रेटिंग) यंत्रों में डालकर पीसा जाता है। इनमें ५०-५४ प्रतिशत कोको बटर होता है, जो पिसाई में उत्पन्न दाब और ताप के कारण द्रवीभूत हो जाता है ; इससे कोको चक्की में से गाढ़ी मलाई के रूप में निकलता है। इसे 'कोको मास' कहते हैं।

कोको चूर्ण के दो रूप होते हैं, एक को 'सार' यानी 'इसेन्स' और दूसरे को 'विलेय कोको' कहते हैं। सार बनाने के लिए कोको मास को लोहे के ऐसे पात्रों में डाला जाता है जिनके सिरे और तल में लोहे के छिद्रित पट्टों पर आधारित छानन गत्ते (पैड) लगे होते हैं। इन पात्रों में ३—३½ टन प्रति इंच का द्रवचालित दबाव रहता है, जिससे अतिरिक्त कोको बटर निकल आता है और कड़ी खली, जिसे 'कोको केक' कहते हैं, बच रहती है। इस खली में आवश्यकतानुसार १०-२८% तक कोको बटर छोड़ दिया जाता है। पेराई के ताप का भी नियंत्रण करना पड़ता है क्योंकि अगर ताप अधिक ऊँचा हो जाय तो कोको की सुवास पर कुप्रभाव पड़ता है, साथ ही यह कोको बटर के लिए भी हानिकारक होता है। इसके बाद खली तोड़कर विशेष यंत्रों में पीस ली जाती है, जिसमें से वह स्वतः छनाई यंत्र में स्थानान्तरित हो जाती है। इसमें चूर्ण १०० अक्षिवाले रेशमी छन्नों द्वारा छन जाता है तथा अवशिष्ट भाग फिर पिसाई यंत्र में चला जाता है। फटकन युक्तियुक्त वियोजक (डिसइन्टिग्रेटर) भी आजकल काम में लाये जाते हैं, जिनके द्वारा किसी भी वांछित सूक्ष्मता का चूर्ण तैयार किया जा सकता है।

'विलेय कोको' सचमुच 'सार' से अधिक विलेय नहीं होता लेकिन क्षार द्वारा उपचारित होने के कारण इसमें कोको के प्राकृतिक अम्ल का उदासीनीकरण हो जाता है। इसका रंग तनिक चोखा और स्वाद थोड़ा सुस्वादु हो जाता है। ये गुण कोको पदार्थ के पायसन के कारण उत्पन्न होते हैं। निर्माता लोग क्षार का प्रयोग निर्माण की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं पर करते हैं। कभी तो भूँनने के पहले, कभी पेराई के पूर्व द्रव कोको मास में और कभी परिष्करण के पूर्व कोको खली में क्षार डाला जाता है। प्रायः इन सभी रीतियों से पायसनसंबन्धी एक ही प्रकार का परिणाम प्राप्त होता है लेकिन हर एक में अपनी-अपनी विशेष सुवास का अवश्य विकास होता है।

चाकलेट—चाकलेट बनाने के लिए बीनों को कोको बनाने की अपेक्षा तनिक कम भूँना जाता है, नहीं तो कोको मास बनाने की शेष प्रक्रिया वही होती है। सर्वोत्तम श्रेणी के चाकलेट में कोको मास में से कोको बटर नहीं निचोड़ा जाता बल्कि मिल में डालकर उसी में शर्करा और कोई सुवास मिला दी जाती है। इस अवस्था की पिसाई से कोको और शर्करा के दाने काफी छोटे-छोटे हो जाते हैं। कभी-कभी तो अतिरिक्त

कोको बटर डालना पड़ता है, क्योंकि शर्करा के कारण 'मास' बड़ा कड़ा हो जाता है।

चाकलेट के परिष्करण के लिए उसको एक ऐसे यंत्र में डालकर सिद्ध किया जाता है, जिसमें लोहे के पाँच बड़े-बड़े बेलन लगे होते हैं। इन बेलनों से पिसाई के दबाव और संघर्षण से शर्करा और कोको के अति तप्त हो जाने की संभावना होती है, इसलिए बेलनों को बराबर जल से ठंडा किया जाता है। कार्यविधा की इस अवस्था में बरती गयी सावधानी पर ही चाकलेट की चिकनाहट निर्भर करती है, तथा उत्पन्न कणों के परिमाण पर भी इस समय नियंत्रण रखने की ज़रूरत होती है। सर्वोत्तम श्रेणी के चाकलेट प्राप्त करने के लिए इस क्रिया को दो तीन बार करना पड़ता है। इन परिष्करण यंत्रों में से चाकलेट शल्कलीय (फ्लेकी) रूप में प्राप्त होता है। अतः इसे स्टोव पर या किसी गरम कमरे में रखा जाता है, जिससे वह अपनी द्रवता पुनः प्राप्त कर ले। सामान्यतः इस अवसर पर और भी कोको बटर मिलाया जाता है। अन्त में चाकलेट को काँचों में रखा जाता है। ये यंत्र विशिष्ट रूप से चाकलेट बनाने में ही प्रयुक्त होते हैं। सामान्यतः इनका चार-चार का कुलक (या सेट) होता है और उनमें आयताकार तड़ाग होते हैं, जिनकी तहें ग्रैनाइट की बनी होती हैं। उन तहों पर ग्रैनाइट के बेलन आगे-पीछे डोलते रहते हैं। इन काँचों की क्रिया १२ से ९६ घण्टों तक चलती रहती है। जैसी चाकलेट बनानी होती है, उसी के अनुसार इस क्रिया का ताप रखा जाता है। इस अवस्था में चाकलेट की बनावट तथा उसकी सुवास का अद्भुत विकास होता है। लेकिन आज तक इस विचित्रता का कोई वैज्ञानिक कारण नहीं बताया जा सका कि उपर्युक्त विकास क्यों और कैसे होता है। काँच में से निकलने के बाद चाकलेट साँचों में ढलने तथा खण्ड बनने के लिए तैयार हो जाते हैं। सामान्यतः इन क्रियाओं के पहले चाकलेट को स्टोव पर गरम करके मृदुकरण (टेम्परिंग) के लिए तली में डालकर उसका निरन्तर विचालन किया जाता है और अनुगामी क्रिया के लिए उपयुक्त ताप पर रखा जाता है। चाकलेट का मृदुकरण बड़े महत्त्व की क्रिया मानी गयी है और अगर यह ठीक ढंग से न पूरी की जाय तो निष्पन्न पदार्थ में कई दोष उत्पन्न हो जाते हैं। इनमें से एक दोष को वसीय मृदुलक (फैटीब्लूम) कहते हैं। इस दोष के कारणों की खोज के लिए निर्माता एवं रसायनज्ञ वर्षों से चिन्तित रहे और आखिरकार 'ट्रेड रिसर्च एसोसियेशन' ने इसके कारण का पता लगाया और इसके उपाय भी सुझाये। साँचे में ढालकर खण्ड बनाने की क्रिया बहुधा यंत्रों की सहायता से की जाती हैं यद्यपि सर्वोत्तम चाकलेट का आवरण अब भी हाथ से ही किया जाता है।

यंत्रों द्वारा आवरण क्रिया में चाकलेट की सुघट्यता (प्लैस्टिसिटी) बड़े महत्त्व की

बात है और रसायनज्ञों तथा 'रिसर्च एसोसियेशन' के कर्मचारियों (विशेष कर डा० एल० ई० कैम्पबेल) द्वारा अध्ययन का यह विशेष विषय रहा है।

प्रशीतक (रेफ्रिजरेटर) किसी चाकलेटनिर्माणी का एक प्रमुख अंग होता है क्योंकि द्रवित खण्डों तथा 'कौवर्चर' की ऊष्मा को, जिसमें गुप्त ऊष्मा भी शामिल होती है, इस गति से घटाना चाहिए जिससे वसा सूक्ष्म केलासीय रूप में जम जाय। इसी केलासीय दशा पर चाकलेट की भंगुरता (स्नैप) निर्भर करती है। शीतन की अति मन्द गति के कारण ही चाकलेट में इस गुणविशेष की कमी होती है तथा वह खाने में भी कुछ रूखा-सा लगता है। इसीलिए उसे शीघ्र ठंडा करने के लिए प्रशीतक की आवश्यकता होती है।

इस उद्योग में बीन का छिलका या बकला काफी प्रचुर मात्रा में निकलता है, अतः इसके उपयोग के लिए अनेक प्रयत्न किये गये हैं। इनसे थियोब्रोमीन और निम्न कोटि का कोको बटर निकाला गया है। हाल में इन छिलकों में विटामिन डी पाये जाने के कारण अब यह एक उत्तम पशुखाद्य के रूप में प्रयुक्त होने लगा है। गायों को ये छिलके खिलाने से उनसे जाड़ों में भी उसी विटामिन डी मात्रावाला मक्खन प्राप्त होता है जैसा गर्मी के दिनों में।

युद्धकाल में सैनिकों के लिए चाकलेट एक विशेष राशन के रूप में इस्तेमाल होता था तथा अधिकृत देशों के बच्चों को खिलाने के लिए यह काफी बड़े पैमाने पर तैयार किया जाता था। बच्चों को विटामिन (ए, बी, सी, तथा डी) खिलाने के लिए चाकलेट बड़ा उत्तम साधन है। (इंग्लैण्ड के) खाद्यमंत्रालय द्वारा सर जैक ड्रमण्ड की अध्यक्षता में नियुक्त एक विशेष समिति ने निर्माण एवं संग्रहण-काल में विटामिन की हानि की सीमा निर्धारित करने के लिए बड़ा अनुसन्धानकार्य किया। युद्ध के पहले 'रिसर्च असोसियेशन' ने यह सिद्ध किया था कि कोको पदार्थों में एक ऐसा प्रति-ऑक्सीकारक होता है जो सामान्यतः तेल और वसा में पूतिगंधिता[1] को रोकता है, और अब यह भी ज्ञात हुआ है कि यह पदार्थ चाकलेट में मिलाये गये विटामिन ए की भी काफी समय तक सुरक्षा करता है। विटामिन बी$_1$ तो वैसे भी लम्बे समय तक अप्रभावित रहता है, लेकिन विटामिन सी की धीरे-धीरे बराबर हानि होती रहती है। इन परिणामों से यह विदित होता है कि विटामिनों का सेवन कराने के लिए, विशेषकर बच्चों को, चाकलेट बड़ा उपयुक्त साधन है।

[1] Rancidity

मिठाई—मिठाई बनाने के उद्योग में विविध प्रकार के कच्चे मालों का प्रयोग होता है और उनके चुनाव में बड़ी सावधानी की आवश्यकता होती है। उच्च कोटि की मिठाई बनानेवालों के लिए सभी वस्तुओं के भौतिक एवं रासायनिक गुणों का ज्ञान अनिवार्य होता है। सामान्यतः इस उद्योग में प्रयुक्त होनेवाली क्रियाएँ चाकलेट बनाने की प्रक्रिया से कहीं अधिक सरल होती हैं। उनमें से अधिकांश में अकेले या अन्य वस्तुओं के साथ केवल शर्करा उबालने की आवश्यकता होती है।

सबसे साधारण मिठाई 'शर्करा क्वाथन' (सूगर ब्यायलिंग्स) कहलाती है। 'बुल्स आइज़', 'ऐसिड ड्राप्स', 'पियर ड्राप्स' इत्यादि इस प्रकार की मिठाइयों के उदाहरण हैं। इनके बनाने की तीन मुख्य रीतियाँ हैं--(१) अग्निक्वाथन—इस विधा में शर्करा को एक ताम्रकड़ाह में लेकर कोक या गैस की आग पर उबाला जाता है। थोड़ी मात्रा में क्रीम आफ टारटर भी डाल दिया जाता है, इसका एकमात्र तात्पर्य शर्करा को अंशतः अपवृत्त (इन्वर्ट) करना होता है अन्यथा ठंडी होने पर उबाली हुई शर्करा का ऐसा रवा बन जाता है कि उसे साँचों में डालकर वांछित आकार में ढालना असंभव हो जाता है। कुछ मिठाइयों के लिए अग्निक्वाथन की रीति अब भी अच्छी मानी जाती है क्योंकि कड़ाह में शर्करा के स्थानिक कैरेमली-भवन[1] के कारण एक विचित्र सुवास उत्पन्न हो जाती है।

(२) निर्वात क्वाथन—इसमें शर्करा को न्यून दबाव पर उबाला जाता है। इस विधा में शर्करा को अपवृत्त करने के लिए टारटरिक अम्ल अथवा साइट्रिक अम्ल डाला जाता है, क्योंकि न्यून ताप पर क्रीम ऑफ टारटर उतना सक्रिय नहीं होता; ऐसी दशा में अपवृत्त करने के लिए अम्लता की अधिक मात्रा आवश्यक होती है। साथ ही अपवृत्त शर्करा के अनुपात पर भी नियंत्रण रखा जाता है, अन्यथा उसमें और दोष उत्पन्न हो सकते हैं।

(३) बड़े पैमाने पर उत्पादन—इस प्रणाली में प्रयुक्त भाप-चोलित रम्भ (स्टीम जैकेटेड सिलिण्डर) के अन्दर तप्त कुण्डल (क्वायल) होते हैं। शर्करा के मिष्टोद[2] (सिरप) का पतला स्तर इन्हीं कुण्डलों के ऊपर से पार किया जाता है। यह विधा संतत चलती रहती है तथा यह प्रणाली मुख्यतः धान्यमिष्टोद (कार्न सिरप) अथवा कॉन्फेक्शनर्स ग्लूकोज़ से बने क्वाथनों के उत्पादन में प्रयुक्त होती है। इस मिष्टोद में शर्करा के रवे उस प्रकार नहीं बनते जैसे अपवृत्त शर्करा में। इसी लिए ऐसी

[1] Carametising [2] Syrup शर्बत

मिठाइयों के लिए, विशेषकर जो अम्लरहित होती हैं, ग्लूकोज ही इस्तेमाल किया जाता है।

मिठाइयों के इतने विभिन्न प्रकार होते हैं कि यहाँ सबका वर्णन संभव नहीं, लेकिन यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि उनके उत्पादन एवं संग्रहण में अनेक भौति-रासायनिक सिद्धान्त निहित हैं। कुछ पदार्थ तो ऐसे वायुमंडल से भी आर्द्रता ग्रहण करते हैं जिनकी आपेक्षिक आर्द्रता काफी कम होती है, जब कि कुछ ऐसे पदार्थ होते हैं जो काफी अधिक आपेक्षिक आर्द्रतावाले वायुमण्डल में भी अपनी आर्द्रता खोकर सूखने लगते हैं। एतदर्थ विभिन्न पदार्थों के वाष्प-दाब (वेपर प्रेशर) का ज्ञान इसलिए आवश्यक है कि रसायनज्ञ उनके संग्रहण एवं भरने और बाँधने का ठीक-ठीक प्रबन्ध कर सकें। कुछ तरह की मिठाइयाँ तो बनाते-बनाते ही सूखने लगती हैं, इस समस्या के हल में भी रसायनज्ञ और इंजीनियर की आवश्यकता होती है।

श्यानता, सुघट्यता तथा केलासन से संबन्धित भी अनेक समस्याएँ हैं। पिछले कुछ वर्षों में कच्चे माल अथवा उनके मिश्रणों के pH मान के प्रभाव का भी विशेष ज्ञान प्राप्त किया गया है जिससे महत्त्वपूर्ण उन्नति करने और मितव्ययिता में विशेष सहायता मिली है। विविध प्रकार की मिठाई बनाने में स्टार्च, जिलैटिन, अगर, पेक्टिन तथा गोंद इस्तेमाल होते हैं, अतः इनकी वजह से मिठाई-उद्योग में कलिलीय रसायन का भी विशेष महत्त्व है। सोयाबीन से प्राप्त लेसिथीन के प्रयोग से नवनीत अर्थात् मक्खन तथा अन्य वसाओं का संतोषजनक पायसन भी अब बड़ा सरल हो गया है।

मिठाइयों के रंग और सुवास पर ही उपभोक्ताओं की रुचि प्रायः निर्भर करती है; और इन गुणों का विकास मुख्यतः रसायनज्ञों की कुशलता पर आधारित होता है। विविध प्रकार के कृत्रिम सुवासनपदार्थ तैयार कर लिये गये हैं, जिनसे न्यूनाधिक मात्रा में उन प्राकृतिक सुवासों की प्रतीति होती है जो सरलता से सांद्रित रूप में नहीं प्राप्त की जा सकती हैं। खाद्यरंजक भी अनेक प्रकार के और बड़ी उच्च शुद्धता के बनने लगे हैं। इन सब बातों से यह स्पष्ट है कि इन उद्योगों में कच्चे माल के चुनाव तथा निर्माण की रीतियों के नियंत्रण एवं संशोधन में रसायनज्ञों के लिए काम करने का बहुत व्यापक क्षेत्र है।

ग्रन्थसूची

BERMAN, M. : *The How and Why of Candy Making.* Emmet Boyles.

BYWATERS, H. W. : *Modern Methods of Cocoa and Chocolate Manufacture.* J. & A. Churchill, Ltd.

FINCKE, H. : *Handbuch der Kakaoerzeugnisse.* Julius Springer.

FRITSCH, J. : *Fabrication du Chocolat* Desforges.

JENSEN, H. R. : *Chemistry, Flovouringand Manufacture of Chocolate, Confectionery and Cocoa.* J. & A. Churchill, Ltd.

JORDAN, S. : *Confectionery Problems.* National Confectioners' Association.

KANPP, A. W. : *Cocoa and Chocolate.* Sir Isaac Pitman & Sons, Ltd.

KNAPP, A. W. : *Cocoa Fermentation* John Bale, Sons & Curnow, Ltd.

Skuse's Complete Confectioner. W. J. Bush & Co., Ltd.

WHYMPER, R. : *Cocoa and Chocolate, Their Chemistry and Manufacture.* J. & A. Churchill, Ltd.

WHYMPER, R. : *Manufacture of Confectionery.* St. Catherine Press, Ltd.

ZIPPERER, P. : *Manufacture of Chocolate.* E. & F. N. Splon, Ltd.

डब्बाबन्दी

आर० एस० पॉटर, बी० एस-सी० (बर्मिंघम), एफ० आर० आई० सी०

इतिहास—खाद्य पदार्थों के परिरक्षण के लिए अतीत काल से प्रयत्न होता आया है और उसके लिए अनेक विधाएँ (प्रक्रियाएँ) भी प्रयुक्त होती रही हैं। परन्तु जब उन विधाओं के क्रियाकरण में विज्ञान का प्रयोग किया जाने लगा तभी से उसमें विशेष प्रगति और विकास हुआ है। डब्बाबन्दी प्रथा खाद्यपरिरक्षण का अभी नया तरीका है जो प्रायः गत १४० वर्षों से व्यवहृत हो रहा है। १७९५ में फ्रेंच सरकार ने युद्ध-कालीन स्थिति में सैनिकों के खाद्यों के परिरक्षण की सबसे व्यावहारिक रीति विकसित करने के लिए १२,००० फ्रांकों के पुरस्कार की घोषणा की थी। १८०४ ई० में निकोलस अप्पर्ट नामक एक फ्रांसीसी ने, जिसे खाद्यपरिरक्षण की कला का अच्छा अनुभव प्राप्त था, कांच के बन्द मर्तबानों में गरम करके खाद्यों को ठीक दिशा में असीमित काल तक सुरक्षित रखने की विधा का आविष्कार किया। उस समय इस विधा को "कला" की ही संज्ञा दी गयी क्योंकि सचमुच उसके ठीक सिद्धान्तों का किसी को भी

पता न था और न किसी को इस प्रारम्भिक आविष्कार के उस महत्त्व का ही अनुमान था, जो आगे चलकर खाद्यपरिरक्षण और वितरण के क्षेत्र में उसे प्राप्त हुआ। आजकल तो किसी दूकान में परिरक्षित खाद्यों के भण्डार को देखकर डब्बाबन्दी उद्योग के विस्तार का सहज अनुमान किया जा सकता है। इस उद्योग का इतिहास स्वयं ऐसा विषय है जिस पर पूरा ग्रन्थ लिखा जा सकता है परन्तु यहाँ तो उसकी केवल एक झलकमात्र दिखाई जा सकती है। पाठकों को यदि इसकी विस्तृत जानकारी प्राप्त करनी हो तो उन्हें तत्संबन्धी अन्य वाङ्मय का अध्ययन करना होगा।

१८१० ई० में अप्पर्ट ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक (ग्रन्थसूची देखिए) प्रकाशित की थी और यह उल्लेखनीय बात है कि आज प्रायः १४० वर्ष के बाद भी उनकी मूल प्रक्रिया को ही डब्बाबन्दी का आधार माना जाता है। यह सामान्यतः मान्य है कि डब्बाबन्दी का जन्म अप्पर्ट की विधा से ही हुआ, लेकिन टामस सैडिंगटन नामक एक अंगरेज़ को भी उसका श्रेय दिया जाता है, क्योंकि उसने अप्पर्ट की पुस्तक प्रकाशित होने के कुछ वर्ष पूर्व फलों के परिरक्षण की एक विधा का पेटेण्ट कराया था। सैडिंगटन की विधा भी अप्पर्ट की विधा की तरह ही थी, इसमें भी फलों को काँच की बोतलों में बन्द करके १६०°—१७०° फ० ताप पर एक घण्टा तक गरम करके उनका परिरक्षण किया जाता था। इंग्लैण्ड में डब्बाबन्दी का प्रथम कारखाना १८१२ के लगभग बर्माण्डसे में डॉन्किन द्वारा बनाया गया था। धातु आधानों का विकास पहले-पहल डूरैण्ड ने किया था और उसने तत्संबन्धी दूसरा पेटेण्ट भी लिया था। संभवतः डब्बाबन्दी कारखाने की स्थापना इसी पेटेण्ट का परिणाम थी। ये आधान अर्थात् डब्बे शुरू शुरू में पिटवाँ लोहे के बने होने के कारण बहुत भारी होते थे। इनके सिरे पर एक छेद होता था जिससे उनमें खाद्य पदार्थ डाला जाता और उसके बाद उस पर एक बिम्ब रखकर टाँके से जोड़ दिया जाता था। अन्त में उस डब्बे को खौलते पानी में रखकर परिरक्षण किया जाता था। इन डब्बाबन्द खाद्यों में नौसैनिकों की विशेष रुचि होती थी, क्योंकि उनको न केवल विविध प्रकार की खाद्य वस्तुएँ प्राप्त होने लगी थीं बल्कि इनके प्रयोग से वे प्रशीताद (स्कर्वी) नामक रोग से भी बच जाते थे। उस प्रारम्भिक काल में कभी कभी खाद्यों के नष्ट हो जाने से उद्योग में भारी हानि हो जाया करती थी और खाद्य-परिरक्षण की प्रचलित प्रथा आलोचना का अच्छा साधन बन जाती थी। स्टीफेन गोल्डनर ने रासायनिक ऊष्मक के लिए एक और पेटेण्ट लिया, जिसमें जल के स्थान पर कैल्सियम क्लोराइड या सोडियम नाइट्रेट का विलयन प्रयुक्त होता था। इन विलयनों के प्रयोग से जीवाणु-हनन का ताप अधिक ऊँचा किया जा सकता था।

१९वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में बड़ी तेज़ी से इस उद्योग का विकास हुआ और

अमेरिका तथा आस्ट्रेलिया में बड़ी जल्दी जल्दी इसकी निर्माणियाँ खुलीं। इस काल में तथा २०वीं शताब्दी में मुख्यतः आधानों का उन्नतिसंबन्धी विकास हुआ और धीरे-धीरे भरने के बाद टाँका लगाकर बन्द किये जानेवाले डब्बों के स्थान पर आज के खुले सिरेवाले स्वाच्छिक डब्बे (सैनिटर कैन्स) प्रयुक्त होने लगे। भरे जाने के बाद ये डब्बे यंत्रों द्वारा बन्द किये जाते हैं, जिससे ढक्कन डब्बे पर वेलनों द्वारा रबर यौगिक के साथ ऐसे दबाये जाते हैं कि उनका जोड़ बिल्कुल अवात कस जाता है। टाँका लगाकर बन्द किये जानेवाले डब्बों के प्रयोग में परिवर्तन प्रायः गत ३० वर्षों के अन्दर हुआ है और अब तो उनका इस्तेमाल एकदम बन्द हो गया। पिछले दो दशकों से इस उद्योग का बड़ी तेज़ी से विस्तार हुआ है, फलस्वरूप युनाइटेड किंगडम में न केवल डब्बाबन्द पदार्थों की खपत बहुत बढ़ी, वरन् वहाँ उनका उत्पादन भी कईगुना बढ़ गया। उदाहरणार्थ १९२८ से १९३४ के बीच उत्पन्न डब्बाबन्द एवं बोतलबन्द सामानों की मात्रा ९६,००० हण्डरवेट से बढ़कर ५८९,००० हण्डरवेट हो गयी।

डब्बाबन्दी के सिद्धान्त——अप्पर्ट की प्रक्रिया की सफलता के बाद फ्रान्स की सरकार ने तत्कालीन अग्रगण्य रसायनज्ञ, गे-लुसक को उस विधा का अनुसन्धान करने के लिए नियुक्त किया और अन्त में उनकी गवेषणा का परिणाम एक सरकारी प्रतिवेदन के रूप में प्रकाशित हुआ, जिसका निष्कर्ष यह था कि हवा एवं आक्सीजन की अनुपस्थिति के कारण खाद्य पदार्थ अच्छी तरह बने रहते हैं। उनका विचार था कि इस प्रश्न का उत्तर एकदम रासायनिक था तथा खाद्यों का नष्ट होना उनके रासायनिक ऑक्सीकरण के कारण होता है, और यह प्रतिक्रिया आक्सीजन की अनुपस्थिति में संभव नहीं होती फलतः खाद्य भी नष्ट नहीं होते। आगे चलकर ब्रिटिश सरकार की एक प्रवर समिति ने भी डब्बाबन्द मांस के सड़ने का कारण टिनों में ऑक्सिजन की उपस्थिति ही बताया था। फलतः १९वीं शताब्दी के अन्त तक यानी जब तक लुई पास्तूर ने अपने जीवा गवीय अनुसन्धानों के द्वारा समस्या पर एक नया प्रकाश नहीं डाला, तब तक अप्पर्ट की प्रक्रिया की सफलता के सच्चे कारण का पता न लग सका। १८६७ में 'रायल सोसायटी आफ आर्ट् स' के तत्त्वावधान में हुए एक विचारविमर्श में यह कहा गया कि यद्यपि खाद्यों के खराब होने में जीवाणुओं के कार्यभाग की उपेक्षा नहीं की जा सकती है लेकिन उन्हें नष्ट होने से बचाने में डब्बों में से आक्सीजन निकालना ही मुख्य बात है। पास्तूर ने आगे चलकर यह सिद्ध किया कि खाद्य पदार्थ जीवाणुओं एवं अन्य सूक्ष्म प्राणियों की वृद्धि और विकास के कारण ही ख़राब होते हैं, और ये सूक्ष्म प्राणी ताप से स्वयं मर जाते हैं। पास्तूर के इस कार्य के बाद कई वर्षों तक यह समझा जाता रहा कि अच्छी दशा में रहनेवाले सभी डब्बाबन्द सामान जीवाणुरहित होते हैं। किन्तु वर्त-

बाद डब्बों को एक रेचन बक्स (एक्ज़ास्ट बॉक्स) में रखा जाता है, और उसका ताप उस सीमा तक बढ़ाया जाता है जिससे डब्बे को बन्द करके साधारण ताप तक ठंडी करने के बाद उसके अन्दर निर्वात अवस्था बनी रहे। तदनन्तर यंत्र द्वारा ढक्कन को नचाकर डब्बों पर बैठा दिया जाता है और उन्हें या तो निपीडतापक में रखकर अथवा उबलते जल में गरम करके उनका जीवाणुहनन किया जाता है। जीवाणुहनन की प्रक्रिया पर अम्लता का महत्त्वपूर्ण प्रभाव होता है। प्रबल अम्ल माध्यम में १८०° फ० अथवा इससे भी नीचे ताप पर कुछ मिनट के लिए गरम करने से पदार्थों के परिरक्षी गुणों की पर्याप्त सुरक्षा हो जाती है। डब्बाबन्द फलों में बहुधा ऐसी अम्लता विद्यमान होती है। परन्तु शाकभाजी और मांस के लिए केवल इसी ताप तक गरम करना काफी नहीं होता, क्योंकि ऐसा करने से उनमें जीवाणु विकसित हो जाते हैं, जिससे अधिकांश पदार्थ नष्ट हो जाता है। इसी वजह से मांस, मछली तथा शाकभाजियों का विधायन क्वथनांक से काफी ऊपर ताप पर करना पड़ता है। कुछ वर्ष पहले तक डब्बा बन्द करने-वाले अपनी विधा में २४०° फ० ताप का प्रयोग करते थे, किन्तु निपीड-पक्त्रों के प्रचलन से अब पदार्थों को २६५° फ० पर केवल कुछ मिनटों के लिए गरम करना अधिक अच्छा माना जाता है, क्योंकि इससे पदार्थों के गंध एवं रंग में कोई प्रतिकूल परिवर्तन नहीं होता है। डब्बाबन्द सामानों के उच्च दाब विधायन में काफी सावधानी की आवश्यकता होती है क्योंकि ऐसी दशा में डब्बों के जोड़ों पर बड़ा ज़ोर पड़ता है और इसकी वजह से आगे चलकर उनके चूने लग जाने की संभावना होती है। आजकल डब्बे के आन्त-रिक दबाव के प्रतिसंतुलन के लिए बाहर से उसी के बराबर हवा का दबाव डाला जाता है और इस प्रकार उन पर अधिक ज़ोर पड़े बिना ही डब्बों का विधायन होता है और वे ठंडे किये जाते हैं।

डब्बों के संक्षारण (कोरोज़न) की समस्या भी वैज्ञानिक अनुसन्धान का विषय रही है। इंग्लैण्ड के 'कैम्पडन रिसर्च स्टेशन' तथा अमेरिका के 'नेशनल कैनर्स रिसर्च असोसियेशन' द्वारा किये कार्यों से इस विषय पर अच्छा प्रकाश पड़ा है। टिन-पट्टिकाओं के संक्षारण और विरंजन को रोकने या कम करने के लिए विविध प्रकार के प्रलाक्ष (लैकर्स) इस्तेमाल किये जाने लगे हैं। उदाहरणार्थ, धातवीय सल्फाइडों के बनने से टिनपट्टिका के काले पड़ जाने को गंधकरोधी प्रलाक्षों से रोका जा सकता है।

संबद्ध उद्योग---इस अध्याय में प्रस्तुत उद्योग की उन शाखाओं का भी उल्लेख करना उचित है, जो साधारणतः फल, मांस, शाकभाजी, मछली वगैरह की डब्बाबन्दी के क्षेत्र के बाहर हैं, किन्तु खाद्यपरिरक्षण से संबन्धित हैं। गत कुछ वर्षों से संयुक्त राज्य अमेरिका में हिमीकृत (फ्रोजन) और तुषारित (फ्रॉस्टैड) खाद्यों को टिनों या

काँच के बरतनों में भरने का उद्योग तेज़ी से बढ़ रहा है, और अभी हाल में इंग्लैण्ड के कारखानों में भी खाद्यों, विशेषकर शाकभाजियों, को इस विधा से परिरक्षित करने के लिए संयन्त्र लगाये गये हैं। अमेरिका में संभवतः प्रशीतित (रेफ्रिजरेटेड) संग्रहण की सुविधाएँ मौजूद होने के कारण ही यह विधा इंग्लैण्ड की अपेक्षा वहाँ अधिक सुगमता से अपनायी जा सकी। प्रचुर मात्रा में शाकभाजियों का हिमीकरण करके उनका परि-रक्षण किया जाता है। चूँकि इस प्रक्रिया में पदार्थों को गरम नहीं करना पड़ता है, इसी लिए उनमें उनकी ताजी सुगन्ध पूरी तरह से बनी रहने की संभावना अधिक होती है।

डब्बों में बन्द मीठा संघनित दूध मुख्य डब्बाबन्द सामानों से भिन्न माना जाता है, क्योंकि इसका जीवाणुहनन ऊष्मोपचार से नहीं किया जाता। वस्तुतः इसका परि-रक्षण इसकी आर्द्रता कम करके किया जाता है, जो डब्बाबन्दी के सिद्धान्तों से एकदम भिन्न है। मीठा संघनित दूध बड़ी भारी मात्रा में तैयार किया जाता है, इसी लिए यहाँ इसका विशेष उल्लेख किया गया है।

डब्बाबन्द बिअर भी दूसरी वस्तु है जिसका प्राविधिक एवं अन्य कारणों से यहाँ उल्लेख करना ज़रूरी है। डब्बाबन्द सामानों की सूची में इसका नाम अभी हाल में ही लिखा गया है। निर्यात की दृष्टि से ही इसका विशेष महत्त्व है। बिअर सँकरी गरदन-वाले ऐसे धा वीय पात्रों में भरा जाता है, जिनके भीतरी तल पर एक विशेष प्रकार के मोम का लेप किया रहता है। यह लेप एक रक्षक आवरण का काम करता है। डब्बों में भरकर ही इसका पाश्चरीकरण किया जाता है, तथा यह अपेक्षाकृत अधिक स्थायी भी होता है।

खाद्य उद्योग की अन्य शाखाओं की तुलना में संभवतः डब्बाबन्दी उद्योग के विकास में विज्ञान ने कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। रसायन, जीवाणुकी, कृषि रसायन, वनस्पतिविज्ञान, भौतिकी, औषधविज्ञान, इंजीनियरी——सभी ने इस उद्योग की उत्पत्ति और विकास में अपना अपना योगदान किया है। और आज यह अपने आर्थिक महत्त्व और विशिष्ट विकास के कारण एक प्रमुख उद्योग बन गया है। अंग्रेजी की एक कहावत है "सक्सेस कम्स इन् कैन्स, नॉट इन् कैन नॉट।" जिस समय यह कहावत कही गयी होगी उस समय डब्बाबन्दी अर्थात् 'कैनिंग' उद्योग का नामोनिशान भी न था, लेकिन इसके प्रारम्भ से ही 'कैन्स' (डब्बों) में निश्चित रूपेण सफलता प्रवेश कर गयीं। (इस कहा-वत में दो-अर्थी शब्द "कैन" में ही विशेषालंकार है, इसका अर्थ एक ओर "काम कर सकना" है तो दूसरी ओर "डब्बा" भी है—अनु०)

१९३९ में दूसरे महायुद्ध के शुरू होने से खाद्यपरिरक्षण-विज्ञान स्पष्ट रूप से

प्रगट हुआ और इसके गठन में खाद्यरसायन एवं रासायनिक इंजीनियरी के सभी प्राप्य प्राविधिक ज्ञान का प्रयोग करना पड़ा।

वे सभी उष्णदेशीय एवं उपोष्णदेशीय फल जो इंग्लैण्ड में डब्बाबन्द तथा ताजी दोनों अवस्थाओं में लोकप्रिय हो गये थे, एकाएक बाज़ार से एकदम गायब हो गये। और परम लोकप्रिय केले जो वातसंग्रहण संयंत्र (गैस स्टोरेज प्लाण्ट) लगे जहाजों में भर भरकर इंग्लैण्ड में आते थे, केवल अतीत की कहानी मात्र रह गये। कारण यह था कि जहाज तो एक मात्र आयुधों और अनिवार्य खाद्य पदार्थों के ढोने में ही लग गये। फलतः ब्रिटिश डब्बाबन्दी उद्योग को स्वदेश में उत्पन्न वस्तुओं से ही अपने देश की आपाती आवश्यकता की पूर्ति करनी पड़ी। मृदु फलों का प्रयोग तो अधिकांशतः जैम बनाने के लिए होने लगा और डब्बाबन्द करनेवालों ने आलूबोखारा (जो अन्यथा नष्ट हो जाते), मटर तथा बीन ही डब्बों में भरकर आपात का सामना किया। इस प्रकार इंग्लैण्ड में उत्पन्न बहुमूल्य वस्तुओं का परिरक्षण करके युद्धकाल में वर्ष के बारहो महीने भोजन को संतुलित बनाये रखने में बड़ी सहायता मिली। इनकी अनुपूर्ति ब्लैक करेण्ट (कृष्णपाक बदरी) और हिप (श्वपाटल फल) के, जिनमें विटामिन सी प्रचुर मात्रा में होता है, मिष्टोदों को बोतलों में भरकर भी की गयी। ये मिष्टोद खाद्यमंत्रालय (इंग्लैण्ड के) के नियंत्रण में विशेष कर बच्चों को दिये जाते थे। बड़ी बड़ी प्राविधिक कठिनाइयों के होते हुए भी ये कार्य किये गये हैं और कठिनाइयों का सफलतापूर्वक सामना किया गया। टिनपट्टिकाओं के स्थान पर प्रलाक्ष लेप की हुई काली पट्टिकाओं का प्रयोग ऐसे प्रयास का उत्तम उदाहरण है।

युद्धकाल में आहार की अति सीमित उपलब्धि के समय देश के स्वास्थ्य का स्तर ऊँचा बनाये रखने में डब्बाबन्दी उद्योग ने निश्चित रूपेण बड़ा महत्त्वपूर्ण योगदान किया है।

ग्रन्थसूची

APPERT, N. : *Le Livre de tous les Menages ou l' Art de Conserver pendant plusiers annees toutes les Substances Animales et Vegetales.*

CAMPBELL, C. H. : *Text Book on Canning, Preserving and Pickling.* *"Canning Age."*

DRUMMOND, J. C., AND WILBRAHAM, A. . *The Englishman's Food.* Jonathan Cape, Ltd.

JONES, OSMAN : *Modern Methods of Food Preservation.* Royal Institute of Chemistry.

SAVAGE, W. G., AND HUNWICKE, R. F. : *Food Investigation Special Reports, Nos.* 11, 13 and 16. H. M. Stationery Office.

WOODCOCK, F. H. : *Canned Foods and Canning Industry.* Sir Isaac Pitman & Sons, Ltd.

शीत संग्रहण

खाद्य पदार्थों के परिरक्षण के लिए उनका शीत संग्रहण[1] भी बड़ा महत्त्वपूर्ण विषय है। पिछले कुछ वर्षों में मांस, फल और शाकभाजी वगैरह जैसे अनेक खाद्यों के परिरक्षण के लिए इस विधा (प्रक्रिया)[2] का सफल प्रयोग किया गया है।

अब कुछ समय से बरफ के स्थान पर प्रशीतन संयन्त्रों का ही प्रयोग होने लगा है। अजलीय अमोनिया, सल्फर डाइ आक्साइड, कार्बन डाइ आक्साइड, मिथिल क्लोराइड सदृश रासायनिक यौगिक जब द्रव से गैसीय कला[3] में परिवर्तित होते हैं तब उनके आयतन के प्रसरण के अतिरिक्त वे पर्याप्त मात्रा में ऊष्मा भी ग्रहण कर लेते हैं, जिसके फलस्वरूप उनके आसपास का वातावरण अत्यन्त ठंडा हो जाता है। इसी वैज्ञानिक तथ्य का वाणिज्यिक उपयोग करके प्रशीतन संयन्त्र (रेफ्रिजरेशन प्लाण्ट) तैयार किये गये हैं। इन संयन्त्रों की सहायता से ताप बड़ी सरलता से नियंत्रित किया जा सकता है। प्रशीतन संग्रहालय या तो सीधे इन्हीं संयंत्रों से ठंडे किये जाते हैं या प्रशीतकों द्वारा शीतित लवण-जल को परिचालित करके उन्हें ठंडा किया जाता है।

खाद्य 'जीवित' तथा 'मृत' ऊतक (टिशू) वाले दो वर्गों में विभाजित किये जा सकते हैं—फल और शाकभाजी 'जीवित ऊतक' वाले वर्ग के हैं और मांस मछली 'मृत ऊतक' वाले खाद्य हैं। जीवित ऊतक वाले पदार्थों का सफल परिरक्षण करने के लिए यह आवश्यक है कि संग्रहण का ताप इतना कम न हो कि उनकी कोशाओं का द्रव जम जाय, क्योंकि इससे ऊतक मर जाते हैं। पाला मारे हुए सेव और आलू इस प्रकार के परिवर्तन के बड़े परिचित उदाहरण हैं। इसलिए फल तथा शाकभाजी के संग्रहण के लिए उत्तम ताप हिमांक से ऊपर यानी ३४°-३६° फ० होता है। केले जैसे उष्णदेशीय

[1] Cold storage [2] Process [3] Gaseous state

फलों के लिए तो ५५°—६०° फ० का ताप प्रयोग किया जाता है। ऐसी अवस्था में संग्रह करने से श्वसन (रेस्पिरेशन) और पकने जैसी साधारण जीवनप्रक्रियाएँ एक दम बन्द नहीं होतीं, वे केवल धीमी पड़ जाती हैं। परन्तु मांस जैसे मृत ऊतकवाले पदार्थों के संग्रहण की समस्या सर्वथा भिन्न है। उन्हें तो यथासंभव शीघ्र अति न्यून ताप (१५° फ०) पर जमा देना पड़ता है, जिससे कोशास्थित द्रव के जमने से बरफ के छोटे-छोटे केलास बन जायँ और मांस का गठन (टेक्स्चर) सुन्दर बना रहे।

गत वर्षों में पदार्थों पर संग्रहण की विभिन्न परिस्थितियों के प्रभावों का विशेष अध्ययन किया गया है। (इस संबन्ध में एच० एम० स्टेशनरी आफिस द्वारा प्रकाशित 'फुड इन्वेस्टिगेशन रिपोर्ट (१९३१) देखिए।) आपेक्षिक आर्द्रता और हवा का निबन्ध नियंत्रित करना भी तापनियंत्रण के समान महत्त्वपूर्ण है। इन्हीं अनुशीलनों के फलस्वरूप फलों और शाकभाजियों के लिए आधुनिक गैस-संग्रहण रीति का प्रयोग होने लगा है।

कुछ समय पूर्व तक प्रशीतन रीति का प्रयोग मुख्यतः थोक बाजारों में होता था, क्योंकि इससे शाकभाजी एवं मांस को अच्छी दशा में सुदूर देशों में भेजना संभव हुआ था। लेकिन अब संयुक्त राज्य अमेरिका में और इंग्लैण्ड में खुदरा बाजार में भी प्रशीतन का प्रयोग होने लगा है, जिसके फलस्वरूप 'हिमीकृत पोटली' (फ्रोज़ेन पैक) वाले फल और शाकभाजी उपभोक्ताओं को मिलने लगे हैं। खुदरा बाजार में प्रशीतन के प्रचलन से वितरण की समस्याएँ उत्पन्न हुई हैं और अब खुदरा विक्रेताओं को भी प्रशीतन संग्रहण का प्रबन्ध करना आवश्यक हो गया है।

ग्रन्थसूची

AMERICAN SOCIETY OF REFRIGERATION ENGINEERS : *Refrigerating Data Book*, Part. V.

FOOD INVESTIGATION BOARD, REPORTS OF : H. M. Stationery Office.

यवासवन; ऐलकोहॉल; मदिरा और स्पिरिट

आर० एच० हॉप्किन्स, डी० एस-सी० (बर्मि०), एफ० आर० आई० सी०

प्रौद्योगिक समस्याओं के हल के लिए वैज्ञानिक अनुसन्धानों के महत्त्व का अनुभव सबसे पहले यव्य मदिरा अर्थात् "माल्टेड लिकर" के उत्पादन में ही किया गया था। किन्तु आगे चलकर इन अनुसन्धानों से केवल इसी उद्योग को लाभ नहीं हुआ बल्कि ये कार्य इतने सारगर्भित सिद्ध हुए कि रसायनविज्ञान में 'किण्वन' का एक नया क्षेत्र ही बन गया। कालान्तर में चमड़े, तम्बाकू, खाद्य पदार्थ और अन्य कितने उद्योगों में किण्वन का विशेष प्रयोग होने लगा। यह सब यवासवन अर्थात् 'ब्रूइंग' के अध्ययन का ही फल है।

मिस्र में ४०००-३००० ई० पू० से ही ऐलकोहालीय पेयों की प्रथा प्रचलित थी। जहाँ द्राक्षा उत्पादन के लिए परिस्थितियाँ अनुकूल न थीं, उन सभी देशों में अंगूरी मदिरा के स्थान पर यही मदिरा सेवन की जाती थी। गोकि मिस्र-वासियों ने भी नील की घाटी में अंगूर लताएँ लगा रखी थीं, परन्तु संभवतः इसके क्षेत्र परिसीमित होने के कारण अन्य भागों में यव्य मदिरा के यवासवन की प्रथा प्रचलित थी। ब्रिटेन की सर्वप्रथम किण्वित मदिरा 'मीड' के नाम से प्रसिद्ध थी, यह मधु से बनती थी। तत्पश्चात् यव से 'बिअर' और सेव से 'सीडर' बनायी जाती थी। ये तीनों मदिराएँ रोमनों के आक्रमण के समय इंग्लैण्ड के दक्षिणी भाग में प्रचलित थीं। यह भी कहा जाता है कि रोमनों ने बिअर निर्माण में बड़ी उन्नति की। आगे चलकर बिअर उस देश का राष्ट्रीय पेय बन गया। मध्यकालीन युग में तो अनेक शुल्क एवं कर बिअर तथा यव्य मदिरा के रूप में ही चुकाये जाते थे। महारानी एलीज़बेथ के राज्यकाल में नगरपालिका में एक सुरा-स्वादक यानी 'एल टेस्टर' की भी नियुक्ति होती थी। स्ट्रैटफोर्ड-ऑन-एवन में इस पद पर विलियम शेक्सपियर के पिता नियुक्त हुए थे। सुरा-स्वादकों का काम यह था कि वे 'बिअर' और 'एल' की स्वाद-परीक्षा करके यह बतायें कि वे सुन्दर, सुस्वादु एवं स्वास्थ्यकर हैं तथा उचित मूल्य पर बेची जाती हैं अथवा नहीं। परन्तु आजकल यह काम रासायनिक विश्लेषकों का माना जाता है, क्योंकि जब से बिअर और एल उत्पादन-शुल्क लगनेवाली वस्तुएँ मानी गयीं तब से सुरा-स्वादकों की नियुक्ति बन्द कर दी गयी।

शताब्दियों तक यवासवन[1]-कला का विकास बिना वैज्ञानिक सहायता के ही हुआ;

[1] Brewing

परिणामतः कुछ रीतियों के फल उत्तम और कुछ के मध्यम अथवा निकृष्ट होते थे। इन तथ्यों की जानकारी के लिए इस क्षेत्र में भी विज्ञान का प्रवेश हुआ। यवासवनियों (ब्रूअरीज़) में कच्चे माल से उत्पादन की मात्रा एवं उत्तमता बढ़ाने में और उपजातों का उचित उपयोग करने में रसायनज्ञ को सफलता मिली। तदनन्तर इस विषय के आधारभूत एवं प्राविधिक अनुसन्धान-कार्य में बराबर वृद्धि होती गयी जिसका परिणाम यह हुआ कि यवासवक (ब्रूअर) की कला केवल कला मात्र न रहकर एक वैज्ञानिक प्रक्रिया बन गयी।

यवासवक के लिए जल की उपलब्धि का भी एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है, क्योंकि जल की अशुद्धियों का उससे बनी मदिरा पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। उदाहरणार्थ बर्टन में बनी 'पेल एल' की उत्तमता का मुख्य कारण वहाँ के कुओं के जल में कैल्सियम और मैग्नीसियम सल्फेटों की उपस्थिति है। परन्तु 'स्टाउट' और 'पोर्टर' सुराओं का यवासवन लन्दन और डबलिन के मृदु जल से अधिक अच्छा होता है। कभी-कभी हानिकारी कार्बोनेटों को निकाल कर अथवा उन्हें उदासीन करके तथा कुछ अन्य आवश्यक वस्तुएँ डालकर किसी स्थान विशेष के जल को विभिन्न प्रकार की बिअर के यवासवन के लिए उपयुक्त बनाया जा सकता है। परन्तु यह उद्योग अधिकांशतः उन्हीं क्षेत्रों में स्थापित हुआ जहाँ के जल के लिए किसी विशेष उपचार की आवश्यकता न थी।

जौ से बिअर बनाने की तीन मुख्य क्रियाएं होती हैं—(१) जौ से यव्य अर्थात् माल्ट बनाना, (२) यव्य से आक्वाथ (इन्फ्यूज़न) तैयार करना (इस आक्वाथ को किण्व्यक (वर्ट) कहते हैं), (३) किण्व्यक का यीस्ट के द्वारा किण्वन करना। भिगोये हुए जौ को आर्द्र वायु में रखकर अंकुरित किया जाता है और जब अंकुर एक निश्चित सीमा तक बढ़ जाता है तब उसे थोड़े ऊँचे ताप पर सुखा करके उसका अंकुरण समाप्त कर दिया जाता है, इसी को यव्य (माल्ट) कहते हैं। यव्य तैयार करने की इस विधा (प्रक्रिया) में कई दिन लग जाते हैं। इस उपचार का अन्तिम ताप पदार्थ के वांछित गुणों पर निर्भर करता है और ८९° से० ११०° से० तक हो सकता है। आक्वाथ जिसे किण्व्यक (वर्ट) कहते हैं, बारीक पिसे यव्य (माल्ट) को पानी में अच्छी तरह मिला कर और ६७° से० पर कुछ समय तक रखकर तैयार किया जाता है। इस प्रकार तैयार किये गये किण्व्यक को छानकर उबाल लिया जाता है जिससे उसका जीवाणुहनन हो जाय, तब उसमें यव्यकटु (हॉप्स) डाला जाता है जिससे उसमें कुछ तिक्त गंध आ जाय और उसका परिरक्षी गुण बढ़ जाय। किण्व्यक को स्वच्छ करके शीतकों एवं प्रशीतकों द्वारा उसे ठंढा किया जाता है और तब यीस्ट डालकर किण्वन शुरू किया जाता है।

अंकुरण के समय जौ में डायस्टेज़ नामक एक सक्रिय पदार्थ उत्पन्न हो जाता है।

इस डायस्टेज़ में स्टार्च को डेक्स्ट्रीन और माल्टोज़ नामक एक शर्करा के रूप में बदलने की शक्ति होती है। यवान्नों के अंकुरण काल में प्रोटीन पदार्थों के खण्डन से और सरल यौगिक उत्पन्न होते हैं तथा स्टार्च ऐसा रूप ग्रहण कर लेता है कि उस पर डायस्टेज़ की क्रिया अधिक सरलता से हो सके। यव्य यानी माल्ट के आक्वाथन के समय डायस्टेज़ द्वारा स्टार्च के परिवर्तन से डेक्स्ट्रीन और शर्करा उत्पन्न होती है, जिसका एक उचित सीमा तक यीस्ट द्वारा किण्वन होता है। यव्य में उसके समस्त स्टार्च के परिवर्तन के लिए आवश्यक मात्रा से डायस्टेज़ कहीं अधिक होता है, अतः पानी मिलाने के पहले उसमें दले हुए चावल या दली हुई मकई के रूप में अतिरिक्त स्टार्च मिला दिया जाता है, जिससे ऐल्कोह ल की उत्पत्ति बढ़ जाती है। यदि आवश्यक हो तो किण्व्यक (वर्ट) में अपवृत्त शर्करा (इन्वर्ट सूगर) अथवा ग्लूकोज़ डालकर भी उसमें शर्करा की मात्रा बढ़ायी जा सकती है। इस प्रकार के बाहरी पदार्थों को डालने से बिअर के लक्षण और गुणों में अन्तर पड़ता है, जो स्थान-स्थान के लोगों के अनुकूल होता है। अपवृत्त[1] शर्करा में डेक्स्ट्रोज़ और लेबुलोज़ नामक समान मात्रावाली दो किण्व्य (फर्मेण्टेब्ल) शर्कराएँ होती हैं। अपवृत्त शर्करा बनाने के लिए ईख शर्करा को तनु खनिजाम्लों के साथ उबालना पड़ता है। स्टार्च पर तनूकृत[2] खनिजाम्लों की जलांशन क्रिया[3] के फलस्वरूप ग्लूकोज़ उत्पन्न होता है। जलांशित शर्करा में डिक्स्टोज़ और माल्टोज़ दो शर्कराएँ होती हैं तथा एक अन्तस्थ पदार्थ, डेक्स्ट्रीन होती है। यवासवकों द्वारा प्रयुक्त ग्लूकोज़ में ६०—७०% किण्व्य शर्कराएँ होती हैं।

उबालने से किण्व्यक[4] (वर्ट) का जीवाणुहनन एवं सांद्रण होता है और साथ ही कुछ जटिल प्रोटीनों का अवक्षेपण[5] होने से वे अलग हो जाते हैं। इसके अलावे उबालने से डायस्टीय क्रिया बन्द हो जाती है। इसी अवस्था में 'हॉप्स' अर्थात् यव्यकटु मिलाया जाता है, जिसमें से सुगंधित एवं परिरक्षी पदार्थों का निस्सारण होता है। हॉप्स में एक पीले रंग का कणात्मक चूर्ण होता है, जिसे 'लुपुलीन' कहते हैं, यवासवकों की दृष्टि से यह सबसे महत्त्वपूर्ण संघटक[6] है। नये हॉप्स में १५% या इससे अधिक अनुपात में लुपुलीन होती है, इसके अलावा कुछ रेज़ीन तथा कटु तत्त्व भी होते हैं, जिनसे बिअर में सुगंधि आती है तथा उसका परिरक्षण होता है। उसमें कुछ वाष्पशील तेल भी होते हैं जिनके कारण सुगंधि और अच्छी हो जाती है।

[1] Invert [2] Diluted [3] Hydrolytic action [4] Wort
[5] Precipitation [6] Constituent

यीस्ट किण्वन से शर्करा का रूपान्तरण होता है और ऐल्कोहॉल तथा कार्बन डाइ आक्साइड उत्पन्न होते हैं। उपयुक्त पोषण प्राप्त होने पर यीस्ट की वृद्धि एवं शर्कराओं पर उसकी क्रिया की ओर वैज्ञानिकों का ध्यान वर्षों पूर्व आकृष्ट हुआ था, लेकिन ऐल्कोहॉलीय किण्वन के वर्तमान ज्ञान तथा उसके स्पष्टीकरण का श्रेय पास्तूर को है। वस्तुतः उन्हीं ने इसकी नींव जमायी और यह बताया कि यीस्ट एक ऐसा प्राणी है जो कुछ दशाओं में वायुमण्डलिक आक्सीजन के बिना भी जीवित रह सकता है। इसका विशेष कारण यह है कि उसे शर्कराओं से ही आक्सीजन प्राप्त हो जाता है। इसीलिए प्रत्यक्षतः आक्सीजन की अनुपस्थिति में यीस्ट की किण्वन शक्ति पूर्ण रूप से कार्यशील होती है। आगे चलकर ऐड्रियन जे० ब्राउन के अनुसन्धानों से ज्ञात हुआ कि यह सिद्धान्त कुछ बातों में सही नहीं था, लेकिन वर्तमान सिद्धान्त पास्तूर द्वारा बनायी गयी प्रारम्भिक रूपरेखा के साथ अवश्य मेल खाता है। १८९७ में बुख़नर ने यह दिखाया कि किण्वन के लिए जीवित यीस्ट कोशाओं की आवश्यकता नहीं होती बल्कि यीस्ट पर भारी दबाव डालकर निस्सारित द्रव से ही काम चल जाता है। उन्होंने यह सिद्ध कर दिया कि किण्वन का मुख्य कारक 'ज़ाइमेज़' नामक एक एंज़ाइम है। विशेषकर हार्डेन द्वारा यीस्ट रस से किये गये अनुसन्धान इस दिशा में काफी उपयोगी सिद्ध हुए हैं। ज़ाइमेज़ कोई एक तत्त्व नहीं बल्कि अनेक एंज़ाइमों का मिश्रण होता है। इन एंज़ाइमों द्वारा त्वरित (ऐक्सिलरेटेड) रासायनिक प्रतिक्रियाओं के बारे में अब लोग भलीभाँति समझ गये हैं। ये प्रक्रियाएँ प्राणी-शरीर की कार्यरत मांसपेशियों में होनेवाली प्रक्रियाओं से बहुत मिलती जुलती हैं। मांसपेशी में एक एंज़ाइम की कमी होती है, इसीलिए ऐल्कोहॉल और कार्बनिक अम्ल गैस न उत्पन्न होकर प्रक्रिया लैक्टिक अम्ल की अवस्था पर ही रुक जाती है। वस्तुतः जीवित यीस्ट में एक निर्जीव, किन्तु सक्रिय पदार्थ होता तथा उत्पन्न होता रहता है, जिसमें शर्करा को परिवर्तित कर ऐल्कोहॉल तथा कार्बनिक अम्ल गैस उत्पन्न करने की शक्ति होती है। किण्व्यक अर्थात् 'वर्ट' में होनेवाले कुछ खाद्य पदार्थों द्वारा पोषण होने से यीस्ट की वृद्धि एवं विकास भी होता रहता है। यीस्ट की वृद्धि के लिए आवश्यक रासायनिक तत्त्वों और यौगिकों तथा वातन[1] और उसकी प्रतिक्रिया जैसी अन्य परिस्थितियों के संबन्ध में किये गये अनुसन्धान कार्य न केवल यवासवकों के लिए ही सहायक हुए हैं वरन् रोटीवालों के लिए यीस्ट उत्पादन की वर्तमान रीति एवं प्रविधि भी उन्हीं से प्राप्त हुई हैं।

[1] Aeration

क्षेप्य पदार्थों[1] का उपयोग—सूखा यीस्ट पशु-खाद्य के लिए प्रयुक्त होता है तथा मांस-निस्सार[2] का एक उत्तम प्रतिस्थापक[3] है, क्योंकि मांस-निस्सार में भी बी वर्ग के विटामिन तथा अन्य मूल्यवान् पदार्थ होते हैं। किण्वन से प्राप्त कार्बन डाइ आक्साइड को संपीडित करके बिअर और खनिज जलों के वातन के लिए उसका उपयोग किया जाता है।

पाव रोटी बनानेवालों के लिए यीस्ट का उत्पादन विशेष रूप से करना पड़ता है, क्योंकि यवासवनियों में इस्तेमाल होनेवाला यीस्ट उनके लिए उपयुक्त नहीं होता; उसमें तीखी गंध होती है जो रोटी के लिए वांछित नहीं होती। यह यीस्ट संपीडित करके बेचा जाता है। मैदे में विद्यमान शर्करीय पदार्थों के किण्वन से उत्पन्न कार्बनिक अम्ल गैस के कारण ही पिष्ट में ख़मीर उठती है। यव्य जौ से किण्व्यक बना लेने के बाद शेष बचे अविलेय पदार्थों को सूअरों को खिलाने के लिए इस्तेमाल किया जाता है।

सिरका बनाने के लिए कुछ उपयुक्त मदिराओं तथा सीडर जैसे अन्य किण्वित फलरसों को वायु की उपस्थिति में खटाया जाता है। यव्य सिरका (माल्टेड विनीगर) भी लगभग उसी तरह बनाया जाता है जैसे बिअर का यवासवन किया जाता है, भेद केवल यह है कि वह हाप्स के साथ नहीं उबाला जाता। उसे विशेष चुक्रयंत्रों (एसि-टिफायर्स) में डालकर खटाया जाता है। इस उपचार में जीवाणुओं द्वारा ऐल्कोहाल का आक्सीकरण होने से एसेटिक अम्ल बन जाता है।

ऐल्कोहाल—यह एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रासायनिक द्रव्य है। रसायनज्ञों के लिए प्रयोगशालाओं तथा औद्योगिक क्षेत्रों में यह एक विलायक के रूप में बड़ी ही उप-योगी वस्तु है। पारदर्शक साबुन, वार्निश, फ्रेंच पालिश, कोलोडियन और सेलुलाइड के निर्माण में इसका विशेष स्थान है। मोटर स्पिरिट के एक संघटक के रूप में भी इसका उपयोग दिनोदिन बढ़ता जाता है। क्लोरोफार्म, आयोडोफार्म, फल्मिनेट्स, ईथर तथा एसेटिक अम्ल इत्यादि के उत्पादन में यह प्रयुक्त होता है। एसेटिक अम्ल का रेयान और सेलुलोज एसिटेट निर्माण में प्रचुर प्रयोग होता है। मीठी मदिरा, सुगन्धों, सूक्ष्म रसद्रव्यों तथा भेषजों के निर्माण में बड़ी उच्च शुद्धता के ऐलकोहाल की आवश्यकता होती है और इसके बनाने में काफी अधिक ख़र्च पड़ता है।

आलू, मकई और क्षेप्य काष्ट (वेस्ट उड) जैसी सस्ती स्टार्ची चीजों से ऐलकोहाल बनाया जाता है, परन्तु इसके बनाने के लिए सबसे उपादेय वस्तु शीरा है। स्टार्ची

[1] Waste products [2] Meat extract [3] Substitute

पदार्थों को प्रायः ५% यव्य (माल्ट) के साथ मिलाकर मसल दिया जाता है और फिर साधारण रीति से किण्वन किया जाता है। किण्वित द्रव में ५–७% ऐलकोहाल तैयार हो जाता है। 'काफे स्टिल' में डालकर इस द्रव का आसवन किया जाता है। आसुत द्रव की तीन श्रेणियाँ होती हैं : (१) प्रथम धावन (फर्स्ट रनिंग्स), (२) प्रथम श्रेणी स्पिरिट, तथा (३) द्वितीय श्रेणी स्पिरिट। प्रथम धावन में ९५% ऐलकोहाल के साथ थोड़ी मात्रा में ऐल्डीहाइड भी होता है; यह भाग जलाने के काम में आता है अथवा ऐसी निर्माण विधाओं में इस्तेमाल किया जाता है, जिनमें इसकी अशुद्धियों से अधिक हानि नहीं होती। प्रथम और द्वितीय श्रेणी स्पिरिट में ९६—९७% ऐलकोहाल तथा लेश मात्रा में ऐल्डीहाइड होता है। द्वितीय श्रेणी में थोड़ा फ्युज़ल तेल भी होता है। प्रथम और द्वितीय श्रेणी स्पिरिट को 'साइलेण्ट स्पिरिट' भी कहते हैं। यह प्रायः मीठी मदिरा, कृत्रिम ब्राण्डी और ह्विस्की के रूप में पीने के लिए प्रयुक्त होती है। भैषजिक पदार्थों के बनाने में भी इसका प्रयोग होता है। 'पेटेण्ट स्टिल' से बनी स्पिरिट अधिकांशतः उद्योगों में खपती है।

ऐज़ियोट्रोपिक आसवन का विकास अभी हाल में हुआ है। इस विशिष्ट विधा से अनासुत किण्व्यक से भी एक ही आसवन में ९९% या इससे भी अधिक प्रबलतावाला प्रकेवल (ऐब्सोल्यूट) ऐलकोहाल बना लेना संभव हुआ है। इस विधा से प्रकेवल ऐलकोहाल बनाने के लिए किण्व्यक में थोड़ी बेन्ज़ीन मिलाकर आसवन किया जाता है। इससे पहले जल सहित कुछ वाष्पशील संघटकों का आसवन होता है और बाद में प्रकेवल ऐलकोहाल का आसवन होने लगता है। अन्यथा पेटेण्ट आसोत्र[1] से बनी स्पिरिट में पोटासियम एसिटेट, सोडियम एसिटेट अथवा कैल्सियम सल्फेट-जैसे रसद्रव्यों को डाल कर उसका निर्जलीकरण करके आसवन करने से प्रकेवल[2] ऐलकोहाल प्राप्त होता है।

औद्योगिक स्पिरिट (शुद्ध स्पिरिट तथा प्रथम धावन[3]) को अपेय बनाने के लिए उसका विकरण (डिनैचुरेशन) आवश्यक होता है। इसके लिए उसमें कुछ ऐसे वमनकारी पदार्थ डाले जाते हैं जो सरलता से पृथक न किये जा सकें। इस प्रयोजन से डाले गये पदार्थों का उन विधाओं (प्रक्रियाओं) पर, जिनमें ऐसी स्पिरिट प्रयुक्त होती है, कोई प्रतिकूल प्रभाव भी न पड़ना चाहिए। बहुत से देशों में ऐसी विकृत स्पिरिट का कर-मुक्त विक्रय होता है, क्योंकि यदि ऐसी सुविधा उपलब्ध न हो तो अधिकांश उद्योगों में बड़ी बाधा पड़े।

[1] Still (distilling) [2] Absolute. [3] First running.

मिथिलीयित स्पिरिट भी करमुक्त होती है, और शुद्ध स्पिरिट के स्थान पर यह क्लोरोफार्म तथा वार्निश के निर्माण में तथा शारीर प्रादर्शों (एनॉटॉमिकल स्पेसिमेन) के परिरक्षण के लिए प्रयुक्त हो सकती है। पहले शुद्ध स्पिरिट में १०% मिथिल ऐलकोहाल डालकर ही मिथिलीयित स्पिरिट बनायी जाती थी। मिथिल ऐलकोहाल को 'उड स्पिरिट' भी कहते हैं क्योंकि यह लकड़ी के भंजक आसवन से प्राप्त होता था। उड स्पिरिट की बड़ी तीक्ष्ण और जलती हुई गंध होती है तथा उसमें ऐसे पदार्थ होते हैं, जिनके स्वाद एवं महक दोनों बड़े अरुचिकर होते हैं। ऐलकोहाल में उड-स्पिरिट डालने से उसकी औद्योगिक उपयोगिता में कोई अन्तर नहीं पड़ता और साथ ही साथ वह सरलता एवं लाभप्रद तरीकों से अलग भी नहीं की जा सकती। ऐलकोहाल का विकरण ही उड स्पिरिट का मुख्य प्रयोग है, यद्यपि यह रेज़ीनों के विलायक के रूप में तथा रंजकों के निर्माण में भी इस्तेमाल होती है। रंजकों के निर्माण में इसका CH_3 मूलक बड़े महत्त्व का होता है, क्योंकि मिथिल ऐनिलीन और डाइमिथिल ऐनिलीन-जैसे अन्तस्थ पदार्थों के संघटक के रूप में इसका मुख्य भाग है, और ये पैठिक पदार्थ मिथिल वायलेट, मैलाकाइट ग्रीन और मिथिलीन ब्लू-जैसे पैठिक रंजको[1] के निर्माण में मुख्यतः प्रयुक्त होते हैं। मिथिल वायलेट का इस्तेमाल प्रायः संलेखन, प्रतिलिपीकरण एवं मुद्रलेखन के लिए रोशनाई बनाने में होता है। कालान्तर में उड स्पिरिट के निस्सारण और शोधन की रीतियाँ इतनी उन्नत हो गयीं कि मिथिल ऐलकोहाल अपनी शुद्धता के कारण ऐलकोहाल के विकरण के लिए अनुपयुक्त हो गया। फिर भी यह इस काम के लिए इस्तेमाल किया जाता है, लेकिन अब इसके साथ कुछ और भी अरुचिकर वस्तुओं का मिलाना आवश्यक हो गया। उदाहरणार्थ मिथिल ऐलकोहाल के साथ-साथ ०.८००० आपेक्षिक घनत्ववाली पैराफीन ($\frac{३}{८}$%) भी मिलायी जाती है। लेकिन पैराफीन कुछ निर्माण विधाओं[2] में विघ्न उत्पन्न करती है, जैसे, पानी के साथ मिलाये जाने पर गँदलापन पैदा करना तथा अन्य कामों में संतोषप्रद फल न देना। इन असुविधाओं को कम करने के लिए अब बहुत से अन्य प्रकार की विकृत स्पिरिट बनने लगी है, जिनमें उड स्पिरिट (२–१०%) के साथ निर्माण विधा विशेष के अनुसार विभिन्न अरुचिकर पदार्थ मिलाये जाते हैं। पारदर्शक साबुन बनाने के लिए प्रयुक्त ऐलकोहाल में उड स्पिरिट, अण्डी का तेल और कास्टिक सोडा डालकर उसका विकरण किया जाता है। इसी प्रकार मरकरी फल्मिनेट बनाने के लिए उड स्पिरिट और पिरीडीन का मिश्रण

[1] Basic dyes. [2] Processes

तथा सेलुलायड बनाने के लिए उड स्पिरिट, कपूर और बेंज़ीन का मिश्रण ऐलकोहाल के विकर्ता (डीनेचरेण्ट) के रूप में इस्तेमाल किया जाता है।

ग्रेट ब्रिटेन में मिथिलीयित स्पिरिट के नाम पर निम्नलिखित स्पिरिट आधिकारिक रूप से मान्य हैं :

(१) औद्योगिक स्पिरिट—इसमें ५% या अधिक उड स्पिरिट अर्थात् उड-नैप्था या उपर्युक्त विकर्ताओं में से अन्य कोई होता है ।

(२) खनिजायित स्पिरिट (मिनरलाइज्ड स्पिरिट)—इसमें उड स्पिरिट, अपरिष्कृत पिरीडीन और पेट्रोलियम नैप्था होता है और यह मिथिल वायलेट से रंजित होती है।

(३) चालन स्पिरिट यानी 'पावर स्पिरिट'—यह प्रायः नं० २ की तरह होती है, लेकिन इसमें बेंज़ॉल और कोई लाल रंजक होता है।

मदिराएँ—अंगूर रस के किण्वन से मदिराओं के उत्पादन का उद्योग बड़ा प्राचीन है। 'वाइन' भी हिब्रू के उन बहुत से शब्दों में से है, जिनका अनुवाद बाइबिल में हुआ है। इसका संबन्ध 'नोआ' से बताया जाता है। कहा जाता है कि जब उसने किसानी प्रारम्भ की तो अंगर लताएँ लगायीं और उनकी मदिरा पीकर मस्त होता था। आज से ५–६ सहस्र वर्ष पूर्व किण्वित अंगूर रस प्राचीन मिस्रवासियों का प्रिय पेय रहा है।

अंगूर रस के स्वतः किण्वन से मदिरा बनायी जाती है। किण्वन प्रेरित करनेवाला प्राणी अंगूरों के छिलकों पर बहुतायत से रहता है। यह प्राणी अंगूर-रस का बड़ी द्रुत गति से किण्वन करता है। जब श्वेत मदिरा बनानी होती है तब अंगूर के बीज और छिलके अलग कर दिये जाते हैं, क्योंकि लाल मदिरा का रंग, किण्वन काल में उत्पन्न ऐलकोहाल द्वारा इसी में से निस्सारित होता है। बीजों और छिलकों से थोड़ी टैनीन भी प्राप्त होती है, जो लाल मदिराओं का परिरक्षण करती है तथा उनमें रज्जुता (रोपीनेस) नहीं उत्पन्न होने देती। शेम्पेन-जैसी उत्स्फुरक मदिरा तैयार करने के लिए 'स्टिल वाइन' में शर्करा मिला कर तथा बोतलों में भरकर उसका दूसरी बार किण्वन किया जाता है। साधारणतः मदिरा में ७–१७% ऐलकोहाल के अतिरिक्त थोड़ी मात्रा में शर्करा, बाइटारटरेट आफ पोटास, ग्लिसरीन, सुगंधित वस्तु तथा कुछ अन्य पदार्थ भी होते हैं। यदि किसी विलयन में उसके भार के ३०% अनुपात से अधिक शर्करा हो तो उसमें यीस्ट द्वारा किण्वन नहीं हो सकता, इसी प्रकार १६–१७% ऐलकोहाल की उपस्थिति में भी यीस्ट की क्रिया अवरुद्ध हो जाती है। इससे स्पष्ट है कि किण्वित द्रव में इस सीमा से अधिक ऐलकोहाल नहीं हो सकता। और अगर इससे ऊँची प्रबलता की मदिरा तैयार करनी हो तो केवल आसुत स्पिरिट मिलाने से ही बन सकती है।

इसीलिए किण्वन रीति से बनायी गयी सबसे तेज़ मदिरा, 'पोर्ट वाइन' में १६–१७% से अधिक ऐलकोहाल नहीं होता, परन्तु इसमें उपयुक्त अनुपात में प्रकेवल ऐलकोहाल अथवा शुद्ध स्पिरिट मिलाकर उसे अधिक तेज़ बनाया जा सकता है। इस काम के लिए प्राप्य सबसे अधिक प्रबलतावाला ऐलकोहाल ही प्रयोग करना चाहिए क्योंकि ९०% से निर्बल ऐलकोहाल मिलाने से उसके जल के कारण मदिरा में विद्यमान अन्य संघटकों का अनावश्यक तनूकरण[1] हो जाता है और उसके मूल गुणों में अवांछित परिवर्तन होता है।

स्पिरिट—स्पिरिटों के प्रायः दो वर्ग होते हैं : (१) 'पॉट स्टिल' स्पिरिट, 'ब्राण्डी' और 'ह्विस्की' इसी वर्ग की हैं, तथा (२) जिन स्पिरिट— यह सादी शुद्ध स्पिरिट अथवा ऐल्कोहाल का उपयुक्त उपचार करके बनायी जाती है। स्पिरिटों का निर्माण तो आसवन विधा (प्रक्रिया) के आविष्कार के बाद ही संभव हुआ। अतः यह मदिरा और बिअर उद्योगों के तरह बहुत प्राचीन नहीं है। स्पिरिट किण्वित द्रव के आसवन से ही तैयार की जाती है, अतः मूल किण्वित द्रव से भिन्न होती है। मूल भेद ऐल्कोहाल की उच्च प्रबलता एवं अवाष्पशील पदार्थों की अनुपस्थिति का होता है, इनके अतिरिक्त स्पिरिटों में कुछ सुगंधित पदार्थ अलग से डाले जाते हैं। कुछ छोटे प्रकार के अंगूरों के किण्वित रस का आसवन करके 'काग्नैक ब्राण्डी' बनायी जाती है। इसमें लगभग ५०% ऐल्कोहाल होता है। स्पिरिट की सुवास मदिरा से ही व्युत्पन्न कैप्रिक (ऑनैन्थिक) एस्टर के कारण होती है, और असली ब्राण्डी के रंग का मूल कारण भी विचित्र है। ब्राण्डी जिन लकड़ी के पीपों में रखी जाती है, उनमें कुछ रंजक पदार्थ होते हैं। यही रंजक पदार्थ संग्रहण काल में स्पिरिट द्वारा निस्सारित होकर ब्राण्डी में रंग उत्पन्न करते हैं। पीपों की लकड़ी में से कभी-कभी कुछ टैनीन भी निस्सारित हो जाती है। परन्तु उपर्युक्त स्वाभाविक रंग केवल पुरानी ब्राण्डी में होता है। नयी ब्राण्डी में उसी प्रकार का रंग उत्पन्न करने के लिए उसमें कैरामेल डाला जाता है। कैरामेल तैयार करने के लिए साधारण शर्करा को १९०° से० तक तप्त किया जाता है जिससे उसका आंशिक कार्बनी-भवन हो जाता है। और कसैलापन उत्पन्न करने के लिए कभी-कभी चाय का आक्वाथ डाला जाता है।

'ह्विस्की' यव्य जौ यानी 'माल्टेड बार्ली' से बनायी जाती है। इसके लिए बहुधा अयव्य[2] एवं यव्य धान्य का मिश्रण इस्तेमाल किया जाता है। कभी-कभी इस मिश्रण

[1] Dilution [2] Unmalted

को भाड़ की आग पर सुखाया जाता है, इसी वजह से कुछ ह्विस्कियों में धूंए की गन्ध आती है। यवासवकों[1] द्वारा व्यवहृत रीति से ही दल करके[2] इस विधा में भी किण्व्यक तैयार किया जाता है। प्रशीतक में तुरन्त ठंढा करके शुद्ध यवासवक यीस्ट द्वारा निम्न ताप पर इसका प्रायः पूर्ण किण्वन किया जाता है। विधा की इन परिस्थितियों में ऐसी उत्तम मदिरा बनायी जा सकती है, जिसमें खट्टापन तथा फ्यूज़ल तेल, और ऐल्डी-हाइड-जैसी अवांछित अशुद्धियाँ नहीं होतीं। किण्वन समाप्त हो जाने के बाद मदिरा को १२०० गैलनवाले ताम्र आसोत्र में लेकर उसका आसवन किया जाता है। कभी-कभी उफान को रोकने के लिए इसमें साबुन भी डाला जाता है। ऐसा करने से ऐलकोहाल के आसवन के समय उफान के कारण अन्य अवाष्पशील वस्तुएँ आसुत में नहीं मिल पातीं। इस क्रिया से प्राप्त आसुत को 'लो वाइन्स' कहते हैं क्योंकि इसमें ऐ कोहाल की मात्रा कम होती है तथा उसके दोबारा आसवन की आवश्यकता होती है। आसोत्र में बचे अवशेष में लैक्टिक अम्ल की थोड़ी मात्रा होती है। एन्सेटिक अथवा टारटरिक अम्लों के स्थान पर इस अवशिष्ट लैक्टिक अम्ल को ऐसी विधाओं में इस्तेमाल किया जाता है जिनमें केवल मन्द अम्लता की आवश्यकता होती है और अम्ल की रासायनिक प्रकृति का कोई विशेष महत्त्व नहीं होता। द्वितीय आसुत को तीन भागों में एकत्र किया जाता है : (१) अग्रभाग अर्थात् 'फोरशूट्स', (२) 'क्लीन स्पिरिट' तथा (३) 'फेण्ट्स'। स्वच्छ अर्थात् क्लीन स्पिरिट ही तेज ह्विस्की होती है, जिसमें लगभग ६०% ऐल-कोहाल होता है। बेचने के पहले जल मिलाकर इसमें ऐलकोहाल की मात्रा ४०% कर दी जाती है। १९२१ की पार्लिमेण्ट के अधिनियमानुसार ह्विस्की में ऐलकोहाल की न्यूनतम मात्रा ३७% रखी गयी है। बाजार में बिकनेवाली बहुत-सी ह्विस्कियों में पेटेण्ट स्टिल-जैसी अन्य स्पिरिटों का भी मिश्रण होता है। अग्रभाग यानी 'फोरशूटस' बहुत अशुद्ध होता है, क्योंकि उसमें वसीय अम्ल और अन्य पदार्थ मिले हुए होते हैं। 'फेण्ट्स' में मुख्यतः फ्यूज़ल तेल और ऊँचे क्वथनांकवाले ऐलकोहाल होते हैं। पिछले कुछ वर्षों में 'फेण्ट्स' का उपयोग संश्लिष्ट रबर बनाने में तथा कुछ पदार्थों के विलायक के रूप म होने लगा है। आसोत्र में बचे 'स्पेण्ट लीज़' का अभी तक कोई उपयोग नहीं हो सका है।

शीरे का किण्वन करके तथा उसका दोबारा आसवन करके 'रम' नामक मदिरा तैयार की जाती है। फार्मिक तथा ब्युटिरिक अम्लों के कारण इसमें थोड़ी गंध होती है

[1] Brewers [2] By mashing

तथा काष्ठ पीपों में परिपक्वन के कारण रंग भी आ जाता है, गोकि कभी-कभी कैरेमल डाल करके भी इसे रंगने की प्रथा है।

सादी यानी 'प्लेन' स्पिरिट में केवल ऐलकोहाल और जल होता है और इसका उपयोग 'जिन' अथवा मीठी मदिरा बनाने में किया जाता है। सादी स्पिरिट बनाने के लिए यव्य तथा अयव्य धान्यों के मिश्रण के किण्वन द्वारा प्राप्त किण्विता (ऐलकोहालिक लिकर) यानी धावाशेष (वाश) का 'काफे स्टिल'-जैसे विशिष्ट प्रभाजन यंत्रों[1] में आसवन किया जाता है। जब इसका आसवन केवल 'पॉट स्टिल' में किया जाता है तब प्रभाजन (फ्रैक्शनेशन) नहीं होता है और बहुत से निम्न तथा उच्च क्वथनांक वाले पदार्थ भी ऐलकोहाल के साथ आसुत हो जाते हैं। इसलिए इसका दोबारा आसवन आवश्यक हो जाता है। परन्तु 'काफे स्टिल' में ऐसी युक्ति का प्रयोग होता है कि अशुद्धियाँ पहले ही आसवन में पृथक हो जाती हैं।

'जिन' बनाने के लिए स्पिरिट में जूनियर बेरी तथा मुलेठी-जैसी कुछ चीजें डाल कर उसका पुनः आसवन करना पड़ता है। द्वितीय आसवन में उपर्युक्त पदार्थों में से कुछ सुगन्धित द्रव्य भी आ जाते हैं। मीठी मदिरा तैयार करने के लिए ऐलकोहाल में शर्करा और विभिन्न सुगंधित एवं रंजक पदार्थ मिलाये जाते हैं।

ग्रन्थसूची

HAUSBRAND, E. : *Principles and Practice of Industrial Distillation.* Chapman & Hall, Ltd.

HERSTEIN, K. M. AND GREGORY, T. C. : *Chemistry and Technology of Wines and Liquors.* D. Van Nostrand Co. Inc.

HIND, H.LLOYD : *Brewing Science and Practice.* Chapman & Hall, Ltd.

HOPKINS, R. H., AND KRAUSE, B. : *Biochemistry Applied to Malting and Brewing.* Allen & Unwin, Ltd.

MONIER-WILLIAMS, G.W. : *Power Alcohol.* Hodder & Stoughton, Ltd.

SCHONFELD, F. : *Brauerei und Malzerei.* Paul Parey.

[1] Fractionating apparatus

अध्याय ३

जलप्रदाय और आरोग्य-प्रबन्ध

अल्बर्ट पार्कर, डी० एस-सी० (बर्मिंघम), एफ० आर० आई० सी०

भूमिका—हवा के बाद मनुष्य जीवन के लिए परमावश्यक वस्तुओं में जल का दूसरा नंबर है। केवल हवा और जल की उपलब्धि ही नहीं बल्कि उनके योग-क्षेम के लिए कुशल आरोग्य-प्रबन्ध (सैनिटेशन) भी अत्यावश्यक है, विशेषकर घनी बस्तियों के लिए। अतः जन-स्वास्थ्य का उच्च स्तर बनाये रखने के लिए उपर्युक्त दोनों आवश्यकताओं की पूर्ति अनिवार्य है। एतदर्थ बड़े-बड़े नगरों में जल-प्रदाय एवं आरोग्य-प्रबन्ध में बड़ी व्यापक योजना, निर्माण-कार्य तथा वैज्ञानिक ज्ञान पर आधारित सतत सावधानी की आवश्यकता होती है। परन्तु ग्रेट ब्रिटेन का एक साधारण निवासी आज शायद इस बात का पूरा अनुभव नहीं कर पाता, क्योंकि ये सेवाएँ प्रायः स्वतः चलनेवाली मान ली जाती हैं। इनका महत्त्व तो उस समय समझ में आता है जब सूखे मौसमों में जलाभाव हो जाता है या जब जल-प्रसारित रोगों का भीषण प्रकोप होता है, जैसे यार्कशायर में १९३२ तथा क्रॉयडन में १९३७ में हुआ था। जनोपयोगी बातों में सामान्य अभिरुचि के अभाव का निश्चित कारण यह है कि ग्रेट ब्रिटेन में लोक-जल-प्रदाय एवं आरोग्य और स्वच्छता का बड़ा कुशल प्रबन्ध होता है, जिसके फलस्वरूप वहाँ के लोगों को इनके अभाव में उत्पन्न होनेवाली भयंकर परिस्थितियों का कोई अनुभव अथवा ज्ञान हीं नहीं होता।

लोक-जल-प्रदाय की व्यवस्था और मल को जल-वाहन अर्थात् मलप्रणाल द्वारा हटाना कोई नयी बात नहीं है। ३१२ ई० पू० से ३०५ ई० तक रोम में नगर के बाहर के स्रोतों से जल पहुँचाने के लिए १४ जल-संक्रम (ऐक्वीडक्ट्स) बने थे। इन जल-संक्रमों के द्वारा पानी पहले बड़े-बड़े जलाशयों में पहुँचाया जाता था। और वहाँ से सीस नाड़ों के द्वारा छोटे-छोटे जलाशयों में वितरित किया जाता था। इन्हीं छोटे जलाशयों से फव्वारों, स्नानागारों, लोक-भवनों एवं कुछ नागरिकों को जल प्राप्त होता था। ऐसा अनुमान है कि फ्रॉण्टिनस के समय रोम में प्रति नागरिक को ५० गैलन जल प्रतिदिन मिलता था। उसकी तुलना में आज लन्दन में प्रति व्यक्ति को

लगभग ३५ गैलन जल प्रतिदिन प्राप्त होता है। प्राचीन रोम में जल के परिमाण के अतिरिक्त उसके गुणों का भी बड़ा ध्यान रखा जाता था। सर्वोत्तम जल का प्रयोग पीने तथा खाना पकाने के लिए, मध्यम गुणवाले जल का नहाने तथा अनेक अन्य लोक प्रयोजनों के लिए तथा निम्नकोटि के जल का इस्तेमाल सिंचाई तथा जल-यानों के पेटे में भरने के लिए होता था। बहुधा साधारणतया तलछटीकरण (सेडिमेंण्टेशन) करके तथा जलाशयों में संग्रह करके जल का रूप अर्थात् 'अपिरेन्स' उन्नत किया जाता था। लेकिन आजकल के पानीघरों के समान आविष्कारों तथा वैज्ञानिक विकास पर आधारित जलशोधन की व्यवस्थित पद्धतियाँ न थीं।

६०० ई० पू० रोम में जल-वाहन द्वारा मल प्रवाह के लिए एक बड़ा संनाल[1] बना था और नगर के विभिन्न भागों से आयीं इसकी बहुत-सी सहायक नालियाँ थीं। इसी संनाल के द्वारा नगर का मल टाइबर नदी में बहा दिया जाता था। फलतः टाइबर नदी बुरी तरह से कलुषित हो गयी, साथ ही जल-प्राप्ति का मुख्य स्रोत भी वह नदी थी। इसीलिए कालान्तर में शुद्ध जल प्राप्त करने के लिए नगर के बाहर के भाग से जल-संक्रम (ऐक्वेडक्टस) बनाये गये।

रोमन साम्राज्य के अधःपतन के बाद बहुत-से जल-संक्रम नष्ट कर दिये गये। जल-प्रदाय, मलप्रवाह पद्धति तथा जन-स्वास्थ्य जैसे महत्त्वपूर्ण विषयों की कई शताब्दियों तक बड़ी उपेक्षा की गयी। मध्यकालीन युग में महामारियों तथा उनके द्वारा हुए विध्वंस की पृष्ठभूमि में यही अति दूषित जल-प्रदाय तथा जीवन की अस्वास्थ्यकर परिस्थितियाँ थीं।

अर्वाचीन पानीघरों की रचना का विकास मुख्यतः उन्नीसवीं सदी में हुआ। इस विकास को इंजीनियरी की उन्नति से तो अवश्य प्रेरणा मिली, किन्तु अशुद्ध जल और टाइफायड एवं हैजा-जैसी विध्वंसकारी मारियों के पारस्परिक संबन्ध का स्पष्ट ज्ञान हो जाना ही इस उत्कृष्ट जल-प्रदाय का मुख्य कारण हुआ। १८७३ के पूर्व लन्दन में नागरिकों को २४ घण्टे बराबर पानी मिलने की व्यवस्था न थी; यह तो निश्चय ही आधुनिक काल की सुविधा है। १८९१ तक लन्दन का ३१% जल-प्रदाय सविराम पद्धति पर ही आधारित था।

जन साधारण के इस्तेमाल के लिए जलशोधन की प्रथा भी हाल से ही शुरू हुई है। जल में से आलम्बित पदार्थों को निकाल कर उसका रूप उन्नत करने के लिए

[1] Conduit

उसे बालू से छानने की प्रक्रिया १८२९ ई० में प्रारम्भ की गयी थी। इस विधा (प्रक्रिया) में बहुत दिनों तक कोई परिवर्तन नहीं हुआ, लेकिन आगे चलकर जीवाणुओं एवं अन्य अवांछित प्राणियों को निकालने के लिए भी छानने की संशोधित रीतियाँ अपनायी गयीं। क्लोरीन, हाइपोक्लोराइट, क्लोरामीन, चूना, ओज़ोन, सक्रिय कार्बन तथा अन्य पदार्थों से उपचार करके जल-शोधन एवं जीवाणुहनन की रीति भी पिछले ४० वर्षों में ही विकसित हुई है। रसायनज्ञों के आविष्कारों का इंजीनियरों ने प्रयोग किया और फलस्वरूप उपर्युक्त रीतियों का विकास हुआ। इन आविष्कारों एवं प्रयोगों में जीवाणविकीविदों तथा जैविकीविदों का भी महत्त्वपूर्ण सहयोग रहा।

उत्तम जल के सामान्य वितरण तथा उद्योगों की वृद्धि के साथ-साथ घरेलू एवं औद्योगिक मल—कूड़े करकट को जल स्रोतों को बिना दूषित किये, दूर हटाने के संतोष-जनक तरीकों का महत्त्व भी बढ़ने लगा। पिछले ७०–८० वर्षों में नगर के मल और कारखानों के कचड़ों के उचित उपचार की वर्तमान रीतियों के आविष्कार एवं विकास में रसायनज्ञों के कार्यभाग का मुख्य स्थान है। निम्नलिखित पंक्तियों में जल-प्रदाय एवं आरोग्य-व्यवस्था में रसायन विज्ञान द्वारा किये गये कुछ विकासों का उल्लेख करने की चेष्टा की गयी है।

जल-प्रदाय—लोक-जल-प्रदाय का उत्तम एवं आदर्श स्रोत वह है जहाँ से निर्मल, स्वच्छ एवं मृदु जल प्राप्त हो तथा उसकी प्रतिदिन की बनावट (कंपोजिशन) सामान्यतः एक सम हो। ऐसे जल का एक विशेष गुण यह भी होना चाहिए कि प्रनाडों (मेन्स), वितरण नाडों (सर्विस पाइप्स) तथा अन्य अन्वायुक्तियों यानी 'फिटिंग्स' पर उसकी कोई प्रक्रिया न हो, जिससे बिना किसी प्रारम्भिक उपचार के वह सरलता से वितरित किया जा सके। प्रायः गहरे कूंए ही ऐसे आदर्श जल-स्रोत होते हैं और जल का दूषण बचाने के लिए इन कूंओं की बड़ी सावधानी से रक्षा करनी पड़ती है। अन्य स्रोतों से प्राप्त जल का एक या अनेक विधाओं से इसलिए उपचार करना पड़ता है कि वह लोक प्रयोग के लिये उपयुक्त एवं निरापद हो जाय। नदियों के जल का बहुधा बड़ा कड़ा उपचार करना पड़ता है, क्योंकि उनमें प्रायः नगरों का सारा मल प्रवाहित किया जाता है, जिससे उनका जल बहुत दूषित रहता है।

निम्नलिखित उद्देश्यों की पूर्ति के लिए जलोपचार की अनेक रीतियाँ अपनायी जाती हैं—(१) आलम्बित एवं कलिलीय पदार्थों का निरसन[1] (२) जलाशयों

[1] Removal

में काई और अन्य पौधों को नष्ट करना अथवा उनकी वृद्धि रोकना, (३) लोहा, मैंगनीज़ और फ्लोरीन के यौगिकों का निरसन, (४) विलयन में से कैल्सियम और मैग्नीसियम को निकालकर जल की कठोरता कम करना, (५) जल के रंग, गंध और स्वाद को उन्नत करना, (६) जीवाणुओं तथा अन्य रोगोत्पादक प्राणियों का नाश करना, तथा (७) प्रनाडों, वितरण नाडों एवं अन्य युक्तियों के बनाने में प्रयुक्त होनेवाली धातुओं-लोहा, गैल्वनाइज्ड इस्पात, सीस, ताम्र इत्यादि पर जल की प्रक्रिया को रोकना या कम करना।

जल में से स्थूल आलम्बित पदार्थों को तो साधारण तलछटीकरण से निकाला जाता है, लेकिन सूक्ष्म आलम्बित एवं कलिलीय पदार्थों को निकालने के लिए जल में रासायनिक स्कंदनकर्ता (कोआगुलेटिंग एजेण्ट) मिलाने तथा तलछटीकरण के बाद उसको सूक्ष्म बालू या उसी प्रकार के अन्य पदार्थों के द्वारा छाना जाता है। जल के प्रति १००,०००भाग में ०·५–४·० भाग अलूमीनियम सल्फेट डालकर स्कंदन किया जाता था, लेकिन पिछले कुछ वर्षों से फेरस सल्फेट, क्लोरीनीकृत फेरस सल्फेट, सोडियम अलूमिनेट तथा अलूमीनियम सल्फेट और सोडियम अलूमिनेट के मिश्रण का सफलता पूर्वक प्रयोग किया जाने लगा है। स्कंदकों से न केवल आलम्बित एवं कलिलीय पदार्थों के स्कंदन तथा ऊर्णिकायन (फ्लॉकुलेशन) में सहायता मिलती है बल्कि वे छन्ने के ऊपर एक ऐसी श्लिषीय तह बना देते हैं जिससे सूक्ष्म आलम्बित तथा कलिलीय पदार्थों एवं कुछ जीवाणुओं को छान लेने की उसकी क्षमता बढ़ जाती है।

टैंकों में एक मास या अधिक समय तक जल संग्रहण से उसमें आलम्बित पदार्थों तथा टाइफायड और हैज़े-जैसे रोगों के रोगाणुओं को कम करने में बड़ी सहायता मिलती है। किन्तु अधिक समय तक संग्रह करने से जल में काई और सेवार तथा अन्य जल-पौधे उत्पन्न हो जाते हैं जिससे उसे छानने में बड़ी कठिनाई होती है और साथ ही उसका स्वाद भी अरुचिकर हो जाता है। काई की वृद्धि रोकने अथवा उसका नाश करने के लिए जल के प्रति १,०००,००० भाग में ०·१-१·० भाग ताम्र सल्फेट या ०·२-०·५ भाग पोटासियम परमैंगनेट या ०·५–१·० भाग क्लोरीन, क्लोरामीन अथवा इन रसद्रव्यों के उपयुक्त मिश्रण डाले जाते हैं। सर्वोत्तम रीति का चुनाव स्थानिक परिस्थितियों-जैसे जल के निबन्ध तथा काई की जाति पर निर्भर होता है। इन रीतियों के विकासन में रसायनज्ञ को जैविकीविदों[1] के सहयोग की बराबर ज़रूरत पड़ी है।

[1] Biologist

जल के प्रति १,०००,००० भाग में ०·५ भाग लोहा तथा मैंगनीज़ रहने से उसमें प्रत्यक्ष गंध आ जाती है और यदि उसका अनुपात बढ़कर १ भाग हो जाय तो उसमें रोशनाई जैसा स्वाद भी उत्पन्न हो जाता है। वातन, चूना डालना, तलछटीकरण, तथा बालू, चारकोल और कुछ पीठ-विनिमय (बेस-एक्सचेंज) पदार्थों के द्वारा छानना भी उपर्युक्त धातुओं के निरसन की कुछ उत्तम रीतियाँ हैं।

पिछले कुछ वर्षों में जलोपचार की रीतियों में जो प्रगति हुई है उसमें जल को निरापद बनाने के लिए उसके रोगाणुनाशन (डिसइन्फेक्शन) की रीतियाँ विशेष उत्कृष्ट एवं उल्लेखनीय हैं। रोगाणुनाशन के लिए वातिक अवस्था एवं जलीय विलयन के रूप में ब्लींचिग पाउडर, सोडियम हाइपोक्लोराइट तथा क्लोरामीन के रूप में क्लोरीन का अधिक प्रयोग किया जाता है। जल में मिश्रण के लिए क्लोरीन का अनुपात बहुधा ०·२-०·५ भाग प्रति १,०००,००० भाग होता है, कभी कभी इससे भी अधिक मात्रा की आवश्यकता होती है। क्लोरीनीकरण से रोगाणुओं का शीघ्र नाश हो जाता है, लेकिन अतिरिक्त क्लोरीन को जल में से निकालने के बाद भी अक्सर उसमें बड़ा अरुचिकर स्वाद आ जाता है। इस प्रकार की कठिनाइयों को दूर करने के लिए क्लोरीनीकरण की संशोधित रीतियाँ काम में लायी जाने लगीं हैं। भागशः[1] क्लोरीनीकरण, अधिक्लोरीनीकरण के बाद सल्फर डाइआक्साइड और सोडिय थायोसल्फेट सदृश पदार्थ डालकर विक्लोरीनीकरण, अमोनिया या अमोनियम सल्फेट डालकर क्लोरामीन बना लेना अथवा सक्रियित चारकोल द्वारा उपचार करना इन संशोधित रीतियों के स्वरूप हैं। क्लोरीनीकरण के बाद उत्पन्न होनेवाले कुछ दूसरे प्रकार के स्वादों के कारणों का अभी पता नहीं चल पाया है। २० करोड़ भाग में १ भाग फिनाल सहित जल के क्लोरीनीकरण के बाद उसमें दुःस्वाद उत्पन्न होता है; ऐसा ही दुःस्वाद नम्रा (विलोज) वनपिप्पल (पॉप्लर्स), क्षेत्रनन्दिनी (मीडो-स्वीट), काई, फंफूदी तथा कुछ जीवाणुओं के अवशेषों सहित जल के क्लोरीनीकरण के बाद भी उत्पन्न होता है। स्वाद की इन समस्याओं का उल्लेख इसलिए किया गया है जिससे यह स्पष्ट हो जाय कि जल-प्रदाय के कार्य में लगे रसायनज्ञ को पदार्थों की कितनी सूक्ष्म मात्राओं का ध्यान रखना पड़ता है।

रोगाणुनाशन की कुछ रीतियाँ निम्नलिखित हैं—जल में इतना चूना छोड़ना कि २४ घण्टे की प्रतिक्रिया के बाद जल के प्रति १००,०००भाग में १ भाग अतिरिक्त

[1] By stages

चूना शेष रहे; ओजोनीकृत गैस द्वारा उपचार करना; परानीललोहित (अल्ट्रावाय-लेट) प्रकाश डालना; तथा अल्पगतिक (ओलिगोडायनमिक) क्रियावाले धातु, विशेष कर रजत द्वारा रोगाणुनाशन करना।

पानीघरों, औद्योगिक संस्थाओं एवं गृहस्थों द्वारा प्रयुक्त जल के मृदुकरण की विधा भी रसायन-विज्ञान के आविष्कारों पर ही आधारित है। मृदुकरण के लिए जल में चूना या सोडियम कार्बोनेट डाला जाता है तथा फास्फेट और सोडियम अल्यु-मिनेट जैसे पदार्थों द्वारा उपचार किया जाता है। इसके लिए पीठविनिमय (बेस एक्सचेञ्ज) विधा भी प्रयुक्त होती है तथा इसी के सिद्धान्त पर साधारण घरेलू जल-मृदुकर (वाटर सॉफ्नर) बनाये जाते हैं। पीठविनिमय की मूल विधा में जल को प्राकृतिक अथवा संश्लिष्ट ज़ियोलाइट के तल्प से पार कराया जाता था। ज़ियोलाइट में सोडियम-अल्युमिनियम सिलिकेट होता है जिसमें कैल्सियम तथा मैग्नीसियम द्वारा सोडियम का बड़ी सरलता से प्रतिस्थापन हो जाता है। कठोर जलस्थित कैल्सियम और मैग्नीसियम के द्वारा विनिमायक का सोडियम पूर्णतया विस्थापित हो जाता है, तब उसमें से लवण विलयन पार कराकर उसे पुनर्जनित (रीजेनरेट) कर लिया जाता है। पिछले कुछ वर्षों में सल्फ्युरिक अम्ल द्वारा कोयले का उपचार करके जलमृदुकरण के उपयुक्त कुछ पैठिक विनिमय पदार्थ तैयार किये गये हैं, और ये तथाकथित 'कार्बनीय ज़ियोलाइट' वाणिज्यिक व्यवहार में लाये जा रहे हैं। इंग्लैण्ड के 'डिपार्ट-मेण्ट ऑफ साइण्टिफिक ऐण्ड इण्डस्ट्रियल रिसर्च' के 'वाटर पोल्युशन रिसर्चबोर्ड' द्वारा किये गये अनुसन्धानों के फलस्वरूप कुछ ऐसी संश्लिष्ट रेजीनें बनायी गयी हैं जिनमें पीठविनिमय के बड़े ऊँचे गुण होते हैं। अम्लविनिमय गुणोंवाली रेज़ीनें भी तैयार की गयी हैं। दोनों प्रकार की रेज़ीनों की सहायता से जल में विलीन लवणों का निरसन बड़ा सरल हो गया है। ये रेज़ीनें अब वाणिज्यिक पैमाने पर इस्ते-माल होने लगीं हैं।

कुछ प्राकृतिक जलों की धातुओं पर बड़ी संक्षारक क्रिया होती है, जिसकी वजह से वितरण काल में लोहे तथा सीसे के विलयन से जल दूषित हो जाते हैं और कभी कभी ऐसे जल में सीसे की भयंकर मात्रा भी मिश्रित होने की संभावना होती है। जल की इस संक्षारक क्रिया को कम करने के लिए उसमें चूना, चाक, सोडा तथा सोडियम सिलिकेट छोड़ा जाता है अथवा उसे संगमर्मर, चूना-पत्थर तथा मैग्नेसाइट के टुकड़ों के तल्प (वेड) से पार कराया जाता है।

मल का उपचार—जनस्वास्थ्य एवं सम्पत्ति को बिना क्षति पहुँचाये मल का सुविधाजनक निष्कासन ही मलोपचार पद्धति का मुख्य ध्येय है। इस उपचार की

रीतियों के मुख्यतः दो पद होते हैं। प्रथम पद में ठोस पदार्थों का निरसन होता है तथा दूसरे पद में द्रव का ऐसा उपचार किया जाता है कि जल-प्रदायों को दूषित किये बिना उसका किसी नदी या जलधार में उत्सर्जन किया जा सके अथवा अन्य किसी रीति से उसका निष्कासन संभव हो जाय।

ठोस पदार्थों के निरसन के लिए मल को साधारणतया जालियों, बालु-कुण्डों (ग्रिट चेम्बर्स) या व्यपघृष्ट तड़ागों (डेट्रिटस टैंक्स) और तलछटीकरण तड़ागों (सेडिमेण्टेशन टैंक्स) के द्वारा पार कराया जाता है। ऐसा करने से मल का दूषण गुण बहुत कुछ कम हो जाता है। कभी-कभी आलम्बित पदार्थों के सूक्ष्म कणों को निकालने के लिए कुछ रासायनिक ऊर्णिकायक (फ्लॉकुलेटर) तथा अवक्षेपणकारक[1] भी डाले जाते हैं। लोहे तथा अल्युमिनियम के लवण तथा कागज की लुगदी, खतीली मिट्टी (मार्ल) अथवा अन्य प्रकार की मिट्टियों जैसे अविलेय पदार्थ उपर्युक्त क्रिया के लिए इस्तेमाल किये जाते हैं। ऐसे क्षेत्रों के मल के लिए, जिसमें निर्माणियों के उत्प्रवाही (एफ्लुयेण्ट्स) भी मिले होते हैं, रासायनिक उपचार की कुछ विशेष रीतियाँ प्रयुक्त होती हैं। उदाहरण के लिए यार्कशायर में ब्रैडफोर्ड नामक स्थान पर मल में सल्फ्युरिक अम्ल मिलाया जाता है, क्योंकि उसमें ऊन कारखानों का उत्प्रवाही जल मिला होता है और इसमें औद्योगिक साबुन की प्रचुर मात्रा होती है। अम्ल डालने से साबुन से वसा अथवा आवसा (ग्रीज़) पृथक् हो जाती है तथा मल के सूक्ष्मतः विभाजित ठोस और कलिलीय पदार्थों का स्कंदन हो जाता है। इसमें से आवसा पृथक् कर ली जाती है क्योंकि यह काफी मूल्य की वस्तु है।

कभी-कभी कार्बनिक पदार्थों के अवक्षेपण अथवा मल के आंशिक शोधन के अलावा अन्य प्रयोजनों के लिए भी रसद्रव्यों का प्रयोग किया जाता है। जैसे जब मल को प्रणालों द्वारा क्रियाकरण स्थान[2] तक पहुँचने में अधिक समय लगता है तो उसे सड़ने से बचाने के लिए उसमें क्लोरीन अथवा क्लोरीनीकारक डाले जाते हैं। कच्चे मल अथवा मल-उत्प्रवाहों को नदियों में छोड़ने से पहले उन्हें क्लोरीनीकृत कर देते हैं, जिससे उनके विच्छेदन की गति मन्द हो जाय और पूर्ण विच्छेदन के पूर्व वे धारा में मिलकर प्रचुर जल से तनूकृत हो जायँ।

स्थूल ठोस पदार्थों के निरसन के बाद मलद्रव का उपचार भूमितल पर भी किया जा सकता है। लेकिन इसके लिए उचित मूल्य पर उपयुक्त और पर्याप्त भूमि

[1] Precipitating agents [2] Disposal works

मिलना आवश्यक है। व्यापक सिंचाई, अधस्थल सिंचाई (सबसर्फेस इ िगेशन) और छनाई, इस प्रकार के उपचार की तीन रीतियाँ हैं। इन रीतियों के सफल प्रयोग के लिए आवश्यक परिस्थितियाँ निर्धारित करने में रसायनज्ञों ने काफी काम किया है और इसके फलस्वरूप किसी हद तक मल का खाद (मैन्योर) के रूप में उपयोग किया जा सकता है। भूमितल पर मल के उपचार में मल तथा मिट्टी में विद्यमान जीवाणुओं एवं अन्य प्राणियों द्वारा मल में विलीन तथा सूक्ष्मतः विस्तृत कार्बनिक पदार्थों का आक्सीकरण हो जाता है।

बड़े-बड़े नगरों में मल के आक्सीकरण अथवा शोधन के लिए बहुत बड़े क्षेत्र नहीं मिलते और न तो सिंचाई के लिए इतनी भूमि प्राप्त होती है। इन्हीं कठिनाइयों को दृष्टिगत करके रसायनज्ञों ने इंजीनियरों के सहयोग से विशेष रूप से बने छन्नों का प्रयोग कर तथाकथित सक्रियित अवपंक (स्लज) विधा[1] का विकास किया है। अर्वाचीन पारच्यावी छन्नों (परकोलेटिंग फिल्टर्स) की सहायता से तलछटित मल-द्रव को पत्थर, कोक अथवा झाँवा के १-२ इंचवाले टुकड़ों से बने तल्प (बेड) पर समान रूप से वितरित किया जाता है। छन्नों की गहराई ४ फुट से लेकर १५ फुट तक होती है परन्तु ग्रेट ब्रिटेन में सामान्यतः ६ फुट की गहराई वाले छन्ने प्रयुक्त होते हैं। सक्रियित अवपंक-विधा (ऐक्टिवेटेड स्लज प्रॉसेस) में मलद्रव के साथ सक्रियित अव-पंक को मिलाकर मिश्रण का ५ घण्टे से लेकर २४ घण्टे तक क्षोभण (एजिटेशन) तथा वातन (एरेशन) करते हैं। मलद्रव के वातन से ही सक्रियित अवपंक उत्पन्न होता है। आवश्यक समय तक वातन करने के बाद तलछटीकरण द्वारा अवपंक को द्रव से अलग किया जाता है और फिर इसी को मलद्रव के अगले भाग के उपचारार्थ प्रयोग किया जाता है। मल और सक्रियित अवपंक मिश्रण के क्षोभण तथा वातन के लिए अन्यान्य रीतियाँ काम में लायी जाती हैं।

ग्रेट ब्रिटेन में भूमि-मलोपचार के स्थान पर अब अधिकतर सक्रियित अवपंक-विधा ही काम में आने लगी है। भूमिगत उपचार के लिए प्रति दिन १०००,००० गैलन मल के लिए भूमि की प्रकृति तथा क्रियाकरण की रीति[2] के अनुसार ५० एकड़ से लेकर ३५० एकड़ तक भूमि की आवश्यकता होती है। परन्तु ६ फुट गहरे पारच्यावी[3] छन्नों पर सक्रियित अवपंक विधा से मल की उपर्युक्त मात्रा के उपचार के लिए केवल १·५ एकड़ भूमि की जरूरत पड़ती है। 'वाटर पोल्युशन रिसर्च बोर्ड' ने पारच्यावी

[1] Process प्रक्रिया* [2] Method of operation [3] Percolating filters

छन्नों के क्रियाकरण की एक नयी रीति निकाली है जिससे उसकी क्षमता दुगुनी हो जाती है और इस प्रकार प्रति दिन १०००,००० गैलन मल के उपचारार्थ ६ फुट गहरे छन्ने के लिए १·५ एकड़ की जगह केवल ०·७५ एकड़ क्षेत्र की आवश्यकता होती है।

पिछले २०-३० वर्षों से अवपंक (स्लज) संबंधी काम में काफी प्रगति हो रही है, लेकिन वर्तमान समय की मुख्य समस्या केवल उसके निरसन की नहीं वरन् मल-अवपंक के लाभकारी कामों में उपयोग करने की है। मल से पृथक् कर लेने के बाद अवपंक में ९०-९५% जल की मात्रा होती है इसलिए निष्कासन (डिस्पोज़ल) स्टेशन से उनको कहीं ले जाना बहुत आसान नहीं होता। समुद्रतट से नजदीक वाले नगरों के मल को प्रायः समुद्र में डाल दिया जाता है परन्तु समुद्र से दूर स्थित नगरों में तो दूसरी रीतियाँ अपनानी पड़ती हैं। साधारणतया अवपंक को रन्ध्री (पोरस) पदार्थों के बने उत्सारण तल्पों (ड्रेनेज बेड्स) पर बहाया जाता है। बहुधा ये तल्प खुली हवा में होते हैं। इस रीति से सूखे मौसम में अवपंक की जलमात्रा कम होकर ६०-७०% रह जाती है तथा कभी कभी ४०-५०% भी हो जाती है। अवपंक का अवातजीवीय किण्वन (ऐनअरोबिक फरमण्टेशन) अथवा पाचन करके भी निष्कासनार्थ उसका परिमाण कम किया जा सकता है। इस रीति से कार्बनिक पदार्थों का परिवर्तन होकर गैस बन जाती है जिसमें लगभग ७० प्रतिशत मिथेन और २०-३०% कार्बन डाइ-ऑक्साइड होती है, कुछ पदार्थों के परिवर्तन से जलविलेय द्रव अथवा ठोस भी उत्पन्न होते हैं और प्रायः दुर्गन्धरहित ऐसा पाचित अवपंक प्राप्त होता है जो मूल अवपंक की अपेक्षा सरलता से सुखाया जा सकता है। 'बरमिंघम, टेम ऐण्ड रिया डिस्ट्रिक्ट ड्रेनेज बोर्ड' के निष्कासनस्टेशनों पर अवपंक-पाचन संयन्त्र लगाये गये हैं। सर्वप्रथम यहीं मल अवपंक का पृथक् पाचन करके उसमें से दाह्य गैस निकालने और उसके उपयोग का विकास किया गया था। मॉग्डेन के 'वेस्ट मिडिलसेक्स काउण्टी काउंसिल' के स्टेशनों पर भी ऐसे संयन्त्र लगे हैं। बरमिंघम के कुछ स्टेशनों पर संयन्त्रों के क्रियाकरण तथा प्रकाश करने के लिए आवश्यक समस्त शक्ति अवपंक गैसों के दहन से ही प्राप्त होती है। मॉग्डेन के स्टेशन पर तो संयन्त्र क्रियाकरण तथा प्रकाश के लिए शक्ति प्रदान करने के बाद भी काफी गैस बच रहती है क्योंकि वहाँ प्रति दिन दस लाख घन फुट से अधिक गैस उत्पन्न होती है। अवपंक गैस का ऊष्मीय मान (कैलॉरिफिक वैल्यू) ६५०-७०० ब्रिटिश ऊष्मामात्रक[1] प्रति घनफुट होता है जब कि नगरगैस का यह

[1] British Thermal Unit (B. T. U.)

मान साधारणतया ५०० ब्रि० टी० यू० होता है। रसायनज्ञों और इंजीनियरों के सहयोग से विकसित विधाओं का अवपंक पाचन (स्लज डाइजेस्शन) एक उत्कृष्ट उदाहरण है।

निर्माणी उत्प्रवाही[1] — औद्योगिक विधाओं से प्राप्त क्षेप्य जल (वेस्ट वाटर्स) के निष्कासन एवं उपचार की समस्याओं के हल में रसायनशास्त्र ने जो योगदान किया है उसके कारण उसमें पिछले कुछ दशकों में बड़ी महत्त्वपूर्ण प्रगति हुई है। यद्यपि प्रथमतः ऐसे जल द्वारा होनेवाली जन-स्वास्थ्य की हानि एवं जल का दूषण रोकने के लिए इन समस्याओं का अध्ययन किया गया था। लेकिन आगे चलकर इन अनुसन्धानों से बहुमूल्य पदार्थों के अपव्यय एवं हानि को रोकने और उपयोगी उप-पदार्थों को उत्पन्न करने में बड़ी सहायता मिली है। 'वाटर पोल्युशन रिसर्च बोर्ड' का दुग्धोद्योग के क्षेप्य जल संबन्धी कार्य इसका बड़ा अच्छा उदाहरण है। इन कार्यों से दूध और छाछ तथा तक्र जैसे उपजात पदार्थों की हानि की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट हुआ। दूध एकत्र एवं वितरण करनेवाले स्थानों से तथा पनीर और नवनीत की निर्माणियों से ये बहुमूल्य पदार्थ क्षेप्य जल के रूप में बह जाया करते थे। उपर्युक्त अनुसन्धानों से यह ज्ञात हुआ कि कुछ सरल पूर्वोपायों (प्रिकॉशन्स) अथवा संशोधनों से दूध की यह हानि बहुत कम की जा सकती है। अनुमान है कि इस हानि को रोकने से ग्रेट ब्रिटेन में प्रति वर्ष १००,००० पौण्ड की बचत हो सकती थी।

जल-परीक्षण —जनस्वास्थ्य की सुरक्षा के लिए सतत सावधानी की परमावश्यकता है। इसी हेतु जलप्रदाय पर भी कड़ी दृष्टि रखनी पड़ती है। ग्रेट ब्रिटेन में मल तथा निर्माणी उत्प्रवाही (ट्रेड एफ्ल्युयेण्ट्स) द्वारा नदियों एवं भूमिगत स्रोतों, विशेष कर चाक और चूनापत्थर के विदीर्ण स्तर के नीचे से प्राप्त जल के दूषण की भारी आशंका होती है। इसलिए प्रशिक्षित रसायनज्ञों एवं जीवाणविकीविदों के पर्यवेक्षण में उपचार-पूर्व एवं पश्चात् जल के नमूने लेकर उनकी पूर्ण परीक्षा करना बहुत जरूरी है। इससे जलोपचार की रीतियों के नियंत्रण में बड़ी सहायता मिलती है और इस बात की प्रतिभूति होती है कि जनता द्वारा प्रयुक्त होनेवाले जल में किसी अवस्था में कोई हानिकारक रासायनिक यौगिक अथवा रोगोत्पादक प्राणी उपस्थित न हो।

उपसंहार—उपर्युक्त संदर्भ में जलप्रदाय, आरोग्यप्रबन्ध, निर्माणी उत्प्रवाही का निष्कासन तथा भूमिगत स्रोतों एवं नदियों से प्राप्त जल के दूषण की रोकथाम-

[1] Trade effluents

संबन्धी कार्यों की प्रगति की चर्चा की गयी है तथा यह दर्शाने का प्रयत्न किया गया है कि इनमें रसायन-शास्त्र का कितना ज्ञान एवं रसायनज्ञों का कितना प्रयास निहित है। रसायनज्ञों और इंजीनियरों के सहयोग का ही यह परिणाम है कि इन आविष्कारों का मानव समाज के कल्याण के लिए इतना उत्तम प्रयोग किया जा सका है। सच्ची सफलता के लिए ऐसे सहयोग की परम आवश्यकता होती है और भविष्य में केवल रसायनज्ञों एवं इंजीनियरों का ही सहयोग नहीं वरन् जीवाणविकीविदों और जैविकीविदों का सहयोग भी आवश्यक होगा।

उत्तम जलप्रदाय एवं आरोग्य प्रबन्ध की कुशलता से जनस्वास्थ्य में निश्चय उन्नति हुई है, इसके उदाहरण के लिए निम्नलिखित आँकड़े देखने योग्य हैं। १८-८१–१८९० ई० के बीच वाले दशक में इंग्लैण्ड और वेल्स में टाइफायड ज्वर से प्रति वर्ष मरनेवालों की औसत संख्या ५,४०१ और जनसंख्या के अनुपात में प्रति सहस्र ०·२ थी। १९३८ ई० में यह संख्या घटकर १६३ रह गयी। अथवा जनसंख्या अनुपात प्रति सहस्र ०·००४ हो गया था। टायफायड से होनेवाली यह मृत्युसंख्या आज से ५०-६० वर्ष पूर्व इसी से होनेवाली मृत्युसंख्या का केवल ०·५ प्रतिशत है।

ग्रन्थसूची

FRANCIS, T. P. : *Modern Sewage Treatment.* Contractors' Record, Ltd.

JAMES, G. V. : *Water Treatment.* Technical Press, Ltd.

MARTIN, A. J. : *Work of the Sanitary Engineer.* Macdonald & Evans.

MAXWELL, W. H. : *Water Supply Problems and Developments.* Sir Isaac Pitman & Sons, Ltd.

THRESH, BEALE AND SUCKLING : *Examination of Water and Water Supplies.* J. & A. Churchill, Ltd.

VEAL, T. H. P. : *Disposal of Sewage.* Chapman & Hall, Ltd.

WATER POLLUTION RESEARCH BOARD OF THE DEPARTMENT OF SCIENTIFIC AND INDUSTRIAL RESEARCH : *Annual Reports.* H. M. Stationery Office.

WATER POLLUTION RESEARCH BOARD OF THE DEPARTMENT OF SCIENTIFIC AND INDUSTRIAL RESEARCH : *Summary of Current Literature.* H. M. Stationery Office.

WILSON, H. M., AND CALVERT, H. T. : *Trade Waste Waters, their Nature and Disposal.* Charles Griffin & Co., Ltd.

अध्याय ४

भैषजिक पदार्थ

[भेषज, गंध-तेल तथा कान्तिद्रव्य]

भेषज

सी० एच० हैम्पशायर, एम० बी०, बी० एस० (लन्दन),
एफ० आर० आई० सी०

ऐतिहासिक संलेखों से पता लगता है कि आजकल के साधारण प्रयोग में आने-वाले बहुत से भेषजों का ज्ञान प्राचीन एवं मध्यकालीन युगों में भी था। वर्तमान युग के वैज्ञानिक कार्यकर्ताओं के अनुसन्धानों के परिणामस्वरूप उन वानस्पतिक भेषजों के सक्रिय तत्त्वों का आविष्कार हुआ, जो पहले केवल अपरिष्कृत रूप में या निस्सार[1] के रूप में प्राप्य थे। ऐसे बहुत से सक्रिय तत्त्वों की रासायनिक संरचना मालूम की गयी तथा उनके संश्लेषण की रीतियाँ भी निकाली गयीं। प्राकृतिक भेषजों की अपेक्षा उनके शुद्ध सक्रिय तत्त्वों के कुछ विशेष लाभ होते हैं। उदाहरणार्थ, उनका रासाय-निक निबन्ध स्थिर होता है जिसकी वजह से उनकी दैहिक क्रिया (फ़िज़ियालोजिकल ऐक्शन) में अदल-बदल नहीं होता। इनके अतिरिक्त शुद्ध सक्रिय तत्त्व प्राप्य होने से औषध सेवन की नयी रीतियाँ भी अपनायी जा सकतीं हैं। जैसे इनमें बहुतों की अधश्चर्म (सबकुटेनियस) अथवा आन्तरपेशी (इण्ट्रामस्कुलर) अथवा आन्तरशिरा (इण्ट्रा वीनस) सूई लगाकर उन्हें शरीर में प्रवेश कराया जा सकता है। इन सेवन-रीतियों से औषध के अवशोषण (ऐबज़ार्पशन) तथा उसके प्रभाव की निश्चितता अधिक होती है तथा उनकी क्रिया भी शीघ्रता से होती है। अफीम, सिन्कोना और एफिड्रा इनके उत्तम उदाहरण हैं। अफीम के प्रयोग का वर्णन असीरियाई तथा मिस्री श्रीपत्रों (पैपिराई) तथा प्राचीन काल के अन्य औषधीय लेखों में मिलता है। लेकिन इसके मुख्य सक्रिय तत्त्व मार्फीन ऐल्कलायड का आविष्कार सरट्यूर्नर नामक

[1] Extract

एक जर्मन भेषजज्ञ ने १८१६ ई० में किया, तत्पश्चात् बड़े पैमाने पर इसके निर्माण की व्यवस्था की गयी। सर्वप्रथम सिन्कोना की छाल का प्रयोग पेरू के इंकाओं ने ज्वरों की चिकित्सा के लिए किया तथा यूरोप में इसके प्रवेश के बाद पलेटियर और कैवेण्टाओ ने १८२० ई० में इसके सक्रिय तत्त्व कुनैन का आविष्कार किया। मलेरिया की सफल चिकित्सा के लिए अब सिन्कोना से कुनैन का बड़ी मात्रा में निस्सारण होता है।

कार्बनिक रसायन के उत्थान एवं विकास में अनेक औषधीय पदार्थों के गुणों तथा उनके निर्माण की विधियों का अध्ययन किया गया, जिससे रासायनिक उद्योग का बड़ा लाभ हुआ। प्राकृतिक रूप से उत्पन्न होनेवाली मेन्थाल और कपूर जैसी कितनी ही औषधीय वस्तुएँ अब प्रयोगशालाओं में संश्लेषण विधाओं से बना ली जाती हैं। इतना ही नहीं, बल्कि रसायनज्ञों ने अपनी प्रयोगशाला में ऐसी कितनी वस्तुएँ संश्लिष्ट कर ली हैं जो प्रकृति में नहीं पायी जातीं लेकिन अनेक पुराने भेषजों की अनुपूरक अथवा उनके स्थान पर प्रयोग की जा सकती हैं। ली बीग तथा अन्य रसायनज्ञों ने उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में क्लोरोफार्म तथा क्लोरल जैसे पदार्थ तैयार किये थे, जो आज के महत्त्वपूर्ण भेषज हैं। १८३५ ई० में फैरेडे द्वारा कोलतार से बेन्जीन के एकलन (आइसोलेशन) तथा १८४३ ई० में हॉफमैन द्वारा कोलतार से एकलित पदार्थों के विस्तृत अध्ययन ने ही कार्बनिक यौगिकों की सामान्य प्रतिक्रियाओं संबन्धी हमारे ज्ञान का प्रवर्तन किया।

कार्बनिक यौगिकों की रासायनिक संरचना और उनकी दैहिक क्रिया (फ़िजियालोजिकल ऐक्शन) में संबन्ध की संभावना जान लेने से उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण एवं बीसवीं शताब्दी में प्रयोजन-विशेष के लिए अनेक संश्लिष्ट भेषज बनाये जा सके। ऐसे ही भेषजों के आविष्कार से आधुनिक भैषजिक उद्योग का जन्म हुआ और १९२९ ई० में सारे संसार में १५ करोड़ पौण्ड मूल्य के भैषजिक पदार्थों का उत्पादन किया गया, इससे इस उद्योग का महत्त्व विदित है।

कोलतार से विविध प्रकार के भेषज उत्पन्न किये गये, इनमें से प्रतिपूयिक (ऐण्टीसेप्टिक), ज्वरघ्न (ऐण्टीपाइरेटिक), वेदनाहर (ऐनेलजेसिक), औषधीय रंजक तथा कुछ विशिष्ट भेषज उल्लेखनीय हैं। १८६० में कोल्बे की संश्लेषण विधि से सैलिसिलेट तैयार किये गये, जो 'विलों' की छाल से प्राप्त सैलिसीन नामक ग्लाइकोसाइड के स्थान पर प्रयुक्त होने लगे। इसी प्रकार प्राकृतिक विण्टरग्रीन तेल के स्थान पर मिथिल सैलिसिलेट का प्रयोग होने लगा। सैलिसिलिक अम्ल को एसिटाइल-सैलिसिलिक अम्ल अर्थात् ऐस्पिरीन के रूप में परिवर्तित करने से उसका वेदनाहर गुण बहुत

बढ़ जाता है। केवल ग्रेट ब्रिटेन में प्रति वर्ष १३० टन ऐस्पिरीन की खपत होती है। कार्बनिक संश्लेषण द्वारा उत्पन्न भेषजों में पैराल्डिहाइड, क्लोरोब्युटॉल तथा कारब्रोमल बड़े महत्त्वपूर्ण पदार्थ हैं। युद्धकाल में खाजकीटों के नाश के लिए बेन्जाइल-बेन्ज़ोयेट तथा जूंओं को, जो टाइफस ज्वर की वाहक होती हैं, मारने के लिए प० प० डाइक्लोरोफ़िनाइल ट्राइक्लोरइथेन बड़ा उपयोगी सिद्ध हुआ था।

भैषजिक उद्योग के विकास का समग्र चित्र खींचना तो यहाँ संभव नहीं है, परन्तु कुछ महत्त्वपूर्ण वर्गों के औषधीय रसद्रव्यों पर विचार करने से इस उद्योग के विस्तार तथा उसमें रसायनशास्त्र के योगदान का थोड़ा आभास अवश्य मिल सकता है। शैक्षणिक क्षेत्र में अथवा अन्य उद्योगों में हुए अनुशीलनों से यौगिकों के सामान्य गुणों एवं उनकी रासायनिक संरचना का जो ज्ञान प्राप्त हुआ, उसी के उपयोग से नये-नये रासायनिक यौगिक तैयार करके भैषजिक उद्योग का विकास हुआ। तथा जैविकीय कार्यकर्ताओं के सहयोग से रासायनिक संरचना और कायिक (फिज़ियालोजिकल) क्रिया के संबन्ध का जो ज्ञान हुआ, उससे वांछित औषधीय प्रभाव उत्पन्न करनेवाले सुनिश्चित संरचना के नये यौगिक तैयार करने की योजना में सफलता मिली। अनेक वर्गों के यौगिकों को बनाने में इस सिद्धान्त का प्रयोग किया गया। निद्रोत्पादकों (हिप्नॉटिक्स) का बारबिटुरेट वर्ग इसका अच्छा दृष्टान्त है। नेबेलथाउ द्वारा १८९८ ई० में बाबिटोन[1] अर्थात् वेरोनल का आविष्कार हुआ, यह एक प्रतिस्थापित (सबस्टिटचुटेड) मेलॉनिक एस्टर[2] और युरिया के संघनन (कॉण्डेन्सेशन) की सामान्य प्रक्रिया से बनाया जाता है। स्वयं बार्बिटोन तो डाइइथिल मैलोनिलयुरिया अर्थात् डाइइथिल बार्बिटुरिक अम्ल है, लेकिन इसके एक या दोनों इथिल वर्ग के स्थान पर अन्य कार्बनिक मूलक (आर्गेनिक रैडिकल) जोड़ देने से फिनाइलइथिल मैलोनिलयुरिया (फिनोबार्बिटोन, लुमिनल) तथा हेक्ज़ोबार्बिटोन (एविपान) जैसे अन्य यौगिक बनाये जा सकते हैं और इस प्रकार के ६० से ऊपर यौगिक बनाये भी गये हैं। इस भेषजवर्ग के यौगिक अपनी-अपनी दैहिक क्रिया में भिन्न भी होते हैं। कुछ की क्रिया बड़ी शीघ्रता से होती है तथा वे थोड़े समय की निद्रा उत्पन्न करते हैं, दूसरों का अवशोषण धीरे-धीरे होता है तथा उनसे लम्बी निद्रा आती है तथा इन्हीं में से कुछ ऐसे यौगिक भी हैं जिनकी सूई लगाकर सामान्य निष्चेतना भी उत्पन्न की जा सकती है। इस वर्ग के विविध क्रियाओं वाले यौगिकों के बन जाने से चिकित्साक्षेत्र में बड़ी सरलता हुई है।

[1] Babitone • [2] Malonic ester

स्थानिक निश्चेतक (लोकल ऐनेस्थिटिक्स) वर्ग के यौगिकों के विकास में उसी प्रकार की प्रगति हुई है। शरीर के ऊतकों को संवेदनारहित (इनसेन्सिटिव) करने के लिए सबसे पहले कोका की पत्तियों से प्राप्त ऐल्कालायड कोकेन का प्रयोग हुआ था। कोकेन की रासायनिक संरचना जान लेने के बाद कोकेन सदृश ऐसे यौगिकों का संश्लेषण किया गया जो न्यूनाधिक मर्यादा तक अणुरचना (मॉलिक्यूलर स्ट्रक्चर) तथा स्थानिक निश्चेतना उत्पन्न करने में कोकेन के समान थे। इस वर्ग के विभिन्न भेषजों के निश्चेतक गुण कुछ सीमा तक भिन्न-भिन्न होते हैं। उनकी विलेयता, विषालुता तथा अन्य गुणों में भी भेद होता है और इसी कारण उनमें प्रत्येक के अलग-अलग विशिष्ट उपयोग निकाले गये हैं। प्रोकेन हाइड्रोक्लोराइड अर्थात् नोवेकेन सामान्यत: सबसे ज्यादा उपयोगी है; बेन्ज़ोकेन, एमाइलोकेन हाइड्रोक्लोराइड अर्थात् स्टोवेन तथा ऑर्थोकेन (ऑर्थोफार्म) के भी अपने-अपने विशिष्ट उपयोग हैं।

फैरेडे और हाफमैन द्वारा प्रतिपादित कोलतारसंबन्धी मौलिक कार्यों के परिणामस्वरूप फिनालिक प्रतिपूयिकों (ऐण्टीसेप्टिक) का जन्म हुआ। फिनाल इनमें से सर्वप्रथम था, जिसका एक सामान्य रोगाणुनाशक (डिस्इन्फेक्टेण्ट) के रूप में आज भी प्रयोग होता है। परन्तु आधुनिक समय में कोलतारस्थित अन्य पदार्थों के संश्लेषण से नये-नये फिनालिक प्रतिपूयिक (ऐण्टीसेप्टिक) बनाये गये हैं, ये अधिक सक्रिय एवं अपनी क्रिया में बड़े चुनावशील (सेलेक्टिव) होते हैं। उदाहरणार्थ क्रिसॉल फ़िनाल से ढाई गुना अधिक सक्रिय तथा कम विषालु होता है। अन्य जटिल फिनालिक यौगिक और भी कम विषालु होते हैं तथा अमिल मेटाक्रिसाल जैसे यौगिक फिनाल से २८० गुना अधिक शक्तिशाली होते हैं। इन फिनालिक यौगिकों में हैलोजेन परमाणुओं का प्रवेश कराकर पैराक्लोरोमेटाक्रिसाल तथा पैराक्लोरोमेटाज़ाइलिनॉल जैसे पदार्थ तैयार किये गये हैं जो अविषालु (नान-टॉक्सिक) होने के साथ-साथ फिनाल से २०० गुना अधिक सक्रिय होते हैं।

क्लोरीन का प्रतिपूयिक (ऐण्टीसेप्टिक) गुण तो बहुत समय से मालूम था लेकिन ज्ञात प्रबलता वाला उसका कोई स्थायी यौगिक प्राप्त न हो सका था। अब क्लोरामीन जैसे संश्लिष्ट कार्बनिक यौगिक के उत्पादन से क्लोरीन द्वारा प्रतिपूयन (एण्टीसेप्सिस) की ऐसी रीति मालूम हो गयी थी जिससे उपर्युक्त कठिनाइयाँ दूर हो गयीं।

कोलतार के ऐक्रिडीन से संश्लिष्ट ऐक्रिफ्लैवीन, प्रोफ्लैवीन तथा युफ्लैवीन रंजक बड़े शक्तिशाली एवं चुनावशील प्रतिपूयिक हैं जिनका काफी महत्त्व है। ये रंजक युद्धव्रणों (वारवुण्ड्स) के भरने में बड़े प्रभावी हुए हैं, क्योंकि दैह्रिक द्रवों की उपस्थिति

में तथा घाव पूजने की साधारण क्रिया को किसी प्रकार अवरुद्ध किये बिना ये रंजक पदार्थ जीवाणुओं को नाश करने में सफल होते हैं। क्रिस्टलवायलेट, ब्रिलियेण्ट ग्रीन तथा मैलाकाइट ग्रीन जैसे त्रिफिनाइलमिथेन रंजकों में अधिक चुनावशीलता प्राप्त की जा सकी है। मरक्युरोक्रोम एक ऐसा यौगिक है जिसमें पारद (मरकरी) तथा फ्लुओरेसीन रंजक दोनों के प्रतिपूयिक गुणों का समन्वय है। जीवाणुनाशन में अपने विशिष्ट प्रभाव के कारण युद्धकाल में पेनिसिलीन अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुई। एक विशेष जाति की फफूंद से इसका निस्सारण किया गया था।

१८५३ ई० में जेरहार्ट द्वारा एसेटेनिलाइड के निर्माण से ही संश्लिष्ट वेदनाहरों का उत्पादन प्रारम्भ हुआ था। परन्तु एसेटेनिलाइड में कुछ विषालुता थी अतः अनुगामी अनुसन्धानों के फलस्वरूप १८८३ ई० में फ़िनेसेटीन, १८८७ ई० में फ़िनाज़ोन तथा १८९६ ई० में अमिडोपाइरीन का उत्पादन हुआ। फिर भी जैसा पहले बताया जा चुका है, ऐस्पिरीन सर्वाधिक लोकप्रिय वेदनाहर के रूप में प्रयुक्त होती रही।

रसचिकित्सी भेषजों (कीमोथिराप्युटिक ड्रग्स) का संश्लिष्ट औषधीय रसायन में एक परम महात्वपूर्ण वर्ग है। इन भेषजों की विशेषता यह है कि जहाँ ये संक्रामक प्राणियों (इन्फेक्टिंग ऑर्गैनिज़्म) के लिए विषालु होते हैं वहाँ शरीर-ऊतकों के लिए निरापद होते हैं। इस शताब्दी के प्रारम्भ में एर्अलिक और शीगा ने अपने कार्यों द्वारा यह प्रदर्शित किया कि आर्सेनिक अम्ल तथा ऐनिलीन को एक साथ गरम करने से उत्पन्न होनेवाले 'एटॉक्सिल' नामक कार्बनिक आर्सेनिकल यौगिक में आतिथेय (होस्ट) को मारे बिना ही शरीरस्थित ट्राइपैनोज़ोमों को नाश करने की क्षमता थी। परन्तु इस पदार्थ की विषालुता भी आवश्यकता से अधिक थी जिसकी वजह से अन्य अनुसन्धान करने पड़े और १९०६ ई० में आर्सफिनामीन अर्थात् 'सालवार्सन ६०६' का आविष्कार हुआ। यह नया पदार्थ प्रोटोजोआई पराश्रयियों के लिए अतिशय विषालु था परन्तु आतिथेय के लिए अपेक्षाकृत निरापद रहा। आगे चलकर इससे अधिक विलेय एवं सुविधाजनक कार्बनिक आर्सेनिकल यौगिक के रूप में 'नियो-आर्सफिनामीन' अर्थात् 'नियोसालवार्सन' निकला तथा आन्तरपेशी (इण्ट्रामस्कुलर) सूई लगाने के लिए सल्फार्सफिनामीन निकाला गया। ये सभी भेषज आजकल उपदंश की चिकित्सा के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण साधन हैं। ट्राइपार्समाइड एवं एसेटार्साल भी इसी प्रकार के यौगिक हैं, जिनमें आर्सेनिक त्रिसंयुज (ट्राइवैलेण्ट) अवस्था में होता है तथा जो उष्णदेशीय रोगों के उपचार के लिए प्रयुक्त होता है।

रसचिकित्सा अर्थात् रसद्रव्यों द्वारा रोगों की चिकित्सा में रसायनज्ञों एवं भेषज-क्रियाज्ञानियों (फार्माकालोजिस्ट्स) के सहयोग से बड़ी महत्त्वपूर्ण प्रगति हुई है।

इसी सहयोग के परिणामस्वरूप उत्पन्न क्वीनोलीन की व्युत्पत्ति पामाक्वीन अर्थात् प्लैज्मोक्वीन, तथा ऐक्रीडीन की व्युत्पत्ति मेपाक्रीन हाइड्रोक्लोराइड अर्थात् एटेब्रीन-सदृश यौगिक शरीर में मलेरियाई पराश्रयियों के लिए विशिष्ट विष सिद्ध हुए परन्तु आतिथेय के लिए निरापद। अतः आजकल ये पदार्थ मलेरिया की चिकित्सा के लिए व्यापक रूप से प्रयुक्त हो रहे हैं। सल्फोनामाइड और उसकी व्युत्पत्तियाँ रसचिकित्सीय यौगिकों के नवीन विकास का केन्द्र बन गयी हैं। १९३५ ई० में डोमाक ने प्रॉण्टोसिल नामक एक गाढ़े लाल रंगवाले संश्लिष्ट अजो रंजक के रोगाणुनाशक गुणों का आविष्कार किया। उन्होंने दिखाया कि यह रंजक प्रसूतिज्वर (प्योरपेरल फीवर), शोणत्वग्ज्वर (स्कारलेट फीवर) तथा अरुणचर्मता (इराइसेपेलस) नामक रोगों के मूल कारण हिमोलिटिक स्ट्रेप्टोकाक्काई के नाश करने में बड़ा सक्रिय है। इस वर्ग के और यौगिक भी प्रयोग किये जाते हैं, जैसे सल्फैनिल अमाइड स्ट्रेप्टोकाक्कीय संक्रामणों के विरुद्ध अति उपयोगी है और निमोनिया उत्पन्न करनेवाले जीवाणुओं को नाश करने में सल्फापिरिडीन बड़ा सक्रिय है। रसायनज्ञों की प्रतिभा एवं प्रयास से अनेक ऐसे यौगिक बने जिनकी संरचना उनमें परमाणुओं के विविध समूहों के प्रतिस्थापन के कारण भिन्न-भिन्न थी। विभिन्न संक्रामणों पर इन यौगिकों की क्रियाओं का अध्ययन भी किया गया। फलस्वरूप सल्फाडियज़ीन, सल्फाथायज़ोल, सल्फाग्वानिडीन तथा ४–अमीनो-मिथिलसल्फोनामाइड अर्थात् मर्फानिल जैसे आज के उपयोगी भेषज हमें प्राप्त हुए हैं।

१८४९ ई० में फ्रैंकलैण्ड द्वारा निर्मित मर्करी ऐल्किल पहले केवल शैक्षणिक महत्त्व के यौगिक समझे जाते थे। परन्तु अब मर्बाफेन (नोवासुरॉल) तथा मर्सलिल (सैलिर्गन) जैसे मर्करी के जटिल कार्बनिक यौगिक, जो सारतः प्रारम्भिक सरल मर्करी ऐल्किलों की ही तरह हैं, बड़े प्रभावी मूत्रवर्धक के रूप में प्रयुक्त हो रहे हैं। इन भेषजों की सूई लगायी जाती है।

हारमोनों के विज्ञान का भी बड़ी तेजी से विकास हो रहा है तथा रसायनज्ञ उनकी रासायनिक संरचना के अध्ययन तथा उनके संश्लेषण और उत्पादन में संलग्न हैं। ऐड्रिनलीन एक उत्तम उदाहरण है। १९०१ ई० में टाकामीन तथा ऐल्ड्रिच ने उपवृक्क ग्रन्थियों (ऐड्रिनल ग्लैण्ड्स) से एक केलासीय पदार्थ का एकलन किया था। उपवृक्क ग्रन्थि-निस्सार में रक्तचाप बढ़ानेवाला यही पदार्थ था, जिसे 'ऐड्रिनैलीन' की संज्ञा प्राप्त हुई। इस घटना के बाद इसके गुणों का व्यापक अध्ययन किया गया तथा इसका संश्लेषण भी कर लिया गया है। कैटेचॉल से संश्लेषण करके अब इसका बड़े पैमाने पर उत्पादन किया जाता है। यह आज के चिकित्सीय जगत का एक महत्त्व-

पूर्ण भेषज है। इस संदर्भ में मा हौंग (Ma Haung) नामक एक चीनी पौधे से प्राप्त ऐल्कलायड (एफिड्रीन) का उल्लेख करना भी आवश्यक है। यह पदार्थ रासायनिक संरचना एवं दैहिक क्रिया में ऐड्रिनलीन से बहुत कुछ मिलता जुलता है। अन्य संबन्धित यौगिक भी बनाये गये हैं और उनके दैहिक प्रभाव भी उसी प्रकार के हैं।

इन्सुलीन भी भैषजिक जगत का एक बड़ा उत्कृष्ट चिकित्सीय पदार्थ है। १९२२ ई० में बैण्टिंग और बेस्ट ने अपने दैहिकीय प्रयोगों द्वारा यह दिखाया कि पैंक्रियस के लैंगरहैन्स द्वीपों में एक ऐसा पदार्थ होता है जो शरीर में शर्करा-चयापचय (मेटाबालिज्म) को नियंत्रित करता है। रासायनिक निर्माण के साधारण सिद्धान्तों के प्रयोग से इस पदार्थ का एक ऐसा सांद्रित रूप बनाना संभव हुआ जिसकी सूई लगाकर मनुष्यों के मधुमेह रोग का नियंत्रण किया जा सके। इन्हीं जीवरासायनिक अनुसन्धानों के आधार पर आज मधुमेह की सारी चिकित्सा का विकास आधारित है तथा यह रोगोपचार में जीवरसायन के प्रयोग की भारी विजय मानी जाती है। कालान्तर में ऐबेल ने भेड़ों के पैंक्रियस से केलासीय इन्सुलीन पृथक् किया। इसमें संदेह नहीं कि इन्सुलीन की रासायनिक संरचना भी शीघ्र ही ज्ञात हो जायगी और तब संश्लेषण द्वारा इसका उत्पादन संभव हो जायगा। इन्सुलीन की क्रिया पर धातुओं के प्रभाव के जीवरासायनिक अध्ययन से उसके सेवन (ऐडमिनिस्ट्रेशन) की रीतियों में बड़ी उन्नति हुई और आजकल यशद (ज़िन्क) मिश्रित इन्सुलीन का बराबर प्रयोग हो रहा है।

मनुष्यशरीर के चयापचय में गलग्रन्थियों (थायरायड ग्लैण्ड्स) का बड़ा महत्त्वपूर्ण प्रभाव है और इसकी हीनता के बड़े गम्भीर कुप्रभाव होते हैं। गत काल में इन कुप्रभावों के निराकरण के लिए गलग्रन्थियों का सूखा चूर्ण अथवा उसका निस्सार सफलतापूर्वक प्रयुक्त होता रहा। परन्तु १९१५ में केण्डाल ने पशुओं की गलग्रन्थियों से एक सक्रिय पदार्थ (थायराक्सीन) निकाला। १९२६ में हैरिंगटन तथा बार्जर ने थायराक्सीन की रासायनिक रचना भी निश्चित कर ली तथा संश्लेषण द्वारा उसकी पुष्टि की और अब तो यह संश्लेषण रीति से बनायी भी जाने लगी है।

पोष्यग्रन्थि (पिट्यूटरी) हारमोनों के संबन्ध में हमारा ज्ञान अब भी अपूर्ण है, इसी लिए केवल प्राकृतिक ग्रन्थियों से बनी सूई लगानेवाली औषधें प्राप्य हैं। परन्तु इन औषधों के इतने उपयोग हैं कि रसायनज्ञों एवं जीवरसायनज्ञों द्वारा इनके अध्ययन एवं रहस्योद्घाटन की महान् संभावनाएँ हैं।

लिंग-हारमोनों के अध्ययन की समस्या काफी कठिन एवं जटिल है। यद्यपि जीवरसायनज्ञों ने इस दिशा में भी बड़ी तत्परता दिखाई है तथा स्टिलबोस्ट्रॉल नामक

एक संश्लिष्ट हारमोन भी तैयार किया है, जिसकी जैविकीय सक्रियता यथेष्ट है और जो अब काफी मात्रा में बनायी एवं रोगियों के उपचारार्थ प्रयुक्त किया जाता है।

मनुष्य के स्वास्थ्य एवं उसके शरीर की वृद्धि तथा क्रियाओं को जारी और बनाये रखने के लिए विटामिनों का भी बड़ा महत्त्व है और अब तो वे हीनाहार (डेफिसियेन्सी) रोगों के उपचार तथा रोग-निरोध (प्रोफिलैक्सिस) के लिए भी प्रयुक्त होने लगे हैं। औषधीय प्रयोजनों के अतिरिक्त मार्गरीन जैसे खाद्य पदार्थों में मिलाने के लिए उनका उत्पादन किया जा रहा है। जीवरसायनज्ञों के द्वारा किये गये अनुशीलन से अब इन विटामिनों की रासायनिक प्रकृति जान ली गयी है, अतः A, B, C, D, और E के पदों में किया गया उनका मूल नामकरण अब महत्त्वहीन हो गया है। कुछ विटामिन जो प्रारम्भिक आविष्कार के समय केवल एक पदार्थ माने जाते थे, अब अनेक यौगिकों के मिश्रण सिद्ध हो चुके हैं तथा कार्बनिक रसायनज्ञ अब इन यौगिकों को संश्लेषण रीति से बनाने में लगे हुए हैं। वृद्धिप्रवर्तक तथा प्रतिसंक्रामिक (ऐण्टीइन्फेक्टिव) विटामिन ए, जो मछली के यकृत तेलों में बड़ी प्रचुर मात्रा में होता है, अब इन्हीं स्रोतों से विशुद्ध अवस्था में बनाया जाने लगा है। लेकिन अभी रासायनिक संश्लेषण द्वारा इसका उत्पादन नहीं किया जा सका है। ऐण्टीन्युरेटिक खण्ड, विटामिन बी$_१$ का एकलन पहले पहल चावल के कन्ने से किया गया था परन्तु अब संश्लेषण रीति से उसका निर्माण किया जाता है और एन्यूरीन के नाम से रोगोपचार के लिए प्रयुक्त होता है। विटामिन बी$_२$ में रिबोफ्लैवीन, निकोटिनिक अम्ल तथा कुछ अन्य पदार्थ मिश्रित होते हैं। विटामिन सी प्रतिप्रशीताद अर्थात् 'ऐण्टीस्कारब्युटिक' विटामिन कहा जाता है। यद्यपि फलरसों में इसकी उपस्थिति का ज्ञान बहुत पहले से था लेकिन इसका एकलन सर्वप्रथम 'पैप्रिका' से किया गया था। अब इस विटामिन का निर्माण संश्लेषणरीति से प्रचुर मात्रा में होता है तथा स्कर्वी (प्रशीताद) नामक रोग के निवारणार्थ प्रयोग किया जाता है। इसी लिए इसका रासायनिक नाम 'ऐस्कार्बिक' अम्ल पड़ा। काड यकृततेल में विटामिन डी होता है, जिससे अस्थिवक्रता (रिकेट्स) नामक रोग का निवारण एवं आरोग्यकरण होता है। इस विटामिन में भी दो यौगिक मिले हुए होते हैं—विटामिन डी$_२$ तथा विटामिन डी$_३$। अब ये दोनों संश्लेषणविधा से तैयार किये जाते हैं। विटामिन डी$_२$ को ही कैल्सिफेरॉल कहते हैं जो अब संश्लिष्ट केलासीय रूप में प्राप्य है। प्रजनन शक्ति बढ़ानेवाला विटामिन ई और टोकोफेरॉल एक ही वस्तु है, जिसकी संरचना पूर्णतया ज्ञात है तथा जो संश्लेषणरीति से बनाया भी जाता है। रुधिर-स्कंदन (ब्लड क्लॉटिंग) को प्रभावित करनेवाला पदार्थ, विटामिन के भी एकलित किया जा चुका है तथा उसकी संरचना भी निश्चित कर ली गयी है। लेकिन

अब इसके स्थान पर मिनैप्थोन नामक एक सरल परन्तु समानप्रभावी शुद्ध संश्लिष्ट रासायनिक यौगिक प्रयुक्त होने लगा है। विटामिन पी भी साइट्रस जाति के फलों से शुद्ध अवस्था में एकलित कर लिया गया है। इस विटामिन का प्रभाव रुधिरकोशाओं की भंगुरता (फ्रैजिलिटी) पर पड़ता है।

भैषजिक क्षेत्र में ऐसे अनेक रसद्रव्यों का प्रयोग होता है जो अन्य और उद्योगों में प्रयुक्त होते हैं, लेकिन भेद केवल यह है कि भैषजिक प्रयोजनों के लिए उनकी विशिष्ट शुद्धता परमावश्यक होती है। सल्फ्युरिक अम्ल, सोडियम कार्बोनेट, पोटासियम आयोडाइड तथा फेरस सल्फेट का विशेष शोधन करके उनको आर्सेनिक तथा लेड जैसी हानिकारक अशुद्धियों से मुक्त किया जाता है। भेषज के रूप में काम आनेवाले नये अकार्बनिक पदार्थों में मैग्नीसियम त्रिसिलिकेट तथा शोधित केओलीन उल्लेखनीय हैं। भैषजिक क्षेत्र में रसायनज्ञों का योगदान यहीं तक सीमित नहीं है बल्कि भेषजों के औषधीय गुणों के परीक्षण एवं मानकीकरण की उपयुक्त रीतियाँ निकालकर उनके द्वारा उनका श्रेणीनियंत्रण करना भी भारी जिम्मेदारी का काम है।

ग्रन्थसूची

BENNETT, R. R., AND COCKING, T. T. : *Science and Practice of Pharmacy*. J. & A. Churchill, Ltd.

British Pharmacopaeia, 1932, and *Addenda*. Constable & Co., Ltd.

British Pharmaceutical Codex 1936, and *Supplements*. The Pharmaceutical Press.

DYSON, G. M. : *Chemistry of Chemotherapy*. Ernest Benn, Ltd.

EVERS, N. : *Chemistry of Drugs*. Ernest Benn, Ltd.

FOURNEAU, E. : *Organic Medicaments and their Preparation*. Translated by W. A. Silvester. J. & A. Churchill, Ltd.

GRIER, J. : *History of Pharmacy*. The Pharmaceutical Press.

HENRY, T. A. : *Plant Alkaloids*. J. & A. Churchill, Ltd.

MAY, P., AND DYSON, G. M. : *Chemistry of Synthetic Drugs*. Longmans, Green & Co., Ltd.

PARTINGTON, J. R. : *Origins and Development of Applied Chemistry*. Macmillan & Co., Ltd.

गंध-तेल

पर्सी सी० सी० इशरउड, ओ० बी० ई०, पी-एच०
डी० (उर्ज़बर्ग), एफ० आर० आई० सी०

गंध-तेल (इसेन्शल आयल) अधिकांशतः सुगन्धित वनस्पतियों के भापासवन (स्टीम डिस्टिलेशन) से प्राप्त किये जाते हैं, इसी लिए उन्हें वाष्पशील तेल (वोलाटाइल आयल) भी कहते हैं। ये गंधतेल वनस्पतियों के विभिन्न भागों में होते हैं अतः उनके उत्पादन के लिए भागविशेष का ही प्रयोग किया जाता है। उदाहरणार्थ ज़ीरा, सिलरी, इलायची, सौंफ के तेल उनके बीजों से, पिमेण्टो और जुनिपर के तेल बदरियों से, बूकू, बे और पचौली तेल पत्तियों से, गुलाब, लांगलांग और ऑरेन्ज ब्लासम तेल पुष्प-पटलों से प्राप्त किये जाते हैं। लवंग तेल कलियों से तथा चन्दन और सिडार तेल उनके काष्ठों से निकाले जाते हैं। वेटिवर्ट और एन्जेलिका के लिए जड़ों का तथा जिंजर और ओरिस के लिए आकंदों (राइज़ोम) का भापासवन किया जाता है तथा पिपरमिण्ट के लिए पूरे सूखे पौधे का। बादाम और सरसों की विशेषता यह है कि उनके गंधतत्त्व संयुक्त अवस्था में होते हैं इसलिए गंधतेल के आसवन के पूर्व एन्ज़ाइम क्रिया से यौगिकविशेष का विच्छेदन करना आवश्यक होता है।

वाष्पशील तेलों के उत्पादन के लिए यद्यपि विभिन्न विलायकों द्वारा निस्सारणरीति भी अपनायी जाती है लेकिन भापासवन-रीति ही सामान्यतः प्रचलित रही है। सूखी अथवा जलमिश्रित वनस्पतियों में भाप का प्रवेश कराया जाता है, कभी कभी तेल की प्रकृत्यनुसार उच्च-दाब भाप भी प्रयुक्त होती है और कभी जल के साथ केवल उबालना ही पर्याप्त होता है, क्योंकि उच्च-दाब भाप के उच्च ताप से कुछ अस्थायी सुगन्धित पदार्थ नष्ट हो जाते हैं। भापासवन के लिए प्रयुक्त होनेवाले आस्रोत (स्टिल) इतने बड़े होते हैं कि उनमें टनों वनस्पतियाँ आ जाती हैं। इन वनस्पतियों द्वारा पार होनेवाली भाप को संघनित करके आसुत में से जल और तेल को पृथक् कर लिया जाता है। छालों और काष्ठों के आसवन के पहले उन्हें कूट लेना आवश्यक होता है। यहाँ यह बताना आवश्यक है कि नींबू, नारंगी तथा बर्गमॉट जैसे साइट्रस वर्ग के तेल उपयुक्त फलों के छिलकों को निचोड़कर प्राप्त किये जाते हैं।

उपर्युक्त रीतियों से प्राप्त गंधतेलों का प्रयोग विविध रूप से किया जाता है। उनके औषधीय गुण भी होते हैं तथा उन्हें खाद्य सामग्रियों के सुवासन के लिए भी इस्तेमाल किया जाता है। इनके अतिरिक्त परिमल-प्रयोजनों (परफ्यूमरी परपज़), साबुन एवं कान्ति-द्रव्यों के लिए भी इन तेलों का अच्छा प्रयोग होता है। परन्तु यह सब उनके महत्त्व एवं

हैं। इस संबन्ध में कुमारीन की चर्चा की जा सकती है, यह टोंका बीनों तथा डिअर टंग की पत्तियों में होती है और कदाचित् न्यू-मोन-हे की सुगन्ध का कारण भी कुमारीन ही है। यही कुमारीन आजकल सैलिसिलिक ऐल्डीहाइड से संश्लेषण द्वारा व्यापक रूप में उत्पन्न की जाती है।

डाइकीटोन-डाइएसिटिल नामक पदार्थ अनेक प्रकार के गन्धतेलों में, विशेषकर ऐञ्जेलिका, साइप्रेस, सैविन, कैरेवे, चन्दन, बे, ओरिस तथा वेटिवर्ट में होता है और अब संश्लेषण द्वारा तैयार किया जाता है, क्योंकि र्तवमान समय में इसका बहुत बड़ा आर्थिक महत्त्व है। खाद्य वसाओं तथा अन्य खाद्य पदार्थों में नवनीत-गंध देने के लिए इसका व्यापक प्रयोग होता है तथा इत्र बनाने में भी इसका कुछ इस्तेमाल होता है।

प्राकृतिक गन्धतेलों के स्थान पर कृत्रिम रूप से उत्पन्न तेलों के प्रयोग के भी दो अच्छे दृष्टान्त हैं। बादाम के गंधतेल के लिए बेन्ज़ल्डीहाइड का प्रयोग तथा विण्टर-ग्रीन तेल के स्थान पर मिथिल सैलिसिलेट का प्रयोग उल्लेखनीय है। असली सरसों के तेल के स्थान पर नकली तेल भी चल पड़ा है।

ग्रन्थसूची

FINNEMORE, H. : *The Essential Oils.* Ernest Benn, Ltd.
GILDEMEISTER, E. : *The Volatile Oils.* (Translated by E. Kremers). Longmans, Green & Co., Ltd.
PARRY, E. J. : *Encyclopaedia of Prefumery.* J. & A. Churchill, Ltd.
Perfumery Essential Oil Record. G. Street & Co., Ltd.

कान्ति-द्रव्य

एच० स्टैनले रेडग्रोव, बी० एस-सी० (लन्दन), एफ० आर० आई० सी०

कान्ति-द्रव्यों (कास्मैटिक्स) की कला बड़ी प्राचीन है। मिस्र की खुदाई से प्राप्त संलेखों से पता चलता है कि अति प्राचीन काल से ही व्यक्तियों को सुन्दर बनाने के लिए अनेक प्रकार के रंग, लेपों तथा उबटनों का प्रयोग होता रहा है। लेकिन अपनी त्वचा की सुरक्षा करने अथवा उसे सजाने सँवारने या अपने केशों के रंग बदलने तथा अपने हाथ पैर की अँगुलियों एवं नखों को रँगकर अलंकृत करने की यानी अपना कामा-कर्षण (सेक्स अपील) बढ़ाने की स्त्रियों में सामान्य आकांक्षा को अभी कुछ ही समय पूर्व

तक वैज्ञानिकों के लिए विचारणीय विषय नहीं माना जाता था। किन्तु अब यह माना जाने लगा है कि अपनी उपर्युक्त आकांक्षा की पूर्ति करके स्त्रियाँ केवल अपनी जैविकीय आवश्यकता ही पूरी नहीं करतीं बल्कि उसके द्वारा समाजसेवा भी करती हैं। इस बात को छोड़कर भी यदि 'इम्पोर्ट ड्यूटीज़ ऐक्ट' की रिपोर्ट में प्रकाशित १९३३ के विभिन्न वस्तुओं के उत्पादनसंबन्धी अंकों को देखा जाय तो आश्चर्य होगा कि कान्ति-द्रव्यों की अत्यधिक मात्रा पुरुषों के प्रयोगार्थ तैयार की गयी थी और केशक्रीम, क्षौर-क्रीम तथा क्षौरसाबुन जैसे पदार्थ तो एकमात्र पुरुषों के लिए बाजार में बिकते हैं।

कान्तिद्रव्य-प्रौद्योगिकी में रसायनविज्ञान का उपयोग तो अभी बहुत हाल से ही किया जाने लगा है। लेकिन इस थोड़े समय में ही इस दिशा में महती प्रगति हुई है।

अलंकारवस्तुओं (ब्यूटी प्रॉडक्ट्स) को उनके उपयोगों के अनुसार चार मुख्य वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—(१) आलंकारिक (डिकोरेटिव), (२) शोधक (करेक्टिव), (३) रक्षक (प्रोटेक्टिव) तथा (४) चिकित्सीय (थिराप्युटिक)।

प्रथम वर्ग में नख-रंगलेप (नेल पेण्ट्स), केश-प्रलाक्ष (हेयर लैकर्स) तथा लिप-स्टिक हैं, जिनका उपयोग एकमात्र आलंकारिक प्रयोजन से ही किया जाता है। लेकिन उनके रंग शरीर के स्वाभाविक वर्ण से कोई मेल नहीं खाते।

द्वितीय वर्ग में हल्के मुखपाउडर, कुंकुमी (राउजेज़) तथा लिपस्टिक सदृश वस्तुएँ हैं, जिनका रंग गाल अथवा होंठ के प्राकृतिक गुलाबी रंग से बहुत भिन्न नहीं होता तथा जिनका प्रयोग बदन के कुछ दोषों को ढँककर उसे अधिक प्यारा अथवा आकर्षक बनाने के लिए किया जाता है।

तृतीय वर्ग की वस्तुओं का प्रयोग त्वचा को सूर्यदाह अथवा अन्य प्रकार के विगोपनों (एक्सपोज़र) से बचाने के लिए किया जाता है, डेक्रीम, भारी मुख पाउडर तथा अन्य विशिष्ट पदार्थ इनके उदाहरण हैं।

हरे नेत्र-रंगलेप जैसे सर्वप्रथम कान्तिद्रव्य प्राचीन मिस्र की स्त्रियों द्वारा अपनी सुन्दरता बढ़ाने के ही लिए इस्तेमाल किये जाते थे, अतएव इनकी गणना प्रथम वर्ग में ही की जानी चाहिए। लेकिन इनके बाद कुछ ऐसी वस्तुएँ भी बनीं जो खोयी हुई सुन्दरता के स्थायी पुनःस्थापन (रिस्टोरिंग) का दावा करती थीं, परन्तु दुर्भाग्यवश इनका दावा सचमुच कभी पूरा नहीं हुआ और ये सदा ही वञ्चकों द्वारा लोगों के शोषण के साधन बनी रहीं। कान्तिद्रव्यों की कुवैद्यता यद्यपि अभी मरी नहीं फिर भी संयुक्त राज्य अमेरिका में पारित अधिनियमों से उसे आघात अवश्य हुआ है तथा व्यापकतया कान्ति-द्रव्य उद्योग का कल्याण हुआ।

चौथे वर्ग के पदार्थों का संबन्ध अधिकतर औषधीय विज्ञान से है अतः उनके संबन्ध

में यहाँ विशेष कोई चर्चा न करके अन्य तीन वर्गों के कान्तिद्रव्यों पर ही अधिक ज़ोर दिया जायगा।

कान्तिद्रव्यों के विकास में रसायनविज्ञान ने जो योगदान किया है उसका सारांश इस प्रकार है --अधिक निरापद एवं उपयुक्त पदार्थों के आविष्कार से अपकारक (नॉक्सस) वस्तुओं का प्रचलन प्रायः बन्द तथा अधिक सुन्दर वस्तुओं का उत्पादन संभव हो गया है। कुछ विशेष समस्याओं का भी अन्वेषण किया गया तथा बहुतों का समाधान भी। इन अनुसन्धानों का क्षेत्र यद्यपि बड़ा विस्तृत है, फिर भी यहाँ कुछ दृष्टान्तों का वर्णन किया जायगा।

एक समय ट्वालेट लोशनों, मुखपाउडरों तथा आवसा रंगलेपों[1] के निबन्ध में श्वेत सीस (व्हाइट लेड) अर्थात् सफ़ेदा एक साधारण परन्तु आवश्यक संघटक हुआ करता था। उसके विषालु गुणों को जान लेने पर उसका प्रयोग बन्द कर दिया गया तथा उसके स्थान पर यशद आक्साइड प्रयुक्त होने लगा। यशद आक्साइड अपने अपारदर्शक गुण के कारण प्रचलित हुआ था लेकिन आजकल उसको भी हटाकर टिटैनियम द्विआक्साइड इस्तेमाल होने लगा है। टिटैनियम द्विआक्साइड की विशेषता इसलिए मानी गयी है कि उसकी अपारदर्शिता अधिक तथा घनत्व कम होने के साथ साथ वह रासायनिक रूप से एवं दैहिकतया सर्वथा निष्क्रिय होता है। इसके प्रयोग का प्रथम सुझाव इस लेख के लेखक (एच० स्टैनले रेडग्रोव) द्वारा १९२९ में किया गया था तथा प्रगतिशील निर्माताओं द्वारा अपनाया भी गया था।

महारानी एलिज़ाबेथ की घोषणानुसार डोवर की चोटियों से लाये गये चाक का बना मुखपाउडर ही सर्वोत्तम था। लेकिन उस खनिज चाक के स्थान पर आजकल अवक्षेपण रीति से बना चाक काम में लाया जाता है। रासायनिक ढंग से निर्मित इस चाक की भौतिक अवस्था एवं शुद्धता के बड़े लाभ हैं। मुखपाउडर अथवा दन्तक्रीम बनाने सदृश विशिष्ट प्रयोजनों के लिए इसकी विशिष्ट श्रेणियाँ उत्पन्न करना रासायनिक रीतियों द्वारा ही संभव हुआ है।

चीनी मिट्टी अथवा केयोलीन भी मुखपाउडरों का एक महत्त्वपूर्ण संघटक है क्योंकि इसमें आर्द्रता-अवशोषण की उत्तम शक्ति तथा आवसा-अवरोधी (ग्रीज रेज़िस्टेण्ट) गुण होता है। इस संघटकविशेष की उन्नति करने में भी कान्तिद्रव्य-प्रौद्योगिकी को रसायन विज्ञान की अच्छी सहायता प्राप्त हुई है। अब विद्युत-विधा से बड़ी सूक्ष्म और

[1] Grease paints

शोधित केओलीन प्राप्त होती है, जो कान्तिद्रव्यों के निर्माण के लिए विशेष उपयोगी होती है।

पहले स्त्रियों की यह शिकायत थी कि मुखपाउडर चमड़ी पर बेतरह चिपक जाते थे और बड़ी कठिनाई से छुड़ाये जा सकते थे। रसायनज्ञों ने मुखपाउडरों में मैग्नीसियम स्टियरेट जैसे जल-अविलेय साबुन मिलाकर इस कठिनाई का बड़ा उत्तम निवारण किया है। मुखपाउडर पहले प्रायः श्वेत हुआ करते थे क्योंकि रंगीन पदार्थों की उपलब्धि बड़ी सीमित थी। कोचिनियल कीटों के रंगीन पदार्थ से प्राप्त कारमीन एक रंग-द्रव्य (पिग्मेण्ट) था और सिंदूर दूसरा जिसमें से सिंदूर तो विषाक्त धातु पारद अर्थात् मर्करी का ही सल्फाइड होता है। यद्यपि कारमीन निरापद अवश्य होती है लेकिन बहुत महँगी होती है और सरलता से काम में भी नहीं लायी जा सकती है। इसके लगाने से एक अप्राकृतिक नीलिमा लिये ललाई उत्पन्न होती है।

रसायनशास्त्र की प्रगति से नये नये रंजकों और रंग-द्रव्यों का विकास हुआ है जिनके प्रयोग से किसी प्रकार का प्राकृतिक अथवा आलंकारिक प्रभाव उत्पन्न किया जा सकता है। यद्यपि सामान्यतः तो ये रंजक पदार्थ निरापद होते हैं फिर भी कुछ की विषालुता का परीक्षण आवश्यक होता है। इयोसीन अर्थात् ब्रोमिनीयित फ्लुओरेसीन एक विशेष रोचक रंजक है क्योंकि लिपस्टिकों की अलोप्यता (इनडेलिबिलिटी) इसी रंजक के कारण होती है। इस काम के लिए प्रयुक्त होनेवाली इयोसीन एक स्वतंत्र अम्ल होती है न कि उसका सोडियम लवण जो अधिक प्रचलित होता है। साधारणतया इयोसीन काफी निरापद मानी जाती है।

कान्तिद्रव्यों के रूप रंग को सुधारने की दिशा में भी विशेष प्रगति हुई है। तेल और जल को मिलाकर दुग्धीय लोशनों और विविध प्रकार के ट्वालेट क्रीमों को तैयार करना इस समस्या का बड़ा ही महत्त्वपूर्ण हल है। तेल और जल के ऐसे स्थायी मिश्रणों को 'पायस' अर्थात् इमल्शन कहते हैं। पायसों के दो प्रकार होते हैं—एक में तेल अथवा वसा अथवा अन्य तैलीय पदार्थ छोटी-छोटी कणिकाओं में विभक्त होकर जलीय माध्यम में विक्षेपित हो जाते हैं तथा दूसरे प्रकार के पायस में जल, संभवतः विलेय पदार्थों सहित, उसी प्रकार तैलीय माध्यम में विक्षेपित होता है। विक्षेपित कणों के परस्पर सम्मिलन को रोकना अर्थात् पायस को स्थायी बनाना भी रसायनज्ञों की प्रतिभा का एक ज्वलन्त उदाहरण है। बाह्य माध्यम की श्यानता (विस्कासिटी) एक कारण है लेकिन इस सफलता का रहस्य तो पायसन-कारकों का प्रयोग है। पायसन-कारक विशेष प्रकार के लम्बे रासायनिक यौगिक होते हैं, जिनका एक सिरा तेल-विलेय होता है और दूसरा जलविलेय एवं इस उभय-विलेयता के कारण इनके अणु

दोनों द्रवों के बीच में स्थित रहते हैं तथा विक्षेपित कणों को एक दूसरे में मिलने से रोकते हैं।

पायसन-कारकों के उपर्युक्त विशिष्ट गुण उनके अणुओं की ध्रुवीयता (पोलैरिटी) के कारण होते हैं। इनके अणुओं का एक सिरा ध्रुवीय और दूसरा अध्रुवीय होता है। ध्रुवीय सिरा जल की ओर तथा अध्रुवीय सिरा तैलीय पदार्थ की ओर आकृष्ट होता है। पिछले दिनों में ऐसे यौगिकों की संख्या में काफी वृद्धि हुई है। इन्हीं की सहायता से विभिन्न गुणोंवाले सुन्दर और स्थायी क्रीम बनाये जा सके हैं। आजकल आवसीय (ग्रीज़ी) अथवा अनावसीय (नान-ग्रीज़ी), तरल अथवा अर्ध-ठोस अथवा किसी भी रंग रूप एवं गाढ़ता का क्रीम तैयार कर लेना संभव है। इनमें जलविलेय अथवा तैलीय प्रकृति के किसी पदार्थ का समावेश भी किया जा सकता है।

विगत काल में ध्रुवीय पदार्थों में केवल साबुन ही उपलब्ध था और पायस बनाने के लिए बहुधा उसी का प्रयोग होता था। परन्तु साबुनों का क्षारीय गुण तथा उनसे बने पायसों का अम्लसह न होना वस्तुतः उनके अवगुण हैं। त्वचा पर क्षारीय क्रीम लगाना हानिकर होता है क्योंकि त्वचा की सतह स्वभावतः अम्ल होती है। आजकल के नये पायसन-कारकों की सहायता से ऐसे क्रीम बनाये जा सकते हैं जो या तो पूर्णतया उदासीन हों अथवा जिनमें त्वचासतह के समान अम्लता हो।

धूप सेवन की प्रथा के बढ़ते हुए प्रचलन से रसायनविज्ञान के सम्मुख एक और विशेष समस्या आ खड़ी हुई है और वह यह है कि धूप सेवन करनेवाले लोग सूर्यदाह (सन बर्न) से कैसे बच सकते हैं?

परानीललोहित (अल्ट्रा वायलेट) प्रकाश की विशिष्ट किरणों द्वारा ही सूर्यदाह होता है और अब ऐसे पदार्थ ज्ञात हो गये हैं जो इन किरणों को अवशोषित करके इन्हें भिन्न तरंगदैर्घ्य (वेव लेङ्‌थ) वाले प्रकाश में परिवर्तित कर देते हैं। क्वीनीन बाइसल्फेट एक ऐसा पदार्थ है जो जलीय विलयन में नीली प्रदीप्ति (फ्लुओरेसेन्स) उत्पन्न करता है। परन्तु समस्या यह है कि क्वीनीन सल्फेट यद्यपि सूर्यदाह का निवारण कुछ हद तक तो अवश्य कर सकता है किन्तु इस काम के लिए यह कोई उत्तम पदार्थ नहीं है। मेन्थिल सैलिसिलेट तथा मेन्थिल अम्बेलिफेरोन जैसे अनेक दूसरे पदार्थ इसके लिए उपयुक्त हैं तथा एतदर्थ उनकी परीक्षा भी की गयी है। इस काम के लिए आदर्श पदार्थ में दो गुण होने आवश्यक हैं—एक तो धूप सेवन करनेवालों का सूर्यदाह से पूरी तरह रक्षा करने का गुण और दूसरा आवश्यक मात्रा में परानीललोहित किरणों के परागमन का गुण, जिससे चमड़ी कमायी जा सके।

गत वर्षों में केशपदार्थों एवं त्वचा को सुन्दर बनानेवाली वस्तुओं का बड़ा विकास हुआ है। उदाहरण के लिए केशक्रीमों के निबन्ध एवं गुणों में काफी परिवर्तन हुआ है तथा शांपुओं में साबुन के स्थान पर सोडियम लारिल सल्फेट जैसे साबुनरहित अपक्षालक का प्रयोग होने लगा है। ऐसे साबुनरहित पदार्थ अम्लता की उपस्थिति में भी स्थायी होते हैं तथा उनके कारण केशों पर चून भी नहीं जमता। ऐसे बहुत से अन्य पदार्थ भी तैयार किये गये हैं जो केशों को लहरियादार बनाने के लिए इस्तेमाल किये जा सकते हैं। इनमें कुछ ऐसे भी हैं, आर्द्र किये जाने पर जिनकी ऊष्माक्षेपक (एक्सोथर्मिक) क्रिया होती है और जिनके प्रयोग से केशों को लहरियादार बनानेवाले यंत्रों की आवश्यकता नहीं होती।

केशरंजकों अर्थात् ख़ेज़ाबों की भी अपनी कहानी और अपना क्षेत्र है। यद्यपि यह मानी हुई बात है कि सर्वगुणसम्पन्न ऐसे केशरंजक बनाने में अभी रसायनविज्ञान सफल नहीं हो पाया है, जिससे केश-प्रसाधक (हेयर ड्रेसर) केशों को हानि पहुँचाये बिना उन पर वांछित रंग चढ़ा सकें तथा केशों को लहरियादार बनाने की विधा में उन्हें ऊष्मसह बना सकें। केशरंजकों के लिए यह भी एक आवश्यक गुण है कि वे उपभोक्ताओं में एलर्जी न उत्पन्न करें तथा एलर्जी के लिए प्रारम्भिक परीक्षा किये बगैर भी उनका प्रयोग किया जा सके। फिर भी रसायनज्ञों के ही प्रयास से मेंहदी अर्थात् हेना के, जो प्राचीनतम केशरंजकों में से एक है, मुख्य रंगतत्त्व का एकलन एवं अध्ययन हुआ है। रासायनिकतया यह तत्त्व २–हाइड्राक्सी–१ : ४–नैप्थाक्वीनोन है; इसके गुणों का भी अनुशीलन किया गया है। कैमोमाइल भी, जिसमें १, ३ : ४′-ट्राइहाइड्राक्सी-फ्लैवोन होता है, इस क्षेत्र में उपयोगी सिद्ध हुआ है। फिनालिक पदार्थ मिश्रित अथवा रहित प–फिनिलीडायमीन जैसे संश्लिष्ट रंजकों की केशरंजनक्रिया का भी अध्ययन किया गया है तथा अनुहृष लोगों में इनके प्रयोग से उत्पन्न होनेवाले भयंकर परिणामों पर भी प्रकाश डाला गया है। यदि इस वर्ग के रंजकों में यह दोष न होता तो ये अवश्य ही आदर्श रंजक होते।

ऐसे लोगों की कोई कमी नहीं है जिनकी त्वचा पर सामान्यतः निरापद पदार्थ लगाने पर भी भीषण प्रतिक्रिया होती है, इसी को 'एलर्जी' कहते हैं। और आज कान्ति-द्रव्य उद्योग के लिए एलर्जी एक विकटतम समस्या है।

वर्तमान समय में कान्तिद्रव्य उद्योग इंग्लैण्ड के महत्त्वपूर्ण उद्योगों में गिना जाता है और इसमें संदेह नहीं कि इसकी यह स्थिति रसायनविज्ञान के आविष्कारों के कलापूर्ण प्रयोग के कारण है। इन्हीं आविष्कारों के बल पर यह आगे भी उन्नति करेगा।

ग्रन्थसूची

CERBELAUD, RENE : *Formulaire de Parfumerie.* Cerbelaud.

CHILSON, FRANCIS : *Modern Cosmetics.* Drug & Cosmetic Industry.

GOODMAN, HERMAN : *Cosmetic Dermatology.* McGraw Hill Book Co., Inc.

GOODMAN, HERMAN : *Principles of Professional Beauty Culture.* McGraw Hill Book Co., Inc.

LILLIE, CHARLES : *The British Perfumer.* Edited by Colin Mackenzie.

MCDONOUGH, E. G. : *Truth about Cosmetics.* Drug and Cosmetic Industry.

NAVARRE, MAISON G. DE : *The Chemistry and Manufacture of Cosmetics.* Robbins Publishing Co., Inc.

POUCHER, W. A. : *Perfumes, Cosmetics and Soaps.* Chapman & Hall, Ltd.

REDGROVE, H. S. : *The Cream of Beauty.* W. Heinemann (Medical Books), Ltd.

REDGROVE, H. S., AND FOAN, G. A. : *Paint, Powder and Patches.* W. Heinemann (Medical Books), Ltd.

REDGROVE, H. S., AND FOAN, G. A. : *Hair-Dyes and Hair-Dyeing : Chemistry and Technique.* Revised by H. S. Redgrove and J. Bari-Woolls. W. Heinemann (Medical Books), Ltd.

WINTER, FRED : *Handbuch der gesamten Parfumerie und Kosmetik.* Julius Springer.

अध्याय ५

साबुन और धुलाई उद्योग

साबुन, मोम तथा ग्लिसरीन

डब्लू० एच० सिड्मन्स, बी० एस-सी० (लन्दन), एफ० आर० आई० सी० द्वारा पुनरावृत्त एवं विस्तारित

साबुन तथा मोमबत्ती बनाने के उद्योग तेल-उद्योग की उपशाखाएँ हैं। यद्यपि उनका प्रारम्भ प्राचीन समय में हुआ था, लेकिन पहले उनके निर्माण की प्रक्रियाओं का ठीक-ठीक ज्ञान नहीं था। १८१३ ई० में चेवरूल ने तेल और वसाओं के निबन्ध[1] संबन्धी अपने महत्त्वपूर्ण अन्वेषणों के परिणामों को प्रकाशित कराया। इसी ज्ञान के आधार पर आज साबुन और मोमबत्तियों के उत्पादन पर रासायनिक नियंत्रण होता है। एक समय था जब ग्लिसरीन-जैसी महत्त्वपूर्ण वस्तु एक क्षेप्य पदार्थ के रूप में नदी नालों में बहा दी जाती थी, परन्तु अब तो उसकी एक बूंद भी व्यर्थ नहीं जाने पाता क्योंकि विस्फोटक, कान्तिद्रव्य, औषध, संश्लिष्ट रेज़ीन तथा अन्य पदार्थों के बनाने एवं उत्पादन में ग्लिसरीन एक परमावश्यक वस्तु है, जिसकी हानि को रोकना भी वैज्ञानिक सफलता का उत्कृष्ट दृष्टान्त है। यह भी उल्लेखनीय बात है कि ग्लिसरीन मिलाने पर पानी का वाष्पन तथा हिमीभवन काफी सीमा तक रुक जाता है। गैस मापकों तथा मोटरगाड़ियों के विकिरकों (रैडियेटर्स) की यांत्रिक व्यवस्था में ग्लिसरीन के उपर्युक्त गुण बड़े उपयोगी होते हैं, अतः उसका प्रयोग होता है।

साबुन तथा मोमबत्ती बनाने के लिए पशु तथा वनस्पति तेलों का प्रयोग होता है। अब इन दोनों उद्योगों में हाइड्रोजनित तेलों का भी प्रयोग किया जाने लगा है। हाइड्रोजनन की रीति से ह्वेल के-जैसे द्रव तेलों को चर्बी-जैसी ठोस वसाओं में परिवर्तित किया जा सकता है। जब चर्बी, ताल तेल, नारियल तेल, ओलिव तेल-जैसी वसा अथवा

[1] Composition

तेल बड़े बड़े कड़ाहों में दह-क्षार[1] के साथ उबाले जाते हैं तब उनका विच्छेदन हो जाता है और वसीय अम्लों के क्षारीय लवण अर्थात् साबुन तथा ग्लिसरीन प्राप्त होती है। अतिरिक्त क्षार तथा अधिकांश ग्लिसरीन को नमक डालकर अलग किया जाता है। नमक के सूखे केलास अथवा उसका जलीय विलयन इस्तेमाल किया जाता है। नमक डालने से साबुन विलयन से पृथक् होकर जमे हुए कणात्मक पुञ्ज के रूप में ऊपर उतरा जाता है। रात भर इसी प्रकार रहने देने के बाद ग्लिसरीन सहित लवण जल को अलग कर लिया जाता है तथा साबुन में भाप प्रवेश कराकर अथवा गरम जल डालकर उसे एक समांग लेपी के रूप में बना लिया जाता है। इस लेपी को ठंढा होने तथा जमने के लिए लकड़ी के बने विशेष प्रकार के बक्सों में रखा जाता है, अथवा पानी से ठंढे किये यंत्रों में डाल कर तुरन्त ठंढा कर लिया जाता है। अगर नहाने तथा हाथ मुँह धोनेवाला साबुन बनाना हो तो इसी लेपी को अन्दर से ठंढे किये हुए परिभ्रामी रम्भों[2] पर डालकर पतले-पतले स्तारों के रूप में जमाया जाता है। रम्भों पर लगी छुरियाँ इन ठोस स्तारों[3] को काटकर उनके फीते बना देते हैं जो सूखने के लिए तुरन्त गरम हवावाले शोषक कक्षों में पहुँचा दिये जाते हैं।

कठोर साबुनों के यौगिकों में २६% पानी, ७% सोडा तथा ६६% वसीय अम्ल होते हैं, पीले साबुनों में गंधराल (रोज़ीन) की भी थोड़ी मात्रा होती है। मृदु साबुनों के बनाने के लिए ह्वेल, सील या अल्सी के-जैसे शोषण तेलों (ड्राइंग आयल्स) अथवा मकई, या बिनौले के जैसे अर्ध-शोषण तेलों को पोटाश और सोडा के साथ उबाला जाता है। मृदु साबुन के निर्माण में लवणन क्रिया नहीं की जाती जिसके फलस्वरूप साबुनीकरण प्रक्रिया में उत्पन्न ग्लिसरीन उसी में रह जाती है।

धोने-धाने के लिए बने सस्ते साबुनों में स्वतन्त्र दह क्षार भी होता है, लेकिन ऊनी अथवा रेशमी कपड़ा धोने के लिए क्षाररहित साबुन ही प्रयुक्त हो सकता है। उसमें गंधराल अथवा असाबुनीकरणीय पदार्थ भी नहीं होने चाहिए।

नहानेवाले साबुन प्रायः चर्बी या ताल तेल और नारियल तेल के मिश्रण से बनते हैं, इस मिश्रण में २% गंधराल भी मिला रहता है। अंशतः सुखाये साबुन स्तारों के फीते बनाकर उसमें सुगन्ध तथा रंग मिलाये जाते हैं तथा मिल में एक बार फिर अच्छी तरह मिलाकर ठप्पों में साबुन की टिकियाँ बना ली जाती हैं। इन साबुनों में केवल १०% जल होता है तथा ७०-८०% वसीय अम्ल। क्षौर साबुनों में

[1] Caustic alkali [2] Revolving cylinders [3] Sheets चद्दर

तनिक भी स्वतंत्र क्षार नहीं होना चाहिए क्योंकि यह त्वचा के लिए हानिकारी होता है। क्षौर साबुन से प्रचुर मात्रा में स्थायी फेन उठना चाहिए। स्टियरीन सदृश कठोर वसा की थोड़ी मात्रा प्रयोग करके तथा सोडियम और पोटासियम हाइड्राक्साइड द्वारा साबुनीकरण करके उपर्युक्त गुण उत्पन्न किया जाता है।

आजकल साबुन के चूर्ण अथवा चिप्पियाँ भी बहुत लोकोपयोगी हो गयी हैं क्योंकि वे बड़ी सरलता से पानी में घुल जाती हैं। साबुन को जल-शीतित लोहे के बेलनों के बीच दबाकर चिप्पियाँ बनायी जाती हैं। इन चिप्पियों की मोटाई ०·००४५ इंच अथवा उससे भी कम होती है। चूर्ण साबुन में साबुन के साथ सोडियम कार्बोनेट, सिलिकेट अथवा फास्फेट-जैसे क्षारीय लवण मिले रहते हैं तथा आजकल ऐसा साबुन शीकरन शोषण रीति से बनाया जाता है। इसके लिए साबुन मिश्रण के सूक्ष्म बिन्दुओं को गरम हवा की धारा में शीकरित किया जाता है। इस क्रिया से वे बिन्दु सद्यः सूख कर गोले-गोले खोखले कणों का रूप धारण कर लेते हैं जिनकी भित्तियों की मोटाई लगभग ०·०५ मिलीमीटर होती है।

कभी-कभी वसाओं और तेलों का विच्छेदन करके वसीय अम्ल और ग्लिसरीन प्राप्त कर ली जाती है और फिर साबुन बनाने के लिए इन वसीय अम्लों का प्रयोग होता है। इस विच्छेदन की एक रीति में वसा को सल्फ्युरिक अम्ल से उपचारित करके मिश्रण का भापासवन किया जाता है। दूसरी विधा में वसा को जल और तनिक मात्रा में चूना, मैग्नेसिया या यशद आक्साइड के साथ आटोक्लेव में उच्च दाब पर गरम किया जाता है। तीसरी विधा 'ट्वीचेल विधा' के नाम से प्रसिद्ध है।

ट्वीचेल ने यह अनुभव किया कि साधारण ताप पर बेंज़ीन (अथवा अन्य ऐरोमैटिक यौगिक), ओलिक अम्ल और सल्फ्युरिक अम्ल की परस्पर प्रतिक्रिया से प्राप्त तैलीय पदार्थ में वसाओं के विच्छेदन की क्षमता होती है और इस विच्छेदन से वसीय अम्ल तथा ग्लिसरीन उत्पन्न होती है। इस पदार्थ को 'ट्वीचेल प्रतिकर्मक'[1] कहते हैं और प्रतिक्रिया के लिए इसकी १% अथवा उससे भी कम मात्रा लगती है। यह क्रिया जल के क्वथनांक ताप पर बड़ी सरलता से सम्पन्न होती है, और अवशिष्ट जलीय द्रव को चूने से उदासीन करके तथा उससे उत्पन्न कैल्सियम सल्फेट को निकालने के बाद उसके उद्वाष्पन मात्र से ही ग्लिसरीन की अच्छी मात्रा प्राप्त होती है। उपर्युक्त किसी रीति से प्राप्त वसीय अम्लों को केलासनोपरान्त थैलों में भर कर द्रवचालित दाब

[1] Reagent

से दबाया जाता है जिससे ओलिइन-जैसे अधिक द्रव निचुड़ कर पृथक् हो जाते हैं तथा स्टियरीन[1] सदृश ठोस अम्ल बच जाते हैं।

चर्बी में से वाणिज्यिक स्टियरीन अथवा स्टियरिक अम्ल प्राप्त होता है, परन्तु यथार्थतः यह स्टियरिक एवं पामिटिक अम्लों का मिश्रण होता है जिसमें थोड़ी मात्रा में ओलिइक अम्ल भी रहता है। यह ५४°-५५° से० पर गलता है जब कि शुद्ध स्टियरिक अम्ल का गलनांक ६९° से० होता है। वसीय अम्लों का साबुनीकरण[2] सोडियम या पोटासियम कार्बोनेट से भी हो जाता है, लेकिन ग्लिसराइडों के साबुनीकरण के लिए यदि उच्च दाब का प्रयोग न किया जाय तो सोडियम अथवा पोटासियम हाइड्रावसाइड की ही आवश्यकता होती है।

मोमबत्तियाँ—पुरानी रीति से बत्ती को गलायी हुई चर्बी में डुबो-डुबोकर बनायी गयी मोमबत्ती के जलने पर एक तीखी गंध निकलती थी। चर्बी स्थित ग्लिसरीन के विच्छेदन से प्राप्त ऐक्रोलीन ही इस गंध का कारण थी। पिछली शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में मोमबत्ती निर्माण में केवल वसीय अम्लों के प्रयोग से काफी उन्नति हुई, क्योंकि सल्फ्युरिक अम्ल अथवा आटोक्लेव विधा से जलांशन (हाइड्रालोसिस) करके ग्लिसरीन अलग कर दी जाती थी। उसी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में स्काटिश शेल तेल तथा बाद में पेट्रोलियम से बना पैराफीन मोम वसीय अम्लों के स्थान पर प्रयुक्त होने लगा और इसका प्रयोग यहाँ तक बढ़ा कि आजकल धार्मिक रीति रिवाजों अथवा अवसरों पर कीमती मोमबत्तियों को छोड़कर बाकी सबमें पैराफीन मोम ही इस्तेमाल होने लगा है। साधारणतया इसका गलनांक बढ़ाकर तनिक और दृढ़ बनाने के लिए इसमें ५-१५% स्टियरीन मिलायी जाती है। पैराफीन मोम तथा स्टियरीन के मिश्रण को गला कर साँचों में बत्ती के चारों ओर डाल दिया जाता है। ये साँचे टिन के और कभी कभी काँच के बने होते हैं तथा लकड़ी के ऐसे चौखटे में खड़े कर दिये जाते हैं, जिसका ऊपरी भाग एक गर्त (ट्रफ) का-सा होता है। साँचों में बत्ती लगा कर उसमें गलाया हुआ मोम डाल दिया जाता है तथा उन्हें पानी से ठंढा करके जमाने के बाद मोमबत्तियाँ तैयार हो जाती हैं। पहले गिरजाघरों में प्रयुक्त होने वाली बत्तियाँ मधुमक्खियों वाले मोम से ही बनती थीं लेकिन अब उसमें अन्य मोमों के मिलाने की भी अनुज्ञा दे दी गयी है। विभिन्न श्रेणी की बत्तियों में क्रमशः २५, ६५, तथा ७५ प्रतिशत मधुमक्खी का मोम होता है। यार्कशायर के ऊन

[1] Stearine [2] Saponification

धावनों से प्राप्त स्टियरीन सरीखी क्षेप्य वसाएँ भी सस्ती मोमबत्ती बनाने के काम आती हैं।

मोमबत्ती बनाने के अतिरिक्त मोम के और भी औद्योगिक उपयोग हैं। उदाहरण के लिए विविध प्रकार के पालिशों, भैषजिक पदार्थों तथा कान्ति-द्रव्यों के निर्माण में भी मोम का विशेष महत्त्व होता है। मधुमक्खी मोम, ऊन मोम और स्परमेसेटी पुराने समय से चले आ रहे पशु-मोम हैं और अब तो वनस्पति मोम भी काफी संख्या में प्राप्य हैं, जिनमें कार्नोबा, कैण्डेलिला, एस्पार्टो, शर्करा तथा शल्क-लाख मोम उल्लेखनीय हैं। हाइड्रोजनन विधा के प्रयोग से वसीय अम्लों से संवादी[1] वसीय ऐल्कोहाल उत्पन्न करना संभव हुआ है। इनमें से कुछ वसीय ऐल्कोहाल मोम-जैसे ठोस पदार्थ होते हैं जिनका प्रयोग पालिशों एवं कान्ति-द्रव्यों में तथा पायसन कारकों के रूप में वसीय अम्ल मिलाकर अथवा बे-मिलाये किया जाता है। इन वसीय ऐल्कोहालों का सल्फ्युरिक अम्ल द्वारा उपचार करने से बड़े उपयोगी अपक्षालक[2] उत्पन्न किये जा सके हैं जिनका आजकल साबुन के स्थान पर अधिकाधिक प्रयोग होने लगा है।

ग्लिसरीन—ग्लिसरीन प्राप्त करने के दो मुख्य स्रोत हैं: (१) साबुन निर्माताओं का क्षेप्य पल्पूलन[3] तथा (२) उपर्युक्त रीतियों से किये गये वसा विच्छेदन के बाद वसीय अम्लों के पृथक्करण से प्राप्त "मीठा जल" (स्वीट वाटर)। दोनों ही द्रवों को उद्वाष्पित करके सांद्रित किया जाता है जिससे उनमें ग्लिसरीन की मात्रा ८०-९० प्रतिशत हो जाय। अन्त में अतितप्त भाप से आसवन करके रासायनिकतः विशुद्ध ग्लिसरीन प्राप्त की जाती है।

पेट्रोलियम भंजन (क्रैकिंग) के उपजात प्रोपिलीन से अथवा पोटाशियम पर-मैंगनेट द्वारा एलिल ऐल्कोहाल के आक्सीकरण से अब ग्लिसरीन का संश्लेषण भी संभव हो गया है। सोडियम कार्बोनेट और अमोनियम क्लोराइड सदृश कुछ लवणों की उपस्थिति में शर्करा अथवा ग्लूकोज विलयन के किण्वन से भी ग्लिसरीन का काफी बड़े पैमाने पर उत्पादन किया गया है।

[देखो पृ० ११० पर]

[1] Corresponding [2] Detergents [3] Waste lyes

ग्रन्थसूची

HILDITCH, T. P. : *Industrial Fats and Waxes*. Bailliere, Tindall & Co, Ltd.

KOPPE, S. W. : *Glycerin*. Translated from the German. Scott, Greenwood & Son, Ltd.

LAMBORN. L. L. : *Soaps, Candles & Glycerin*. D. Van Nostrand Co.

LEWKOWITSCH AND WARBURTON : *Chemical Technology and Analysis of Oils, Fats and Waxes*. Macmillan & Co., Ltd.

THOMSSEN, E. G., AND KEMP, C. R. : *Modern Soap-making*. Macnair Dorland Co.

WEBB, E. T. : *Soap and Glycerin Manufacture*. Davis Bros.

WIGNER, J. H. : *Soap Manufacture*. E. &. F. N. Spon, Ltd.

धुलाई उद्योग

एफ० कौर्टनी हारउड, बी० एस-सी० (लन्दन), एफ० आर० आई० सी०, एफ० टी० आई०, एम० आई० केम० ई०

सामान्यतः लोगों का यह विचार है कि गन्दे कपड़ों की धुलाई में विज्ञान का कोई हाथ नहीं हो सकता। शताब्दियों से कपड़ा धोने के लिए स्वच्छकारक के रूप में साबुन और पानी धोबी के दो मुख्य साधन रहे हैं और इतने समय से इनका ऐसा अपरिवर्तित प्रयोग होता रहा है कि लोगों ने यह मान लिया कि उनके बारे में सभी बातें जान ली गयीं, तथा अब और कुछ जानना शेष नहीं रहा। लेकिन पिछले कुछ सालों में इस दिशा में भी काफी आविष्कार हुए हैं और रसायन-विज्ञान ने बड़े पैमाने पर धुलाई की आधुनिक रीतियों के आविष्कार एवं उनके सफल क्रियाकरण में बड़ा महत्त्वपूर्ण योगदान किया है। आजकल की गतिशील उन्नति को भली प्रकार समझने के लिए हमें शताब्दियों पूर्व की दशा पर अथवा कुछ असभ्य जातियों में प्रचलित धुलाई की अपरिष्कृत रीतियों पर दृष्टिपात करना पड़ेगा।

कपड़ा-धुलाई का व्यवसाय बड़ा पुराना है, अंग्रेजी साहित्य में शेक्सपियर की पुस्तकों में इसका सर्वप्रथम उल्लेख मिलता है। उस समय शायद आज के हिन्दुस्तानी धोबियों द्वारा प्रयुक्त कपड़े को पाटों पर पटक और रगड़ कर धोने की ही प्रथा प्रचलित थी। परन्तु इस सरल और अपरिष्कृत रीति से आज की नियंत्रित रीतियाँ कितनी भिन्न

हैं। आज की रीतियाँ न केवल बड़े पैमाने पर कपड़ों की धुलाई के लिए उपयुक्त हैं, प्रत्युत कपड़ों की प्रकृति के अनुकूल भी उनका समायोजन किया गया है। कपड़ा सूती, ऊनी, रेशमी अथवा रासायनिक तन्तुओं का बना है, वह रंजित, विरंजित अथवा प्राकृतिक रंग का है, इत्यादि सभी परिस्थितियों के अनुकूल धुलाई की उचित रीतियाँ निश्चित की गयी हैं।

थोड़े समय पूर्व धुलाई-घरों में प्रयुक्त होनेवाले अपक्षालकों (डिटरजेण्ट्स) के दो मुख्य प्रकार थे—

(१) साबुन (सोडा सहित अथवा सोडा रहित)।

(२) सोडियम कार्बोनेट (१०% सोडियम सिलिकेट सहित)।

सामान्यतः कपड़ा धोने के लिए सहज प्राप्य कठोर जल ही काम में लाया जाता है, केवल ऊनी सामानों के लिए कहीं-कहीं वर्षा का पानी अथवा आसुत जल प्रयुक्त होता था। लेकिन कठोर जल द्वारा साबुन की रीति से धुलाई करने से वस्त्रों में कैल्सियम तथा मैग्नीसियम साबुनों के जमा हो जाने से वे भारी हो जाते थे तथा जल के लिए अभेद्य और कभी-कभी सफेद कपड़े खाकी रंग के हो जाते थे, क्योंकि अवक्षेपित कैल्सियम साबुन के साथ मैल के सूक्ष्म कण भी कपड़ों में बैठ जाते थे, इसीलिए कठोर जल से धोने के लिए साबुन रहित सिलिकेयित क्षार ही प्रयुक्त होते थे। लेकिन इसके प्रयोग से अविलेय साबुन तो जरूर नहीं बन पाते थे, लेकिन इनके स्थान पर कपड़ों में कैल्सियम और मैग्नीसियम सिलिकेट जमा हो जाते। हाँ, ये सिलिकेट केलासीय एवं प्रकृत्या श्वेत होने के कारण कपड़ों में गन्दा रंग नहीं उत्पन्न करते थे।

१९२० ई० तक अधिकांशतः वही पुरानी रूढ़िवादी रीतियाँ ही प्रचलित थीं, लेकिन उसी साल धुलाई उद्योग के लिए एक 'रिसर्च असोसियेशन' की स्थापना हुई जिससे आगे चलकर धीरे-धीरे वैज्ञानिक रीतियाँ भी अपनायी जाने लगीं। रसायनज्ञों ने सर्वप्रथम धुले कपड़ों की श्वेतता का मानक निर्धारित किया तथा कठोर जल के प्रयोग से होनेवाली महती हानियों की ओर धुलाई उद्योगवालों का ध्यान आकृष्ट करते हुए चून-सोडा रीति अथवा पीठ-विनिमय (बेस ऐक्सचेञ्ज) रीति से मृदु किये हुए जल प्रयोग करने की सलाह दी। तत्पश्चात् उन्होंने धुलाई के लिए ऐसी नियंत्रित विधाओं का अनुशीलन किया जिनसे कपड़े कम समय में उत्तम ढंग से धुल सकें और साथ ही वस्त्रों की किसी प्रकार से हानि भी न हो।

धुलाई व्यापार में हानिकर रसद्रव्यों के प्रयोग पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया तथा गाढ़े धब्बों को छुड़ाने के लिए सुनिश्चित रीतियाँ निर्धारित कर दी गयीं। धुलाई विधाओं का समय, ताप तथा अपक्षालक का सान्द्रण-जैसी परिस्थितियों के निश्चयन

पर काफ़ी ज़ोर दिया जाने लगा। इस उद्योग के तत्कालीन विकास में प्रायः व्यावहारिक अनुभवों तथा साबुन विलयनों के गुणों एवं संरचना संबन्धी प्राप्य वैज्ञानिक आंकड़ों का ही विशेष उपयोग किया गया था। उस समय अपक्षालकों की क्रिया के बारे में कुछ विशेष ज्ञान न था, अतएव इस दिशा में किसी वैज्ञानिक प्रगति के लिए यह आवश्यक था कि अनुसन्धानों द्वारा अपक्षालिता (डिटरजेन्सी) के आधारभूत सिद्धान्तों को ठीक-ठीक समझा जाय। अपक्षालक यानी डिटरजेण्ट वह पदार्थ है जो गन्दी वस्तुओं के मैल काटने अर्थात् उन्हें स्वच्छ और निर्मल करने में सहायक हो। वैसे तो अपक्षालक कई प्रकार के होते हैं और उनका निबन्ध भी भिन्न-भिन्न होता है, परन्तु धुलाई-उद्योग में विशेष रूप से वही अपक्षालक प्रयुक्त होते हैं जो जल-विलेय हों तथा जिनमें वस्त्रों की मैल काटने तथा उसे स्थायी रूप से जल में विस्तृत करने की क्षमता हो। इसलिए गन्दे वस्त्रों के स्वच्छीकरण की अपक्षालन क्रिया[1] के निम्नलिखित पद (स्टेज) विचारणीय हैं —

(क) वस्त्रों का आर्द्रण तथा उनमें जल का प्रवेशन जिससे मैल और अपक्षालक द्रव का निकट सम्पर्क हो सके;

(ख) अपक्षालक द्रव द्वारा वस्त्र तन्तुओं के मैल का विस्थापन;

(ग) विस्थापित मल का सूक्ष्म कणों में विभाजित होकर स्थायी रूप से आलम्बित होना; तथा

(घ) वस्त्रों पर मैल को पुनः जमने दिये बिना मैले द्रव का निरसन।

उपर्युक्त क्रियाओं की सफलता उस बल (फोर्स) पर निर्भर करती है, जो अपक्षालक विलयन में मैले वस्त्रों को डुबोने पर उत्पन्न हुई विविध अन्तः सीमाओं (इण्टर फेस) तथा सीमान्तों (बाउण्ड्री) पर काम करता है। गत कुछ वर्षों में रसायनज्ञ उन परिस्थितियों के अन्वेषण में लगे रहे हैं, जिनमें उपर्युक्त पदों का वैज्ञानिक एवं आर्थिक दृष्टि से उत्तम क्रियाकरण हो सके। सांद्रण, ताप तथा pH जैसी परिवर्ती (वैरीइंग) परिस्थितियों में अपक्षालक विलयनों के आचरण का अध्ययन रसायनज्ञों का मूलभूत कार्य था। रसायनज्ञों द्वारा अन्वेषित समस्याओं के प्रारूपिक (टिपिकल) दृष्टान्त के लिए निम्नलिखित विषय उल्लेखनीय हैं —

(१) साबुन विलयनों के pH और उनके जलांशन (हाइड्रोलिसिस) की परीक्षा करने से ज्ञात हुआ है कि —

[1] Detergent action
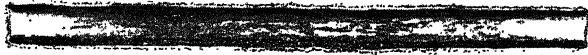
चित्र—१

चित्र—२

चित्र १—ऊन तन्तु जिसपर तेल की परत चढ़ी हुई है तथा जो पानी में डुबाया गया है।

चित्र २—वही तन्तु जो अब अच्छे अपक्षालक विलेय में डुबाया गया है। तेल लघु बिन्दुओं के रूप में जम गया है जो आसानी से दूर किये जा सकते हैं।

(क) समान अवस्थाओं में अनुमाप्य (टाइटर) की वृद्धि से जलांशन भी अधिक होता है ;

(ख) एक ही लम्बाई की श्रृंखला वाले साबुनों का जलांशन उनके अणुओं की असंतृप्ति (अनसैचुरेशन) पर निर्भर होता है, अणु जितना अधिक असंतृप्त होगा जलांशन उतना ही कम होगा ;

(ग) ताप की वृद्धि से जलांशन तीव्रतर होता है; तथा

(घ) कुछ सांद्रणों पर अम्ल साबुन बन जाते हैं।

(२) तलतनाव तथा अन्तःसीमीय तनाव पर pH के प्रभाव का अध्ययन करने से यह ज्ञात हुआ कि साबुन-विलयन में अगर क्षार डाला जाय तो उसका तलतनाव बढ़ जाता है जब कि तेल के प्रति अन्तःसीमीय तनाव अत्यधिक घट जाता है। साबुन विलयन का pH मान बढ़ाने से उसकी जलांशन मात्रा घटती है अर्थात् स्वतंत्र अम्ल अथवा अम्ल-साबुन बहुत कम उत्पन्न होता है। परन्तु pH मान की वृद्धि से अन्तःसीमीय तनाव को कम करने में सहायता मिलती है; इसका अर्थ यह हुआ कि अन्तःसीमीय तनाव कम करने में स्वतंत्र अम्ल अथवा अम्ल साबुन का कोई विशेष प्रयोजन नहीं होता। वस्तुतः सरल एवं असमूहित (अन एग्रिगेटेड) साबुन-अणुओं से ही अन्तःसीमीय तनाव कम होता है। साबुन-विलयनों का pH मान कम करने से उनका तलतनाव कम होता है, जिसका अर्थ यह लगाया जा सकता है कि इस अवस्था में अम्ल-साबुन अथवा स्वतंत्र अम्ल 'तल सक्रिय जाति' है। सल्फेटेड वसीय ऐल्कोहाल वर्ग के नये अपक्षालक संबन्धी प्रकाशित आंकड़ों से इस विचार की पुष्टि होती है।

(३) बहुत से सुज्ञात क्षारों के विलयनों की आलम्बनशक्ति का भी अन्वेषण किया गया है और यह मालूम हुआ है कि सिलिकेट आयनों द्वारा रक्षक प्रभाव में विशेष वृद्धि होती है।

इस दिशा में किये गये बहुसंख्यक अनुसन्धानों को गिनाना भी यहाँ संभव नहीं है लेकिन यह तो सर्वविदित है कि रसायनज्ञों ने अपनी प्रयोगशाला में ऐसे रोचक एवं महत्त्वपूर्ण तथ्यों का पता लगाया है, धुलाई व्यवसाय में जिनका प्रयोग करके धुलाई विधाओं में एक प्रकार की क्रान्ति उत्पन्न कर दी गयी है। पुरानी विधाएँ अधिकतर अमितव्ययी थीं तथा उनमें अपक्षालकों का सर्वोत्तम उपयोग नहीं होता था, और न वे सर्वथा उन तन्तुओं के ही अनुकूल थीं, जिनसे वस्त्र बने होते थे। ऐसी रूढ़िवादी विधाओं के स्थान पर यथार्थतः नियंत्रित रीतियाँ अपनाय गय जिनमें वस्त्रों के तन्तु-विशेष के अनुकूल धावनसूत्र निर्धारित किये गये। इन रीतियों का मितव्ययी ढंग

से प्रयोग करके वस्त्रों को कुशलतापूर्वक स्वच्छ किया जा सकता है, जिससे अब वस्त्रों की उपयोगी अवधि भी बढ़ गयी है।

ग्रंथसूची

ADAM, N. K. : *The Physics and Chemistry of Surfaces*. Clarendon Press, Oxford.

DEFAY, R. : *Les Extremes de Tension Superficielle*. (Brussels).

HARVEY, A. : *Laundry Chemistry*. Crosby Lockwood & Son. Technical Press, Ltd.

HOLDEN, J. T., AND VOWLER, J. N. : *The Technology of Washing*. British Launderers' Research Association.

INTERNATIONAL SOCIETY OF LEATHER TRADES' CHEMISTS (SYMPOSIUM) : *Wetting and Detergency*. A. Harvey.

JACKMAN, D. N. : *The Chemistry of Laundry Materials*. Longmans, Green & Co., Ltd.

JACKMAN, A., AND ROGERS, B. : *The Principles of Domestic and Institutional Laundry Work*. Edward Arnold & Co.

MADSEN, T. : *Studies in the Detergent Action and Surface Activity of Soap Solutions*. (Copenhagen).

PARKER, R. G. : *The Control of Laundry Operations. British Launderers'* Research Association.

POWNEY, J. *et al.* : *Properties of Detergent Solutions. Parts I-X.* Trans. Faraday Society 1935-40.

RIDEAL, E. K. : *An Introduction to Surface Chemistry*. Cambridge University Press.

अध्याय ६

रोगाणुनाशक, प्रतिपूयिक एवं परिरक्षी, कीटनाशक, धूमन

रोगाणुनाशक, प्रतिपूयिक एव परिरक्षी

टामस मैक्लाक्लन, डी० सी० एम०, ए० सी० जी० एफ०
सी०, एफ० आर० आई० सी०

प्राय: लोग यह समझते हैं कि रोगाणुनाशकों का संबन्ध केवल उन स्वाच्छिक तरलों एवं चूर्णों से ही है जो शौचागारों तथा कूड़ाखानों में डाले या छिड़के जाते हैं अथवा जिनका लेपन नम जगहों की ज़मीन पर, ड्राइ रॉट का आक्रमण बचाने के लिए कर दिया जाता है। परन्तु जब हम यह देखते हैं कि तार के खम्भों, रेल के स्लीपरों, बहुत से गर्तस्तम्भों (पिट-प्राप्स) तथा बाड़ों के खम्भों पर क्रियोज़ोट अथवा क्रिसाल लगाना भी आवश्यक है, तब यह समझने में भी कठिनाई न होगी कि रोगाणुनाशकों का निर्माण संसार के वर्तमान भारी रसायन-उद्योग का एक बहुत महत्त्वपूर्ण अंग है। निम्न जीवाणुओं द्वारा उत्पन्न रोग एवं क्षति के निवारण तथा अणुजैविकीय (माइक्रो-बायोलॉजिकल) विधाओं के नियंत्रणसदृश इस विषय की शाखाओं—उपशाखाओं पर विचार करने से यह तुरन्त स्पष्ट हो जाता है कि सचमुच रासायनिक उद्योग का यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विभाग है तथा वैज्ञानिकों ने इस विषय के अध्ययन और नियंत्रण में उतना ही प्रयत्न किया है जितना उन्होंने किसी अन्य विषय में किया।

पुराने समय की परिरक्षण एवं रोगाणुनाशन रीतियाँ केवल अनुभव-जन्य थीं। इन रीतियों में मदिरा अथवा सिरके का किण्वन, शवों का चिरस्थायीकरण, (ममी-फिकेशन) जल को ताँबे के बरतनों में रखना (अल्पगतिक जीवाणुहनन), भेड़ों के ऊन के शोधनार्थ गंधक जलाना इत्यादि उल्लेखनीय हैं। अनुगामी काल में प्रिन्जल (१७५० ई०) ने यह देखा कि नमक से मांस का क्षय (डिके) रुकता या बढ़ता है। इस आविष्कार का उपयोग करके डिफो ने कैप्टन सिंगिलटन की साहसिक यात्राओं को सफल बनाने में योग दिया। मोर्नो (१७७३) ने हाइड्रो क्लोरिक अम्ल गैस द्वारा चिकित्सालयों के धूमन (फ्युमिगेशन) का सुझाव दिया लेकिन फौरक्रॉय (१७९१-९२) ने क्लोरीन के प्रयोग का प्रस्ताव किया और उसके ७-८ साल बाद स्मिथ ने

(१७९९ में) नाइट्रस वाष्प के इस्तेमाल पर ज़ोर दिया। और आगे चलकर लिमेयर (१८६०) ने जीवाणुओं के विरुद्ध कार्बोलिक अम्ल की सक्रियता का अनुभव किया तथा बैक्स्टर (१८७५) ने कार्बोलिक अम्ल, पोटासियम परमगनेट, क्लोरीन तथा सल्फर डाइऑक्साइड की सक्रियता की तुलना की और कॉक (१८८१) ने मर्क्युरिक क्लोराइड का प्रयोग प्रारम्भ किया तथा यह भी संकेत किया कि अगर साबुन का उचित ढंग से प्रयोग किया जाय तो उसमें विद्यमान प्रतिपूयिक गुण का भी लाभ उठाया जा सकता है।

आजकल भूमिगत-रेलवे जैसे बन्द स्थानों की हवा को ओज़ोन से शुद्ध किया जाता है। लोक जल-प्रदायों तथा तैराई कुण्डों के उपचार के लिए क्लोरीन अथवा क्लोरामीन प्रयुक्त होती है तथा कृषि के नियंत्रण के लिए जीवाणुमारों और कीटमारों का उपयोग उसी सीमा तक किया जाता है जिस तक उर्वरकों का किया जाता है। वृक्षों और झाड़ियों के लिए चून-गंधक विलयन, बोर्डो मिश्रण, बर्गण्डी पाउडर अथवा चेस्टनट पाउडर, मृदु साबुन तथा साबुनसहित पैराफीन के पायस काम में लाये जाते हैं। सामान्यतः खेती के कामों में फार्माल्डीहाइड गैस या विलयन, कार्बोलिक अम्ल तथा उसके संबद्ध पदार्थ, चूना, लाई, क्लोरीन और मर्क्युरिक क्लोराइड इस्तेमाल किये जाते हैं। सूखे बीजों का उपचार कार्बनिक मर्करी धूलि से किया जाता है तथा परिवहन किये जाने-वाले मृदु फलों पर सल्फाइटों अथवा उसी प्रकार के अन्य चूर्णों को छिड़क दिया जाता है जिससे वे आसानी से धुल सकें अथवा उनको व्यापित (इम्प्रेग्नेटेड) कागज़ों में लपेट दिया जाता है। निर्यात के लिए खालों का नमक तथा आर्सेनिक से उपचार किया जाता है; मांस और मछली के परिरक्षण के लिए नमक और नाइट्रेट, अण्डों के लिए सोडि-यम सिलीकेट, तथा फलरसों अथवा गूदे के लिए सल्फर डाइऑक्साइड या बेन्ज़ोइक अम्ल का प्रयोग किया जाता है। हमें शायद ही कभी इस बात का ध्यान आता है कि मुरब्बों और जेलियों में शर्करा स्वयं एक प्रतिपूयिक का काम करती है अथवा अचारों में पड़ा सिरका वस्तुतः एक परिरक्षी है। बहुत सी चटनियों का परिरक्षी गुण यथार्थतः उनमें पड़े अम्ल के कारण होता है, यही अम्लता आजकल हाइड्रोजन आयन सांद्रण[1] के पदों में व्यक्त की जाती है। किण्वन द्वारा चुक्र, साइट्रिक अम्ल, एसिटोन तथा पनीर के सफल उत्पादन में अम्लता का नियंत्रण बड़ा महत्त्वपूर्ण विषय है।

परिरक्षियों की होड़ में विभिन्न खाद्य पदार्थों के परिरक्षणार्थ उनकी इतनी अधिक

[1] Concentration

संख्या प्रयुक्त होने लगी कि सभ्य देशों में उन पर भी कानूनी नियंत्रण लगाना पड़ा। उसका परिणाम यह हुआ कि खाद्यपरिरक्षण के लिए स्वच्छता एवं शीतसंग्रहण मुख्य साधन बन गये। परन्तु इसमें संदेह नहीं कि इन साधनों का विकास भी रसायनज्ञों की ही सहायता से हुआ।

जीवाणुनाशन क्रिया के लिए क्षारों का भी अच्छा प्रयोग होता है, जैसे केवल दूध-उद्योग में ही बोतल धोने के लिए दह सोडा[1], सोडियम कार्बोनेट, सोडियम फास्फेट तथा सोडियम सिलीकेट की प्रचुर मात्रा प्रयुक्त होती है। सामान्यतः यह नहीं माना जाता कि साबुन और पानी से धोना भी रोगाणुनाशन की विधा है और इस क्रिया से भी बहु संख्या में जीवाणुओं तथा अन्य सूक्ष्म प्राणियों का नाश हो जाता है।

औषध तथा शल्यचिकित्सा के क्षेत्रों में तो विविध प्रकार के रोगाणुनाशकों एवं प्रतिपूयिकों की अत्यधिक बहुलता है और उनकी संख्या में दिन प्रति दिन बृद्धि होती चली जा रही है। फ्रान्स में पास्तूर द्वारा किये गये प्रारम्भिक काम तथा इंग्लैण्ड में लार्ड लिस्टर द्वारा उसके विकासन के बाद मानव अथवा अन्य जीवों के शरीर पर अधिकांश सूक्ष्म प्राणियों की उत्पत्ति एवं वृद्धि का नियंत्रण अपेक्षाकृत बड़ा सरल हो गया, परन्तु जीवों के शरीर के अन्दर उन पर आक्रमण करना दुष्कर कार्य रहा है। फलतः भेषजों का प्रयोग अधिकतर लक्षणों के शमनार्थ ही किया जाता रहा तथा यथार्थतया व्याधि का उपचार प्रकृति के ऊपर ही छोड़ दिया जाता था। एक समय यह विचार किया जाता था कि ऐल्कलायडों की क्रिया चेतान्तों (नर्व एण्डिंग्स) के उत्तेजन तक ही सीमित है परन्तु आगे चलकर अनुसन्धानों द्वारा यह सिद्ध किया गया कि क्वीनीन जैसे कुछ ऐल्कलायड मलेरिया के ट्राइपैनोज़ोम को प्रभावित करते हैं। अतएव क्वीनीन की व्युत्पत्तियाँ और अन्य संबद्ध यौगिक तैयार किये गये जो क्वीनीन से भी अधिक शक्तिशाली निकले। इस दिशा में अनुसन्धान एवं चिकित्सोपचार के फलस्वरूप वर्तमान रसचिकित्सा अर्थात् रासायनिक भेषजों द्वारा रोगों की चिकित्सा का विकास हुआ। अभी हाल में M. B. 693 (एक सल्फैनिल ऐमाइड) तथा पेनिसिलीन नामक दो रसचिकित्सीय भेषजों को बड़ी प्रमुखता प्राप्त हुई है। पेनिसिलीन एक फफूँद से प्राप्त ऐण्टिबायोटिक है जो कुछ सूक्ष्म जीवाणुओं के लिए नाशकारी है। यह फफूँद भी बहुत से जीवाणुओं के लिए प्रतिपूयिक है। वर्तमान समय में शरीर के अन्दर अथवा बाहरी प्रयोग के लिए अनेक रासायनिक पदार्थ काम में लाये जा रहे

[1] Caustic soda.

हैं। इनमें से मर्करी, रजत (सिल्वर), आर्सेनिक, ऐण्टीमनी तथा यशद (ज़िंक) के अनेक लवण अथवा कार्बनिक यौगिक, बहुत से रंजक, फिनॉल तथा ऐल्कोहाल और उनकी कार्बनिक अथवा हैलोजनित व्युत्पत्तियाँ अथवा हैलोजन तथा ऐल्कलायड और उनकी व्युत्पत्तियाँ उल्लेखनीय हैं।

प्रसाधन (टायलेट) प्रयोजनों के लिए उपर्युक्त विविध प्रकार के प्रतिपूयिकों के अतिरिक्त हाइड्रोजन परआक्साइड तथा धातवीय परआक्साइड, परबोरेट और परसल्फेट भी काफी मात्रा में प्रयुक्त होते हैं। पाजित (साइज्ड) कपास एवं वस्त्रों के लिए भी प्रतिपूयिकों की आवश्यकता होती है। एतदर्थ यशद क्लोराइड का बहुत समय तक प्रयोग होता रहा लेकिन अब सैलिसिल ऐनिलाइड इसका स्थान लेता जा रहा है। इश्तहार चिपकाने वालों की लेई में भी भुकड़ी अथवा फफूँदी लगना बचाने के लिए कोई प्रतिपूयिक आवश्यक होता है। पाजन (साइज़), सद्योमिश्रित समार-ञ्जन[1] तथा जलीय रंगलेपों में भी प्रतिपूयिक डालना पड़ता है। और वाह्य समार-ञ्जनों पर, विशेषकर आर्द्र स्थानों एवं उष्णदेशीय जलवायु में फफूँदी लगना रोकना रंगलेप-उद्योग की एक बड़ी समस्या है।

युद्धकाल में बालू के बोरों के परिरक्षणार्थ सबसे उत्तम एवं संतोषप्रद रीति निका-लने के लिए भी बड़े अनुसन्धान किये गये तथा कापर नैफ्थिनेट और क्रियोज़ोट की बृहत् मात्राएँ इस काम के लिए प्रयुक्त होती रहीं।

यदि हम परिनाशन (डिस्इन्फेस्टेशन) को भी रोगाणुनाशन (डिस्इन्फेक्शन) की श्रेणी में गिनें तो हमें सीस अ र्सनेट तथा निकोटीन जैसे औद्यानिक शीकरों (हार्टि-कल्चरल स्प्रेज़) पर तथा घुन से बचाने के लिए अन्नों के धूमन, कोका शलभों से बचाने के लिए कोका शालिकाओं के धूमन तथा बहुत से खाद्यों एवं वस्त्रों के धूमन पर भी दृष्टि डालनी होगी। जहाजों में चूहों को मारकर उनके द्वारा फैलाये जाने-वाले रोगों को रोकने के लिए भी इसी प्रकार का उपचार आवश्यक होता है। इन सब बातों पर विचार करने से पता चलता है कि इस दिशा में रसायनज्ञों का कितना प्रवेश है।

रोगाणुनाशन एवं प्रतिपूयन की रीतियों में जल शोधन की स्कंदनरीति भी शामिल है। जल में अलुमिनियम हाइड्राक्साइड सदृश पदार्थ डालने से उत्पन्न ऊर्णि-काय में तत्स्थित जीवाणु तथा अन्य अशुद्धियाँ अवशोषित हो जाती हैं। दूध के

[1] Distempers

पाश्चरीकरण में ऊष्मोपचार तथा खाद्यों की डब्बाबन्दी में रसद्रव्यों का प्रयोग भी इसी प्रकार के नियंत्रण के साधन हैं।

ग्रन्थसूची

FREAR, D. E. H. : *Chemistry of Insecticides and Fungicides.* D. Van Nostrand & Co., Inc.

MCCULLOCH, E. : *Disinfection and Sterilization.* Henry Kimpton.

RIDEAL, S., AND RIDEAL, E. K. : *Chemical Disinfection and Sterilization.* Edward Arnold & Co.

कीटमार

एफ़० टैटरस्फील्ड, डी० एस-सी० (लन्दन), एफ़० आर० आई० सी०

'दि इन्सेक्ट मिनेस' नामक अपने मनोरंजक ग्रन्थ में एल० ओ० हॉवर्ड ने जीवन-संघर्ष में कीट और मनुष्य के विरोध को बड़े सुन्दर ढंग से दर्शाया है। नाशिकीट (इन्सेक्ट पेस्ट्स) मनुष्य और उसकी सम्पत्ति का जो प्रत्यक्ष विनाश करते हैं उसका परिमाण अति विशाल है। इसके अतिरिक्त वे ऐसे विनाशकारी रोगों का भी परिवहन करते हैं जो मनुष्य तथा उसके पालतू जानवरों एवं पौधों का उतना ही व्यापक नाश करते हैं। इसमें संदेह नहीं कि प्रकृति उनकी शक्ति को सीमित करने में बराबर प्रयत्न-शील रहती है और साथ ही वह केवल ऐसे कीट नहीं उत्पन्न करती जो मनुष्यविरोधी हों। परन्तु मनुष्य ने अपनी तूफानी प्रगति में प्राकृतिक शक्तियों के संतुलन में गड़बड़ कर दी है और अब धीरे-धीरे वह यह समझने लगा है कि कृत्रिम साधनों से नाशिकीटों का उन्मूलन करना ही उसके हित में है। इन कृत्रिम साधनों में रासायनिक उपाय बड़े महत्त्वपूर्ण हैं।

कीटमार तीन प्रकार के होते हैं—(१) उदरविष, जो शीकरन अथवा धूलन द्वारा कीटखाद्यों पर छिड़क दिये जाते हैं और इस प्रकार उनके पेट में पहुँचकर अपनी क्रिया करते हैं, (२) संस्पर्श विष (कॉन्टैक्ट प्वायज़न), कीटों का अन्त करने के लिए जिनका उनसे संस्पर्श ही पर्याप्त है, (३) धूमक, जो वाष्प अथवा गैस के रूप में कीटों का नाश करते हैं। और इनके संबन्धी ज्ञानवर्धन में पिछले बीस वर्षों में रसायनविज्ञान ने बहुमूल्य योगदान किया है। बहुत से कीटमार पदार्थों का ज्ञान तो पुराना है लेकिन

आधुनिक रसायनज्ञों ने उनके सक्रिय तत्त्व की खोज की, उनका मानकीकरण किया और उन्नति भी की। रसायनज्ञों ने ही यह भी बताया कि कीटमारों के साथ कुछ अन्य पदार्थ मिलाने से उनका प्रभाव और भी बढ़ जाता है। रसायनविज्ञान की प्रायः सभी शाखाओं ने इस कार्य की पूर्ति में अच्छा हाथ बटाया है।

अतीत में अधिकांश उदरविषों का चुनाव बड़े जानवरों पर उनकी ज्ञात विषालुता के कारण ही किया गया था। लेकिन वर्तमान समस्या ऐसे पदार्थ खोजने की है जो मनुष्यों की तुलना में कीटों के लिए अधिक विषाक्त हों। ऐसे पदार्थों का होना असंभव नहीं है क्योंकि यह तो मालूम ही है कि कीट ऐसी अनेक वस्तुओं पर पलते हैं जो बड़े जानवरों के लिए हानिकारक होती हैं। यह समस्या सरल नहीं है और इसके हल में अभी पूर्ण सफलता नहीं प्राप्त हुई। १८६७ ई० में जब कोलोरैडो भृंगों का बड़ा प्रसार हुआ था तब पेरिसग्रीन अर्थात् ताम्र एसिटोआर्सेनाइट का प्रयोग करके उनका प्रसार रोका गया था। यद्यपि यह आजकल भी मच्छरों के नियंत्रण के लिए काम में लाया जाता है, लेकिन इससे पेड़ पौधों की पत्तियों को काफी हानि होती है, इसलिए १८९२-९४ से इसके स्थान पर सीस आर्सनेट प्रयुक्त होने लगा जो अब तक एक प्रमुख कीटमार माना जाता है। परन्तु इस पदार्थ की जोखिम के कारण खाद्य पदार्थों पर प्रयुक्त होनेवाली इसकी मात्रा की कड़ी सीमा निर्धारित कर दी गयी है। संयुक्त राज्य अमेरिका में, जहाँ कॉडलिंग शलभों को मारने के लिए सीस-आर्सनेट का व्यापक प्रयोग किया जाता है, शीकर-अवशेष के निरसन के लिए लवाई के बाद सेवों के धोने की प्रथा चालू की गयी है। सीस आर्सनेट के स्थान पर कैल्सियम, यशद (ज़िंक) अलुमिनियम सदृश धातुओं के आर्सनेट अथवा आर्सनाइट जैसे अन्य पदार्थों का प्रयोग करने का भी प्रयत्न किया गया किन्तु कोई विशेष सफलता प्राप्त नहीं हुई। कॉडलिंग शलभों को मारने के लिए अनेक कार्बनिक रसद्रव्यों का भी अन्वेषण किया गया, लेकिन उनमें से सर्वोत्तम पदार्थ का उपयोग भी केवल बाद में शीकरन करने के लिए किया जा सका, जिससे खाद्य पदार्थों पर अत्यधिक आर्सनिकलीय अवशेष न रह जाय। संयुक्त राज्य अमेरिका के बहुत से राज्यों में एक ही ऋतु में ६-१० बार शीकरन करना पड़ता है। कुछ स्थानों में थायोडाइ फिनिलअमीन का प्रयोग किया गया लेकिन यह बहुधा असफल रहा। बेन्टोनाइट संयुक्त निकोटीन सदृश स्थिरीकृत (फिक्स्ड) निकोटीनों के प्रयोग में कुछ सफलता मिली है परन्तु इतनी नहीं कि वह सीस आर्सनेट का स्थान ले सके। सिलिकोफ्लुओरायडों और फ्लूओअलुमिनेटों (क्रायोलाइट) जैसी फ्लुओरीन व्युत्पत्तियों का भी आविष्कार हुआ और वे बड़ी शक्तिशाली कीटमार भी सिद्ध हुईं, लेकिन अत्यन्त लघु मात्रा में भी फ्लुओरीन का दाँतों पर

दुष्प्रभाव पड़ने के कारण वे पदार्थ विषों की सूची में अनुसूचित कर दिये गये और उनकी उपयोगिता उतनी न हो सकी जितनी पहले समझी गयी थी।

गंधक सबसे पुराना मानवज्ञात संस्पर्श विष है। यह तात्त्विक दशा में चूर्ण के रूप में अथवा पॉली सल्फाइडों के रूप में प्रयुक्त होता है। पालीसल्फाइडों, विशेषकर चूना-सल्फर के रासायनिक अध्ययन के लिए काफी अन्वेषण की आवश्यकता हुई। फफूँदीमार तथा कीटमार के रूप में गंधक की क्रिया की रीति पिछले कुछ वर्षों से जीवरासायनिक समस्या बनी हुई है। शल्ककीटों (स्केल इन्सेक्ट) का नाश करने में भी गंधक प्रभावी है।

पेट्रोलियमों का भी संस्पर्श-कीटमार के रूप में विस्तृत प्रयोग होता है। इनका शीकरन जाड़े और गर्मी दोनों ऋतुओं में किया जाता है, लेकिन अगर सल्फोनेट किये जा सकनेवाले हाइड्रोकार्बन अधिक मात्रा में उपस्थित हों तो गर्मीवाले उपचार के बाद बढ़ते हुए वृक्षों की काफी हानि होती है। पायसित (बहुधा अक्रिय पदार्थों के साथ) उच्च शुद्धतावाले भारी तेल आजकल फलवृक्षों पर के शल्ककीटों तथा लाल मकड़ों को मारने के लिए बहुतायत से प्रयोग किये जाने लगे हैं। कोलतार तेल, विशेषकर ऐन्थ्रासीन तेल प्रभाग पायसित रूप में उगते हुए फलवृक्षों के लिए जाड़ों में प्रयुक्त होते हैं, इस उपचार से नाशिकीट अण्डावस्था में ही मर जाते हैं। ये कोलतार तेल पायस 'अफाइडों' तथा 'ऐप्लसकरों' के विरुद्ध तो प्रभावी होते हैं लेकिन लाल मकड़ी इनसे अप्रभावित रहती हैं। पिछले कुछ वर्षों से भारी पेट्रोलियम तेल अकेले अथवा अन्य पदार्थों की मिलावट में वृक्षवृद्धि की उत्तर अवस्था में प्रयुक्त होने लगे हैं जिससे लाल मकड़ी तथा जाड़े के शलभों (विण्टर मॉथ) का प्रभावी नियंत्रण किया जा सका है। इन पेट्रोलियम तथा तार आसुत कीटमारों के मानकीकरण के लिए बहुत रासा-यनिक अनुशीलन करना पड़ा है। वसीय तथा टरपीनिक प्रकार के वनस्पति तेलों का एक सहायक के रूप में विस्तृत प्रयोग किया गया है।

वानस्पतिक उद्भव के कीटमार उदर तथा संस्पर्श दोनों प्रकार के विष होते हैं। सर्वाधिक महत्त्ववाले ऐसे कीटमारों में निकोटीन भी एक है और इसका प्रयोग धूमक के रूप में भी किया जा सकता है। निकोटीन का प्रयोग तम्बाकू-आक्वाथ अथवा ऐल्कलायड और उसके लवण के रूप में प्रायः २०० वर्षों से होता आ रहा है। पिछले कुछ वर्षों में निकोटीन पीठ, निकोटीन टैनेट तथा बेण्टोनाइट का बड़ी साव-धानी से अध्ययन किया गया है। इसके अतिरिक्त रूसी कार्यकर्ताओं के अनुसन्धानों के फलस्वरूप एनाबासिस एफिल्ला अथवा निकोटियाना ग्लौका से प्राप्त उसके मुख्य ऐल्कलायड, एनाबसीन ने भी इस क्षेत्र में काफी रुचि पैदा कर दी है। एनाबसीन

और निकोटीन का निकट रासायनिक संबन्ध है। प्रकृति में इस यौगिक के आविष्कार के पूर्व ही सी० आर० स्मिथ ने अपनी प्रयोगशाला में इसका संश्लेषण कर लिया था तथा इसे 'नियो निकोटीन' की संज्ञा प्रदान की थी।

पाइरेथ्रम सबसे पुराना और संभवतः सबसे निरापद संस्पर्श-कीटमार है। बहुत दिनों तक यह 'क्रिसैन्थिमम रोज़ियम' के फूलों से बनता था और 'इन्सेक्ट पाउडर' (कीटचूर्ण) के नाम से ज्ञात था। अब यह 'क्रिसैन्थिमम सिनेरारी फोलियम' के फूलों से बनने लगा है। १९२४ ई० में स्टाडिंजर और रुज़िका द्वारा किये गये इसके सक्रिय तत्त्वों के रचनासंबन्धी कामों से आगे का मार्ग बड़ा प्रशस्त हो गया। उन्होंने यह बताया था कि इसमें पाइरेथ्रीन १ और पाइरेथ्रीन २ नामक दो सक्रिय तत्त्व हैं और ये दोनों क्रिसेन्थिममिक अम्लों तथा पाइरेथ्रीन नामक एक किटोनिक ऐल्कोहाल के एस्टर हैं। बाद के कार्यों के फलस्वरूप इन वैज्ञानिकों द्वारा सुझाये गये इन यौगिकों के रासायनिक सूत्रों में केवल बहुत थोड़ा परिवर्तन किया गया है। इनके रासायनिक मूल्यांकन की रीतियाँ भी विकसित की गयीं, जिनके प्रयोग से और भी महत्त्वपूर्ण जानकारी प्राप्त हुई। उदाहरणार्थ यह मालूम हुआ है कि पूर्ण विकसित फूलों की पाइरेथ्रीन मात्रा सर्वाधिक होती है और इसी लिए अब इनकी लंबाई पूरे खिल जाने पर ही होती है न कि अधखिली अवस्था में। इन परीक्षणरीतियों से यह भी ज्ञात हुआ कि चूर्ण को धूप और हवा में खुला रखने से उसकी कीटमारक शक्ति की जो हानि होती है वह आक्सीकरण के कारण होती है तथा प्रति आक्सीकर्ताओं के प्रयोग से उसका आंशिक बचाव किया जा सकता है, तथा यह भी ज्ञात हुआ कि फूलों के अण्डाशय में पाइरेथ्रीन की सबसे अधिक मात्रा होती है। अब चूर्ण के स्थान पर विविध पेट्रोलियम विलायकों से बने पाइरेथ्रम निस्सार (एक्सट्रैक्ट) का प्रयोग किया जाता है। मक्खियों और कहवा-नाशिकीटों के नियंत्रण के लिए ये निस्सार किरासन से बनाये जाते हैं तथा गोदामों में संगृहीत पदार्थों के शीकरन के लिए निस्सार बनाने में शोधित भारी तेल प्रयुक्त होते हैं। यह पौधा मूलतः डालमैशिया में उत्पन्न होता था परन्तु अब जापान, कीनिया तथा संसार के अन्य भागों में भी इसका उत्पादन काफी बड़े पैमाने पर किया जाता है। कीनिया के पहाड़ी प्रदेशों में यह पौधा वर्ष के नौ-दस महीने फूला करता है। इन फूलों को कृत्रिम रीति से ५०° से० ताप पर सुखाया जाता है, क्योंकि अनुसन्धानों द्वारा यह निश्चित किया गया है कि इस क्रिया के लिए ५०° से० ही सर्वोत्तम ताप है। इस प्रकार तैयार किये गये पाइरेथ्रीन की प्रतिभूत मात्रावाले फूल बाजारों में बिकने के लिए भेजे जाते हैं। पाइरेथ्रम के प्रति सुग्राही कीटों पर उसका शीकरन करने से उन्हें बड़ी शीघ्रता से लकवा मार जाता है। किसी दूसरे

कीटमार का इतना शीघ्र प्रभाव नहीं होता परन्तु पाइरेथ्रम के इस आशु प्रभाव से कीट बहुधा उबर जाते हैं और मरते नहीं, इसलिए इसकी विषालु क्रिया के प्रवर्धन के लिए डेरिस अथवा कुछ संश्लिष्ट यौगिक जैसे अन्य कीटमार उसमें मिलाये जाते हैं।

देशी लोगों में बहुत काल तक कुछ पौधों द्वारा मछलियों को मूर्छित करके पकड़ने की प्रथा प्रचलित रही। इनमें से कुछ पौधे लेगुमिनोसी नामक प्राकृतिक गोत्र (नेचुरल आर्डर) के थे तथा शक्तिशाली कीटमार भी थे। लगभग ९० वर्ष पूर्व डेरिस की जड़ें इसी प्रकार प्रयुक्त होती थीं परन्तु लोगों को यह अनुभव प्रायः भूल गया और बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में फिर इस पदार्थ में लोगों की रुचि हुई। १९२० ई० से संसार के सभी सभ्य देशों में इन पौधों पर अनुसन्धान किये जा रहे हैं और अब तक इनमें से पाँच प्रकाशीयतया सक्रिय (ऑप्टिकली ऐक्टिव) केलासीय विषालु तत्त्व एकलित किये जा चुके हैं। इनके नाम इस प्रकार हैं--रोटिनोन, एलिप्टोन, सुमाट्रॉल, टाक्सीकरॉल तथा मैलक्कॉल। इनकी कीटमारक शक्ति भिन्न-भिन्न होती है। डेग्युलिन नामक एक छठा पदार्थ भी एकलित किया गया है परन्तु केवल रेसमिक रूप में, यद्यपि जड़ों में यह प्रकाशीयतया सक्रिय रूप में होता है। ये सभी यौगिक रासायनिक दृष्टि से एक ही प्रकार के हैं, 'ऑल' से अन्त होनेवाले नामों के यौगिक फिनालिक होते हैं तथा कीटों के लिए अन्य यौगिकों से कम विषालु होते हैं। कीटनाशन के लिए रोटिनोन सबसे अधिक शक्तिशाली है परन्तु सम्पूर्ण पौधे की क्रिया इसमें पूरी तरह निहित नहीं होती। इन यौगिकों की संरचना का अध्ययन करने में अनेक वर्गों के रसायनज्ञ कार्यरत रहे हैं। डेरिस जड़ों के मूल्यांकन तथा चुनाव के लिए तत्स्थित यौगिकों के मात्रात्मक विश्लेषण की रीतियों का भी विकास किया गया। 'डेरिस इलिप्टिका' नामक जाति में १२% रोटिनोन होता है तथा यह ईस्ट इण्डीज़ से प्राप्त होता है। यह तथा दक्षिणी अमेरिका से प्राप्त लॉन्कोकार्पस जाति आज के हमारे सर्वाधिक शक्तिवाले कीटमार हैं लेकिन इनकी विषालु क्रिया केवल कुछ चुने हुए कीटों पर ही होती है। इनकी क्रिया बड़ी मन्द गति से भी होती है लेकिन एक बार जो कीट इनसे प्रभावित हो जाय तो फिर वह शायद ही बच सकता है। टेफ्रोसिया, मुण्डुलिया तथा मिलेशिया नामक लेग्युमिनस पौधों की अन्य प्रजातियों में भी उपर्युक्त वर्ग के सक्रिय तत्त्व मिले हैं परन्तु सम्प्रति केवल डेरिस और लॉन्कोकार्पस जातियों की जड़ों का ही वाणिज्यिक उपयोग किया जाता है।

कार्बनिक यौगिकों की किसी श्रेणी की कीटमारक शक्तिपरीक्षा करने पर यह देखा गया है कि उनकी विषालुता बहुधा अणु भार के साथ एक सीमा तक बढ़ती है। यह प्रक्रम प्रायः संतृप्त वसीय अम्लों, ऐल्कोहालों तथा थायोसियनेटों में देखा जाता है।

अपनी श्रेणी में लारिल थायोसियनेट सबसे अधिक शक्तिशाली है तथा ना-व्युटिल कार्बिटॉल जैसे अन्य थायोसियनेटों में भी काफी कीटमारक शक्ति होती है। आजकल इन पदार्थों का पर्याप्त वाणिज्यिक महत्त्व है। कुछ श्रेणियों में यौगिकों का रचना-भेद महत्त्वपूर्ण होता है। ३ : ५—डाइनाइट्रो-आर्थो क्रिसाल तथा २ : ४—डाइनाइट्रो-६—साइक्लोहेक्ज़ेफिनॉल जैसे समान रचनावाले यौगिक प्रायः समानतया शक्तिशाली हैं। N N—अमिलबेन्ज़िल-साइक्लोहेक्ज़िल अमीन अभी हाल का आविष्कृत कीटमार है, यह वनस्पतियों के लिए निरापद तथा कीटनाशन में शक्तिशाली है। इसका यह विशेष गुण इसकी पार्श्वश्रृंखला की प्रकृति पर निर्भर है। परन्तु गत कुछ वर्षों में इस क्षेत्र में रसायनविज्ञान द्वारा किये गये योगदानों में सबसे महत्त्वपूर्ण डी० डी० टी० (२, २—बिस—प—क्लोरफिनिल—१, १, १—ट्राइक्लोर इथेन) की कीटमारक शक्ति का स्विस आविष्कार है। मनुष्य के पराश्रयी कीट के प्रति यह विशेष रूप से प्रभावी सिद्ध हुआ है। कुछ संश्लिष्ट यौगिक उपयोगी धूमक का भी काम करते हैं। कुछ समय पहले हाइड्रोसियनिक अम्ल तथा कार्बन डाइ सल्फाइड धूमन के लिए प्रयुक्त होते थे, परन्तु इथिलीन आक्साइड, ऐल्किल फार्मेट, क्लोरिनीयित हाइड्रो कार्बन तथा मिथिल ब्रोमाइड जैसे यौगिक आज के महत्त्वपूर्ण धूमक पदार्थ हैं। शलभ-सह वस्त्रों के लिए रंगहीन अम्ल रञ्जकों और कुछ जटिल फ्लुओराइडडों जैसे पदार्थों का प्रयोग होता है। आस्ट्रेलिया में भेड़ों पर मांसभक्षी डिम्भों (ब्लो फ्लाइ लार्वा) को मारने के लिए ग्लिसरिल बोरेटों का आशाप्रद प्रभाव देखा गया है।

संस्पर्श कीटमार के प्रयोग में यह आवश्यक है कि रासायनिक यौगिक का कीटों से निकटतम सम्पर्क हो, जब कि उदर-विषों के लिए पत्तियों तथा कीटों के अन्य खाद्यों पर उनका चिपकना ज़रूरी होता है। इन प्रयोजनों के लिए नये-नये आर्द्रक, प्रसारक तथा आसंजक पदार्थों की इतनी बहु संख्या आविष्कृत हुई है कि उनका उल्लेख करना यहाँ संभव नहीं है। कीटमारों का कीटों के बाह्य चर्म (क्युकिक्ल) में प्रवेशन एवं प्रयुक्त माध्यमों पर इसकी निर्भरता तथा इसी प्रकार की अन्य समस्याएँ वैज्ञानिक अनुसन्धान के महत्त्वपूर्ण विषय हैं और उनकी समीपतम परिनिरीक्षा (स्क्रूटिनी) की जा रही है।

ग्रंथसूची

GNADINGER, C. B. : *Pyrethrum Flowers*: McGill Lithograph Co.

HOLMAN, H. J. (EDITOR). *A Survey of Insecticide Materials of Vegetable Origin*. Imperial Institute.

HOWARD, L. O. : *Insect Menace*. Appleton & Co.

MARTIN, H. : *Scientific Principles of Plant Protection*. Edward Arnold & Co.

SHEPARD, H. H. : *Chemistry and Toxicology of Insecticides*. Burgess Publishing.

धूमन

जे० डी० हैमर, एफ० आर० आई० सी०

वैज्ञानिक रीति से विषाक्त गैसों द्वारा नाशिकीटों के विनाशन को धूमन अर्थात् 'फ्यूमिगेशन' कहते हैं। नाशिकीटों में उन जीवों की गणना की जाती है जो मनुष्य पर पराश्रयी रहकर तथा उसका रक्त चूषण करके उसको हानि पहुँचाते हैं और जो खाद्य पदार्थों, संगृहीत धान्यों एवं वस्तुओं का नुकसान करते हैं अथवा जो कृषि और पौधों की वृद्धि पर दुष्प्रभाव डालते हैं अथवा वे सभी जीव जो सामान्यतः मनुष्य के कल्याण में बाधक होते हैं।

स्टाक तथा मोनियर विलियम्स द्वारा १९२३ ई० में प्रकाशित 'पब्लिक हेल्थ रिपोर्ट नं० १९' में हाइड्रोजन सायनाइड तथा उसके धूमन प्रयोग का एक संक्षिप्त इतिहास दिया गया है तथा 'जर्नल ऑफ एण्टॉमालोजी' से भी इस विषय का चयन किया जा सकता है। प्राचीन मिस्रवासी पुरोहितों को यह अम्ल मालूम था। प्रूसियन ब्लू के आकस्मिक आविष्कार के संबन्ध में डीसबैक ने १८वीं शताब्दी के प्रारम्भ में इस यौगिक का उल्लेख किया था। १७८२ में शीले ने इसका अन्वेषण किया तथा इसको प्रूसिक अम्ल की संज्ञा दी। लेकिन १८११ ई० में गे-लुसक ने शुद्ध हाइड्रोजन सायनाइड तैयार किया तथा सर्वप्रथम १८८६ ई० में संयुक्त राज्य अमेरिका के कृषि विभाग के कॉक्विलेट द्वारा यह यौगिक साइट्रस वृक्षों के शल्क कीटों को मारने के लिए एक धूमक के रूप में प्रयुक्त हुआ। केप सरकार के कीटवैज्ञानिक लौन्सबरी ने १८९८ ई० में रेल के डब्बों में खटमल मारने के लिए हाइड्रोजन सायनाइड का प्रयोग किया तथा १९०१ ई० में कारागृहों में यही उपचार रीति अपनायी गयी। १९१६ में

जोहान्सबर्ग कौंसिल ने हाइड्रोजन सायनाइड के नियमनार्थ एक कानून जारी किया था। भारत में सायनाइड गैस का प्रयोग सबसे पहले ग्लेन लिस्टन द्वारा १९०९ ई० में किया गया था। एक धूमक के रूप में हाइड्रोजन सायनाइड का प्रयोग 'संयुक्त राज्य क्वारैण्टाइन रेगुलेशन' द्वारा १९१० ई० में अधिकृत हुआ था। १९१७ में 'आस्ट्रेलियन क्वारैण्टाइन रेगुलेशन' ने भी पौधों तथा पोटलियों (पैकेज) के धूमन के लिए यह रीति विहित की और जहाजों में प्रयुक्त रीति की विस्तृत कार्य विधा १९१८ ई० में प्रकाशित हुई। जर्मनी में आटाचक्कियों के घुन मारने के लिए हाइड्रोजन सायनाइड १९१७ में प्रयुक्त हुआ। इटली में चूहों को इस रीति से नाश करने की रिपोर्ट डा० लुट्रारियो ने सन् १९२० ई० में 'आफिस इण्टरनैशनल' को दी। इंग्लैण्ड में हाइड्रोजन सायनाइड का सर्वप्रथम प्रयोग जहाजों के धूमनार्थ १९१२ ई० में हुआ। जहाजों का धूमन एक सुसंगठित उद्योग है, जो 'इण्टरनैशनल सैनेटरी कॉन्वेन्शन' की शर्तों की पूर्ति के लिए समस्त समुद्र-राष्ट्रों द्वारा व्यवहृत होता है। नाशिकीटों तथा रॉडेण्ट कुल के चूहे, चुहियों तथा खरगोशों जैसे जीवों को नष्ट करने के लिए धूमन सर्वाधिक सफल साधन है।

कीटों का एक सामान्य वर्गीकरण निम्नलिखित है—

(१) **सैनिटरी नाशिकीट**—इनमें पिस्सू, खटमल, जूं तथा मच्छर जैसे रक्त-चूषक भी सम्मिलित हैं। ये नाशिकीट लोगों को केवल कष्ट ही नहीं देते वरन् उनके स्वास्थ्य के लिए भी भयावह होते हैं, क्योंकि ये संक्रामक रोगों का प्रसारण एवं प्लेग के कीटाणुओं का परिवहन भी करते हैं।

(२) **गृह-नाशिकीट**—इस वर्ग में रजत मीन (सिल्वर फिश), गृहवरूथी (हाउस माइट), तिलचटा, चींटियाँ तथा लकड़ी के सामान नष्ट करनेवाले भृग और शलभ हैं।

(३) **खाद्य और अन्नागार नाशिकीट**—खाद्य पदार्थों को नष्ट करनेवाले कीट जैसे आटा-वरूथी (फ्लावर माइट), कोको शलभ, शुष्क फल-शलभ, भेषजागार-भृग, यवान्न-घुन, आटा-शलभ, यवान्न-शलभ, बीज-घुन तथा तम्बाकू-भृग।

(४) **भाण्डारों और गोदामों के नाशिकीट**—मनुष्य द्वारा उपजाये हुए पौधों को खाकर नष्ट करनेवाले कीट जो संसार भर में असीमित हानि करते हैं।

रॉडेण्टों में घरेलू चूहों, काले चूहों, भूरे चूहों तथा खरगोशों की गणना की जाती है। चूहे तथा चुहियाँ घरों और भण्डारों में पलनेवाले बड़े दुष्ट नाशिजीव हैं। अनुमान है कि ये जीव केवल इंग्लैण्ड में ही प्रति वर्ष लगभग १·५ करोड़ पौण्ड की सम्पत्ति का नाश करते हैं। इस महती आर्थिक हानि के अलावा ये वील्स रोग, पद एवं मुख-

रोग तथा सबसे भयंकर प्लेग के कीटाणुओं का (चूहों के पिस्सुओं द्वारा) परिवहन करते हैं।

जैविकीविद् एवं कीटवैज्ञानिक इन नाशिकीटों तथा जीवों के स्वभाव का बड़ी सावधानी से अध्ययन करते हैं जिससे इनके विनाश के वैज्ञानिक क्रियाकरण के लिए धूमन-कर्मी लोग भली प्रकार सावधान एवं सचेष्ट रहें। सारे संसार के स्वास्थ्य-अधिकारी इस दिशा में बराबर सावधान रहते हैं तथा प्रथमतः लोगों के स्वास्थ्यसुख-सुविधा की सुरक्षा के लिए और द्वितीयतः खाद्यों का तथा अन्य सम्पत्ति का परिरक्षण करके सामान्य आर्थिक व्यवस्था के सर्जन के लिए अन्वेषणकार्य निरन्तर चलाते रहते हैं।

यद्यपि सभी नाशिकीटों का सविस्तर वर्णन इस लेख में नहीं किया जा सकता, फिर भी यह तो स्पष्ट है कि उनमें से प्रत्येक के स्वभाव का विस्तृत अध्ययन इसलिए आवश्यक है कि धूमन द्वारा उनको पूरी तरह से नष्ट किया जा सके।

कुशलतापूर्वक किसी स्थान का धूमनोपचार करने के लिए उस स्थान को विधिवत् तैयार करना तथा उसे यथेष्ट रूप से वन्द करना परमावश्यक है। कीटों एवं रोडेण्टों के नाश के लिए गैस की आवश्यक मात्रा का प्रयोगों द्वारा ठीक-ठीक निश्चय कर लेना तथा संस्पर्श-काल और उपयुक्त ताप को अच्छी तरह समझ और जान लेना चाहिए। स्थानविशेष के अन्दर रखे सामानों द्वारा अवशोषित होनेवाली गैस की मात्रा का भी ठीक-ठीक अनुमान होना चाहिए जिससे उसके लिए भी गुञ्जाइश रखी जा सके।

धूमन के लिए अनेक विषालु गैसों तथा वाष्पों का प्रयोग किया गया है लेकिन अभी तक केवल हाइड्रोजन सायनाइड और इथिलीन आक्साइड का ही कुछ वाणिज्यिक महत्त्व रहा है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इन अत्यन्त विषालु गैसों का प्रयोग करने के लिए पूर्णतया प्रशिक्षित तथा सुरक्षा के कुशल साधनों से भली भाँति सज्जित कार्यकर्ता अनिवार्यतः आवश्यक हैं। और इन महाभयावह विषों का व्यापक प्रयोग करने वालों का यह परम कर्तव्य है कि वे जनता की सुरक्षा का प्रथम तथा अक्षुण्ण ध्यान रखें। एंतदर्थ किसी स्थान अथवा सामान का विषालु गैसों द्वारा उपचार कर लेने के बाद उसका खूब अच्छी तरह से वातन करना अर्थात् उसमें प्रचुर मात्रा में वायु का परिचालन करना उन्हीं प्रशिक्षित धूमनकर्मियों की ही जिम्मेदारी है। गैसोपचार के बाद किसी स्थान को जनोपयोग के लिए निरापद घोषित करने के पहले यह पूरी तरह जाँच लेना चाहिए कि वहाँ अवशोषित अवशिष्ट गैस इतनी मात्रा में तो सांद्रित नहीं हो गयी है जिससे भयानक स्थिति उत्पन्न हो जाय।

गत बीस वर्षों में धूमन की रीतियों के विकास में बड़ी प्रगति हुई है और अब घरों के नाशिजीवों का नाश करना तथा घर के साज सामान तथा कपड़ों बिछौनों को

साफ करना इत्यादि धूमनविशेषज्ञों का काम हो गया है। खाद्य पदार्थों तथा गोदामों और भण्डारों का गैसोपचार तो एक उद्योग बन गया है, जिससे सरकार को हाइड्रोजन सायनाइड के खतरे से जनता की सुरक्षा के लिए उपयुक्त कानून जारी करना पड़ा है।

इस विषय अर्थात् नाशिजीवों के वैज्ञानिक विनाशन का अध्ययन करनेवालों को 'इम्पीरियल कालेज ऑफ साइन्स एण्ड टेक्नॉलोजी' के एण्टॉमालोजी विभाग के प्रोफेसर जे० डब्ल्यू० मुनरो तथा उनके सहयोगियों के प्रकाशनों को भी पढ़ना चाहिए। इनकी प्रविधि तथा कीटों पर धूमन प्रतिक्रिया के यथार्थ अन्वेषण के लिए इनके मौलिक उपकरणों का भविष्य में मनुष्य के स्वास्थ्य एवं आर्थिक व्यवस्था पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव होगा। युद्धकाल में धूमन की प्रथा बहुत कुछ कम कर दी गयी लेकिन साथ ही इसमें कुछ महत्त्वपूर्ण विकास भी किये गये हैं।

एच० डब्लू० सेमौर ने एक सफल उष्णवाष्प-धूमन यंत्र (हॉट वेपर फ्यूमिगेशन मशीन) बनाया है, जो आवश्यक संस्पर्श-काल के बाद उष्ण वायु-परिचालन यंत्र का भी काम देता है। इसके प्रयोग से गैसोपचार के बाद स्थानविशेष में हवा परिचालन का समय बहुत कम हो गया तथा उस पर मौसम का जो प्रभाव पड़ता था वह भी समाप्त हो गया। यह निश्चय ही धूमनप्रविधि की उत्तम प्रगति है।

मनुष्यों के लिए निरापद कीटमार के रूप में डाइक्लोर-डाइफिनाइल ट्राइक्लोर इथेन (डी० डी० टी०) के आविष्कार से धूमन कार्य का भविष्य भी बड़ा उज्ज्वल हो गया है तथा हाइड्रोसियनिक अम्ल प्रयोग करनेवाले कार्यकर्ताओं के सिर से चिन्ता का बहुत बड़ा बोझ उतर गया है। डी० डी० टी० का उत्पादन प्रारम्भ हो गया है तथा युद्ध की समाप्ति पर इसके व्यापक प्रयोग की प्रतीक्षा की जा रही है।

ग्रंथसूची

HAMER, J. D. : *Cyanide Fumigation of Ships. Journal of the Royal Sanitary Institute.* U. L. A. W. S. Monograph.

MONIER-WILLIAMS, G. W. : *Effect on Foods of Hydrogen Cyanide.* Ministry of Health Report, No. 60. H. M. Stationery Office.

STOCK P. G., AND MONIER-WILLIAMS, G. W. : *Hydrogen Cyanide for Fumigation Purposes.* Ministry of Health Report, No. 19. (This contains an extensive Bibliography on the subject.) H. M. Stationery Office.

अध्याय ७

प्राविधिक तथा अन्य रसद्रव्य

फ्रान्सिस एच० कार, सी० बी० ई०, डी० एस सी०
(मैन्च०), एफ० आर० आई० सी०

इस अध्याय में कुछ ऐसे रासायनिक पदार्थों की व्याख्या की जायगी, उद्योगों में जिनकी बड़ी उपयोगिता है तथा जो घरेलू, औषधीय, वैज्ञानिक तथा अन्य कार्यों के लिए प्रयुक्त होते हैं। रसायन-विज्ञान की यह शाखा इतनी व्यापक और आधार-भूत हो गयी है कि आज दिन ऐसे रासायनिक पदार्थों की यथेष्ट उपलब्धि के बिना दैनिक जीवन-स्तर को उचित ढंग से बनाये रखना कठिन है। इस क्षेत्र के विस्तार को देखकर प्रस्तुत पुस्तक में ऐसे सभी पदार्थों का उल्लेख करना संभव नहीं है, अत: इनके कुछ प्रारूपिक उदाहरण लेकर यह दर्शाने की चेष्टा की जायगी कि वे हमारे दैनिक जीवन में किस प्रकार प्रवेश कर गये हैं।

अम्ल—साइट्रिक, टारटरिक, लैक्टिक, ऑक्ज़ैलिक, टैनिक, फारमिक, ऐस्काबिक, सैलिसिलिक, बेन्ज़ोइक, एसेटिक, हाइड्रोफ्लुओरिक, बोरिक तथा आर्सेनिक अम्ल-जैसे कितने अम्ल हैं जिनका उत्पादन यद्यपि सल्फ्युरिक, हाइड्रोक्लोरिक और नाइट्रिक अम्लों के बड़े पैमाने पर नहीं होता, परन्तु जिनका प्राविधिक क्रियाओं तथा घरेलू कार्यों में महत्त्वपूर्ण उपयोग होता है। इसलिए शुद्ध अवस्था में उनका उत्पादन आवश्यक है।

साइट्रिक अम्ल—पहले यह अम्ल केवल नीबू, बर्गमाट अथवा लाइम से ही प्राप्त होता था, लेकिन अब यह अधिकांशत: कुछ फँफूदी द्वारा शर्करा के किण्वन से उत्पन्न किया जाता है। सोडियम साइट्रेट तथा पोटासियम साइट्रेट का ज्वर-पीड़ित रोगियों की प्यास कम करने के लिए तथा रुधिर स्कंदन (ब्लड क्लाटिंग) रोकने के लिए औषध के रूप में प्रयोग किया जाता है। कभी-कभी बच्चों को पिलाने के लिए गोदुग्ध में भी यह डाला जाता है जिससे उनके पेट में स्कंद नहीं बनने पाता।

टारटरिक अम्ल—यह अम्ल अंगूरों से प्राप्त होता है, मदिरा निर्माण में प्राप्त उपजातों, कैल्सियम तथा पोटासियम लवणों से टारटरिक अम्ल बनाया जाता है।

बेकिंग पाउडर तथा बुदबुद पेयों का यह एक साधारण संघटक है, सिड्लिज़ पाउडर जैसी औषधों में भी इसका प्रयोग होता है।

लैक्टिक अम्ल—लैक्टिक अम्ल दण्डाणुओं (बैसिलस) द्वारा दुग्ध शर्करा के किण्वन से यह अम्ल तैयार किया जाता है। चमड़े की कमाई तथा ऊन की रँगाई में लैक्टिक अम्ल का महत्त्वपूर्ण प्रयोग होता है। औषध में भी इसका उपयोग है उदाहरणार्थ कैल्सियम लवण के रूप में यह अम्ल विशेष रूप से प्रयुक्त होता है क्योंकि मानव शरीर में कैल्सियम इस रूप में बड़ी सरलता से पचता है।

ऑक्ज़ैलिक अम्ल—रूबार्ब, अम्लीका (उड सोरेल), चुकन्दर की पत्तियों, तथा हरीतकी-जैसे वानस्पतिक पदार्थों में यह अम्ल होता है। हरीतकी चर्म निर्माण में प्रयुक्त होनेवाले टैनिक अम्ल का भी अच्छा स्रोत है। प्राकृतिक पदार्थों में विद्यमान होने पर भी ऑक्ज़ैलिक अम्ल बहुधा रासायनिक विधाओं से ही बनाया जाता है। इन विधाओं में लकड़ी का बुरादा और शर्करा सदृश ऐसे पदार्थ प्रयुक्त होते हैं जिनमें यह अम्ल नहीं होता वरन् इन पर क्रमशः दह-क्षारों अथवा नाइट्रिक अम्ल की क्रिया से उत्पन्न होता है। यह कार्बन से भी बनता है, इससे कार्बन मानोऑक्साइड, उससे सोडियम फार्मेट और अन्त में सोडियम आक्ज़ैलेट बनता है। अम्ल पोटासियम ऑक्ज़ैलेट 'सोलेल लवण' अथवा 'निंबु का लवण' के नाम से भी जाना जाता है। यह अम्ल तथा इसका पोटासियम लवण वस्त्र उद्योग में बहुतायत से प्रयुक्त होते हैं विशेषकर कैलिको छपाई में। रंग अथवा रोशनाई के धब्बे छोड़ाने तथा चमड़ा साफ करने में भी इसका प्रयोग होता है।

टैनिक अम्ल—यह गैलोटैनिक अम्ल के नाम से भी जाना जाता है तथा ओक-गाल्स के किण्वन से प्राप्त किया जाता है। इसमें रक्तरोधी (स्टिप्टिक) गुण होता है, इसके द्वारा अल्बूमिन का अवक्षेपण ही प्रायः इस गुण का कारण है। जलने के उपचार में इसका उत्तम प्रयोग होता है। रक्त-स्राव रोकने के इसके गुण का उल्लेख तो ऊपर किया ही गया है। वस्त्र एवं चर्म उद्योग में टैनिक अम्ल का विशेष उपयोग तथा महत्त्व है।

विविध छालों तथा काष्ठ-फलों के निस्सारण से प्राप्त टैनिक अम्ल के जटिल यौगिकों को "टैनिन" की संज्ञा प्रदान की जाती है। इन टैनिनों का प्रयोग बहुत काल से वस्त्र तथा चर्म उद्योगों में होता आया है। खाल का टैनिन द्वारा उपचार करने से ही अच्छा चमड़ा बनता है। रोशनाई बनाने के लिए भी टैनिन का प्रयोग बड़े प्राचीन समय से होता आया है।

फार्मिक अम्ल—'वसीय अम्ल' कहे जानेवाले कार्बनिक अम्लों की श्रेणी का

यह प्रथम यौगिक है, तथा एसेटिक, ब्युटिरिक तथा स्टियरिक अम्ल इस श्रेणी के अन्य यौगिक हैं। भयभीत चींटियों द्वारा छोड़ी गयी तीखी गन्ध फार्मिक अम्ल के ही कारण होती है। वाणिज्यिक पैमाने पर यह अम्ल कार्बन मानो ऑक्साइड तथा दह-क्षार की क्रिया से सोडियम फार्मेट बनाकर तथा उससे स्वतंत्र अम्ल मुक्त करके तैयार किया जाता है। वस्त्रोद्योग में भी रंगाई के लिए यह प्रयुक्त होता है।

ऐस्कार्बिक अम्ल (विटामिन सी)—इस अम्ल का संश्लेषण ग्लूकोज़ से किया जाता है। ग्लूकोज़ से सार्बिटोल, उससे सार्बोज और सार्बोज से ३-कीटोएलगुलोनिक अम्ल और अन्त में लैक्टोन बनाया जाता है। निंबु जाति के फलों का महत्त्व अधिकांशतः इसी विटामिन के कारण होता है क्योंकि दैनिक आहार में इसका होना परमावश्यक है, अन्यथा इसकी हीनता से प्रशीताद[1] नामक रोग हो जाता है।

सैलिसिलिक अम्ल—यह अम्ल फिनाल पर कार्बन मानो-ऑक्साइड की क्रिया से बनता है तथा यह एक शक्तिशाली प्रतिपूयिक भी है। इसके सोडियम और पोटा-सियम लवणों का प्रयोग औषधीय क्षेत्र में भी होता है। एस्पिरीन इसकी प्रख्यात व्युत्पत्ति है जिसका बड़ा व्यापक प्रयोग होता है।

बेञ्जोइक अम्ल—यह सर्वप्रथम धूप निर्यास (गम बेञ्ज़ोइन) से बनाया गया था। इस निर्यास से ऊर्ध्वपातन (सब्लीमेशन) द्वारा बेञ्जोइक अम्ल के केलास बनाये जा सकते हैं, परन्तु वाणिज्यिक पैमाने पर यह कोलतार आसुत टोलुइन से आक्सीकरण विधा द्वारा तैयार किया जाता है। इसका सोडियम लवण औषध के रूप में प्रयुक्त होता है।

फार्मिक और सैलिसिलिक अम्ल—पहले खाद्य पदार्थों के परिरक्षण के लिए इस्तेमाल किये जाते थे, परन्तु अब बोरिक अम्ल को छोड़कर इस प्रयोजन के लिए इंग्लैण्ड में केवल सल्फर डाइ-ऑक्साइड तथा बेञ्ज़ोइक अम्ल ही प्रयुक्त किये जा सकते हैं और वे भी केवल सीमित मात्राओं में।

बोरिक अम्ल—इसे बोरैसिक अम्ल भी कहते हैं। यह कुछ खनिजों से व्युत्पन्न किया जाता है और विशेषकर ज्वालामुखी प्रदेशों में पाया जाता है। भूमि की दरारों से निकले वाष्प को संघनित करके टस्कनी में बहुत सा बोरिक अम्ल बनाया जाता है। यह एक प्रतिपूयिक के रूप में प्रयुक्त होता है। १५ वर्ष के प्रतिबन्ध के बाद युद्ध-काल में सूअर-मांस और मार्गरीन के परिरक्षण के लिए इसका प्रयोग फिर

[1] Scurvy

आरम्भ हुआ। बोरैक्स (सुहागा) नामक इसका सोडियम लवण कुछ प्रकार के काच बनाने के काम आता है तथा कपड़ा धुलाई उद्योग में भी प्रयुक्त होता है।

हाइड्रोफ्लुओरिक अम्ल—फ्लुओस्पार पर सल्फ्युरिक अम्ल की क्रिया से यह अम्ल प्राप्त किया जाता है तथा जलीय विलयन के रूप में मोम अथवा गटापार्चा की बोतलों में प्राप्य होता है। इस अम्ल में काच बड़ी सरलता से घुल जाता है अतः काच के निक्षारण[1] के लिए इसका अच्छा प्रयोग किया जाता है।

पैथिक पदार्थ[2]—कली चूना, दह पोटाश, दह सोडा, स्ट्रोन्शियम हाइड्राक्साइड तथा मैग्नेसिया और क्षारीय धात्त्वीय ऑक्साइड साधारण पीठ माने जाते हैं। इन पदार्थों से अम्लों का उदासीनीकरण[3] होता है तथा द्विविच्छेदन द्वारा लवण और जल उत्पन्न होते हैं; अम्लों के हाइड्रोजन धातुओं द्वारा विस्थापित होते हैं, फलतः लवण बन जाते हैं। दह पोटाश, पोटैशियम क्लोराइड के विद्युदांशन (इलेक्ट्रोलॉसिस) से बनता है अथवा पोटासियम कार्बोनेट विलयन पर बुझाये चूने की क्रिया से तैयार किया जाता है। पोटासियम कार्बोनेट भी क्लोराइड से ही लिब्लांक की संशोधित विधा द्वारा, या सिद्धान्ततः अमोनिया-सोडा विधा-जैसी एक विधा से भी, (जिसमें अमोनिया के स्थान पर ट्राइमिथिल अमीन प्रयुक्त होता है) तैयार किया जाता है। कुछ प्रयोजनों में मूल्यवान दह पोटाश के स्थान पर दह सोडा प्रयुक्त होता है, जो सस्ता होने के साथ-साथ समान रूप से उपयोगी होता है। लेकिन लकड़ी बुरादे से बड़े पैमाने पर ऑक्ज़ैलिक अम्ल तैयार करने के लिए दह पोटाश ही आर्थिक दृष्टि से उत्तम सिद्ध हुआ है; क्योंकि केवल दह सोडा के इस्तेमाल से पोटाश अथवा पोटाश सोडा मिश्रण की प्रयुक्ति की तुलना में ऑक्ज़ैलिक अम्ल की प्राप्ति केवल एक-तिहाई होती है। दूसरी ओर वाहिनी गैसों (फ्लूगैस) के विश्लेषण में ऑक्सिजन अवशोषण के लिए पाइरोगैलिक अम्ल का सोडा विलयन पोटाश विलयन की अपेक्षा अधिक उत्तम प्रतिकर्मक है। दह पोटाश द्वारा अधिकांश धात्त्वीय लवणों का विच्छेदन हो जाता है तथा ऊँचे ताप पर बहुत से पदार्थों पर इसकी शक्तिशाली क्रिया होती है। बहु-संख्यक औद्योगिक विधाओं में इसका प्रयोग किया जाता है। मृदु साबुन बनाने में भी दह पोटाश का प्रयोग होता है। इस साबुनीकरण में अलसी, ह्वेल तथा सील तेल जैसे शोषण तेलों के वसीय अम्लों के पोटासियम लवण बनते हैं।

मैग्नेसिया का प्रयोग अमोनिया-सोडा विधा में होता है तथा यह ऊष्मसह पदार्थों

[1] Etching. [2] Bases. [3] Neutralisation

के रूप में भी इस्तेमाल किया जाता है। चिकित्सीय क्षेत्र में मैग्नेसिया एक उत्तम प्रति-अम्ल (ऐण्टी-एसिड) के रूप में प्रयुक्त होता है।

लवण—प्राविधिक महत्त्व के लवण अनेक हैं। सस्ते, जल-विलेय तथा अपेक्षाकृत निरापद होने के कारण सोडियम लवण विभिन्न उद्योगों में निरन्तर प्रयोग किये जाते हैं। सोडियम लवणों के स्थान पर पोटासियम लवण भी प्रयुक्त हो सकते हैं, और कभी-कभी तो पोटासियम लवण का प्रयोग अधिक लाभदायी माना जाता है। पोटासियम परमैंगनेट तथा क्लोरेट सोडियम लवणों की अपेक्षा अधिक सरलता से केलासित किये जाते हैं इसीलिये वे अधिक परिशुद्ध अवस्था में प्राप्त किये जा सकते हैं। साधारण कालेगन पाउडर के निर्माण में पोटासियम नाइट्रेट प्रयुक्त होता है क्योंकि वायु माण्डलिक आर्द्रता शोषण गुण के कारण सोडियम नाइट्रेट का प्रयोग अव्यवहार्य है। परन्तु सोडियम नाइट्रेट, नाइट्रोजनीय उर्वरक के रूप में भी बहुतायत से प्रयोग किया जाता है। यह चीली के क्षेत्रों में पाया जाता है। कृषि योग्य भूमि में पोटासियम की कमी उसमें पोटासियम क्लोराइड अथवा सल्फेट डालकर पूरी की जाती है, केनाइट नामक खनिज में यह पोटासियम और मैग्नेसियम के द्विलवण के रूप में विद्यमान होता है। कुछ रंग-द्रव्यों के उत्पादन में पोटासियम फेरोसायनाइड और डाइक्रोमेट संघटक का काम करते हैं। इन रंगद्रव्यों का प्रयोग टैनिंग, रंगीन फोटो छपाई तथा क्रोमियम प्लेटिंग में किया जाता है। पोटासियम फेरोसायनाइड तथा धातवीय सोडियम को एक साथ गरम करके सोडियम और पोटासियम सायनाइडों का एक मिश्रण तैयार किया जाता है, जिसका प्रयोग स्वर्ण निस्सारण की मैकार्थर-फॉरेस्ट विधा में होता है। रंजक पदार्थों के उत्पादन में सोडियम नाइट्राइट का प्रयोग बड़े आधारभूत महत्त्व का है। चीली-साल्टपीटर अर्थात् सोडियम नाइट्रेट को सीस के साथ गरम करके सोडियम नाइट्राइट बनाया जाता है, इस विधा में प्रयुक्त होनेवाला सीस (लेड) नाइट्रोजन स्थिरीकरण उद्योग में एक उप-जात के रूप में प्राप्त होता है। सोडियम फार्मालिडहाइड सल्फोआक्ज़िलेट इसका एक दूसरा महत्त्वपूर्ण लवण है, इसे 'रोंगालाइट' भी कहते हैं। इसे बनाने के लिए पहले सोडियम मेटाबाइसल्फाइट पर यशद (ज़िंक) की प्रतिक्रिया करायी जाती है और फिर उत्पन्न वस्तु का फार्मालिडहाइड द्वारा उपचार कराया जाता है। यह कैलिको की छपाई में प्रयुक्त होता है। सोडियम सिलिकेट अर्थात् वाटर-ग्लास अण्डों के परिरक्षणार्थ प्रयुक्त होता है। कार्बोनेट पत्थर भवनों को जलवायु प्रभाव से बचाने के लिए भी वाटर-ग्लास का प्रयोग होता है।

अमोनियम सल्फेट का उल्लेख एक महत्त्वपूर्ण कृत्रिम खाद के रूप में पहले ही

किया जा चुका है। इसका क्लोराइड टाँका लगाने में इस्तेमाल किया जाता है। तथा उसका विलयन लेक्लांकी सेलों में विद्युदंश्य (एलेक्ट्रोलाइट) का काम करता है। नाइट्रेट का प्रयोग विस्फोटक मिश्रणों के संघटक के रूप में होता है तथा यह नाइट्रस आक्साइड-जैसे निश्चेतन गैसों का स्रोत भी है। वाणिज्यिक अमोनियम कार्बोनेट स्मेलिंग-साल्टों का मुख्य संघटक भी होता है। अन्य महत्त्वपूर्ण लवणों में बोरैक्स का उल्लेख किया जा सकता है, इसका प्रयोग काच बनाने में, संधान (वेल्डिंग) में तथा औषध के रूप में किया जाता है। सोडियम परबोरेट और सोडियम मेटासिलिकेट कपड़ा धुलाई में अपक्षालक[1] के रूप में प्रयुक्त होते हैं। सोडियम हेक्ज़ामेटा फासफेट जल मृदूकरण के लिए इस्तेमाल होता है तथा बड़े पैमाने पर उसका उत्पादन किया जाता है।

बेरियम और स्ट्रान्शियम लवणों का प्रयोग आतशबाज़ी में होता है, बेरियम से हरा तथा स्ट्रान्शियम से लाल रंग का प्रकाश निकलता है। मैग्नेसियम सल्फेट अर्थात् 'एप्सम साल्ट' तथा सोडियम सल्फेट यानी 'ग्लाबर्स साल्ट' रेचक के रूप में प्रयुक्त होते हैं। पारद के लवण औषध के लिए इस्तेमाल होते हैं, इनमें कैलोमेल विशेष उल्लेखनीय है। मरक्यूरिक क्लोराइड अर्थात् कोरोसिव सब्लीमेट एक उत्तम प्रतिपूयिक भी है तथा फल्मिनेट कारतूस की टोपी दगाने के काम में आता है। यशद क्लोराइड का प्रयोग लकड़ी के परिरक्षण के लिए किया जाता है तथा सूती वस्त्रों के भराव के लिए भी इस्तेमाल होता है। यशद क्लोराइड और आक्साइड को चूर्णित काच को साथ मिला कर दन्त भराव के लिए भी इस्तेमाल किया जाता है। घावों के धोने तथा नेत्र रोगों के लिए यशद सल्फेट का जलीय विलयन एक उत्तम कषाय लोशन का काम करता है। पैठिक सीस कार्बोनेट अर्थात् 'ह्वाइट लेड' का प्रयोग रंग लेप बनाने में होता है। सीस एज़ाइड बड़ा विस्फोटक पदार्थ है अतः उसका प्रयोग तदर्थ किया जाता है। बिसमथ तथा लौह लवणों का प्रयोग औषध के रूप में होता है। लौह सल्फेट स्वर्ण निस्सारण विधा में भी प्रयुक्त होता है।

कुछ पराक्सी यौगिकों का उल्लेख करना भी आवश्यक है क्योंकि उनका भी बड़ा प्राविधिक महत्त्व है। अलुमिनियम की तश्तरियों में रखे सोडियम पर तप्त हवा की क्रिया से सोडियम पराक्साइड प्राप्त होता है तथा सोडियम अथवा पोटासियम पर-सल्फेट बनाने के लिए बाइसल्फेटों का विद्युदांशन[2] करना पड़ता है। अमोनियम

[1] Detergent [2] Electrolysing

परसल्फेट बनाने के लिए भी अमोनियम सल्फेट के सल्फ्युरिक अम्ल विलयन में विद्युत धारा प्रवाहित करायी जाती है। इन लवणों का उपयोग विरंजनकारक तथा स्वच्छ कारक के रूप में होता है। हाइड्रोजन पराक्साइड भी एक दूसरा विरंजनकारक है, विशेषकर ऊन के लिए; गैस बनाने के लिए शीत जल में कार्बन डाइक्साइड प्रवाहित कराके उसमें धीरे-धीरे बेरियम पराक्साइड डाला जाता है। अविलेय बेरियम कार्बोनेट के नीचे बैठ जाने पर स्वच्छ द्रव को न्यून दबाव पर सांद्रित किया जाता है।

विलायक—गत कुछ वर्षों में विलायकों की संख्या तथा उनके औद्योगिक प्रयोग दोनों में महती वृद्धि हुई है। इनका प्रतिपादन निम्नलिखित वर्गों के आधार पर किया जायगा : हाइड्रो कार्वन तथा अन्य विलायक, कीटोन, ऐल्कोहाल तथा उनके ईथर, एस्टर, ग्लाइकोल, साइक्लोहेक्ज़ेन व्युत्पत्तियाँ, क्लोरो-यौगिक, तथा सुघट्यन (प्लैस्टिसाइज़िग) विलायक। प्रस्तुत विवेचन में प्रत्येक वर्ग के केवल कुछ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण यौगिकों का ही उल्लेख संभव है। रासायनिक निर्माण की बहुसंख्यक विधाओं में उनके प्रयोग के अलावा वे प्रलाक्षों[1], रंग लेपों और वार्निशों के उत्पादन में भी व्यापक रूप से प्रयुक्त होते हैं।

कोलतार के प्रभाजन आसवन[2] से प्राप्त बेन्ज़ीन, टोलुईन और ज़ाइलीन के विलायकों के रूप में बहुसंख्यक प्रयोग होते हैं। टोलुईन तो विशेष रूप से रेज़ीनों को घुलाने के काम में आती है तथा प्रलाक्षों के तनूकर्ता[3] के रूप में भी बहुत उपयुक्त होती है। अनेक विशाल रासायनिक निर्माण विधाओं में पेट्रोलियम हाइड्रोकार्वनों का प्रयोग विलायकों के रूप में होता है, उनका सस्ता होना उनकी विशेषता है। उनकी विविध श्रेणियाँ—पेट्रोलियम ईथर, लिग्रायन, नैप्था तथा ह्वाइट स्पिरिट के नाम से उपलब्ध होती हैं तथा इनके विभिन्न क्वथनांक होते हैं। पेट्रोलियम विलायक नैप्था के हाइड्रोजन से ऐसे हाइड्रोकार्बन तैयार किये गये हैं जो रेज़िल प्रकार के संलिष्ट रेजीनों के लिए उत्तम विलायक का काम करते हैं। कार्बन डाइ सल्फाइड का आविष्कार लैम्पाडियस ने १७९६ ई० में किया और कार्बन के साथ लौह माक्षिक का आसवन करके इसे तैयार किया था। यह एक वाष्पशील, विषाक्त तथा अति वर्तनाय (रिफ्रैक्टिग) द्रव है जो जल से भारी होता है। साधारणतया उपलब्ध कार्बन डाइसल्फाइड की गन्ध अत्यन्त असहनीय होती है, परन्तु शुद्ध यौगिक की गन्ध ईथर के

[1] Lacquers
[2] Fractional distillation
[3] Diluent

समान होती है तथा बहुत असुखकर नहीं होती। विशेष प्रकार की बनी विद्युद्भट्ठियों में चारकोल और गंधक का सीधा संयोग न कराकर कार्बन डाइ सल्फाइड का निर्माण किया जाता है। इसके अनेक प्रयोग हैं—इसमें गंधक, निर्यास (गम), रबर, फास्फोरस, रेज़ीन, वाष्पशील तैल, आयोडीन तथा ऐल्कलायड विलीन हो जाते हैं। विस्कोज कृत्रिम रेशम के उत्पादन में इसका व्यापक प्रयोग इसके मुख्य उपयोगों में से हैं। खली में से वसीय तेलों के निस्सारण के लिए भी इसका इस्तेमाल किया जाता है और बाद में आसवन से पृथक करके आगे इस्तेमाल के लिए पुनः प्राप्त कर लिया जाता है। इसमें गंधक का विलयन रबर के वल्कनीकरण के लिए प्रयुक्त होता है।

कीटोन वर्ग का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण विलायक एसिटोन है। कुछ वर्षों के पहले तक यह लकड़ी के भंजक आसवन के अन्तिम पदार्थों में से ही प्राप्त किया जाता था परन्तु अब इसके निर्माण की अन्य विधाएं भी ज्ञात हो गयी हैं। लकड़ी के भंजक आसवन की उत्पत्तियों में से एसेटिक अम्ल भी एक है, और जब चूने के द्वारा इसे उदासीन करके प्राप्त कैल्सियम एसिटेट को छिछले रिटार्टों में सीधे आग की आँच से गरम करके उसका आसवन किया जाता है तो अपरिष्कृत एसिटोन प्राप्त होता है। तत्पश्चात् थोड़े सल्फ्युरिक अम्ल के साथ प्रभाजन आसवन करने से शुद्ध एसिटोन तैयार होता है। लेकिन आजकल उपलब्ध एसिटोन की अधिकांश मात्रा एन-ब्युटिल ऐल्कोहाल के साथ-साथ फर्नबैक-स्ट्रेन्ज-वीज़मैन विधा से मकई के आटे का किण्वन करके प्राप्त की जाती है। उत्तरी अमेरिका के प्रशान्त महासागर के समुद्र तट पर उत्पन्न होनेवाले एक प्रकार के समुद्र घास के किण्वन से भी एसिटोन बनाया जाता है। उपयुक्त जीवाणु के रोपण से एसेटिक अम्ल तथा उसके साथ उस सजातीय श्रेणी के अन्य अम्ल उत्पन्न होते हैं, इनके कैल्सियम लवण के आसवन से एसिटोट तैयार होता है। आजकल कनाडा में क्रियान्वित होनेवाली एक निर्माण विधा में एसेटिलीन तथा वाष्प का उच्च ताप पर उत्प्रेरक (कटेलिटिक) उपचार करके एसिटोन तैयार किया जाता है। एसिटोन सर्वाधिक शक्तिशाली विलायकों में से एक है, इसीलिए विस्फोटक निर्माण, रंगलेप, वार्निस तथा प्लैस्टिक उद्योगों-जैसे अनेक रासायनिक कार्यों में इसका बड़ा व्यापक प्रयोग होता है।

मिथेनॉल ऐल्कोहाल वर्ग का एक महत्त्वपूर्ण विलायक है। कुछ समय पूर्व तक यह भी एसिटिक अम्ल के साथ-साथ काष्ठ आसवन से ही तैयार किया जाता था लेकिन अब यह वाटर-गैस से संश्लेषण विधाओं द्वारा प्राप्त किया जाता है। एक भाग (आयतन) कार्बन मानो ऑक्साइड तथा डेढ़ से दो भाग हाइड्रोजन को १५०—२०० वायुमण्डल दबाव तथा ४००°—४२०° ताप पर यशद ऑक्साइड के ऊपर पार करानें

से जो द्रव प्राप्त होता है उसमें मुख्यतः मिथिल ऐल्कोहाल तथा जल होता है। उसी प्रकार वाटर-गैस और हाइड्रोजन से भी ५०० वायुमण्डल दबाव पर मिथिल एल्कोहाल उत्पन्न होता है, जिसका सांद्रण प्रायः ८०% होता है। इसमें इथिल सेलुलोज, कोलोफोनी, लाख, मृदु बेकालाइट तथा अण्डी का तेल विलीन होता है। इथेनाल अर्थात् इथिल ऐल्कोहाल भी किण्वन विधा से ही बनाया जाता है तथा रासायनिक उद्योगों में प्रलाक्ष वगैरह बनाने में प्रयुक्त होता है। लेकिन आजकल बहुत से प्राविधिक प्रयोजनों में इसका इस्तेमाल बन्द कर दिया गया है क्योंकि आइसोप्रोपिल ऐल्कोहल इससे सस्ता होता है और इससे कम उपयोगी नहीं होता। एसिटोन और हाइड्रोजन गैस को उत्प्रेरक निकेल[1] के ऊपर पार कराने से आइसोप्रोपिल एल्कोह ल का संश्लेषण होता है। किण्वन विधा से एसिटोन के उत्पादन में एन-ब्युटिल एल्कोहाल भी उत्पन्न होता है और यह बड़ी मात्राओं में इस्तेमाल किया जाता है। इसका विशेष गुण यह है कि इसमें कठोर कोपल[2] (समुद्यास) भी सरलता से घुल जाते हैं। इसकी थोड़ी मात्रा (लगभग ३%) डालने से मिथिलीयित स्पिरिट और पेट्रोलियम हाइड्रोकार्बन एकसम मिल जाते हैं। सेमिल ऐल्कोहाल भी इस वर्ग का एक महत्त्वपूर्ण विलायक है, यह किण्वन विधा अथवा लघु पेट्रोलियम के पेन्टेन प्रभाग से संश्लेषण द्वारा तैयार किया जाता है। डाइएसिटोन ऐल्कोहाल इस वर्ग का अन्तिम विलायक है जिसके प्रयोग की भविष्य में बड़ी व्यापक संभावनाएँ हैं, इसका निर्माण क्षारों की सहायता से एसिटोन के संघनन से किया जाता है। यह गंधहीन और रंगहीन द्रव है जो जल के साथ सर्वथा मेल्य है और सेलुलोज़ एसिटेट प्रलाक्षों के लिए तो विशेष महत्त्व का है।

विलायकों के रूप में इस्तेमाल करने के लिए आजकल बहुत-से एस्टर[3] भी औद्योगिक पैमाने पर उत्पन्न किये जाते हैं। इनमें मिथिल एसिटेट, इथिल एसिटेट ऐमिल एसिटेट तथा इथिल लैक्टेट विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ये उच्च क्वथनांक वाले अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विलायक हैं, जिनकी सेलुलोज़ एसिटेट तथा सेलुलोज़ नाइट्रेट दोनों के लिए बड़ी उपयोगिता है।

ग्लाइकोल वर्ग का सबसे मूल्यवान् विलायक इथिलीन ग्लाइकोल मोनोइथिल ईथर है जिसे 'सिलोसाल्व' भी कहते हैं। इसके निर्माण के लिए पहले इथिलीन को आक्सीकृत करके इथिलीन आक्साइड बनाया जाता है और तब इसी को अम्ल की

[1] Nickel catalyst [2] Copal [3] Estsrs

उपस्थिति में इथिल ऐल्कोहाल के साथ संघनित किया जाता है। यह सेलुलोज़ नाइ-ट्रेट तथा साइक्लोहेक्ज़ानोन-फार्मालिडहाइड रेज़ीन के लिए बड़ा उत्तम विलायक है। डाइइथिलीन ग्लाइकोल मोनोइथिल ईथर, जिसका अधिक सही नाम हाइड्राक्सी-इथाक्सी इथिल ईथर है और वाणिज्य में जिसे 'कार्बिटॉल' कहते हैं, टेक्स्टाइल साबुन बनाने एवं रंगीन छपाई में काम आता है। विलायकों के रूप में इस्तेमाल किये जाने वाले सभी ग्लाइकोलों का वर्णन यहाँ संभव नहीं है, आजकल ऐसे लगभग २० विलायक औद्योगिक पैमाने पर तैयार किये जाते हैं।

अगले वर्ग का मूल पदार्थ साइक्लोहेक्ज़ेनॉल है, जो फिनाल के उत्प्रेरक हाइड्रोजनन से तैयार किया जाता है। फिनाल का उपचार उत्प्रेरक निकेल की उपस्थिति में कम से कम ४ वायुमण्डल दबाव पर हाइड्रोजन से १६०°—२००° ताप पर किया जाता है। यह शोधित विलायक तैलीय द्रव के समान होता है जिसमें कर्पूरीय गंध होती है। यह हाइड्रोजनन अगर २००° ताप के बहुत ऊपर किया जाय तो साइक्लोहेक्ज़ानोन बन जाता है, यह यौगिक तथा इसकी मिथिल व्युत्पत्ति बड़े शक्तिशाली विलायक हैं; वर्तमान प्राविधिक क्रियाओं में इनका बड़ा महत्त्व है।

क्लोरिनित विलायक भी बहुत समय से इस्तेमाल किये जाते हैं और इनकी मुख्य उपयोगिता विभिन्न प्रकार की निस्सारण विधाओं में रही है। इथिलीन डाइक्लो-राइड ट्राइक्लोराइथिलीन (वेस्ट्रोसोल), टेट्राक्लोरइथेन (वेस्ट्रॉन), तथा टेट्राक्लो-रइथिलीन व्यापकतः प्रयुक्त होते हैं। डाइक्लोरइथिलीन विशेषरूप से रबर के लिए प्रभावी विलायक माना जाता है। कार्बन टेट्राक्लोराइड बहुमूल्य विलायक होने के अतिरिक्त अग्नि बुझानेवाले पदार्थों के संघटक के रूप में भी इस्तेमाल होता है। कार्बन डाइसल्फाइड पर सल्फर अथवा आयोडीन की उपस्थिति में क्लोरीन या सल्फ़र क्लोराइड की क्रिया से कार्बन टेट्राक्लोराइड तैयार किया जाता है। क्लोरोफार्म का प्रयोग यद्यपि विश्लेषण कार्यों में खूब होता है, लेकिन औद्योगिक विधाओं में उतना इस्तेमाल नहीं किया जाता जितना उपर्युक्त अन्य विलायक किये जाते हैं। परन्तु निश्चेतक के रूप में आज भी इसका मुख्य स्थान है।

प्लास्टिककर्ताओं (प्लैस्टिसाइज़र्स) का एक अलग वर्ग है, जिनकी वाष्पशीलता कम होती है तथा जिनसे सेलुलोज़एस्टरों के लचीलेपन में काफी वृद्धि होती है। प्ला-स्टिक कर्ताओं के उपयुक्त प्रयोग से सेलुलोज़ एस्टरों की झिल्लियों की भंगुरता कम की जा सकती है, जिससे फट जाने की उनकी स्वाभाविक प्रवृत्ति बदल जाती है। कपूर प्लास्टिककर्ताओं में अग्रणी है, यद्यपि सेलुलायड बनाने में तो वह अब भी कुछ हद तक इस्तेमाल किया जाता है, लेकिन अन्य क्रियाओं में उससे अधिक उपयुक्त दूसरे

पदार्थ उसका स्थान लेते जा रहे हैं, ये अधिकांशतः उच्च क्वथनांकवाले एस्टर होते हैं। ट्राइक्रिसिल फास्फेट अर्थात् ट्राइटोलिल फास्फेट (टी० सी० पी०), ट्राइए-सेटीन तथा डाइब्युटाइल थैलेट बड़े व्यापक प्रयोगवाले प्लास्टिककर्ता हैं। इस वर्ग का महत्त्व इस बात से स्पष्ट हो जाता है कि अब तक ६० से ऊपर प्लास्टिककर्त्ताओं का अनुसन्धान हुआ है और लगभग एक दर्जन का तो औद्योगिक पैमाने पर उत्पादन भी होने लगा है।

प्रयोगशाला रसद्रव्य—रासायनिक उत्पत्तियों के अन्तर्गत अब तक जिन पदार्थों का वर्णन किया गया है उनकी संख्या साधारणतया प्रयोग में आनेवाले सभी रासायनिक यौगिकों की तुलना में बहुत ही कम है तथा उनमें प्रयोगशालाओं में काम आनेवाले अथवा आज के केवल वैज्ञानिक महत्त्ववाले रसद्रव्य शामिल नहीं हैं; इनकी तो अपनी ही संख्या काफी बड़ी है। यह नहीं कहा जा सकता कि 'आज के' केवल वैज्ञानिक महत्त्ववाले रासायनिक यौगिकों की कब और किस हद तक व्यावहारिक उपयोगिता होगी, क्योंकि अनेक ऐसे तत्त्वों और यौगिकों की, जो एक समय केवल वैज्ञानिक जिज्ञासा के विषय थे, आज औद्योगिक महत्ता का अनुमान करना कठिन है। विश्लेषण फलों की यथार्थता इतनी महत्त्वपूर्ण है कि प्रतिकर्मक रूप में प्रयुक्त होनेवाले शुद्ध रसद्रव्यों की यथेष्ट उपलब्धि किसी भी प्रयोगशाला के लिए अनिवार्य है। प्रायः सभी क्रय-विक्रय विश्लेषण-आँकड़ों पर ही आधारित होते हैं और इन्हीं आंकड़ों के द्वारा विभिन्न प्राविधिक क्रियाओं की जाँच एवं नियंत्रण किया जाता है। प्रतिकर्मक की विशुद्धता पर ही विविध रासायनिक अन्वेषणों की सुतथ्यता निर्भर करती है।

१९१४-१८ वाले प्रथम महायुद्ध काल में इंग्लैण्ड की औद्योगिक एवं अनुसन्धान प्रयोगशालाओं में विश्लेषण प्रतिकर्मकों[1] तथा शुद्ध रसद्रव्यों की भारी कमी हो गयी थी। तभी से वहाँ सूक्ष्म रसायन उद्योग का विस्तार किया गया, फलस्वरूप द्वितीय युद्ध के आपात काल में आयुधों और शस्त्रसंभार के कारखानों की विश्लेषण प्रति-कर्मक तथा शुद्ध रसद्रव्य संबन्धी माँग की संतोषजनक पूर्ति की जा सकी। आजकल उस देश में प्रायः सभी मुख्य विश्लेषण प्रतिकर्मक काफी मात्रा में उत्पन्न किये जा रहे हैं। इन प्रतिकर्मक शुद्धतावाले रसद्रव्यों के धारकों के लेबुलों पर उनमें विद्यमान अशुद्धियों के प्रत्याभूत[2] महत्तम अनुपात लिखे रहते हैं; क्योंकि सर्वोत्तम

[1] Analytical reagents [2] Guaranteed

शुद्धतावाले रसद्रव्यों में भी अति सूक्ष्म मात्रा में विजातीय पदार्थ तो उपस्थित रहते ही हैं।

दस वर्ष पूर्व साधारण प्रयोग में आनेवाले विश्लेषण प्रतिकर्मक प्रायः अकार्बनिक पदार्थ हुआ करते थे, लेकिन आज तो अनेक कोमल परीक्षणों के लिए बहुत से कार्बनिक रसद्रव्य प्रयुक्त होने लगे हैं। इसके फलस्वरूप सूक्ष्म रसद्रव्य निर्माताओं के कार्यक्षेत्र बहुत बढ़ते चले जा रहे हैं। अभी हाल से ही प्रचलित विश्लेषण की सूक्ष्म रासायनिक रीतियों के लिए तो अत्यन्त शुद्धतावाले प्रतिकर्मकों की आवश्यकता होने लगी है। जीव रासायनिक अनुसन्धानों के लिए ऐसे विश्लेषणों का बड़ा महत्त्व है।

निश्चेतक (एनेस्थेटिक)—निश्चेतकों के आविष्कार द्वारा रसायन-विज्ञान से मानव जाति को बहुत बड़ा वरदान मिला है। पिछले कुछ वर्षों में निश्चेतन विज्ञान ने भी काफी प्रगति की है, नये-नये निश्चेतकों का प्रयोग होने लगा है तथा उनकी प्रयोग-विधि में भी परिवर्तन हुआ है। कुशल निश्चेतन से न केवल रोगी पीड़ामुक्त हो जाता है वरन शल्यक को भी बड़ी सरलता होती है। इसमें सन्देह नहीं कि वर्तमान निश्चेतकों के प्रयोग के बिना बहुत-सी जटिल एवं जीवन-रक्षी शल्यचिकित्सा संभव न हो सकी होती। ऐसे यौगिकों को निम्नलिखित वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—(१) श्वास-निश्चेतक, (२) आधारीय प्रमीलक (बेसल नारकोटिक), (३) प्रादेशिक निश्चेतक तथा (४) स्थानीय निश्चेतक।

निश्चेतनता उत्पन्न करने के लिए प्रयुक्त होनेवाले यौगिकों में क्लोरोफार्म का सबसे पहला स्थान है। १८४७ ई० में लन्दन में लारेन्स ने तथा एडिनबरों में सिम्पसन ने इसका प्रयोग किया था। एल्कोहाल अथवा एसिटोन पर ब्लीचिंग पाउडर की क्रिया कराकर क्लोरोफार्म बनाया जाता है, लेकिन निश्चेतनता के लिए इसका शोधन बड़ी सावधानी से करना पड़ता है। इसकी उच्च विषालुता हानिकर होती है, इसीलिए आजकल इसके स्थान पर ईथर इस्तेमाल होने लगा है क्योंकि अपेक्षाकृत ईथर की विषालुता कम होती है। अब तो बहुधा नाइट्रस आक्साइड और ईथर का मिश्रण प्रयुक्त होने लगा है। अमोनियम नाइट्रेट से नाइट्रस आक्साइड के उत्पादन का उल्लेख किया जा चुका है। ईथर, ऐल्कोहाल पर सल्फ्युरिक अम्ल की प्रतिक्रिया से तैयार किया जाता है।

वर्तमान प्रथा में आधारीय प्रमीलकों (बेसल नारकोटिक) का पूर्वौषधदान (प्रीमेडिकेशन) करके चेतना का लोप किया जाने लगा है, फिर पूर्ण शल्यक निश्चेतनता श्वास-निश्चेतक देकर उत्पन्न की जाती है। इस वर्ग में मुख्यतः दो यौगिकों का उल्लेख

किया जा सकता है: (१) ट्राइब्रोमो-इथिल एल्कोहाल, जिसका प्रयोग वस्तिकर्म द्वारा कराया जाता है तथा (२) हेक्ज़ोबार्बिटोन, जो आन्तरशिरा[1] सूई लगाकर दिया जाता है। द्वितीय यौगिक बार्बिटुरेट वर्ग का भेषज है, जिसमें बहुत-से लाभकारी संमोहक (हिप्नॉटिक) भी शामिल हैं। "वैरोनल" अथवा "मेडिनल" नाम से प्रसिद्ध बार्बिटोन स्वयं इसी वर्ग का है। छोटी-छोटी शल्य क्रियाओं के लिए तो प्राय: आधारी प्रमीलक का प्रयोग ही पर्याप्त होता है और इससे श्वास निश्चेतकों से उत्पन्न होनेवाले अप्रिय अनुप्रभावों (आफ्टर इफेक्ट्स) से रोगी बच जाता है।

स्थानीय निश्चेतकों में सबसे महत्त्वपूर्ण एवं व्यापक रूप से प्रयुक्त होनेवाला संश्लिष्ट यौगिक प्रोकेन हाइड्रोक्लोराइड है, जिसे "नोवोकेन" भी कहते हैं। संश्लिष्ट पदार्थों में यह सबसे सफल माना गया है तथा इसने कोकेन को भी प्रतिस्थापित किया है। कोकेन यद्यपि बड़ा सूक्ष्म स्थानीय निश्चेतक है, लेकिन इसके प्रयोग से बड़े विषालु लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। कोका की पत्तियों में कोकेन प्राकृतिक रूप से होता है तथा इसकी रासायनिक संरचना का भी पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लिया गया है, लेकिन संश्लेषण से इसका बड़े पैमाने पर उत्पादन करने का कभी प्रयत्न नहीं किया गया। इसका कारण यह है कि अपेक्षाकृत अन्य सरल यौगिक इससे अधिक संतोषप्रद निश्चेतक सिद्ध हुए हैं।

भेषज--औषध रूप में प्रयुक्त होनेवाले बहुत-से भेषज वनस्पति मूल से उत्पन्न हुए हैं। उदाहरणार्थ क्वीनीन का उल्लेख किया जा सकता है, १८२० ई० में पलेटियर तथा केवेन्टाउ ने इसका आविष्कार किया था। यह सिन्कोना प्रजाति के वृक्षों की छालों में उसी संरचनावाले अन्य यौगिकों के साथ विद्यमान होता है। ब्रैजील सिन्कोना का मूल प्रदेश है, यद्यपि अब तो यह भारत, श्री लंका तथा डच ईस्ट इण्डीज में बड़ी सफलता से उपजाया जाता है। वनस्पति मूल से प्राप्त दूसरा प्रमुख भेषज स्ट्रिकनीन है, जो स्ट्रिक्नॉस नक्सवोमिका (कुचिला) नामक वृक्ष के बीजों से निस्सारित किया जाता है। नेत्र शल्यकों द्वारा बहुतायत से प्रयुक्त होनेवाली ऐट्रोपीन, मिस्री हेनबेन (हायोसियामस मुटिकस) से प्राप्त होती है। यह भी एक ऐल्कलायड है जिसके जलीय विलयन को आँख में डालने से पुतली बड़ी हो जाती है। ऐट्रोपा बेलाडोना में, जिसे 'डेडली नाइटशेड' भी कहते हैं, इसीसे संबन्धित हायोसियामीन तथा हायोसीन ऐल्कलायड होते हैं। पोटासियम हाइड्राक्साइड के उपचार से हायोसियामीन का परिवर्तन होकर ऐट्रोपीन बन जाती है।

[1] Intravenously

प्राकृतिक भेषजों के अलावा अब रसायनज्ञों का ध्यान अधिकाधिक संश्लिष्ट चिकित्सीय पदार्थों की ओर आकृष्ट होने लगा है। इनमें से बहुत-से यौगिक प्रकृति में होते ही नहीं, उदाहरणार्थ सैलिसिलिक अम्ल और उसकी एसिटाइल व्युत्पत्ति, ऐस्पिरीन का उल्लेख किया जा सकता है। ये पदार्थ फिनोल से बनाये जाते हैं और सन्धिवातीय एवं स्नायविक रोगों के उपचारार्थ प्रयुक्त होते हैं। फिनेसिटीन तथा एसेटैनिलाइड नामक ज्वरघ्न (ऐण्टीपायरेटिक) भी फिनोल से बनाये जाते हैं। फिनाज़ोन भी दूसरा ज्वरघ्न है, लेकिन इसके बनाने की रीति भिन्न है, एसिटोएसेटिक एस्टर के साथ फिनाइल हाइड्राज़ीन के संघनन से पाइराज़ोलोन व्युत्पत्ति तैयार होती है और इसी को मिथिलीयित करने से फिनाज़ोन बनता है। आधारीय प्रमीलकों के संबन्ध में उल्लिखित बार्बिटुरेट श्रेणी के बहुत-से संश्लिष्ट भेषज भी बड़े उत्तम संमोहक हैं और स्नायुव्याधियों के उपचार में सामान्य शमक (सिडेटिव) का काम करते हैं। ये यौगिक मेलॉनिक अम्ल व्युत्पत्तियों के साथ यूरिया के संघनन से तैयार किये जाते हैं।

इस शताब्दी के प्रथम दशक में किये गये एर्अलिक के अनुसन्धानों ने धातवीय तत्त्वों के कार्बनिक यौगिकों का समारम्भ किया। ये यौगिक मुख्यतः आर्सेनिक और ऐण्टीमनी के थे और विशेषकर प्रोटोजीवी संक्रमणों के उपचार के लिए प्रयुक्त हुए। इन जटिल कार्बनिक यौगिकों का बड़ा लाभ यह है कि ये उपर्युक्त तत्त्वों के सरल यौगिकों से बहुत कम विषालु होते हैं, परन्तु इनकी चिकित्सीय सक्रियता बड़ी प्रखर होती है। आर्सेनिक यौगिकों में से सालवार्सन, नियोसालवर्सन, ट्राइपार्समाइड, तथा एसिटार्साल व्यापक रूप से प्रयुक्त होते हैं। स्टिबोफेन प्रायः ऐण्टीमनी का सर्वोत्तम कार्बनिक यौगिक है और ऐण्टीमोनियस ऑक्साइड, सोडियम हाइट्राक्साइड तथा पाइरोकैटेचॉल—३:५ डाइसल्फॉनिक अम्ल की प्रतिक्रिया से बनाया जाता है। इसका प्रयोग भारत तथा कुछ पूर्वी भूमध्यसागर के प्रदेशों में सामान्यतः फैले पराश्रयिक रोगों के उपचार के लिए किया जाता है।

'प्राण्टोसील रेड' नामक एक रंजक का आविष्कार पिछले कुछ वर्षों में हुआ। यह इस दिशा का सबसे महत्त्वपूर्ण विकास था। कुछ जीवाणुओं के लिए यह यौगिक निश्चित रूप से अवरोधक सिद्ध हुआ। कुछ ही समय बाद इससे संबन्धित दूसरा यौगिक, प- अमिनोबेन्ज़ीन सल्फोनामाइड बना जिसका चिकित्सीय गुण प्रॉण्टोसील के समान था, लेकिन लाभ यह था कि इसकी विषालुता उससे बहुत कम थी। एतदर्थ यह नया यौगिक निमोनिया, प्रसूतिज्वर रोगाणुरक्तता (सेप्टीसीमिया), स्कार-लेट ज्वर, तथा स्ट्रेप्टोकाक्कीय गलशोथ के उपचार के लिए बड़ा उपयोगी सिद्ध हुआ।

यह पदार्थ एसेटाइल सल्फनिलिक अम्ल का हाइड्रोक्लोरिक अम्ल द्वारा जलांशन करके तथा प्राप्त सल्फेनिल अमाइड हाइड्रोक्लोराइड का सोडियम हाइड्राक्साइड की तुल्य मात्रा से विच्छेदन करके तैयार किया जाता है। इसे साधारणतया सल्फैनिलअमाइड अथवा सल्फोनामाइड कहते हैं। इस वर्ग के यौगिकों के सबन्ध में अनुसन्धान चल रहे हैं और प- अमिनोबेन्जीन-सल्फोनिल-२-अमिनो-पिरिडीन (एम० बी० ६९३') तथा प-अमिनोबेन्ज़ीन सल्फोनिल-२-अमिनो-थायाज़ोल (एम० बी० ७६०) जैसे यौगिक आविष्कृत हुए हैं और इनसे निमोनिया के उपचार में प्रशंसनीय सफलता मिली है। इधर हाल में घावों पर सल्फैनिलैमाइड लगाने से उनके भरने में तथा अन्य जीवाणुओं के आक्रमण का निवारण करने में भी बड़ी अच्छी सफलता प्राप्त हुई है।

पौष्टिक भोजन की कमी से उत्पन्न रोगों के उपचार के लिए विटामिनों का प्रयोग बड़ा ही लाभकारी सिद्ध हुआ है और अब तो प्राकृतिक विटामिनों के अलावा रसायनज्ञों ने इन्हें अपनी प्रयोगशाला में भी तैयार करना प्रारम्भ कर दिया है। निकोटीन से निकोटिनिक अम्ल तथा उसका अमाइड और विटामिन बी जटिल का ऐण्टी-पेलाग्राखण्ड सरलता से उत्पन्न किये जा सकते हैं। विटामिन सी अर्थात् एस्कार्बिक अम्ल भी अब संश्लेषण रीति द्वारा ग्लूकोज़ से भारी पैमाने पर तैयार किया जाने लगा है। विटामिन डी (कैल्सिफेरॉल) बनाने के लिए अर्गोस्टिरोल के विलयन को परानील-लोहित (अल्ट्रावायलेट) प्रकाश द्वारा प्रविकिरण (इरैडियेशन) करके कैल्सिफेरिल ३:५-डाइनाइट्रोबेन्ज़ोयेट के रूप में कैल्सिफेरॉल एकत्र किया जाता है और तब केलासन से शुद्ध किया जाता है तथा अन्त में सोडियम हाइड्राक्साइड के तनिक आधिक्य के साथ उबालकर स्वतंत्र कैल्सिफेरॉल पुनर्जनित कर लिया जाता है। विटामिन ए की रासायनिक संरचना भी अब ज्ञात हो गयी है। वैसे तो यह विटामिन औद्योगिक पैमाने पर मछली यकृत-तेलों से आणवआसवन (मॉलिक्यूलर डिस्टिलेशन) द्वारा बड़ी शुद्धावस्था में उत्पन्न किया जाता है। विटामिन ई (टोकोफेरॉल) भी इसी रीति से वनस्पति तेलों से तैयार किया जाता है। यह विटामिन स्नायविक ह्रास से उत्पन्न मांस-पेशियों के कुछ कठिन रोगों के लिए सफलता पूर्वक प्रयुक्त होता है।

पिछले बीस वर्षों में हुए जीवरासायनिक अनुसन्धानों से वर्तमान हॉर्मोन चिकित्सा का प्रारम्भ हुआ है। ग्रन्थियों की हीनता के कारण उत्पन्न रोगों के उपचारार्थ अब शरीर के अनिवार्य रसद्रव्यों की पूर्ति बाहर से की जाने लगी है। ये रसद्रव्य हॉर्मोन वर्ग के होते हैं। इन्सुलीन सबसे महत्त्वपूर्ण हार्मोन है, यह पैंक्रियास से निस्सारित करके लगभग पिछले बीस वर्षों से औद्योगिक पैमाने पर तैयार किया जाता रहा है।

इस हार्मोन से मधुमेह पीड़ित असंख्य रोगियों को जीवन-दान मिला है। गल-ग्रन्थि (थायरायड) के सक्रियतत्त्व, थायरॉक्सीन का वाणिज्यिक उत्पादन अब संश्लेषण रीति से होने लगा है। रासायनिक अनुसन्धान के औद्योगिक प्रयोग का यह एक उत्तम उदाहरण है। इस क्षेत्र में प्राप्त की गयी हाल की सफलताओं में स्टिल्बोस्टिरॉल तथा हेक्ज़ोस्टिरॉल का संश्लेषण भी है। प्राकृतिक अण्डाशयों के मंहगे फालिक्यूलर हार-मोनों यानी ओस्ट्रियोल तथा ओस्ट्राडायल के स्थान पर अब ये संश्लिष्ट हारमोन बड़ी सफलतापूर्वक इस्तेमाल किये जाते हैं। बहुत-सी दशाओं में तो संश्लिष्ट हार्मोन अच्छे माने जाते हैं क्योंकि उनका मौखिक सेवन प्रभावी होता है जिसके फलस्वरूप सूई लगवाने का कष्ट बच जाता है। अन्तिम उदाहरण के लिए टेस्टेरोस्टिरॉन व प्रोज-स्टिरॉन नामक लिंग हॉर्मोनों के संश्लेषण का उल्लेख किया जा सकता है। इनके संश्लेषण के लिए कोलेस्टिरॉल प्रारम्भिक पदार्थ है। प्रोजेस्टिरॉन कार्पसल्युटियम का हार्मोन है और स्वाभाविक गर्भस्राव तथा संबन्धित स्त्री-रोगों के उपचारार्थ प्रयुक्त होता है। टेस्टेरोस्टिरॉन पुरुष लिंग हार्मोन है।

उपर्युक्त उदाहरण पाठकों को केवल यह दर्शाने के लिए चुने गये हैं कि बहुसंख्यक औद्योगिक शाखाओं, प्रशाखाओं में रसद्रव्यों का क्या महत्त्व है, पूर्ण विवरण तो स्थाना-भाव के कारण संभव ही नहीं है।

ग्रंथ-सूची

ARMSTRONG, E. F. : *Chemistry in the Twentieth Century*. Ernest Benn, Ltd.

BARROWCLIFF, M., AND CARR, F. H. : *Organic Medicinal Chemicals*. Bailliere, Tindall & Cox.

FEIGL, F. : *Qualitative Analysis by Spot Tests*. Translated by J. Matthews. Nordeman Publishing Co.

MARTIN, G. : *Industrial and Manufacturing Chemistry*. Technical Press, Ltd.

MAY, P., AND DYSON, G. M. : *Chemistry of Synthetic Drugs*. Longmans, Green & Co., Ltd.

MELLOR, J. W. : *Modern Inorganic Chemistry*. Longmans, Green & Co., Ltd.

MIALL, S. : *History of the British Chemical Industry*. Ernest Benn, Ltd.

ROSIN, J. : *Reagent Chemical and Standards*. D. Van Nostrand Co.

VANINO, L. : *Praparative Chemie*. Ferdinand Emke, Stuttgart.

अध्याय ८

रंजक पदार्थ

विरंजन, रंगाई, रंगीन छपाई, और परिरूपण; विस्फोटक

रंजक पदार्थ

डब्लू० ए० सिल्वेस्टर, एम० एस-सी० (शेफील्ड)

रंजक पदार्थों का उद्योग निराला है क्योंकि मानव इतिहास में इसकी समानता नहीं पायी जाती। इसके संदर्भ में यह प्रश्न नहीं कि उद्योग-विशेष रसायनविज्ञान का किस हद तक ऋणी है, क्योंकि यह प्रश्न तो तभी उठता है जब चीज़ परम्परागत प्राप्त हो और आगे चलकर उसमें कुछ नये हितकारी सिद्धान्तों का समावेश करके उसका विकास किया जाय। परन्तु रंजक पदार्थ-उद्योग तो सम्पूर्णतया रसायन विज्ञान का ही व्यावहारिक स्वरूप है।

दो पीढ़ी पहले अपने वस्त्रों और पर्दों इत्यादि के रंगने के लिए प्राकृतिक रंगों पर ही निर्भर रहना पड़ता था और ये प्राकृतिक रंग प्रायः वनस्पतियों से ही प्राप्त होते थे। इनके बनाने की रीतियाँ पुरानी थीं, तथा भौगोलिक रूप से पृथक और कृषि एवं वनोद्योग की उपांग मात्र थीं।

नीले रंग के लिए भारत से नील (इण्डिगो), तथा लाल रंग विशेषकर विख्यात टर्की रेड के लिए दक्खिनी फ्रांस से मैडर प्राप्त होते थे। कोचिनियल, कच, फारसी बेरी, फुस्टिक तथा लागउड रंगों के अन्य मूल स्रोत थे। इन प्राकृतिक रंजकों में सस्ते होने के नाते अब केवल लागउड, फारसी बदरी, फुस्टिक तथा कच ही औद्योगिक देशों में शष बच गये हैं, यद्यपि उनका प्रयोग भी बहुत कम होता जा रहा है क्योंकि उनकी विधाएँ जटिल होती हैं। नीचे की सारणी से मैडर के ह्रास का पता लगेगा।

ब्रिटेन में मैडर का आयात

वर्ष	टन
१८५९-६८ (औसत)	१५,०००
१८७५	५,०००
१८७८	१,६५०
तदनन्तर	कुछ नहीं

कृत्रिम एलिज़रीन का उत्पादन

वर्ष	जर्मनी	इंग्लैण्ड
१८७०	कुछ नहीं	४० टन
१८७३	९०० टन (लगभग)	४३० टन (लगभग)
१९१२	१६०० (लगभग)	४०० टन (लगभग)

(**टिप्पणी**—एलेज़रीन एक रासायनिक पदार्थ है जो मैंडर में विद्यमान रंजक है और उससे निस्सारित किया जा सकता है। दक्खिनी फ्रान्स में मैडर की जड़ों को 'एलिज़री' कहते हैं और उसी से इस रासायनिक पदार्थ का नाम भी 'एलिज़रीन' पड़ गया। यह नाम उसकी रासायनिक संरचना ज्ञात होने के पूर्व ही प्रचलित हुआ था क्योंकि उस समय उसका नियमित रासायनिक नामकरण नहीं हो सकता था। यह रासायनिकतः १:२-डाइहाइड्रॉक्सी ऐन्थ्राक्वीनोन है।)

प्राकृतिक नील की भी वही दशा हुई जो मैडर की; यह भी निम्नलिखित सारणी से स्पष्ट है। यह उल्लेखनीय है कि प्राकृतिक नील समान गुणवाला नहीं होता तथा उसका प्रयोग भी कष्टदायी होता है।

भारत में नील की खेती

वर्ष	एकड़
१८९३-९८ (औसत)	१,४०६,०००
१९०२	४८७,०००
१९१३	१११,८००
१९१७	७५६,०००
१९२९	७०,८०८
१९३८	५४,९७७ (जिससे २९० टन नील प्राप्त हुआ था)

कृत्रिम नील का जर्मनी से निर्यात

वर्ष	टन (लगभग)
१८९८ (प्रथम वर्ष)	९२०
१९०१	२,६७०
१९१२	१९,४००

मैडर और नील उद्योगों को रसायनविज्ञान की देन या अभिशाप कहिए, यही है कि उसने उनको सर्वथा समाप्त कर दिया है। इस समाप्ति से प्रागैतिहासिक काल से चली आ रही ब्रिटेन में वोड की उपज भी समाप्त हो गयी। यूरोप में नील रंगाई में वोड इस्तेमाल किया जाता था, लेकिन अब तो लिंकनशायर की वोड मिलें जनता के लिए केवल कौतुकालय मात्र रह गयी हैं।

इस प्रकार प्राकृतिक रंजकों की कहानी समाप्त कर हमें कृत्रिम रंजकों की ओर ध्यान देना चाहिए। इससे हमें ज्ञात होगा कि कृत्रिम एलिज़रीन और नील ने अपने प्राकृतिक मूल रूपों को कैसे प्रस्थापित किया।

१९१३ ई० में जर्मन प्राधान्य अपने शिखर पर था, अतः तुलनात्मक अध्ययन के लिए उसी वर्ष को लेना अच्छा होगा।

कृत्रिम रंजकों का उत्पादन

	१९१३	१९२७
	टन	टन
जर्मनी	१२५,०००	७५,०००
स्विज़रलैण्ड	८,०००	८,५००
स० रा० अमे०	३,३००	४२,७५०
इंग्लैण्ड	२,०००	१७,८००
फ्रान्स	१,५००	१२,५००

(**टिप्पणी**—ऊपर लिखी मात्राओं के अतिरिक्त भी, विशेषकर अमेरिका में, कुछ रंजक पदार्थ आयातित अन्तःस्थों से भी बनाये गये थे।)

निर्यात व्यापार में भी जर्मनी का बाहुल्य रहा। यूरोप और अमेरिका के बाहर चीन, भारत और नेदरलैण्डस्, ईस्ट इण्डीज में संश्लिष्ट रंजकों की मुख्य खपत रही और अब भी है।

केवल युनाइटेड किंगडम के ही आँकड़ों को देखने से १९१४-१८ के महायुद्ध से पड़े अन्तर का आभास हो जायगा। ये आंकड़े निम्नलिखित सारणी में दिये गये हैं :

रंजक पदार्थ	आयात	घरेलू निर्माण	
	१९१३	१९१३	१९३५
	टन (लगभग)	टन	टन
अनाश्रित कपास रंजक	३,५००	७५०	४,६८५
सल्फाइड रंजक	२,०००	८६१	३,६७३

अम्ल ऊन रंजक	२,६००	२८२	५,०८९
क्रोम तथा स्थापक रंजक	३,५००	१,९२७	३,२३८
एलिज़रीन रंजक	१,२००		
पैठिक रंजक	८००	१३९	१,५७८
कुण्ड रंजक	१९०	कुछ नहीं	४,४४१
संश्लिष्ट नील रंजक	२,०००		
लाक्षक रंजक	५००	३	८६९
तेल, स्पिरिट और मोम	२०	१०७	१,८३७

कपड़ों की मिलों की रंगाई के लिए प्रयुक्त होनेवाले रंजकों का मूल्य उत्पादित रंगे वस्त्रों के कुल मूल्य का लगभग दसवाँ भाग होता है। संसार भर में रंजकों की वार्षिक उत्पत्ति प्रायः २१ लाख पौण्ड होने से वस्त्रों का वार्षिक व्यापार लगभग २० करोड़ पौण्ड का होता है। इन अंकों से शान्तिकालीन संसार में रंजक उद्योग के महत्त्व का अनुमान लगाया जा सकता है, क्योंकि शान्तिकाल में ही लोगों की रुचि और शोभाचार (फैशन) की प्रवृत्ति सामान्य होती है। युद्धकाल में भी वर्दियों एवं छद्मावरण बनाने के लिए रंजकों का कम महत्त्व नहीं होता।

रंजकों का उद्योग अन्य उद्योगों से काफी जटिल होता है। इस उद्योग में लगे अन्य कर्मचारियों के अनुपात में वैज्ञानिकतः प्रशिक्षित रसायनज्ञों और इंजीनियरों की भारी संख्या से ही यह तथ्य स्पष्ट होता है। केवल रसायनज्ञों का ही अनुपात १:१० का होता है, इसका अर्थ यह है कि जिस कारखाने में ५,००० वैतनिक कर्मचारी हैं उनमें से ५०० केवल रसायनज्ञ होते हैं। इन रसायनज्ञों को दो श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है (१) पूर्ण-कालिक अन्वेषक और (२) अन्य।

इस जटिलता तथा उसके फलस्वरूप वैज्ञानिक प्रशिक्षा प्राप्त कर्मचारियों के भारी अनुपात का कारण समझने के लिए ऊपर दी गयी अन्तिम सारणी में लिखित रंजक वर्गों की ओर ध्यान देना होगा। अनाश्रित कपास (डाइरेक्ट कॉटन) रंजकों से कपास की रंगाई बड़ी सरलता से होती है और यह विधा तो प्रायः सभी घरों में प्रयुक्त होने के नाते सबको ज्ञात होती है। सल्फाइड अथवा सल्फर रंजकों से जलीय घोल में, जिसमें सोडियम सल्फाइड होता है, रंगाई होती है। अम्ल-ऊन रंजक का अर्थ तो स्वयं स्पष्ट है; इससे ऊन की रंगाई अम्लकायित (एसिडुलेटेड) जलीय घोल में की जाती है। क्रोम तथा स्थापक (मॉर्डेण्ट) रंजक द्वारा एक स्थापक सहित रंगाई होती है, यह स्थापक बहुधा क्रोमियम धातु का कोई यौगिक होता है। प्रथम

पैठिक रंजक 'पर्किन्स मॉव' प्रथम संश्लिष्ट रंजक भी था। नील (इण्डिगो) तथा पुराने समय का बैंगनी (पर्पल) कुण्ड रंजक (वैट डाई) कहे जाते हैं, क्योंकि इस वर्ग के रंजकों द्वारा रंगाई उसी प्रकार होती है जैसे इण्डिगो से, यानी एक कुण्ड में भरे शीत अथवा शीतोष्ण विलयन द्वारा उपचार के बाद हवा में फैलाना जिससे रंग उत्पन्न होकर निखर जाय।

रंजकों के प्रयोग की रीतियों में इतनी विभिन्नता है कि कोई एक सहज योजना बनाना संभव नहीं, केवल इतना ही कहना पर्याप्त है कि उपर्युक्त वर्ग-नामों से विभिन्न रंजकों के रासायनिक गुणों का भान होता है तथा रंगनेवालों के योगों (रिसाइप) के लिए वे लेबुल का काम करते हैं। अनाश्रित रंजक सूती वस्त्रों के अलावा सेलुलोज़ एसिटेट तथा पादप-तन्तुओं से बने रेशम को छोड़कर सभी प्रकार के कृत्रिम रेशम के लिए प्रयुक्त होते हैं। सल्फाइड रंजक मुख्यतः सूती वस्त्रों के लिए इस्तेमाल किये जाते हैं। अम्ल ऊन, रंजक ऊन, प्राकृतिक रेशम तथा अन्य प्राणि तन्तुओं और जूट के लिए प्रयोग किये जाते हैं। लेकिन स्थापक (मॉर्डेण्ट) रंजकों के विविध प्रयोग होते हैं, विशेषकर जब किसी निश्चित स्थिरतावाले रंग की आवश्यकता होती है। पैठिक रंजकों का प्रयोग सूती वस्त्रों, कृत्रिम रेशम, और कुछ हद तक ऊन और प्राकृतिक रेशम के लिए होता है। इनकी आभा बड़ी चमकदार होती है, लेकिन प्रकाश में इनकी स्थिरता अधिक नहीं होती। कुण्ड रंजक (वैट डाईस्टफ) अधिकांशतः सूती कपड़ों के लिए इस्तेमाल किये जाते हैं।

वस्त्र छपाई के लिए आजकल रंगों के अनेकानेक योग उपलब्ध हैं और सभी वर्गों के रंजक वस्त्रों की छपाई के काम में आने लगे हैं। लेकिन सौन्दर्यमय छपाई के लिए विशेष सावधानी और विकल्प की आवश्यकता होती है, जिससे कि अगर रंग धूमिल भी पड़े तो समान रूप से पड़े।

आजकल उपर्युक्त वर्गों के अतिरिक्त ऐसे पदार्थ भी हैं जो प्रथमतः रंगहीन होते हैं और जिनसे रंगते समय ही तन्तुओं के ऊपर अथवा उनके अन्दर रासायनिक प्रतिक्रियाओं द्वारा रंजक उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार उत्पन्न रंजक प्रायः जल अविलेय होते हैं। इसलिए ऐसे रंग बड़े स्थिर होते हैं और धुलने पर साफ नहीं होते।

गत लगभग बीस वर्षों के अन्दर विविध प्रकार के रेयान अर्थात् कृत्रिम रेशम के लिए विशिष्ट रंजकों का भी विकास हुआ है जिनका उल्लेख करना आवश्यक है।

रंजकों द्वारा उत्पन्न रंग और उनकी रासायनिक संरचना में कोई निश्चित संबन्ध नहीं होता, जिसका अर्थ यह है कि एक ही वर्ग-नाम, जैसे 'अनाश्रित कपास रंजक'

के अन्तर्गत रासायनिकतः सर्वथा भिन्न अनेक रंजक हैं, जिनसे रंगने पर स्पष्ट और अलग-अलग रंग उत्पन्न होते हैं। और सचमुच आजकल प्रयुक्त होनेवाले १०० से कहीं अधिक ऐसे रस-द्रव्य हैं, जो 'अनाश्रित कपास रंजक' कहे जाते हैं। और उनसे वर्ण-क्रम के सभी रंग——लाल, नारंगी, पीला, हरा, नीला तथा नीललोहित तथा इनके अतिरिक्त भूरा और काला रंग प्राप्त किया जा सकता है। यही बात अन्य वर्गों के रंजकों के संबन्ध में भी सही है।

रंजकों के अलावा कपास, लिनेन, सन, जूट-जैसे प्राकृतिक पादप-तन्तुओं एवं ऊन, बकरी के बाल, फर, ऊँट के बाल, तथा रेशम इत्यादि-जैसे प्राणि तन्तुओं और विस्कोज़ रेयान, एसिटेट रेयान तथा अभी हाल में आविष्कृत नाइलॉन सरीखे कृत्रिम तन्तुओं का भी ध्यान रखना आवश्यक है। ये सभी न केवल देखने छूने में भिन्न होते हैं वरन् रंजकों के प्रति भी इनके व्यवहार बहुत भिन्न होते हैं। सुन्दर और रंग-बिरंगी बुनाई तथा उसकी संभावनाओं का ध्यान रखना भी आवश्यक है, स्त्रियों के लिए ऊनी वस्त्रों पर रेशमी धारियों का प्रभाव उत्पन्न करना, विस्तृत बेल-बूटे के काम, अर्ध ऊनी फ्लैनल, मोज़े और अण्डरवियर के लिए सूत और रेशम की मिश्रित बुनाई, मखमल, दरियों और कालीनों और कम्बलों के लिए रंग तैयार करना——यह सब अलग-अलग समस्याएँ हैं। कभी मूल तन्तुओं को ही रंगा जाता है तो कभी कते सूत को, या निष्पन्न वस्त्र को रंगा या छापा जाता है।

१९१४-१८ वाले महायुद्ध के पहले केवल अर्ध ऊन ही मिश्रित वस्त्र था, लेकिन अब तो अनेक प्रकार के मिश्रित वस्त्र मिलते हैं, उदाहरणार्थ एसिटेट रेशम की मिश्रित बुनाई को लीजिए इसके रंगने के गुण तथा रंग की स्थिरता उसकी अपनी ही विचित्रता होती है। फलस्वरूप इसके लिए विशिष्ट रंजकों की आवश्यकता होती है। विभिन्न आभाओंवाले ऐसे रंजकों को, जिनकी रंगाई तथा स्थिरता के गुण यथा-संभव एकसम होते हैं, 'रेञ्ज' कहा जाता है।

रंगनेवालों तथा वस्त्र छपाई करनेवालों से रंजक-निर्माताओं के पास उनकी विशिष्ट समस्याएँ निरन्तर आया करती हैं। बहुत-से प्रश्न तो प्रायः उनकी दैनिक कठिनाइयों के बारे में होते हैं, लेकिन कुछ बड़े व्यापक और आधारभूत होते हैं। साथ-साथ रंजक-निर्माता भी अपने उत्पादनों के संबन्ध में अन्वेषण करने में सदा लगे रहते हैं कि वे किन-किन प्रकारों से प्रयुक्त हो सकते हैं अथवा उनकी व्यावहारिक विषमताएं कैसे सुलझाई जा सकती हैं।

जनता के फैशन सदा बदलते रहते हैं तथा उन समुदाय के सौन्दर्य के प्रतिमान एवं आर्थिक व्यवस्था में बराबर उतार चढ़ाव होते रहते हैं, जिनके फलस्वरूप शोभा-

चार के वस्त्रों के विकास में भी निरन्तर परिवर्तन होते रहते हैं जिसके लिए वैज्ञानिकों की अन्वेषण-प्रतिभा सतत सक्रिय बनी रहती है। जो समस्या रंगनेवालों से स्वयं अथवा रंजक-निर्माता के रंगाई विशेषज्ञ की सहायता से नहीं सुलझ पाती, उसे रंजक रसायनज्ञ के समक्ष उपस्थित किया जाता है और यदि संभव हुआ तो वह कोई नया रंजक पदार्थ उत्पन्न करता है जो रंगनेवालों की समस्या का समुचित समाधान कर सके। इस प्रकार किसी कारखाने के 'रेन्ज' को विस्तृत करने का सतत प्रयत्न होता रहता है और स्पर्धी उत्पादकों से आगे बढ़े रहने की सदा चेष्टा रहती है। इससे यह न समझना चाहिए कि विभिन्न निर्माताओं द्वारा निर्मित रंजक भिन्न-भिन्न होते हैं बल्कि वस्तुस्थिति यह है कि साधारणतया बाजार में बिकनेवाले रंजकों में से अधिकांश एक होते हैं—चाहे वे अलग-अलग निर्माताओं द्वारा निष्पन्न क्यों न हों, हाँ उनके व्यापारिक नाम अवश्य अलग अलग होते हैं।

'रंजक-पदार्थ' (डाइ स्टफ्स) की संज्ञा कुछ भ्रामक है क्योंकि ऐसे पदार्थ न केवल वस्त्र, कागज, चमड़ा, खाद्य पदार्थ अथवा पेय पदार्थों को रंगने के काम आते हैं बल्कि अनेक वर्षों से वे उपर्युक्त रंगाई को छोड़कर बहुत-से अन्य प्रयोजनों के लिए भी प्रयुक्त होते रहे हैं, और ऐसे प्रयोग दिन-दिन बढ़ते जाते हैं। उदाहरण के लिए रंगलेप (पेण्ट) समारंजन (डिस्टेम्पर), रंगीन पेन्सिल, शिला-मुद्रण (लिथोग्राफी), कागज पर रंगीन छपाई, टिन पट्टों की छपाई, टाइप राइटर के फीते, दीवालों पर चपकाये जानेवाले कागज, चमड़े की कोटिंग, जूतों के पालिश, लिनोलियम, मुहर लगाने की मोम इत्यादि का उल्लेख किया जा सकता है, जिनके निर्माण में तथाकथित रंजकों की आवश्यकता होती है। इन प्रयोजनों में काम आनेवाले रंजकों को 'तेल, स्पिरिट और मोमी रंग' तथा 'लाक्षक' रंग भी कहते हैं, इनका उल्लेख पृष्ठ १४८ पर दी गयी सारणी में किया गया है। उस सारणी से विदित है कि १९१३ ई० तक इन पदार्थों का अनुपात कुछ विशेष अधिक न था, लेकिन पिछले बीस वर्षों से इनका बड़ी द्रुत गति से विस्तार हुआ है। इन सबको देखते हुए इस उद्योग को 'कृत्रिम कार्बनिक रंग पदार्थों का उद्योग कहना अधिक उपयुक्त होगा। लेकिन यह नाम भी उसका पूरा आशय व्यक्त नहीं कर सकता क्योंकि इस उद्योग द्वारा उत्पन्न पदार्थ न केवल अन्य वस्तुओं की द्रष्टव्य शोभा को ही बढ़ाते हैं वरन् वे अन्य ध्येयों की पूर्ति भी करते हैं। उदाहरणार्थ कुछ रंजकों में जीवाणुनाशन गुण भी होते हैं, अतः वे कीटाणुनाश के रूप में इस्तेमाल किये जाते हैं। बहुत से अन्तःस्थ यौगिक रंजक पदार्थ बनाने के लिए नहीं बल्कि संश्लिष्ट औषधीय पदार्थ तैयार करने के लिए बनाये जाते हैं। अन्य अन्तःस्थ रबर संयोजन में संघटक का काम करते हैं और इस प्रकार एक प्रायः पृथक् उद्योग

ही खड़ा हो गया है। बहुत से अन्तःस्थ संश्लिष्ट सुगन्धित द्रव्य तथा फोटोग्राफी में प्रयुक्त होनेवाले रस-द्रव्य बनाने में भी काम आते हैं।

प्रस्तुत विषय के शेष विवेचन के लिए अन्य प्रयोजनों में प्रयुक्त होनेवाले पदार्थों को यहीं छोड़ना श्रेयस्कर है, जिससे इस दिशा-विशेष में किये गये मनुष्य के सर्जनात्मक प्रयत्नों का पूरा आभास मिल सके। इन प्रयत्नों का थोड़ा दिग्दर्शन पूर्वगामी सारणियों में दिये गये आंकड़ों से होता है तथा उनसे यह भी स्पष्ट होता है कि तत्संबन्धी व्यापार में कितना व्यापक परिवर्तन हुआ है। इन सब बातों से इस क्षेत्र में लगे पूर्णकालिक अन्वेषकों की इतनी बड़ी संख्या का कारण भी ज्ञात हो जाता है। अन्वेषण में लगे रसायनज्ञों के अतिरिक्त रंजक पदार्थों के मूल निर्माण में भी अनेक रसायनज्ञ लगे रहते हैं। वे अपनी रासायनिक बुद्धि और ज्ञान से विधा-प्रति-विधा तथा घान-प्रति-घान[1] अपने उत्पादनों की एकरूपता देखने के लिए सतत सचेष्ट रहते हैं। इनके अलावा नवीनतम ज्ञान-सम्पन्न विश्लेषक भी कच्चे माल, अन्तःस्थों तथा निष्पन्न पदार्थों की शुद्धता के नियंत्रण में अनवरत लगे रहते हैं। एक अन्य प्रकार के रसायनज्ञ भी, जिन्हें यहाँ 'रासायनिक लेखापाल' की संज्ञा दी जा सकती है, इस उद्योग में कार्य करते हैं। कभी-कभी ऐसी घटनाएँ घटती हैं जिनका नियंत्रण संभव नहीं होता। जब टोलुइन का नाइट्रीयन होता है तो तीन नाइट्रो-टोलुइनों का एक मिश्रण उत्पन्न होता है, और इनका पृथक्करण आवश्यक होता है क्योंकि रंजक अन्तःस्थों के लिए विशुद्ध यौगिकों की आवश्यकता होती है। रासायनिक लेखापाल का यही काम है कि वह ऐसी चीजों का ध्यान रखे। उसे बराबर यह सावधानी रखनी होती है कि पदार्थ विशेष अपनी रासायनिक प्रकृति के अनुसार कैसा व्यवहार करता है, जिससे उनके उत्पादन में एक संतुलन बना रहे और न तो वस्तुओं को फेंकना पड़े और न वे भण्डार में ही जमा होती जायँ।

निष्पन्न रंजकों की जाँच करने के लिए रंगाई-विशेषज्ञों की भी आवश्यकता होती है, जो रंगाई और छपाई के नये-नये ढंग और तरीकों के बारे में ग्राहकों को बराबर सलाह देते रहें तथा निरन्तर चल रहे अन्वेषणों के फलस्वरूप उत्पन्न नवीन रंजकों की रंगाई की परीक्षा करते रहें।

ज्ञात रंजकों की तरह के बहुसंख्यक नये यौगिक प्रयोगशालाओं में बनाये जा सकते हैं। आजकल इन यौगिकों के कुछ गुण तो पूर्वाभासित किये जा सकते हैं;

[1] Batch by batch

और इस प्रकार कुछ प्रकाशित अर्थात् लिखित ज्ञान से और कुछ अपने अनुभव से एक रंजक रसायनज्ञ यह बता सकता है कि अगर अमुक प्रकार का यौगिक तैयार किया जाय तो उसका कैसा रंग होगा, तथा ऊन, रेशम अथवा सूती वस्त्रों की रंगाई में प्रयोग किया जा सकेगा, या उसका रंग पक्का होगा अथवा नहीं, इत्यादि। यह रंगाई-विशेषज्ञ का काम है कि वह नूतन यौगिक की पूर्वगामी यौगिक से तुलना करके सर्वोत्तम पदार्थ का चयन करे जिससे रंगनेवालों का और अन्ततोगत्वा उपभोक्ताओं का लाभ हो। परन्तु उसके साथ-साथ निर्माण के आर्थिक पक्ष को भी दृष्टिगत रखना होगा और यह भली भाँति समझ लेना होगा कि अनुसन्धानों के नये फल कब और कैसे परि-पक्व होंगे और उनसे किस प्रकार लाभ उठाया जा सकेगा।

अनुमान है कि १९१४ ई० में व्यापारक्षेत्र में रासायनिक दृष्टि से भिन्न कम से कम १००० रंजक यौगिक प्रचलित थे और इस एक सहस्र में निर्माताओं द्वारा तैयार किये गये मिश्रित रंजक अथवा भौतिक रूप से भिन्न श्रेणियाँ शामिल नहीं हैं। इन १००० सफल यौगिकों के पीछे लगभग ५०,००० यौगिक प्रयोगशालाओं में तैयार किये गये थे। संभवतः नये-नये आविष्कृत यौगिकों एवं सफलतापूर्वक बाजार में चलनेवाले यौगिकों का अनुपात भी वही हो, किन्तु अधिक संभव है कि यह अनुपात अब कम हो गया हो अर्थात् अनुसन्धानों के फलस्वरूप प्रयोगशाला में तैयार किये गये यौगिकों की संख्या और सफलतापूर्वक बाजार में चल निकलनेवाले रंजकों की संख्या का अनुपात आजकल प्रायः १०० : १ है जबकि पहले ५० : १ था।

इन प्रगतियों के समझने के लिए तथा रसायन-विज्ञान और रंजक उद्योग का पारस्परिक संबन्ध जानने के लिए यह आवश्यक है कि इस विषय का थोड़ा ऐतिहासिक पर्यालोचन किया जाय।

जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, कृत्रिम कार्बनिक रंजकों का प्रारम्भ आज से दो पीढ़ी पूर्व हुआ था। एक उद्योग के रूप में इसका जन्म इंग्लैण्ड और फ्रान्स में लगभग एक ही समय हुआ। लेकिन इसके पोषण का भार प्रायः 'रायल कालेज ऑफ केमिस्ट्री' पर पड़ा, जो उसके कुछ ही समय पूर्व स्थापित हुआ था। प्रिंस कॉनसर्ट अलबर्ट की इच्छा से हॉफमैन इस कालेज में प्रोफेसर नियुक्त हुए। हॉफमैन प्रोफेसर लीबिग के शिष्य थे, जो कृषि रसायन एवं मांस निस्सार संबन्धी अपने कार्यों की वजह से इंग्लैण्ड में काफी ख्याति प्राप्त कर चुके थे। हाँफमैन कोलतार आसवन की उन उत्पत्तियों का अन्वेषण करने में दत्तचित्त हो गये, जिन्हें बढ़ते हुए कोलतार उद्योग की अवांछनीय उपजात माना जाता था। हॉफमैन के एक शिष्य मैन्सफील्ड ने १८५० में औद्योगिक पैमाने पर कोलतार का आसवन प्रारम्भ किया था। हॉफमैन ने अपने

वैज्ञानिक अनुसन्धानों के फलों को शीघ्र ही वैज्ञानिक पत्रिकाओं में प्रकाशित कराया। फ्रान्स और जर्मनी में तो पुरानी प्रतिष्ठित पत्रिकाएँ प्रकाशित होती थीं, किन्तु 'केमिकल सोसायटी ऑफ इंग्लैण्ड' ने अपना पत्र १८४१ ई० से प्रकाशित करना प्रारम्भ किया।

हॉफमैन के एक दूसरे शिष्य पर्किन ने, जो उस समय केवल १८ वर्ष के थे, कृत्रिम क्वीनीन बनाने की बात सोची। अलिल-टोलुइडीन से यह संश्लेषण करने का उनका विचार था, क्योंकि अलिल टोलुइडीन में कार्बन, हाइड्रोजन और नाइट्रोजन उपयुक्त अनुपात में मौजूद थे, केवल उसमें ऑक्सीजन की आवशयकता थी। लेकिन अलिल टोलुइडीन के आक्सीकरण से उन्हें एक रंगीन मिश्रण प्राप्त हुआ। फिर उन्होंने अपरिष्कृत ऐनिलीन के ऑक्सीकरण का प्रयत्न किया, उससे एक बैंगनी रंग का पदार्थ मिला, जिसमें से उन्होंने अपना 'मॉव' पृथक् किया, जिसे आगे चलकर 'पर्किन्स मॉव' की संज्ञा मिली। उनके पिता की आर्थिक सहायता से एक छोटा सा कारखाना बनाया गया तथा इस नये रंजक पदार्थ को बड़ी चमत्कारिक सफलता मिली क्योंकि उसकी चमक सर्वोत्तम थी और उसकी आभा उस समय बड़ी लोकप्रिय हुई।

ऐनिलीन संबन्धी प्रकाशित लेखों के आधार पर तथा भावी कार्यों के बारे में पर्किन के सुझावों को लेकर अन्य वैज्ञानिकों ने ऐनिलीन पर दूसरे प्रतिकर्मकों की प्रतिक्रियाओं का अध्ययन किया। इसके फलस्वरूप 'मैजेण्टा' प्राप्त हुआ। इसका प्रथम निर्माण फ्रान्स (वरग्विन, १८५९) में हुआ और इसके निर्माण काल की स्मृतिस्वरूप उसे 'मैजेण्टा १८५९' की संज्ञा दी गयी। १८७४ ई० तक तो यह वाणिज्यिक रूप में सबसे महत्त्वपूर्ण बन गया। लेकिन आगे चलकर मॉव और मैजेण्टा केवल आदि-रूप (प्रोटोटाइप) मात्र रह गये और अधिकांशतः आनुभविक आधार पर किये गये मिश्रण तथा पाचन विधाओं से नीले और हरे रंजक पदार्थ तैयार किय गये। इसमें संदेह नहीं कि इनकी पृष्ठभूमि में तत्कालीन रासायनिक सिद्धान्त थे। इस प्रकार मनुष्य ने 'ऐनिलीन रंजकों' को जानना और इस्तेमाल करना सीखा और कोलतार से प्राप्त रंजकों के लिए सामान्यतः यही नाम अनेक वर्षों तक प्रचलित रहा।

इसी बीच में हॉफमैन के एक सहयोगी ने ऐसे यौगिकों का समारम्भ किया जो रासायनिक रूप से भिन्न थे और शीघ्र ही कृत्रिम रंजकों के सबसे बड़े वर्ग बन गये। जे० पी० ग्रीस ने डाइअजो यौगिकों का आविष्कार किया तथा तत्संबन्धी अन्वेषण भी किये। ग्रीस एक जर्मन लोहार के पुत्र थे और आगे चल कर एफ० आर० एस० हुए और १८५८ में लन्दन के 'रायल कालेज ऑफ केमिस्ट्री' में अध्यापक नियुक्त हुए थे। वे (रायल) 'इंस्टिट्यूट ऑफ केमिस्ट्री' के भी बहुत पहले से ही सदस्य

रहे। १८६२ ई० में ग्रीस बर्टन-ऑन-ट्रेण्ट स्थित ऐलसप की यवासवनी में रसायनज्ञ नियुक्त हुए और अपने अन्तकाल तक वहीं रहे। उनकी मृत्यु १८८८ ई० में हुई। रासायनिक अनुसन्धानों में अपनी विशिष्ट रुचि के कारण उन्होंने डाइअज़ो यौगिकों का अध्ययन बराबर जारी रखा और यह देखा कि ये यौगिक अन्य कार्बनिक यौगिकों के साथ जुड़कर प्रचण्ड रंगवाले ऐसे यौगिक उत्पन्न करते हैं जो रंगाई के लिए बड़े ही उत्तम सिद्ध हुए। उनके लेख वैज्ञानिक पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होते थे, तथा उन्होंने अपने कुछ आविष्कारों का पेटेण्ट भी कराया था। कारो उन्हीं के मित्र थे, जो मैनेचेस्टर से लौटकर जर्मनी आये और लड्विगशाफेन स्थित "बैडिशे" नामक एक बड़ी फर्म के डाइरेक्टर नियुक्त हुए थे। ग्रीस का अभिस्वीकृत (एडॉप्टेड) देश, इंग्लैण्ड ऐज़ो रंजक पदार्थों का जन्मस्थान तो अवश्य था, परन्तु प्राविधिक वस्तुओं के रूप में उनका पूर्ण विकास और उत्थान वहाँ नहीं हुआ। योजन (कप्लिंग) प्रतिक्रिया का प्रथम औद्योगिक उपयोग १८७५ ई० में किया गया और जब १८८४ ई० में ग्रीस और साथ-साथ बोटिगर ने ऐसे रंजकों का विवरण प्रकाशित किया जिनसे सूती वस्त्रों की रंगाई बिना किसी स्थापक की सहायता के की जा सकती थी, तब उसे बड़ी प्रबल प्रेरणा प्राप्त हुई। 'कांगोरेड' बर्लिन में बनकर बाजारों में बिकने लगा और उसके प्रायः तुरन्त ही बाद अनेक अनाश्रित रंजक आये, जिन्होंने सस्तापन, रंग-आभा की विविधता तथा सूती कपड़ों की रंगाई की दृष्टि से क्रान्ति पैदा कर दी।

इस बीच में कार्बनिक रसायन का निरन्तर वैज्ञानिक विकास होता रहा और १८६० तथा १८७० के अन्दर पत्र-पत्रिकाओं, पाठ्य-पुस्तकों और संदर्भ-ग्रन्थों के रूप में इतना प्रचुर वैज्ञानिक ज्ञान एकत्र हो गया जितना कदाचित् पहले कभी नहीं हुआ था। उसी दशक में अणुओं में परमाणुओं के निबन्ध संबन्धी विविध सिद्धान्तों को समन्वित करके उन्हें एक व्यापक वाद का स्वरूप दिया गया तथा अणु रचना का चित्रित निरूपण किया गया जिससे संरचना सम्बन्धी सूत्रों (कॉन्स्टिट्यूशनल फारमूला) की उत्पत्ति हुई, तथा इन सूत्रों के आधार पर विचार चिन्तन करके अज्ञात रासायनिक यौगिकों का उपक्रमण संभव हुआ और उनके गुणों का भी पहले से आभास प्राप्त किया जा सका। उदाहरण के लिए किसी नियोजित भावी यौगिक के बारे में यह सरलता से बताया जा सकता था कि वह रंगीन होगा अथवा रंगहीन।

कार्बनिक रसायन में यौगिकों के एक बड़े वर्ग को 'ऐरोमैटिक' कहते हैं। इस शब्द का अर्थ है 'सौरभिक'। इस वर्ग का नामकरण इस आधार पर किया गया कि इसमें सम्मिलित यौगिकों में विशिष्ट सुरभि होती है। ये यौगिक प्रायः वनस्पतियों से प्राप्त होते थे तथा इनके निबन्ध उस समय ज्ञात कार्बनिक यौगिकों के संरचना

सम्बन्धी सूत्रों से मेल नहीं खाते थे। कोलतार स्थित हाइड्रो कार्बन तथा अन्य यौगिक इसी 'सौरभिक' वर्ग के हैं। १८६५ ई० में केक्युले ने इन यौगिकों के विभेदों को दूर किया और यह बताया कि सरलतम ऐरोमैटिक हाइड्रो कार्बन अर्थात् कोलतार बेंज़ॉल के मुख्य संघटक-बेंज़ीन के अणु में ६ कार्बन परमाणुओं का एक वलय (रिंग) है। इसी आधार पर यौगिकों की रासायनिक संरचना से उनके रंग के संबन्ध के बारे में परिकल्पनाएँ (हाइपोथेसिस) उपस्थित की गयीं तथा आणवशिल्पकला (मॉलिक्यूलर आर्किटेक्चर) का सूत्रपात हुआ।

किसी भी व्यापक सिद्धान्त के निर्धारण के पूर्व अनुभवजन्य रासायनिक क्रियाओं का पूर्वेक्षण (एक्सप्लोरेशन) और छानबीन के साथ-साथ उनकी उत्पत्तियों का भी सूक्ष्म अध्ययन करना पड़ा है। संपरीक्षात्मक विज्ञान की प्रगति और विकास प्रायः इसी प्रकार होता है। कुछ आविष्कार तो आकस्मिक होते हैं और कुछ आशातीत यानी सोचा कुछ जाता है और फल कुछ निकल आता है। किन्तु कुछ वैज्ञानिक अन्वेषण तत्कालीन सिद्धान्तों की पुष्टि एवं उनका विस्तार करते हैं। लेकिन रंजक संबन्धी व्यावहारिक अन्वेषणों का ध्येय कुछ अधिक स्पष्ट होता है। इन अनुसन्धानों का ध्येय केवल कोई व्यापक सिद्धान्त स्थापित करने का नहीं होता वरन् उनमें रंगाई करनेवालों अथवा प्रयोक्ताओं के उपयोग-विशेष के लिए विशिष्ट साधन उपलब्ध करने की भावना रहती है। यह भी सच है कि वैज्ञानिकों के ख़ब्त तथा आकस्मिक घटनाओं के साथ-साथ उनके आविष्कारों और अन्वेषणों की पृष्ठभूमि में समय की माँग भी रही है, लेकिन यह भी सही है कि वे सदा विशुद्ध आवश्यकताओं से ही प्रेरित नहीं रहे। वस्तुस्थिति तो यह है कि पारस पत्थर के जिज्ञासुओं के अत्योत्साह ने ही इन बहुसंख्यक कृत्रिम रंजकों को उत्पन्न किया है।

१८६५ ई० में हॉफमैन इंग्लैण्ड से जर्मनी लौट आये और उसके बाद उन्होंने तथा ई० फिशर, ओ० फिशर और जर्मन विश्वविद्यालय के अन्य कार्यकर्ताओं ने बाजारों में बिकनेवाले रंजकों की रासायनिक संरचना एवं ऐरोमैटिक यौगिकों के गुण-व्यवहार संबन्धी शैक्षणिक अनुसन्धानों के विकास में काफी हाथ बंटाया। प्रायः उसी समय इंग्लैण्ड में आर्मस्ट्रांग और वाइने ने नैप्थलीन व्युत्पत्तियों का शैक्षणिक अध्ययन किया तथा मेल्डोला ने भी 'मेल्डोडाज़ ब्लू' के संबन्ध में काम किया। उपर्युक्त अनुसन्धानों के अतिरिक्त जर्मनी में इण्डिगो का विश्लेषण करके उसकी रासायनिक संरचना का ज्ञान प्राप्त किया गया, परन्तु उसके पूर्व ही १८६९ में कृत्रिम रीतियों से ऐलिज़रीन उत्पन्न की जा चुकी थी। इन बातों से यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए कि संश्लिष्ट रंजक संबन्धी वैज्ञानिक अन्वेषण तथा प्राविधिक विकास

दो पृथक् वर्गों द्वारा किया गया था तथा इन वर्गों का विचार-विनिमय केवल मुद्रित वाङ्मय द्वारा ही होता था; वस्तुस्थिति सर्वथा इसके विपरीत थी।

वैज्ञानिकों के उपर्युक्त कार्यकलापों के फलस्वरूप हमारे सामने रासायनिक ज्ञान के महान् विकास का एक वृहत चित्र उपस्थित हुआ, जिसमें रंजक-निर्माण के सिंचनार्थ 'ऐनिलीन' और 'ऐज़ो' रूपी दो सरिताएँ प्रवाहित होती थीं। अन्य वर्ग के रंजकों की भी प्रायः ऐसी ही कहानियाँ हैं, यद्यपि उनमें कुछ ऐसे रंजक पदार्थ भी हैं जिनका विकास प्राकृतिक रंजकों की रासायनिक संरचना के आधार पर हुआ है। इनके साथ ही रसायन-विज्ञान भी दिन-दिन जटिल होता गया। ऐन्थ्रासीन, कोलतार से प्राप्त अपरिष्कृत पदार्थों में से एक है, इसी से ऐन्थ्राक्वीनोन द्वारा एलिज़रीन अर्थात् डाइहाइड्राक्सी ऐन्थ्राक्वीनोन बनता है। इस विधा में १२ सुस्पष्ट रासायनिक पद होते हैं जिनकी उत्पत्तियों की रासायनिक रचना जटिलतर होती जाती है और तब कहीं जाकर एक अर्वाचीन कुण्ड रंजक तैयार होता है। ये रंजक इतने प्रकाश एवं धुलाई-सह होते हैं कि पिछले २० वर्षों में उनकी खपत उत्तरोत्तर बढ़ती गयी है। इस काल में प्रारम्भिक पदार्थ के रूप में ऐन्थ्रासीन भी अंशतः विस्थापित हुआ। ऐन्थ्रासीन के ढांचेवाले रंजक अब नैप्थलीन से बनाये जाने लगे हैं, इस विधा में थैलिक ऐनहाइ-ड्राइड अन्तःस्थ होता है। थैलिक ऐनहाइड्राइड यद्यपि मूलतः एक रंजक अन्तःस्थ था, परन्तु आगे चलकर उससे संश्लिष्ट रंग लेपों और वार्निश रेज़ीनों का एक पृथक् उद्योग ही खड़ा हो गया।

यहाँ इस बात का उल्लेख कर देना आवश्यक है कि संभवतः कृत्रिम इण्डिगो तथा कृत्रिम ऐलिज़रीन दोनों का अन्त अब निकट है, क्योंकि तन्तुओं पर बननेवाले ऐज़ो-यौगिक कृत्रिम ऐलिज़रीन का स्थान ग्रहण करते जा रहे हैं तथा इण्डिगो के प्रति-स्थापक के रूप में अन्य नीले रंजक तैयार होने लगे हैं।

रंजक-निर्माण की जटिलता के संबन्ध में यह बताना आवश्यक है कि एक या अधिक कोलतार हाइड्रो कार्बनों (बेन्ज़ीन, टोलूइन, ज़ाइलीन या नैप्थलीन) से अपेक्षाकृत सरल रंजक बनाने में कम से कम ४ पृथक् रासायनिक पद निहित होते हैं। बहुत-से रंजकों विशेषकर ऐज़ो श्रेणीवालों के निर्माण में केवल अन्तिम पद पर दो या अधिक अन्तःस्थ साथ मिलाये जाते हैं, जिनके संयोजन से अन्तिम रंगीन यौगिक तैयार होता है। ऐज़ो रंजकों के लिए यही 'कप्लिंग' प्रतिक्रिया है, जिसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। यह प्रतिक्रिया काष्ठ-पात्रों तथा जलीय माध्यम में सरलता से सम्पन्न होती है। इसके विरुद्ध बहुत-से कुण्ड रंजकों के बनाने में बड़ा उच्च ताप और दबाव तथा जल के स्थान पर अन्य विलायकों का प्रयोग करना पड़ता है।

रंजक के निष्पन्न अणु में कोलतार हाइड्रो कार्बन की उपमा शरीर के हाड़ और मांस से दी जा सकती है जबकि अकार्बनिक तत्त्व उसके नख और केश के समान होते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि विभिन्न प्रतिक्रियाओं में प्रयुक्त नाइट्रिक और सल्फ्युरिक अम्लों से प्राप्त नाइट्रोजन और सल्फर भी रंजक अणुओं के अंग बन जाते हैं। पाँच रंजक यानी ३ 'ऐज़ो', १ 'ऐनिलीन' तथा १ 'इण्डिगो' रंजक बनाने में बेन्ज़ीन और नैप्थलीन के अतिरिक्त नाइट्रिक, सल्फ्यूरिक तथा हाइड्रो क्लोरिक अम्ल, चूना, दह-सोडा, सोडियम कार्बोनेट, सोडियम एसिटेट, सोडियम नाइट्राइट, सोडियम बाइ-सल्फाइट, लौह बोरिंग, यशद धूलि, अमोनिया, फास्फोरस आक्सीक्लोराइड, मिथिल ऐल्कोहाल, फार्मल्डिहाइड और फ़ासजीन प्रयुक्त होते हैं तथा बीच में २२ अन्तःस्थ यौगिक बनते हैं।

परन्तु इन २२ अन्तःस्थों की अन्तिम अवस्थावाले वर्ग उपर्युक्त पांच से अधिक रंजकों के निर्माण में उपयोगी होते हैं। अन्तःस्थों के विविध संयोजनों की संभाव्य संख्या अपार होती है और उनमें से उपयोगी संयोजनों को चुनना कोई सरल काम नहीं होता। परन्तु प्रयोगशाला में इन्हें बना करके, चाहे उनका कोई वाणिज्यिक महत्त्व हो अथवा नहीं, उनके गुणों का समुचित अध्ययन करके ही ज्ञान का वह भण्डार तैयार किया जाता है, जिसके आधार पर भावी अनुसन्धान की रूपरेखा बनायी जा सकती है, विशेषकर यदि उनमें कोई नवीनता दिखाई पड़े तो आगे के काम को बड़ी प्रेरणा प्राप्त होती है। इस प्रकार अर्जित बहुत-सा वैज्ञानिक ज्ञान साधारण रूप से प्रकाशित नहीं होता, अन्ततः ऐसी कुछ जानकारी ग्राहकों के लाभार्थ मुद्रित रूप में प्रगट होती है और कुछ पेटेण्ट ब्योरों के रूप में।

शैक्षणिक क्षेत्रों में विशेषकर जर्मनी और स्विज़रलैण्ड के बाहर पेटेण्ट ब्योरों के विरुद्ध एक पूर्वधारण-सी है और प्रायः उन्हें वैज्ञानिक योगदान नहीं माना जाता। ये पूर्वधारणाएँ बहुधा ज्ञानाभाव पर ही आधारित होती हैं। शैक्षणिक पाठक यह चाहते हैं कि इन ब्योरों में भी तथ्यों को उसी प्रकार निर्दशित किया जाय जैसे किसी पत्र-पत्रिका में प्रकाशित लेख में किया जाता है, वे पेटेण्ट ब्योरों को केवल वैधानिक एकाधिकार संलेख (लीगल मॉनोपली इन्स्ट्रूमेण्ट) मात्र मानते हैं। पेटेण्ट ब्योरे सचमुच ही एक विशेष काम के लिए विशेष रूप से लिखे जाते हैं, पेटेण्टों के अधिकारी साहित्यिक दृष्टि से लेखक नहीं होते। २०-२५ वर्ष पूर्व इंग्लैण्ड और सं० रा० अमे० में इन ब्योरों की इसी प्रकार आलोचना की गयी थी और हाल में फिर उनके प्रति वही धारणा अपनायी गयी। यद्यपि पेटेण्ट ब्योरों की आलोचना कुछ उसी प्रकार की है जैसे कोई पोयट-लारियेट (राज-कवि) वैधानिक नियमों के संबंध में यह

शिकायत करे कि वे दोहों और छन्दों में क्यों नहीं लिखे गये। एक परिश्रमी तथा अनुभवी पाठक ऐसे वाङमय में से भी वैज्ञानिक तथ्य निकाल सकता है चाहे वे सामान्य प्रचलन के अनुसार प्रकाशित न भी किये गये हों।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, १९१३ के लगभग बाजार में प्रायः १००० रंजक पदार्थ चालू थे, जिनके रासायनिक निबन्ध[1] सर्वसाधारण को मालूम थे। यह लिखना विषयान्तर होगा कि शैक्षणिक तथा अन्य अन्वेषकों द्वारा किये गये रासायनिक विश्लेषण से अथवा पेटेण्ट ब्योरों के अध्ययन से किस प्रकार इन यौगिकों की संरचना जानी गयी। यह कहना पर्याप्त होगा कि ऐसी सूचनाएँ बराबर प्रकाशित होती रहती हैं तथा स्पर्धी अनुसन्धानों के फलस्वरूप नये रंजकों की बड़ी संख्या प्रति वर्ष बाजार में आती रहती है। १३६० संश्लिष्ट रंजकों की रासायनिक संरचना, पेटेण्ट संख्या, उनके अन्वेषकों के नाम तथा रंगाई संबन्धी उनके गुण प्रकाशित किये गये हैं। इन न्यासों के पुनःसारणीकरण से यह ज्ञात होगा कि ये १३६० यौगिक ३९४ अन्वेषकों की प्रतिभा और परिश्रम की उपज रहे हैं। इन ३९४ अन्वेषकों को निम्नलिखित ढंग से वर्गीकृत किया जा सकता है—

(क) अकेले अथवा मिलकर केवल एक रंजक के उद्भावक[2] —३३०।

(ख) (१) अकेले अथवा मिलकर दस रंजकों का उद्भव करनेवाले—३५।

(२) अकेले अथवा मिलकर १५ रंजकों का उद्भव करनेवाले —२०।

इससे स्पष्ट है कि तारा-नक्षत्र के साथ-साथ लघु ज्योतिष्कायों (लुमिनरीज़) की भी बड़ी संख्या होती है और ये लघु ज्योतिष्काय काफी महत्त्वपूर्ण कार्यभाग की पूर्ति करते हैं।

उपर्युक्त वर्गीकरण के अनुसार इंग्लैण्ड के केवल ए० जी० ग्रीन का नाम (ख) (२) के सितारों में है। इस प्रतिमान के अनुसार डब्लू० एच० पर्किन का नाम १० या १५ रंजकों के उद्भावक वर्ग में नहीं आता क्योंकि वस्तुतः उनके द्वारा उद्भावित रंजकों की संख्या केवल ५ है, किन्तु औद्योगिक नवीनता उत्पन्न करनेवाली उनकी कालावधि बहुत छोटी थी। वैज्ञानिकों के आविष्कारों की संख्या गिनने से अन्वेषक के रूप में उनकी प्रतिभा की विलक्षणता का आभास अवश्य मिल जाता है, लेकिन उनके आर्थिक एवं वाणिज्यिक महत्त्व की थाह नहीं लगती। इसका पूरा चित्र प्रस्तुत करने के लिए तो सभी प्रौद्योगिकीविदों विशेषकर नये-नये अन्तःस्थों और नयी-नयी विधाओं को

[1] Composition [2] Inventor

निकालनेवाले रसायनज्ञों के योगदान की ब्योरेवार समीक्षा करनी होगी, जो वस्तुत: अपने ढंग का एक ऐतिहासिक अनुसन्धान ही होगा। फिर भी कुछ काल के आर्थिक महत्त्वों की भी चर्चा की जा सकती है। उदाहरणार्थ 'स्काटिश डाइज़ लिमिटेड' के डेविस, टाम्सन और टामस के 'कैलिडॉन ज़ेड ग्रीन' (१९२०) के आविष्कार का उल्लेख किया जा सकता है। यह क्रमिक खोज का एक फल था, जिसकी आभा और गुण आशातीत थे। यह प्रथम संतोषजनक हरा कुण्डरंजक था, जो विशिष्टतया पक्का होता है। इसका उत्पादन भी बड़ी भारी मात्रा में किया गया है। एक दूसरा उत्कृष्ट उदाहरण 'ब्रिटिश डाइस्टफ्स कार्पोरेशन' के बैडले और शेफर्डसन का भी है, जिनके नाम एसिटेट रेशम के लिए आवश्यक विशिष्ट रंजकों से संबन्धित आदरसूची में बड़े ऊँचे स्थान ग्रहण करते हैं। यदि सूल्ज़ की तरह की कोई सारणी फिर बनायी जाय तो उसमें बहुत से ऐसे और नाम भी शामिल किये जायँगे जिनमें जर्मनों और स्विसों के अलावा बहुत से अन्य नाम भी होंगे।

उपर्युक्त सूल्ज़ सारणी के १३६० रंजकों में अधिकांश १८७०—१९१३ की कालावधि में विकसित हुए थे। 'बायर' के डुइसवर्ग ने १९०९ में बताया था कि उन दिनों प्रति दिन लगभग ५० के हिसाब से नये रंजक परीक्षण के लिए तैयार किये जाते थे। जर्मनी में केवल एक वर्ष (१८९५) की अवधि में ऐज़ो रंजकों के पेटेण्टों की संख्या १४२ थी। १८९९ में कृत्रिम रंजकों के १३० नये ब्रिटिश पेटेण्ट लिये गये थे। इस प्रकार से भी अन्वेषक और उत्पादी प्रयत्नों का लेखा तैयार किया जा सकता है, जो अब तक मूर्त रूप से उपलब्ध नहीं हैं। १८७७ में जर्मन साम्राज्य में, जो फ्रैंको-प्रशन युद्ध के परिणामस्वरूप बना था, रासायनिक उद्भवों को प्रेरित करने के लिए संसार का सर्वोत्तम पेटेण्ट कानून बना था। उस समय रसायन-विज्ञान एवं उद्योग में उद्-भवों की बाढ़ सी आयी हुई थी।

यद्यपि उस समय तक काफी कारखाने एक में मिल गये थे, फिर भी १९१३ में जर्मनी में ६ बड़े तथा ७ छोटे कारखाने थे और स्विज़रलैण्ड में चार, तथा संसार के कुल उत्पादन का ९० प्रतिशत उत्पादन इन १७ कारखानों में होता था। इनमें बड़ी सक्रिय प्रतियोगिता चल रही थी और इनके अन्वेषणकार्य निश्चित रूपेण बड़ी उग्र-स्पर्धी भावना से किये जा रहे थे। बर्न्थसेन, जो सडबरो द्वारा अनूदित एवं संवर्धित रसायन की प्रसिद्ध पाठ्य-पुस्तक के लेखक के रूप में इंग्लैण्ड के विद्यार्थियों में काफी प्रसिद्ध थे, ३२ वर्ष की अवस्था में १८८७ ई० में हाइडेलबर्ग का अपना शिक्षक-पद छोड़-कर लुडविगशाफेन-स्थित 'बैडिशे ऐनिलीन-एण्ड सोडा-फैब्रिक' नामक कारखाने के अन्वेषणकर्ताओं में सम्मिलित हो गये तथा अपने जीवन के अगले ३० वर्ष उन्होंने वहीं

बिताये। व्यापार की आवश्यकताओं के बारे में परामर्शदाता के रूप में उन्हें कुछ प्रेरणा नहीं मिली अतः स्पर्धी संस्थाओं के पेटेण्ट ब्योरों का अध्ययन ही उन्हें सौंपा गया। इन ३० वर्षों में बन्थंसेन भी उपर्युक्त ३५ सितारों में गिने गये तथा अपनी संस्था के पेटेण्ट विभाग के अध्यक्ष रहे। तत्पश्चात् वह फिर हाइडलबर्ग लौट आये और वहीं एक सम्मानित प्रोफेसर के पद से अपनी पुस्तक का १५वाँ तथा १६वाँ जर्मन संस्करण प्रकाशित किया। इस प्रकार बन्थंसेन का जीवन उनके अग्रगामियों से स्पष्टतया भिन्न जान पड़ता है। वह लगभग एक पीढ़ी छोटे थे। तब तक समय बहुत बदल गया था और उन्हें भीषण स्पर्धी अन्वेपणों के बीच कार्य करना पड़ा। उनके सक्रिय प्रतियोगी प्रायः सभी अवस्थाओं के थे और बड़ी शीघ्र गति से बढ़ती हुई संस्थाओं में काम करते थे। इस काल में ज्ञान को पद्धतिशील और व्यवस्थित बनाना बड़ा महत्त्वपूर्ण था।

उपर्युक्त वृत्तांतों के आधार पर रंजक पदार्थों या वस्तुतः कार्बनिक रसायन का विकास तीन कालों में विभाजित किया जा सकता है––(१) १८७० ई० तक की कालावधि जिसे केवल अनुभवगत छानबीन का समय कहा जा सकता है; (२) १९१० ई० तक की कालावधि, जो रासायनिक नवीनताओं के व्यापक एवं स्पर्धी विस्तार का युग था, जिसमें रंगप्रयोक्ताओं के लिए रंग-पदार्थों का इतना विस्तृत क्षेत्र खुला कि उन्हें रंजकों के चुनाव में बड़ी हैरानी होने लगी; और (३) वर्तमान काल, जो लगभग १९२३ ई० तक स्पष्ट हो गया था, जब कि रंग प्रयोक्ताओं की विशेष समस्याओं के हल की ओर उत्तरोत्तर अधिक ध्यान दिया जाने लगा था। मॉर्टन के शब्दों में मध्यकालीन बौखलाहट वाली स्पर्धा के अन्त करने का कारण इस प्रकार है––

"जैसे कोई भी नव-विकसित शक्ति मानव-समाज के लिए भय और जोखिम लेकर उपस्थित होती है परन्तु कालान्तर में उस पर अंकुश लगाकर उसे मनुष्य के कल्याणार्थं समायोजित कर लिया जाता है, उसी प्रकार इन नये-नये रंगों की प्रचुरता तथा रँगाई की सरलता के कारण वस्त्रव्यापार के सामने उसके प्रथम ५० वर्षों में एक भयंकर संकट आ खड़ा हुआ था। फलतः वस्त्रों की श्रेणी और सौन्दर्य में हम अपने पूर्वजों से बहुत पीछे हो गये थे।"

१९२५ ई० में जर्मनी की सभी संस्थाओं का एकीकरण हो गया और 'आई० जी० फार्बेनइण्डुट्री ए० जी०' नामक एक महती संस्था विकसित हो गयी; स्विज़रलैण्ड की संस्थाओं का भी काफी निकट पारस्परिक संबन्ध स्थापित हो गया। अन्य देशों में भी २५ वर्ष पूर्व की अपेक्षा आन्तरिक स्पर्धा बहुत कम हो गयी थी लेकिन आविष्कारों की प्रतियोगिता अब भी ज़ारी है परन्तु उनके दृष्टिकोण में अवश्य अन्तर हो गया

है। १९३९ तक आविष्कारों की गति सभी दिशाओं में पूर्ववत् चलती रही। गत महा-युद्ध का क्या प्रभाव होगा कहा नहीं जा सकता, लेकिन इतना स्पष्ट है कि संश्लिष्ट कार्बनिक रसायन-उद्योग के रंजकनिर्माण में केवल कोलताररूपी वृक्ष के फलों का ही प्रयोग न होगा; बल्कि पेट्रोलियम-भंजन (क्रैकिंग) के फलों का भी उपयोग करना होगा तथा उसमें एसिटिलीन के रासायनिक वृक्ष की क़लम लगानी होगी। कुछ अन्तःस्थों[1] के बनाने के लिए तेलों और वसाओं की भी सहायता लेनी होगी, जो अभी तक प्रायः साबुन बनानेवालों की ही पवित्र निधि मानी जाती है।

यह इतिहास के बड़े विस्तत चित्र की एक झलक मात्र है। अन्तर्राष्ट्रीय उथल पुथल को छोड़कर यह इतिहास प्रायः जर्मनी और स्विज़रलैण्ड का ही है। लेकिन ब्रिटेन, फ्रान्स, अमेरिका में भी तथा हाल में कुछ हद तक जापान में रंजक विकास के तृतीय काल में अवश्य रचनात्मक काम हुआ है, लेकिन वह बहुत हद तक पूर्वोक्त दोनों देशों की अनुकृति ही रहा है। ब्रिटेन में रंजक-आयातसंबन्धी विधानों से इस काम को काफी सुरक्षा मिली तथा उसकी नींव पक्की हो गयी। पेटेण्ट-ब्योरों के गहन अध्ययन एवं प्रयोगशालाओं में तथा संयंत्रों पर किये गये अन्वेषणों से भी इस नींव की संपुष्टि हुई। १९१९ में युद्धकालीन विस्फोटकनिर्माणियों में प्रशिक्षाप्राप्त बहुसंख्यक रसायनज्ञों के आ जाने से तत्कालीन साहसी रंजक-रसायनज्ञों की संख्या में बड़ी वृद्धि हुई थी। अनुगामी वर्षों में ब्रिटेन के सभी विश्वविद्यालयों से रसायनज्ञ आने लगे और केवल पेटेण्ट ब्योरों के मूल्यांकन का समय एवं सहज ज्ञान के उपयोग का युग प्रारम्भ हुआ है।

'अनाश्रित कपास' तथा 'अम्ल ऊन' इत्यादि रंजकों के रेञ्जों में से अनुपयुक्त रंजकों को निकालना, रंगपदार्थों की संख्या को कम करते हुए रेञ्ज का विस्तार करना और इस प्रकार रंगप्रयोक्ताओं के कार्य को उत्तरोत्तर वैज्ञानिक रूप देना आज के रंजक-अन्वेषकों का ध्येय है।

अगर संश्लिष्ट रंजकों के निर्माण को मानव-ज्ञान के विश्वकोश का एक भाग माना जाय तो यह रसायन-विज्ञान का एक अध्याय मात्र है, और इस आशय से रंजक-उद्योग के ऊपर रसायनविज्ञान का बहुत बड़ा ऋण है। परन्तु रसायनविज्ञान के इस अध्याय का विकास विशुद्ध वैज्ञानिक भावना से प्रेरित रसायनज्ञों के कार्यों के आधार पर स्वतः नहीं हुआ, बल्कि प्रायः सर्वथा यह स्वयं उद्योग में लगे कार्यकर्ताओं के प्रयत्नों

[1] Intermediates

का ही फल है। "कार्वनिक रसायनविज्ञान रंजक-उद्योग का उतना ही ऋणी है जितना यह उद्योगविशेष कार्बनिक रसायन का।"

अन्त में इस बात पर फिर एक बार ज़ोर देने की आवश्यकता है कि रंजक उद्योग एक आधार-उद्योग है। यदि आवश्यकता हुई तो मनुष्य रंजकपदार्थों को तिरस्कृत कर सकता है लेकिन वर्तमान युग में कोई राष्ट्र या देश संश्लिष्ट कार्बनिक रसायन-उद्योग के विना महान् नहीं वन सकता, जीवित नहीं रह सकता, और संश्लिष्ट कार्वनिक रसायनोद्योग के प्राण रंजक पदार्थ हैं। रंजक पदार्थों के द्वारा ही प्रयोगशाला एवं संयन्त्रप्रविधि की प्रशिक्षा होती है तथा वहुसंख्यक कार्बनिक यौगिकों के रासायनिक गुणों तथा उनके आर्थिक महत्त्व का ज्ञान प्राप्त होता है। रंजक उद्योग केवल एक नदी नहीं रही, अब वह एक डेल्टा बन गया है, जिसकी मुख्य धारा तो रंजक पदार्थों की है लेकिन अन्य धाराओं से, मनुष्य के उपभोगार्थ असंख्य रासायनिक पदार्थ प्रवाहित होते रहते हैं। रंजकसंबन्धी अन्वेषण करनेवाले रसायनज्ञ उद्योगों के प्राय: समस्त क्षेत्र में शक्तिशाली बीज विखेरते रहते हैं।

ग्रन्थसूची

BADDELEY, J. : *The Dyestuffs Industry, Post-war Developments. Journal of the Society of Dyers and Colourists.*

BOARD OF TRADE : *Report of Dyestuffs Industry Development Committee.* Cmd. 3658. H. M. Stationery Office.

CALVERT, F. C. : *Lectures on Coal Tar Colours.* Palmer & Howe.

CRONSHAW, C. J. T. : *Jubilee Memorial Lecture, Journal of the Society of Chemical Industry.*

DUISBERG, C. : *Abhandlungen* etc.

GARDNER, W. M. : *The British Coal-Tar Industry.* Williams & Norgate.

GRAND MOUGIN : *Ullmann's Enzylclopadie der Technischen Chemie,* Vol. V., p. 110 (2nd Ed.) Urban & Schwartzenberg

LACHMAN, A. : *The Spirit of Organic Chemistry.* Macmillan & Co., Ltd.

LEAGUE OF NATIONS, INTERNATIONAL ECONOMIC CONFERENCE : *The Chemical Industry.*

VON LIPPMANN, E. O. : *Zeittafeln zur Geschichte der organischen Chemie.*

MARTINET : *Matieres. Colorantes—L' Indigo.* J. B. Bailliere et Fils.

MIALL, S. : *History of the British Chemical Industry.* Ernest Benn Ltd.
MORGAN, SIR G. T., AND PRATT, D. D. : *British Chemical Industry.* Edward Arnold & Co.
MORTON, H. : *History of the Development of Fast Dyeing and Dyes*, Royal Society of Arts.
PAULI, H. : *Die Synthese der Azofarbstoffe.*
ROWE, F. M. : *The Development of the Chemistry of Commercial Synthetic Dyes* (1856-1938). The (Royal) Institute of Chemistry.
ROWE, F. M. : *The Colour Index.* Society of Dyers and Colourists.
SCHMIDT, ALBRECHT : *Die Industrielle Chemie in ihrer Bedentung im Weltbild.* W. de Gruyter.
SCHULTZ : *Farbstoff-Tabellen*, 7th Ed. Akademische Verlags gesellschaft.
THORPE, SIR J. F., AND WHITELEY, M. A. : *Thorpe's Dictionary of Applied Chemistry*, 4th Ed. Longmans Green & Co., Ltd.

विरंजन, रँगाई, छपाई तथा परिरूपण

फ्रेड शोलफील्ड, एम० एस-सी० (मैनचेस्टर), एफ० टी० आई०, एफ० आर० आई० सी०

कताई, बुनाई एवं रंग द्वारा वस्त्रों के अलंकरण की कलाओं का विकास आज से लगभग एक सहस्र वर्ष पूर्व हुआ था। एक लेखक के शब्दों में—"मानव-जीवन की प्रारम्भिक अवस्था में किसी अंतरज अहंता ने शारीरिक अलंकरण की प्रेरणा की। जब स्वाभाविक लज्जा तथा जलवायु की कठोरता ने मनुष्य को न्यूनतम आवरण अपनाने के लिए बाध्य किया तब इस अलंकरण ने तत्कालीन प्रारम्भिक वस्त्रों का रूप लिया। जैसे-जैसे मनुष्य की प्रवृत्ति एवं रुचि परिष्कृत होती गयी वैसे-वैसे साधारणतया प्रयुक्त होनेवाले भद्दे रंगदार वस्त्रों के स्थान पर विरंजित[1] कपड़ों का प्रयोग बढ़ने लगा तथा उत्तरोत्तर लोग उनको अधिक पसन्द करने लगे और उनका मूल्य भी बढ़ने लगा।" इसी के साथ कुछ लोगों का यह दावा भी है कि—"विरंजन का इतिहास ही मानव-सभ्यता का इतिहास है।"

[1] Bleached

जो भी हो, विरंजन के इतिहास से विज्ञान की विशिष्ट महत्ता तथा वर्तमान औद्योगिक विधाओं में वैज्ञानिक रीतियों और आविष्कारों के सफल प्रयोग का पता तो लगता ही है। वस्त्रों के विरंजन की कला अवलोकन एवं अनुभव पर ही आधारित थी तथा लिखित इतिहास के प्रारम्भ से लेकर १८वीं शताब्दी तक पादप तन्तुओं से बने वस्त्रों के विरंजन की केवल एक ही रीति थी, जिसे 'क्रॉफ्टिंग'[१] अथवा 'ग्रासिंग'[२] कहते थे। यह रीति कष्टप्रद होने के साथ-साथ नैसर्गिक तत्त्वों पर भी निर्भर होने के कारण बड़ी अनिश्चित होती थी।

लकड़ी की राख से निस्सारित क्षारों द्वारा स्वच्छकरण अथवा विमलन उपचार के पश्चात् वस्त्रों को सूर्यरश्मियों की क्रिया के लिए बाहर फैलाया जाता था। वस्तुतः "प्रारम्भिक विरंजन की रीति वर्तमान गृहिणियों द्वारा प्रयुक्त रीति के ही समान थी, जो अपने कपड़ों को मृदु क्षारों के साथ उबालकर धूप में फैला देती हैं और कभी कभी उन पर जल छिड़कती रहती हैं जिससे विरंजन विधा (प्रक्रिया) पूर्ण हो जाय। यह घरेलू विधा धीरे-धीरे औद्योगिक बन गयी जिसमें कपड़ों को बार बार उबाला और 'ग्रास' अर्थात् घास पर फैला कर सुखाया जाता है। यह विधा तब तक चलती रहती है जब तक वस्त्र पूरी तरह श्वेत न हो जाय। बहुत समय तक विरंजन की इस प्रथा में विमलन पदार्थ की प्रकृति में कुछ हेर-फेर के अलावा अधिक परिवर्तन नहीं हुआ।"

एडिनबरो के डा० फ्रान्सिस होम ने १७५६ में कहा था—"मैं देखता हूँ कि सबसे निपुण विरंजनकर्मी अपनी कला के सामान्य सिद्धान्त को तो अच्छी तरह समझते हैं लेकिन रासायनिक सिद्धान्तों से अनभिज्ञ होने के कारण उनका उचित उपयोग नहीं कर पाते तथा अपने ज्ञान के प्रयोग से अपने काल की वृद्धि नहीं कर सकते।" १८वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में जाकर संपरीक्षीय रीतियों को सैद्धान्तिक निष्कर्षों का आधार स्वीकार किया गया, जिससे उस ज्ञान की वृद्धि एवं प्रविधि का विकास संभव हो सका जो वर्तमान युग का विशिष्ट लक्षण माना जाता है। यह प्रिस्ले, शीले, कैवेण्डिश और लवायजियर का युग था। १७७४ में शीले ने क्लोरीन का आविष्कार

(१) अंग्रेजी में 'क्रॉफ्ट' गृहलग्न भूमि को कहते हैं, संभवतः वस्त्रों को इसी भूमि पर फैलाकर विरंजन करने के कारण इस रीति को 'क्रॉफ्टिंग' की संज्ञा दी गयी है। यही तर्क 'ग्रासिंग' के लिए भी उपस्थित किया जा सकता है, क्योंकि इस रीति में कपड़े घास (ग्रास-अं०) पर फैलाकर विरंजित किये जाते थे। —अनुवादक

किया तथा उसके गुणों की परीक्षा की। उन्होंने देखा कि उससे वनस्पति-रंगपदार्थों का नाश हो जाता है। आगे चलकर बर्थोलेट ने क्लोरीन को एक विरंजक के रूप में प्रयोग करने की सोची और उसे पोटाशविलयन में प्रचूषित कराकर 'युडि जैबेले' उत्पन्न किया। इससे क्लोरीन की अवांछित गंध के कारण उसके इस्तेमाल करने की कठिनाई का निवारण हो सका।

विरंजन की 'ग्रासिंग' रीति के स्थान पर इस नयी रीति के प्रयोग की संभावना से विरंजनकर्मियों को बड़ा त्राण मिला क्योंकि इस रीति से वस्त्रविरंजन में प्रायः उतने ही घण्टे लगने लगे, जितने कि पुरानी प्रथा में सप्ताह लगते थे। औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप अत्यधिक वस्त्रोत्पादन के कारण विरंजनकर्मी अपनी अनावश्यक रूप से लम्बी प्रथा को लेकर बड़ी कठिनाई में पड़ गये थे। अनेक लोगों ने क्लोरीन पर प्रयोग किये और १७९९ ई० में चार्ल्स टेनैण्ट ने बुझाये चूने से क्लोरीन के अवशोषण की विधा का पेटेण्ट कराया। फलतः 'क्लोराइड ऑफ लाइम' अर्थात् 'ब्लीचिंग पाउडर' वनस्पति-तन्तुओं के विरंजक के रूप में आज तक सबसे महत्त्वपूर्ण पदार्थ माना जाता है।

शीले द्वारा क्लोरीन के आविष्कार जैसे विशुद्ध वैज्ञानिक आविष्कार का औद्योगिक प्रयोग कोई नयी बात न थी। इण्डैथ्रीन प्रकार के प्रथम कुण्डरंजक के आविष्कार के समय (१९०१) सोडियम हाइड्रो सल्फाइट अपेक्षाकृत एक विरली वस्तु थी जो रासायनिक प्रयोगशाला-प्रतिकर्मकों में भी साधारणतया नहीं पायी जाती थी। किन्तु कुण्डरंजकों में इसका प्रयोग होने से थोड़े समय में ही इसकी महत्ता इतनी बढ़ी कि प्रति वर्ष हज़ारों टन के हिसाब से इसका उत्पादन होने लगा।

उपर्युक्त दृष्टान्त का उलटा भी प्रायः सत्य होता है। बहुधा औद्योगिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए किये गये अनुसन्धान के फल भी विशुद्ध वैज्ञानिक ज्ञान में बड़े मूल्यवान् सिद्ध हुए हैं। मास्कोस्थित 'झुण्डेल प्रिण्ट वर्क्स' के रसायनज्ञों ने ऐल्डिहाइडों और कीटोनों के साथ हाइड्रो सल्फाइट के प्राविधिक यौगिक तैयार किये, जिनसे हाइड्रो सल्फाइट एवं सल्फाक्सिलेट की संरचना के स्पष्टीकरण में सहायता मिली।

जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, विरंजक के रूप में 'क्लोराइड आफ लाइम' का एक शताब्दी तक सबसे अधिक महत्त्व रहा है, लेकिन इसका यह तात्पर्य नहीं है कि इस कालावधि में विरंजनकर्मियों को वैज्ञानिकों से कोई सहायता ही नहीं मिली। उनको अपने अनुभव से यह पता लगा कि विलयन की सांद्रता के अलावा उसकी

क्षारता, उसका वयस तथा उसमें अम्ल डालने इत्यादि का विरंजन की प्रभाविता तथा उसके वेग पर बड़ा असर पड़ता था; साथ ही उन्होंने यह भी देखा कि वस्त्रों के ऊपर रासायनिक आक्रमण की गहनता भी बड़ी महत्त्वपूर्ण बात थी। परन्तु बिना किसी मात्रात्मक आधार के यह ज्ञान अस्पष्ट सा ही रहा। १९०९ में एक डैनिश रसायनज्ञ, सोरेन्सन ने हाइड्रोजन आयन का सांद्रण यानी किसी विलयन की अम्लता, क्षारता अथवा उदासीनता व्यक्त करने की एक सरल रीति निकाली। 'शर्ले इन्स्टिट्यूट' में (१९२४) 'ब्रिटिश कॉटन इण्डस्ट्री रिसर्च असोसियेशन' के क्लीबेन्स तथा अन्य कार्यकर्ताओं ने वनस्पति तन्तुओं के सेलुलोज़ पर हाइपो क्लोराइट के विरंजन-विलयनों की आक्सीकरण क्रिया का बड़ी सावधानी से अध्ययन किया तथा कुछ आश्चर्य-जनक बातों का पता भी लगाया। यह मालूम हुआ कि आक्सीकरण के लिए विलयन में स्वयं हाइपो क्लोराइट के सांद्रण की अपेक्षा हाइड्रोजन आयन सांद्रण अधिक महत्त्व-पूर्ण होता है। इन वैज्ञानिक अन्वेषणों के प्रत्यक्ष फलस्वरूप विरंजन विधाओं का नियंत्रण अधिक निश्चित एवं वस्तुनिष्ठ हो गया, अर्थात् विरंजन अब केवल एक कला मात्र न रहकर पूरा विज्ञान बन गया और उसकी उत्तमता एवं कार्यसाधकता में बड़ी उन्नति हो गयी।

यद्यपि विरंजित वस्त्रों के सामर्थ्य ह्रास से उसके विरंजन की अनुपयुक्तता का पता तो चल जाता था लेकिन रासायनिक आक्रमण की ठीक-ठीक सीमा निर्धारित करना अब भी कठिन था। 'शर्ले इन्स्टिट्यूट' के वैज्ञानिक कार्यकर्ताओं ने क्यूप्रामोनियम हाइड्राक्साइड में रासायनिकतया प्रभावित सेलुलोज़ के विलयन की श्यानता पर आधारित एक मानक परीक्षा विकसित की, जो अब वस्त्रोद्योग में सामान्यतः स्वीकृत है। इस परीक्षा से विरंजन तथा संवद्ध विधाओं में हुई वस्त्र की हानि मापने तथा उसकी प्रकृति निश्चय करने में बड़ी बहुमूल्य सहायता मिली है।

यह बताना कि आगे वैज्ञानिक रीतियों तथा आविष्कारों के प्रयोग से विरंजन में उन्नति की क्या संभावनाएँ हैं, प्रायः असंभव है। विद्युद्रासायनिक विधाओं से बड़ी मात्रा में हाइड्रोजन पराक्साइड बनने और एक विरंजक के रूप में प्रयुक्त भी होने लगा है। इसके उपरान्त सोडियम क्लोराइट नामक क्लोरीन का एक दूसरा यौगिक, जो अभी हाल तक एक विरला रस-द्रव्य था, अब बड़े पैमाने पर विरंजन का महत्त्वपूर्ण साधन बनने जा रहा है।

कदाचित् रसायनज्ञ एक दिन फिर हवा से अनाश्रित विरंजन की पुरानी रीति अपनायेंगे, परन्तु तब वे सूर्यप्रकाश की मन्द गति एवं अनिश्चित क्रिया पर निर्भर न होंगे। वे कुछ ऐसे उत्प्रेरकों का प्रयोग करेंगे जिससे केवल प्राकृतिक रंग-पदार्थों

का ही ऑक्सीकरण हो सके तथा तन्तुओं के बल और प्रकृति पर कोई दुष्प्रभाव न पड़े।

पिछले सौ वर्षों में वस्त्रों के रंगने की रीतियों में आमूल परिवर्तन हुआ है, और उनके विकास तथा सुन्दर एवं उपयोगी वस्तुओं के कुशल उत्पा न में वैज्ञानिक योग-दान का यह बड़ा उत्कृष्ट उदाहरण है। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक तो वस्त्रों की रंगाई की कला प्राकृतिक रंग पदार्थों के प्रयोग पर ही आधारित थी। ये रंग पदार्थ अधिकांशतः वनस्पतिजगत से ही प्राप्त होते थे तथा उनके प्रयोग की रीति भी बड़ी कष्टप्रद और नियंत्रणातीत होती थी। फिर भी अनुभवजन्य रीतियों से ही सही, लेकिन वस्त्र-रंगाई और छपाई की कला सौन्दर्यमय बन गयी थी। गत शताब्दी के पूर्वार्ध में कार्बनिक रसायन का जो विकास हुआ वह मुख्यतः रंगों और भेषजों जैसे प्राकृतिक पदार्थों की रासायनिक संरचना की ओर संकेन्द्रित था। इस संदर्भ में यह बताना आवश्यक है कि १८५६ में डब्लू० एच० पर्किन द्वारा किया गया कोलतार-पदार्थों से व्युत्पन्न रंगपदार्थ का आविष्कार कोई एक आकस्मिक घटना न थी। 'ऐनि-लीन' अथवा 'कोलतार' रंजकों तथा उनके आवश्यक अन्तःस्थों के सर्वप्रथम औद्यो-गिक निर्माण में १८ वर्षीय पर्किन की विलक्षण सफलता व्यावहारिक रसायन के समस्त इतिहास में बड़ी असाधारण घटना है। पर्किन के 'ऐनिलीन पर्पल' के बाद अधिकांशतः इंग्लैण्ड और फ्रान्स में 'मैजेण्टा', 'सियानीन', 'साल्युब्ल ब्लूज़' तथा 'मिथिल वायलेट' जैसे सुन्दर सुन्दर रंगपदार्थ आविष्कृत हुए। लाइट फूट द्वारा कपास पर 'ऐनिलीन ब्लैक' उत्पन्न करने की एक व्यावहारिक रीति का आविष्कार इसी काल की घटना है। मैडर की जड़ोंवाले रंगतत्त्व, 'ऐलिजरीन' के बनाने की रीति का आविष्कार तथा उसका औद्योगिक विदोहन (एक्सप्लायटेशन) पर्किन की सफलताओं में सबसे उत्कृष्ट माना जाता है। विशुद्ध रासायनिक रीति से किसी प्राकृतिक रंगपदार्थ के उत्पादन का यह सर्वप्रथम उदाहरण था। आगे चलकर 'इण्डिगो' का संश्लेषण किया गया तथा उसका भी विशिष्ट आर्थिक महत्त्व हुआ। 'ऐलिज़रीन' बनने के पहले बड़े बड़े खेतों में मैडर उपजाया जाता था तथा उसके रंग-पदार्थ से 'टर्की रेड' और वस्त्रों की रँगाई छपाई के लिए लाल और गुलाबी आभाओं के महत्त्वपूर्ण रेञ्जों का उत्पादन किया जाता था।

ग्रीनफोर्ड ग्रीन-स्थित पर्किन की निर्माणी के संबन्ध में एफ० एम० रो लिखते हैं--"अन्य किसी देश की एक निर्माणी ने वैज्ञानिक एवं औद्योगिक विकास का इतना विश्वव्यापी उत्थान नहीं किया है। इसका मुख्य कारण यह है कि यहाँ रंजक उद्योग और शैक्षणिक कार्यकर्ताओं के बीच प्रारम्भ से ही अति निकट सम्पर्क स्थापित किया

गया है, जिसका परिणाम यह हुआ कि शैक्षणिक वैज्ञानिकों ने वाणिज्यिक रंजकों की संरचना निश्चय करके तथा उनके उत्पादन में होनेवाली प्रतिक्रियाओं के क्रम का स्पष्टीकरण करके उद्योग की महती सहायता की। उन्होंने नये नये अन्तःस्थ एवं रंजक भी तैयार किये जिनका आगे चलकर वाणिज्यिक पैमाने पर निर्माण किया गया। दूसरी ओर उद्योग ने भी इस बात को स्वीकार किया कि उच्च प्रशिक्षा-प्राप्त रसायनज्ञों की अधिकाधिक संख्या एकत्र कर तथा उन्हें काम में लगाकर सतत प्रगति करते रहने में ही उनकी सफलता निहित है। इसी कारण वे निर्बाध रूप से नयी नयी प्रतिक्रियाएँ ज्ञात करके नवीनतम एवं विविध प्रकार के यौगिक बनाते रहे तथा इससे कार्बनिक रसायन के सिद्धान्त एवं व्यवहार के विकास में बराबर सहायक हुए।"

कोलतार के ऐन्थ्रैसीन से 'एलिज़रीन' के उत्पादन ने मैडर की खेती को एकदम समाप्त कर दिया और आगे चलकर उसी प्रकार जर्मनी में 'इण्डिगो' के रासायनिक उत्पादन ने प्राकृतिक इण्डिगो उद्योग का भी अन्त कर दिया।

रंग पदार्थों के उत्पादन में पर्किन की सफलताओं से प्रेरित कार्बनिक रसायन ज्ञान के प्रयोग के प्रत्यक्ष फलस्वरूप १८५६ के बाद रंगाई कला में आमूल परिवर्तन हो गया। इससे रंगाई-छपाई करनेवाले वस्त्रों में ऐसे-ऐसे सुन्दर रंगप्रभाव उत्पन्न करने लगे जो प्रकाश, धुलाई एवं इस्तेमाल करने की अन्य साधारण रीतियों को सफलतापूर्वक सहकर स्थिर बने रहते हैं। इसके अतिरिक्त उनकी प्रक्रियाएँ उन पुरानी प्रक्रियाओं से सरल भी थीं जिनसे निश्चितरूपेण न्यून स्थिरता के रंग उत्पन्न होते थे।

१८८४ ई० में प्रथम अनाश्रित कपास-रंजक, 'कांगोरेड' के आविष्कार से ही रंजकविलयन में आवश्यकतानुसार थोड़ा नमक डालकर सूती वस्त्रों को उबालते हुए रंगने की सरल रीति संभव हुई। उस समय से ऐसी रंगाई के लिए बीसों हज़ार रंजक तैयार किये गये और उनमें से बहुतों में प्रकाश और धुलाई सहने का गुण भी था, जो पहले किसी भी रीति से प्राप्त नहीं हो सका था।

इन हज़ारों कपास और ऊन-रंजकों में से प्रायः सभी का उद्‌गम पीटर ग्रीस नामक वैज्ञानिक के अनुसन्धानकार्य में ही निहित था। ग्रीस लन्दन में प्रोफेसर ए० डब्लू० हॉफमैन के शिष्य थे, और बाद में बर्टन-ऑन-ट्रेण्ट के यवासवन उद्योग से इनका संबन्ध हो गया था। इनके गुरु हॉफमैन ने अपने तथा अपने शिष्यों के कार्यों से इंग्लैण्ड और जर्मनी दोनों देशों में उस महान् उद्योग की नींव डाली जिसने कोयला-आसवन के उपजातों को बड़े बहुमूल्य यौगिकों का रूप प्रदान किया। ये उपजात पहले एकदम

गिक प्रयोग का अत्युत्तम उदाहरण है। इसलिए यह समझना कि अब अन्तिम पद आ गया ठीक नहीं है। संभव है कि उनके प्रयोग की कठिनाई के कारण कुण्डरंजक भी शीघ्र ही विस्थापित हो जायँ और उनके स्थान पर भिन्न रासायनिक संरचनावाले अन्य यौगिक क्षेत्र में आ डटें। अभी भी 'इण्डिगो सोल्स' तथा 'सोलेडॉन्स' के रूप में कुण्डरंजकों की संरचनाओं में ऐसा संशोधन उपस्थित किया गया है जो विलेय होने के साथ-साथ कुछ बातों में सूत एवं वस्त्र पर अधिक सरलता से प्रयुक्त हो सकता है। रासायनिक कौशल से नैप्थाल रंग इतने विविध तरीकों से तैयार किये गये हैं जिससे उनका प्रयोग अधिक सुविधाजनक हो गया है, विशेषत: वस्त्रों की छपाई में। रंजकों एवं रंगद्रवों के क्षेत्र में गहन वैज्ञानिक अनुसन्धान अब भी चालू है। गत कुछ ही वर्षों में सुन्दर 'मोनास्टूल ब्लू' का आविष्कार हुआ है और उसकी संरचना भी मालूम हो गयी है। इससे संबद्ध अनेक बहुमूल्य रंग पदार्थ मिलने भी लगे हैं। १९४० ई० में केवल ब्रिटेन में ६·५ करोड़ पौण्ड मूल्य के रंजक पदार्थो का उत्पादन हुआ था। इस तथ्य से इस उद्योग के वर्तमान परिमाण का अन्दाज़ लगाया जा सकता है।

परिरूपण[1]––वस्त्रोद्योग के विकास में नये-नये प्रभाव उत्पन्न करने तथा नयी समस्याओं के समाधान के लिए वैज्ञानिक रीतियों और साधनों के प्रयोग की सदा आवश्यकता रहती है। वस्त्रतन्तुओं को व्यवहार एवं अलंकार के लिए तैयार करने में विरंजन तथा रंगाई के अलावा भी कुछ और करना पड़ता है, इसी के लिए 'परि-रूपण' अर्थात् 'फिनिशिंग' शब्द का प्रयोग किया जाता है, जिसके अन्तर्गत वस्त्र की शोभा, स्पर्श, घनता, उसकी सतह की प्रकृति तथा अन्य गुणों के परिवर्तन-संशोधन की सभी प्रक्रियाएँ शामिल होती हैं।

सूती वस्त्रों के परिरूपण की सबसे महत्त्वपूर्ण विधाओं में 'मर्सरीकरण' उल्लेख-नीय है। इस शब्द का निर्माण लंकाशायर के वस्त्र छपाई करनेवाले एक रसायनज्ञ जॉन मर्सर के नाम पर हुआ था। मर्सरीकरण की अपनी पुस्तक में श्री जे० टी० मार्श ने लिखा है––"मर्सरीकरण विधा मर्सर द्वारा उन पदार्थों के अध्ययन से निकली जो जल के साथ रासायनिकतया संयुक्त होकर निश्चित हाइड्रेटों के रूप में विलीन रहते हैं। १८४३–४४ की कालावधि में अक्सर वे विभिन्न सांद्रणोंवाले विलयनों द्वारा प्रदर्शित श्यानता तथा चलिष्णुता के भेदों के संबन्ध में अपने विचारों का विमर्श किया करते थे और इन विलयनों को केशिका नली के द्वारा प्रवेश कराने की बात

[1] Finishing

सुझाया करते थे, क्योंकि उन्हें यह आशा थी कि उन विलयनों के बहाव का गति-भेद उनके रासायनिक जलीयन (हाइड्रेशन) की मर्यादा के अनुकूल होगा।...चूँकि वस्त्र छपाई पर विलयनों की प्रकृति का महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है, इसलिए मर्सर ने एक पदार्थ की विभिन्न प्रबलतावाले विलयनों से उत्पन्न प्रभावभेदों की जाँच के लिए अनेक संपरीक्षाएँ कीं। धीमी प्रभाजन छनाई के द्वारा मर्सर ने विभिन्न हाइड्रेटों के आंशिक पृथक्करण की बात भी सोची। इसी छनाई क्रम में सोडियम हाइड्राक्साइड के विलयनों को सूती कपड़ों से छानना पड़ा।"

इस उपचार के फल का वर्णन करते हुए स्वयं मर्सर ने लिखा है—"मैंने देखा कि छाननेवाले कपड़े में असाधारण परिवर्तन हो गया और वह अर्ध-पारदर्शक हो गया था तथा लम्बाई और चौड़ाई दोनों ओर से सिकुड़ तथा फूलकर मोटा (फुल्ड) हो गया था।"

ये अवलोकन १८४४ ई० में किये गये थे लेकिन मर्सर ने 'फुल्ड' कपड़े संबन्धी अपनी संपरीक्षाएँ फिर १८५० ई० के पूर्व नहीं कीं। १८५१ ई० की अन्तर्राष्ट्रीय प्रदर्शनी में इस नयी विधा से उपचारित वस्त्रों के नमूने भी प्रदर्शित किये गये लेकिन कोई सफल वाणिज्यिक उत्पादन संभव न हुआ। कदाचित् उस समय सोडियम हाइ-ड्राक्साइड की महँगाई के कारण ही ऐसा न हो सका। मर्सर द्वारा अवलोकित कपड़े की सिकुड़न का उपयोग, दहक्षार के प्रयोग से क्रेप प्रभाव उत्पन्न करने में किया गया। अगले ३०-४० वर्षों में यह क्रेप बड़ा लोक-प्रिय हुआ।

मर्सरीकरण से कपास के सूत एवं वस्त्र में अन्य बहुमूल्य परिवर्तन उत्पन्न होते देखे गये थे। आतननसामर्थ्य[1] खूब बढ़ जाता था तथा रंजकों के लिए बन्धुता (एफिनिटी) भी। ये दोनों गुण वर्तमान वस्त्रोपचार में बड़े महत्त्व के हैं, लेकिन आजकल मर्सरीकरण का प्रयोग विशेषतः कपड़े की रेशमी चमक और स्पर्श बढ़ाने के लिए किया जाता है। यह उल्लेखनीय बात है कि मर्सर ने इन प्रभावों का अनुभव नहीं किया था। १८९९ में मैन्चेस्टर के एक युवक रसायनज्ञ, होरेस ए० लो ने यह देखा कि मर्सरीकरण के समय वस्त्र पर थोड़ा तनाव देने से उसकी रेशमी चमक बहुत बढ़ जाती थी। वस्त्र उद्योग में यह अवलोकन एक बड़ा महत्त्वपूर्ण आविष्कार सिद्ध हुआ जिसका एकमात्र श्रेय लो को है। स्वयं लो ने भी इसकी महत्ता जान ली थी लेकिन अधिक चमक के लिए इस विधा को उद्योग द्वारा स्वीकार कराने में वह सफल न

[1] Tensile strength

हो सके फलतः उनका पेटेण्ट १८९३ में समाप्त हो गया। वस्त्र की चमक के लिए मर्सरीकरण विधा का सफल विदोहन (एक्सप्लायटेशन) क्रेफेल्ड के सर्वश्री टामस तथा प्रिवोस्ट ने किया। उन्होंने दहक्षार की सिकुड़न क्रिया से सूत की लम्बाई की हानि रोकने के प्रयत्न में स्वतंत्र रूप से इस चमक-प्रभाव का आविष्कार किया था। यह एक ऐसा दृष्टान्त है जिसमें एक महत्त्वपूर्ण वैज्ञानिक योगदान के मूल्य को औद्योगिकों ने न जाना और एक महान् अवसर विफल हो गया। यद्यपि पेटेण्ट की समाप्ति से स्वामित्व-अधिकार भी समाप्त हो गया लेकिन एक वैज्ञानिक अनुसन्धान से कपास तथा अन्य सेलुलोज़ सूत एवं वस्त्रों का सुशोभन संभव हुआ।

अन्य परिरूपण विधाओं में बहुत से पदार्थों की आवश्यकता होती है, जिनके ठीक-ठीक प्रयोग से वस्त्रों में अनेक वांछनीय गुण उत्पन्न होते हैं। डा० सी० जे० टी० क्रॉन्श ने लिखा है कि यद्यपि वस्त्रविधायन में रंगाई के लिए रंजकों के रूप में कार्बनिक रसायन के नवीनतम यौगिकों का प्रयोग किया गया है, फिर भी उसके परिरूपण की अन्य विधाओं के लिए अभी हाल तक युगों से चले आ रहे केवल गोंद और स्टार्च, तेल और वसा तथा चीनी मिट्टी जैसे खनिजों पर ही निर्भर रहना पड़ा है। लेकिन आज स्थिति सर्वथा भिन्न है और रंजकनिर्माण के साथ-साथ अनेक सहायक पदार्थों का उत्पादन होने लगा है और इन सहायक पदार्थों में से बहुत से तो रंजकों से कम महत्त्व के नहीं माने जाते। नये-नये विमलनकारक तथा आर्द्रणकारक, वस्त्रों की मुलायमियत तथा बजाजा गुण (ड्रेपिंग क्वालिटी) बढ़ानेवाले पदार्थ और जलरोधन तथा पायसन एवं सज्जीकरण (साइजिंग) और असज्जीकरण करने वाली वस्तुएँ बड़ी भारी संख्या में उत्पन्न होने लगी हैं। इन पदार्थों का यह विशाल समूह आज की नवीन रासायनिक सफलता का मुख्य द्योतक है। यह कार्य संयुक्त राज्य अमेरिका के शेनेक्टैडी स्थित 'जेनरल एलेक्ट्रिक कंपनी' के डा० इर्विंग लैंगम्योर के आधारभूत अन्वेषणों से संभव हुआ है। डा० क्रॉन्श ने इसका भी दिग्दर्शन कराया है। कुछ ऐसे तेल होते हैं जो जल-तल पर छोड़े जाने पर नहीं फैलते। उन हाइड्रोकार्बनों का भी व्यवहार इसी प्रकार का होता है, जिनके अणुओं में कार्बन परमाणुओं की श्रृंखला होती है और जिनमें केवल हाइड्रोजन के परमाणु जुड़े रहते हैं। लेकिन अगर इस श्रृंखला के एक हाइड्रोजन परमाणु के स्थान पर कोई विलयनीकर्ता वर्ग जोड़ दिया जाय तो प्राप्त पदार्थ जल-तल पर बराबर फैल जायगा। इस प्रकार ओलिक अथवा स्टियरिक अम्लों का भी जल-तल पर एक बराबर स्तर बन सकता है। लैंगम्योर ने यह प्रदर्शित किया कि ऐसे स्तर केवल एक अणु मोटे होते हैं। इनके तलतनाव

का अध्ययन करके यह भी सिद्ध किया गया कि इन एक-आणविक स्तरों अथवा झिल्लियों में सभी अणु एक निश्चित रूप से स्थान ग्रहण करते हैं अथवा अनुस्थापित (ओरियेण्टेड) होते हैं, तथा इनका विलयनीकर्ता वर्ग जल-तल की ओर रहता है और ये सीधे-सीधे खड़े हो जाते हैं।

इन अणुओं में एक ध्रुवीय (पोलर) अर्थात् जलप्रिय (हाइड्रोफीलिक) वर्ग और दूसरा अध्रुवीय (नान-पोलर) अर्थात् जलरोधी (हाइड्रोफोबिक) वर्ग होता है और इसी कारण से इनकी दोहरी प्रकृति होती है। विलयनीकर्ता अथवा ध्रुवीय वर्ग को जल की ओर खींचने और इस प्रकार उसमें तेल को विलीन करने की प्रवृत्ति का प्रतिसंतुलन (काउण्टर-बैलेन्स) अध्रुवीय वर्ग के अपकर्षण से होता है। यदि विलयनीकर्त्ता वर्ग अधिक ध्रुवीय हुआ तो अणु सचमुच जल के अन्दर खिंच जाते हैं और उनका बण्डल अर्थात् श्लेषिका (मिसेल्स) बन जाती है। इन श्लेषिकाओं में ध्रुवीय वर्ग जलप्रिय होने के कारण उसकी ओर यानी जल से स्पर्श करते हैं, जब कि जलविरोधी अध्रुवीय वर्ग उससे बचने के लिए अन्दर की ओर रहते हैं।

लैंगम्योर के आधारभूत अन्वेषणों से इन लम्बी श्रृंखलावाले विद्युदंश्यों के व्यावहारिक प्रयोग का उत्तम स्पष्टीकरण हुआ है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि साबुन तथा अन्य संबद्ध पदार्थों का पायसन प्रभाव उनमें तेलप्रिय अध्रुवीय कड़ी के साथ जलप्रिय ध्रुवीय वर्ग जुड़े रहने के कारण ही होता है। यदि केवल तेल और पानी को मिलाकर हिलाया जाय तो वे अस्थायी रूप से एक में मिल जाते हैं लेकिन कुछ क्षण के लिए छोड़ दिये जाने पर वे दोनों फिर अलग-अलग हो जाते हैं। किन्तु अगर उनके साथ इन लम्बी श्रृंखलावाले विद्युदंश्यों यानी पायसनकर्ताओं की थोड़ी मात्रा मिला दी जाय तो जल और तेल का एक स्थायी आलम्ब अथवा पायस तैयार हो जाता है। ये लम्बी श्रृंखलावाले विद्युदंश्य[1] जल और तेल के बीच की कड़ी का काम करते हैं, तथा एक समांग[2] मिश्रण में उनके सह-अस्तित्व को स्थायी बनाते हैं।

इन पदार्थों की आर्द्रणक्रिया का भी इसी आधार पर स्पष्टीकरण किया जा सकता है। इनकी लंबी शृंखला स्नेही पदार्थों की ओर आकृष्ट होती है, जब कि ध्रुवीय वर्ग का आकर्षण आर्द्रण के लिए प्रयुक्त हानेवाले विलयन के जल की ओर होता है।

लम्बी श्रृंखला के विद्युदंश्यों की अपक्षालन क्रिया[3] भी बड़ी महत्त्वपूर्ण है। इसमें भी प्रथम प्रभाव तो पायसन तथा आर्द्रण की क्रिया के समान ही होता है; परन्तु

[1] Electrolyte [2] Homcgeneous [3] Detergent action

सम्पूर्ण अपक्षालन क्रिया में कई अन्य कारक भी काम करते हैं, जिनके बारे में अभी पूरा ज्ञान प्राप्त नहीं हो पाया है। वस्त्रों के धोने अथवा विलयन के लिए इनमें से बहुतों का व्यावहारिक प्रयोग भी किया जाने लगा है, और इस कार्य के लिए इनके प्रयोग में साबुन की अपेक्षा कई अन्य लाभ भी हैं। ये विशेष रूप से कार्यक्षम होते हैं और अपेक्षाकृत इनकी बहुत थोड़ी मात्रा आवश्यक होती है। कठोर जल के साथ साबुन का प्रयोग अव्यावहारिक होता है क्योंकि कैल्सियम और मैग्नीसियम साबुनों का अवक्षेपण हो जाता है, जिससे बड़ा चिपकाऊ मलफेन (स्कम) बन जाता है। लेकिन ये आधुनिक अपक्षालक ऐसे जल के साथ भी बड़ी कुशलतापूर्वक प्रयुक्त किये जा सकते हैं, क्योंकि इनके संवादी कैल्सियम और मैग्नीसियम लवण जलविलेय होते हैं तथा बड़ी सरलता से विक्षेपित होते हैं। वे तो अम्लविलयनों के साथ भी इस्तेमाल किये जा सकते हैं क्योंकि संवादी अम्ल भी जलविलेय होते हैं।

इस प्रकार प्रत्यक्षतः असंबद्ध क्षेत्रों में किये गये वैज्ञानिक अनुसन्धान के फलस्वरूप ऐसे पदार्थों के आविष्कार हुए हैं, जिनके द्वारा दो सहस्र वर्षों से प्रायः अपरिवर्तित रूप में चले आ रहे साबुनों का सरलता से विस्थापन हो गया, या कम से कम बहुत हद तक उनकी अनुपूर्ति हुई। कुछ बातों में तो वे निःसंदेह साबुनों से कहीं बढ़कर कार्यक्षम होते हैं।

विस्फोटक

(पहले के संस्करणों से किञ्चित् संशोधन सहित पुनर्मुद्रित)

शान्तिकालीन कुछ रोचक औद्योगिक घटनाओं की संक्षिप्त समीक्षा कर लेने के बाद कुछ मुख्य युद्धोद्योगों की चर्चा करना भी आवश्यक है। विस्फोटकों की उत्पादन रीतियाँ कोलताररंजक बनाने की रीतियों से इतनी अधिक मिलती-जुलती हैं कि संयन्त्रों में कोई विशेष संशोधन किये बिना ही रंजक-उत्पादक युद्धोद्योग में पूरी तरह रत हो सकता है। तेरहवीं शताब्दी में रोजर बेकन ने 'पल्विस फुल्मिनान्स' का आविष्कार किया, कोलेन के भिक्षु, श्वार्ज ने चौदहवीं शताब्दी में बन्दूक और 'गन पाउडर' बनाये, तथा सोलहवीं शताब्दी में जहाज़ों में सर्वप्रथम तोपों का प्रयोग किया गया, यही इस दिशा की पूर्वकालीन प्रगति है। उसके बाद उन्नीसवीं शताब्दी तक विस्फोटक उद्योग में कोई विशेष विकास नहीं हुआ। इतना अवश्य है कि उस समय युद्ध की अपेक्षा खोदाई एवं इंजीनियरी प्रयोजनों के लिए विस्फोटकों की अधिक आव-

श्यकता थी। यहाँ हमारा उद्देश्य वैज्ञानिक गतिविधियों की नैतिकता सिद्ध करने का नहीं है, केवल हम यह दर्शाना चाहते हैं कि विज्ञान ने किसी उद्योग के निमित्त क्या किया है।

कोई विस्फोटक यौगिक अथवा मिश्रण बड़ी शीघ्रता से ऊष्मक्षेपकतया[1] ऐसे गैसीय पदार्थों में परिवर्तित हो जाता है, जो विस्फोट के उच्च ताप और साधारण दबाव पर मूल यौगिक या मिश्रण की अपेक्षा अत्यधिक आयतन यानी स्थान घेरते हैं। गैस के सहसा प्रसार से जो भीषण दबाव उत्पन्न होता है, उसी में विस्फोट की प्रबल शक्ति निहित होती है। इसी सिद्धान्त पर ऐसे गुणवाले पदार्थों की विस्फोटक प्रकृति का उपयोग किया गया है। उदाहरण के लिए ट्राइनाइट्रो टोलुइन (टी० एन० टी०) को लीजिए। इसका विस्फोट करना कोई सरल काम नहीं है, क्योंकि यह अपेक्षाकृत एक स्थायी पदार्थ है। परन्तु इसके गुणों के अध्ययन एवं पिक्रिक अम्ल तथा पिक्रेटों से, जो समान संरचना एवं विस्फोटक गुणोंवाले पदार्थ हैं, उसकी तुलना करके यह अनुमान किया गया है कि उस पर चोट मारकर उसे प्रस्फोटित किया जा सकता है। रसायनज्ञों, भौतिकीविदों तथा इंजीनियरों की सक्रियता के फलस्वरूप टी० एन० टी० आज सर्वाधिक प्रयुक्त विस्फोटक बन गया है। इसके पूर्व रोजर बेकन का चारकोल, गन्धक और नाइटर-मिश्रित काला चूर्ण (ब्लैक पाउडर) ही शताब्दियों तक एकमात्र विस्फोटक बना रहा। यह बड़ी शीघ्रता से जल उठता है किन्तु इसकी शक्ति बहुत कम होती है।

आधुनिक विस्फोटकों के जनक, ऐल्फ्रेड नोबेल ने ऐसे साधन निकाले जो प्रस्फोटन (डिटोनेटिंग) प्रकृतिवाले प्रबल विस्फोटकों को दगाने के काम में आते थे। ऐसे पदार्थ उपक्रामक (इनीशियेटर) कहलाते हैं। उन्होंने देखा कि पारद, नाइट्रिक अम्ल और इथिल ऐलकोहाल से बननेवाला मर्करी फल्मीनेट केवल एक चिनगारी मात्र से विस्फोटित हो उठता है। अतः उन्होंने सोचा कि यह प्रबल विस्फोटकों की बड़ी बड़ी मात्राओं के प्रस्फोटन का उपक्रमण भी कर सकता है। ताम्र अथवा अलुमिनियम कैप्सूल में बन्द उपक्रामक विस्फोटकों को प्रस्फोटक कहा जाता है। विस्फोटन तथा उत्स्फोटन (ब्लास्टिंग) कर्ताओं के विकास में इन उपक्रामकों ने मुख्य काम किया है। गत कुछ वर्षों से मर्करी फल्मीनेट के स्थान पर सीस ऐज़ाइड प्रयुक्त होने लगा है।

१८३२ में ब्रैकोनॉट ने काष्ठतन्तुओं पर नाइट्रिक अम्ल की क्रिया से एक विस्फो-

[1] Exothermically

टक पदार्थ बनाया, और १८२५ में शोनबीन ने कपास को सल्फ्यूरिक और नाइट्रिक अम्लों से उपचारित करके 'गन-काटन' तैयार किया। यद्यपि अन्य देशों में भी इसका निर्माण प्रारम्भ किया गया लेकिन सफल नहीं हुआ, क्योंकि निष्पन्न वस्तु अत्यन्त अस्थायी होने के कारण बड़ी भयावह थी। उचित विधा के विविध पदों का ठीक ठीक अनुसरण न करना ही मुख्यतः इस असफलता का कारण था। सर फ्रेड्रिक ऐबेल ने बताया कि न केवल प्रारम्भिक पदार्थ अर्थात् क्षेप्य कपास को सावधानी से चुनने की आवश्यकता है, बल्कि नाइट्रेशन के बाद उसे अच्छी तरह जल से धोना भी बड़ा महत्त्वपूर्ण काम है। शोनबीन के गन-काटन के अस्थायित्व का मुख्य कारण उसमें स्वतंत्र अम्लों की उपस्थिति थी। अपकेन्द्र (सेन्ट्रीफूगल) शोषकों तथा कागज की लुगदी बनाने-वाली मशीनों के प्रयोग से नाइट्रोकाटन को विलग करने और धोने में बड़ी सुविधा हो गयी, तथा काफी निरापद पदार्थ प्राप्त किया जाने लगा।

भूमिस्थ (सबटरेनियन) एवं समुद्रान्तर (सबमेरीन) विस्फोटों (माइन्स) तथा नौघ्नियों (टारपीडों) की भराई (फिलिंग) जैसे सैनिक प्रयोजनों के लिए गन-काटन का प्रयोग किया जाता है। इसका सबसे बड़ा लाभ यह है कि गीली अवस्था में भी इसका विस्फोट किया जा सकता है, और गीला पदार्थ प्रयोग करने तथा संग्रहण एवं परिवहन के लिए निरापद होता है। शुष्क अवस्था में मर्करी फलिमनेट प्रथमक (प्राइमर) से विस्फोट किया जाता है, जब कि गीली दशा में गनकाटन प्रथमक के रूप में प्रयुक्त होता है।

गनकाटन को एक प्रणोदी (प्रोपेलेण्ट) के रूप में इस्तेमाल करने का भी प्रयत्न किया गया था किन्तु सफलता नहीं मिली, क्योंकि उसका विस्फोटन बड़ा द्रुत, भीषण एवं अनिश्चित होता था। कुछ द्रवों से इसका जिलैटिनीकरण करके इसे साध्य करने का प्रयत्न सफल हुआ। यही पदार्थ वाल्टर एफ० रीड तथा वीले का धूमरहित चूर्ण (स्मोकलेस पाउडर) था। इस दिशा में सबसे विशिष्ट फल ऐल्फ्रेड नोबेल ने प्राप्त किया; उन्होंने गनकाटन और नाइट्रोग्लिसरीन को एसिटोन में विलीन करके प्राप्त विलयन को उद्वाष्पित किया, जिससे उपर्युक्त दोनों पदार्थों का समांग मिश्रण तैयार हो सका। इस रीति को और विकसित करके गनकाटन, नाइट्रोग्लिसरीन और मिनरलजेली की अल्प मात्रा को एसिटोन में मिलाने से प्राप्त लेपी को एक जेट में से निकालने से एक अखण्ड रज्जु तैयार हो जाती है जो सूखने पर ताँत का रूप धारण कर लेती है। इसी को 'कार्डाइट' कहते हैं जो छोटे-बड़े अनेक प्रकार के अन्यास्त्रों में प्रणोदी विस्फोटक का काम करता है। आजकल मिनरलजेली के स्थान पर अन्य संयतकर्ता (माडरेण्ट्स) प्रयुक्त होने लगे हैं।

गुरु धातुओं के ऐज़ाइड तैयार करने के लिए उनके विलयनों में सोडियम ऐज़ाइड सदृश क्षारीय ऐज़ाइड डालकर अवक्षेपण किया जाता है। इसी प्रकार विशिष्ट पूर्वविधानों सहित सीसएसिटेट के तनु विलयन में सोडियम ऐज़ाइड का क्षीण विलयन छोड़कर सीस ऐज़ाइड बनाया जाता है, जो मर्करी फल्मिनेट से अधिक कार्यक्षम किन्तु उससे कम सुग्राही होता है। इसी लिए मर्करी फल्मिनेट के स्थान पर अब सीसऐज़ाइड अधिक प्रयुक्त होने लगा है।

१८४७ ई० में सोब्रेरो ने नाइट्रोग्लिसरीन का आविष्कार किया था परन्तु इसके विस्फोटक गुणों का उपयोग ऐल्फ्रेड नोबेल ने ही किया। नाइट्रोग्लिसरीन एक भारी तैलीय द्रव है जो ठोकर लगने अथवा तेज चोट मारे जाने या सहसा गरम किये जाने पर बड़े भयंकर रूप से प्रस्फोटित होता है। अपने इन सहज गुणों के कारण यह पदार्थ मूल रूप में आजकल बहुत कम इस्तेमाल होता है और केजलगूर सदृश कुछ निष्क्रिय पदार्थों को समाविष्ट करके अधिक निरापद बना दिया जाता है। इसी को 'डायनामाइट' कहते हैं। यद्यपि इस रूप में भी यह सर्वथा निरापद नहीं होता फिर भी अपनी स्वतंत्र अवस्था से तो कहीं अधिक सुरक्षापूर्ण हो जाता है। कोलोडियन काटन के साथ नाइट्रोग्लिसरीन समाविष्ट करके 'ब्लास्टिंग जिलैटिन' बनाया जाता है; इसकी विस्फोटक शक्ति डायनामाइट से कहीं अधिक होती है। जिलैटिनाइज्ड नाइट्रोग्लिसरीन को नाइटर, काष्ठचूर्ण और तनिक सोडा के साथ मिलाने से 'जिलैटिन डायनामाइट' तैयार होता है, यह भी एक उपयोगी उत्स्फोटनकर्ता है। इस वर्ग के विस्फोटकों का विकास विशेष रूप से नोबेल की 'एक्सप्लोसिव कम्पनी' द्वारा किया गया था। यह कम्पनी अब 'इम्पीरियल केमिकल इण्डस्ट्रीज लि०' में समाविष्ट हो गयी है। इन विस्फोटकों का प्रयोग खानों की खोदाई, पाषाण-खनन अथवा सिविल इंजीनियरी के कामों में होता है। पेड़ गिराने, फलोद्यानों में भूमि तोड़ने में भी विस्फोटकों का प्रयोग किया जाता है, जिससे जड़ों को थोड़ी स्वतंत्रता तथा वायु मिल जाती और उनका जीवनकाल बढ़ जाता है।

बम के गोले उड़ानेवाले पदार्थों के सर्वप्रथम प्रयोग का श्रेय किसी एक व्यक्ति को देना कठिन है। इनमें से सबसे पुराना पदार्थ पिक्रिक अम्ल है जिसका आविष्कार १७९९ में वेल्टर ने किया था तथा फिनॉल की व्युत्पत्ति के रूप में इसकी प्रकृति का प्रकाशन लारेण्ट ने १८४२ में किया। प्रबल सैनिक विस्फोटकों के रूप में पिक्रिक अम्ल से बने पदार्थों का प्रयोग विभिन्न देशों में होता है तथा इन्हें 'लाइडाइट', 'शिमोज़' तथा 'मेलिनाइट' की संज्ञा प्राप्त है। इसका सबसे बड़ा दोष यह है कि यदि यह किसी धातु के सम्पर्क में थोड़ी देर तक भी रखा जाय तो इसका बड़ा विस्फोटक एवं अति सु-

ग्राही लवण बन जाता है। यह दोष टी० एन० टी० में नहीं पाया जाता। इसका युद्धों में विपुल प्रयोग होता है। अन्य विस्फोटकों द्वारा टी० एन० टी० के प्रतिस्थापन से विस्फोटक शक्ति की हानि होती है परन्तु यह हानि अनेक अन्य लाभों से प्रतिसंतुलित हो जाती है। इसका प्रयोग अकेले अथवा अलुमिनियम चूर्ण एवं अमोनियम न.इट्रेट जैसे पदार्थों के साथ मिलाकर किया जाता है। ऐसे मिश्रण को 'ऐमोनल' कहते हैं, यह निरापद होने के साथ साथ बड़ा ही शक्तिशाली विस्फोटक है।

हेक्ज़ानाइट्रो फिनिल ऐमीन भी एक प्रबल विस्फोटक है, इसमें टी० एन० टी० की थोड़ी मात्रा मिलाकर इसका प्रयोग बमों में किया जाता है। यह एक स्थायी चूर्ण है और इसका द्रवणांक २३८° है। शक्ति और सुग्राह्यता में यह पिक्रिक अम्ल के समान है, यहाँ तक कि धातुओं के सम्पर्क में सुग्राही लवण बनाने का दोष भी इसमें है।

गत कुछ वर्षों के अन्दर प्रयोगशाला में तैयार किये गये पेण्टाइरिथ्रिटॉल टेट्रानइट्रेट तथा साइक्लोट्राइमिथिलीन ट्राइनाइट्रामीन भी अब बम-पूरकों के रूप में बड़े पैमाने पर प्रयुक्त होने लगे हैं।

ऐसा लगता है कि विस्फोटकों के सैनिक प्रयोग पर आवश्यकता से अधिक ज़ोर दिया गया है, युद्ध कोई उद्योग नहीं होता। संभवत: विस्फोटकों के शान्तिकालीन उपयोगों से उनके उद्योग को अधिक लाभ हुआ है। निस्संदेह नाइट्रोग्लिसरीन का आविष्कार तथा आधुनिक उत्स्फोटक विस्फोटों में उसके वैज्ञानिकतया नियंत्रित प्रयोग से गत शताब्दी के वैज्ञानिक विकास तथा औद्योगिक क्रान्ति में महती शक्ति प्राप्त हुई है। नये विस्फोटक कारतूसों की सुवाह्य संपुटित शक्ति (पॉटेड-पावर) ने खनन एवं पाषाण-खनन की पुरानी रीतियों को अत्यधिक प्रवेगित किया, जिससे संसार भर में व्यापक विकास का उद्बोधन हुआ।

यह ठीक ही कहा जाता है कि विस्फोटकों के बिना राजपथ, रेलवे, नहर, सुरंग तथा जलसंक्रम बनाने और जलमार्गों को गहरा करने, नौवहन की रुकावटों को हटाने, अयस्कों के प्रद्रावण (स्मेल्टिंग), कंकरीट भवनों की रचना, कृत्तकाष्ठ (कट-ओवर) तथा पथरीली भूमि को साफ करने, दलदलों को उपादेय बनाने और मलों के निरसन इत्यादि में महती कठिनाई का सामना करना पड़ता। यह बताने की विशेष आवश्यकता नहीं कि उपर्युक्त सभी बातें आधुनिक सभ्यता के परमावश्यक अंग हैं।

निम्नलिखित सारणी से विस्फोटकों के विविध प्रयोगों की एक झलक प्राप्त की जा सकती है—

यह सम्पूर्ण उद्योग विज्ञान पर ही आधारित है तथा प्रशिक्षित वैज्ञानिकों द्वारा इसका नियंत्रण होना चाहिए। असाधारण पूर्वोपायों के बावजूद भी इस उद्योग ने मानवजीवन की बलि ली है। परन्तु बिना विज्ञान के वह बलि भयंकर रूप से विशाल होती। और यह भी निश्चित है कि ज्ञान की जिज्ञासा, संपरीक्षा करने की प्रबल इच्छा तथा प्राप्त ज्ञान के प्रयोग की शक्ति के बिना कोई उद्योग टिक ही नहीं सकता।

ग्रंथसूची

BRUNSWIG, H. : *Explosivstoffe*. J. A. Barth.

BRUNSWIG, H. : *Explosives* John Wiley & Sons, Inc.

FARMER, R. C. : *Manufacture and Uses of Explosives*. Sir Isaac Pitman & Sons, Ltd.

MARSHALL, A. : *Explosives, History and Manufacture* J. & A. Churchill Ltd.

NAOUM, P. : *Nitroglycerin und Nitroglycerinsprengstoffe Dynamite*. Julius Springer.

NAOUM, P., AND SYMMES, E. M. : *Nitroglycerine and Nitroglycerine Explosives*. Bailliere, Tindall & Cox, Ltd.

[1] Projective Propellants

अध्याय ९

वस्त्रोद्योग

सेलुलोज़, सेलुलायड और रेयान

वस्त्रोद्योग

(स्वर्गीय) जे० एच० लेस्टर, एम० एस सी० (विक्ट), एफ० टी० आई०,
एफ० आर० आई० सी०

ऐसे विपयों के प्रतिपादन का पुराना ढंग तो यह है कि रासायनिक अन्वेषण, उद्‌भवों[1] और आविष्कारों के ऐसे दृष्टान्त उपस्थित किये जायं जिनके द्वारा उद्योग-विशेष की प्रगति और विकास हुआ हो तथा जिसने उसकी सीमा का विस्तार करके उसकी कार्य-विधाओं में उन्नति की हो और नूतन तथा अधिक उत्तम वस्तुओं का उत्पादन किया हो। इस क्रम में आविष्कारों के आधारभूत वैज्ञानिक आरम्भ एवं उद्योग से उसके संवन्ध और उसकी अन्तिम वाणिज्यिक सफलता का उल्लेख किया जाता है। परन्तु ऐसा करने में पर्किन के समय से लेकर आज तक के रंजकों की कथा अथवा स्वान एवं कार्डोनेट के काल से लेकर आधुनिक महीन और चमकदार वस्त्रों की कहानी फिर से दोहरानी पड़ेगी तथा उन अनेक आविष्कारों का पुनः वर्णन करना पड़ेगा, जिन्होंने मनुष्य को समृद्धशाली बनाने और लाभान्वित करने के साथ-साथ कभी-कभी मानवता को लांछित और पददलित भी किया है। लेकिन ऐसी गाथाएँ पहले ही इतनी वृहत हैं कि अब उनमें और वृद्धि करना अथवा उन्हें समुन्नत करना अधिक संभव नहीं है। वस्त्रोद्योग में रसायनविज्ञान के प्रयोग के संवन्ध में उसके दुरुपयोग तथा विध्वंसक प्रयोजनों के लिए उसके इस्तेमाल का भी प्रश्न नहीं उठता, जिससे उसका औचित्य सिद्ध किया जाय अथवा भर्त्सना की जाय।

इस अध्याय के प्रस्तुत शीर्पक के कारण भी इसकी प्रतिपादन शैली भिन्न है क्योंकि

[1] Inventions

'वस्त्रोद्योग पर रसायन का प्रभाव' शीर्षक के अन्तर्गत तो अवश्य ही कुछ उपर्युक्त ढंग की चीज लिखनी पड़ती। इस समय तो हमें विषय का बाह्य नहीं अन्तर दर्शन करना पड़ेगा। इस दृष्टिकोण से हम मानवता के कल्याणकर्ता के रूप में रसायनज्ञों का यशोगान करने के बजाय विषय के अन्दर से ही उनकी कुछ नवीन प्रगतियों की ओर दृष्टिपात करेंगे। यद्यपि यह सत्य है कि रसायनज्ञ का काम मन्दगति एवं श्रमसाध्य है, परन्तु अत्यन्त रोचक और प्रायः उत्तेजक होता है। वह उस शिल्पी की भाँति है, जो कुछ सोचता है फिर एक स्थूल योजना बनाता है, उसका विस्तार करता है, उसमें काट-छांट करता है और कभी-कभी उसे रद्दी की टोकरी में डालकर फिर नये सिरे से सोचना प्रारम्भ करता है और तब तक संतुष्ट नहीं होता जब तक उसका भवन बनकर खड़ा नहीं हो जाता और लोग देखकर उसकी प्रशंसा नहीं करते।

कभी-कभी साधारण दैनिक कार्य करनेवाले रसायनज्ञ समझते हैं कि रसायन का यशःप्रचार करनेवाले अत्युक्ति करते हैं और शायद औरों से अधिक एक वस्त्र रसायनज्ञ मर्सरीयन विधा के आविष्कारक से ईर्ष्या करते समय यह भूल जाता है कि वह आविष्कार संयोग और सौभाग्य की बात थी और स्वयं रसायन को उसका विशेष श्रेय नहीं है। उस इक्कीस वर्षीय नवयुवक आविष्कर्ता ने सूती कपड़े को रेशमी बनाने का प्रयत्न भी नहीं किया था और न उसको यह आशा थी कि दहक्षार उपचार से ऐसा कोई प्रभाव उत्पन्न हो सकता है, क्योंकि स्वयं मर्सर ने यह बताया था कि इस उपचार से क्रेप-जैसा मन्द रूप उत्पन्न होता है। यह उसका सौभाग्य ही था कि उसने यह देख लिया कि सूती वस्त्र को तानकर दहक्षार से उपचारित करने के बाद धोने से उसमें रेशमी चमक आ जाती है। इस प्रकार के सूक्ष्म अवलोकन और तथाकथित छोटी छोटी बातों पर ध्यान देने से अनेक ऐसी वस्त्रविधाओं की उत्पत्ति हुई है जिनसे कालान्तर में बहुमूल्य वाणिज्यिक फल प्राप्त हुए।

उपर्युक्त संदर्भ से ऐसा लग सकता है कि मर्सरीयन के उद्भव अथवा उसके उद्-भावक की खिल्ली उड़ायी जा रही हो, किन्तु ऐसी बात कदापि नहीं है। यह प्रायः निश्चित है कि युवक होरेस लो ने मर्सर के इस अनुभव की पृष्ठभूमि में, कि दहसोडा के उपचार से सूती कपड़ा सिकुड़ जाता है तथा रंगाई के लिए उसकी उपयोगिता बढ़ जाती है, यह सोचा कि इस उपचार को दूसरे ढंग से करने से कपड़े पर दूसरे नये प्रभाव भी उत्पन्न किये जा सकते हैं। और कदाचित् वह भी उसी प्रकार का आचरण करता जैसा आधुनिक रसायनज्ञ करते हैं। शायद दहसोडा के स्थान पर दह पोटाश इस्तेमाल करता, जलीय क्षार के बजाय उसका एल्कोहालीय विलयन प्रयोग करता, ऊँचे-नीचे ताप और सांद्रण का प्रभाव जांचता और 'तीर नहीं तुक्का' वाली पुरानी

अनुभवजन्य रीति का अनुसरण करता तथा ऊँचे संपीड का प्रयोग करता। फिर यदि उससे संतोष न होता तो संपीडन की जगह प्रसारण का प्रयोग करके कोई नया प्रभाव उत्पन्न करने की कोशिश करता। सचमुच उसने प्रसारण का प्रयोग किया और उसे आशातीत फल भी प्राप्त हुआ।

यह तो हुई अटकलबाज़ी वाली बात, लेकिन 'मर्सराइज़ेशन' शीर्षक अपनी पुस्तक में जे० टी० मार्श ने जो सुनिश्चित तथ्य वर्णन किये हैं वे भी उल्लेखनीय हैं। लो ने स्वयं कहा है कि "मेरा कार्य मर्सर के कार्यों और अनुभवों पर आधारित है। उनके इस सुझाव से कि प्रबल दह-सोडा सूती कपड़ों के रंगाई-गुणों में परिवर्तन उत्पन्न करता है, मुझे उसके अन्य प्रभावों की जांच करने की प्रेरणा प्राप्त हुई।" 'बार' नामक उनके सहयोगी ने भी यही उल्लेख किया है कि दह सोडा के उपचार से कपड़े की संभाव्य सिकुड़न रोकने के ध्येय से 'लो' ने उसके दोनों सिरों को कस कर तान दिया और तब उस पर दह सोडा लगाया। इससे सिकुड़न तो बच गयी और साथ ही उसकी चमक इतनी बढ़ गयी कि लो ने मज़ाक में कहा कि "मैंने सूती कपड़े को रेशमी बना दिया।"

जिस विचारधारा का हम वर्णन कर रहे हैं उससे कदाचित् यह ध्वनित होता है कि हम उन अनुभवजन्य तरीकों का समर्थन एवं प्रशंसा कर रहे हैं, जिनकी शुद्ध अनुसन्धान के पोषकों ने सदा निन्दा की है। सचमुच बात ऐसी है कि महान् आविष्कारों में से बहुत थोड़े ऐसे हैं जो किसी योजनानुसार आदि से अन्त तक सफल सिद्ध हुए हैं और जिनकी संपरीक्षाएँ असफल नहीं हुईं अथवा ऐसी स्थिति में नहीं पहुँच गयीं जहाँ से आगे बढ़ना नितान्त असंभव था, फलतः कार्य को एक दम नये सिरे से फिर आरम्भ करना पड़ा। यह बात उन आविष्कारों के बारे में भी, जिनके विकास आदि से अन्त तक तर्कसंबद्ध मालूम पड़ते हैं और उस दृष्टि से जो रसायन विज्ञान के विजय प्रतीक माने जाते हैं, प्रायः उतनी ही सत्य है जितनी सर्वथा अनुभवजन्य माने जानेवाले आविष्कारों के संबन्ध में। हम वस्त्र-विज्ञान में 'व्यापक कल्पना शक्ति' के समर्थक हैं तथा यथा-संभव तर्कसंगत एवं युक्तियुक्त कार्यविधा की हामी भरते हैं, किन्तु उन सहस्रों दशाओं में जहाँ प्रत्यक्ष प्रयत्न यानी सीधे रास्ते से वांछित फल प्राप्त नहीं होता वहाँ हमें अन्य मार्गों से यानी इधर-उधर, आगे-पीछे, ऊपर-नीचे चलकर आगे बढ़ना चाहिए। 'व्यापक कल्पना शक्ति' से हमारा यही तात्पर्य है। जब हमारे सामने अड़चनें आती हैं तभी अगर हममें हिम्मत हुई तो हम अज्ञात क्षेत्रों में प्रवेश करने की कोशिश करते हैं और तभी चलने, चलकर गिरने, गिरकर उठने तथा उठकर फिर चलनेवाला मंत्र अपनाते हैं। कभी-कभी असफल होने पर रसायनज्ञ के पास इसके अलावा और कोई चारा नहीं होता कि वह आले पर रखी बोतलों को निहारे और यह

सोचे कि तत्स्थित प्रत्येक यौगिक का उसकी संपरीक्षा पर क्या प्रभाव पड़ेगा, या बिना सोचे-समझे किसी एक को उठाकर प्रयोग करने लगे। बुने कपड़ों में सूत का खिसकना रोकने के लिए प्रयुक्त पदार्थ के आविष्कर्ता के मुँह से सुनी बात है कि एक समय अपने रेज़ीन के लिए उपयुक्त विलायक की खोज में उसने आले पर से यों ही एक बोतल उठा ली और उसीसे काम करने लगा। संयोग की बात थी कि वही उनका सर्वोत्तम विलायक था। यह बात आगे चलकर अनेक अन्य विलायकों के प्रयोग के बाद सिद्ध हुई।

कुछ रसायनज्ञ अपने कार्य के बारे में क्या विचार करते हैं इसका भी उल्लेख करना चाहिए। इससे हम वर्षों पूर्व किये गये उन आधारभूत अनुसन्धानों को अस्वीकार नहीं करते जो वस्त्र रसायन की कुछ विशिष्ट सफलताओं की आधारशिला माने जाते हैं, और न हम उस सफलता का उल्लेख करना चाहते हैं जो एकमात्र अनुभवजन्य रीतियों से ही प्राप्त हुई या जिसमें आधारभूत वैज्ञानिक रसायन कहलाने वाली कोई बात न थी, किन्तु आगे चलकर जिसका बड़ा भारी वाणिज्यिक महत्त्व हुआ। इसका यह मतलब भी नहीं है कि वैसी सफलता सदा सुशिक्षित एवं प्रशिक्षित अन्वेषक रसायनज्ञों के बिना ही प्राप्त हो सकती है। सफलता तो विभिन्न परिस्थितियों के समन्वय से प्राप्त हुई थी, उनमें से सर्वप्रथम एवं सर्वप्रमुख व्यक्ति विशेष का उत्साह था, जिसने वर्षों अपने उद्देश्य की पूर्ति में लगाया और ऐसी कोई भी बात न छोड़ी जो शीघ्र अथवा विलम्ब से उसकी कार्यसिद्धि में सहायक हो सकती थी। दूसरी महत्त्वपूर्ण बात रसायनज्ञों और भौतिकीविदों के उपयुक्त चुनाव, तथा साज-सज्जा के यथेष्ट प्रबन्ध करने की थी। शेष बात कठिन परिश्रम तथा वैज्ञानिक रीतियों की थी। विश्वविद्यालयों के विद्यार्थियों में इन्हीं 'वैज्ञानिक रीतियों' के प्रति विश्वास एवं श्रद्धा उत्पन्न करने की सदा चेष्टा की जाती है। सुनिश्चित तथ्य एवं संपरीक्षीय फल कभी-कभी ऐसे सिद्धान्त स्थिर करने में बड़ी बाधा उत्पन्न करते हैं जिससे हम यह बता सकें कि अमुक चीज ऐसे क्यों हुई? इसके विपरीत यदि ऐसा कोई सिद्धान्त स्थिर भी किया गया तो अनुगामी घटनाओं एवं तथ्यों द्वारा उसका निराकरण हो गया। अज्ञात की खोज में क्यों और कैसे के स्पष्टीकरण के प्रयत्न सहायक होने के बजाय बराबर बाधक हुए हैं। परन्तु सौभाग्यवश सर्वदा ऐसा नहीं हुआ करता। जब हम वस्त्रोद्योग में रसायन के प्रयोग की बात करते हैं तो हमारा कुछ ऐसी ही बातों से मतलब होता है।

वस्त्रोद्योग की ऐसी प्रकृति है कि उसके रसायनज्ञों की समस्याएँ अधिकांशतः भौतिक होती हैं, परन्तु चूँकि भौतिकी की प्रशिक्षा में विशेषतः इंजीनियरी का निर्देश

नहीं होता इसलिए रसायन के अतिरिक्त भौतिकी की अपेक्षा इंजीनियरी की थोड़ी प्रशिक्षा होनी चाहिए। फिर भी तन्तु-रचना, सहायों के रूप में कलिलों का प्रयोग तथा रंगाई एवं परिरूपण की अनेक विधाओं को समझने के लिए प्रतिदिन भौतिकी की आवश्यकता पड़ती रहती है। बहुधा मशीनों में रुचि तथा उनके ज्ञान अथवा भाप, पानी, बिजली के प्रयोग की जानकारी के अभाव में रसायनज्ञों की कार्य-सीमा बड़ी सीमित हो जाती है। सम्प्रति इस उद्योग में रासायनिक इंजीनियरों की कमी है और प्रशिक्षित भौतिकीविद, तो केवल उन कतिपय बड़ी प्रयोगशालाओं में दिखाई देते हैं जहाँ केवल अनुसन्धान किये जाते हैं।

यदि हम वस्त्रोद्योग की सफलता में समस्त विज्ञान के योगदान की समीक्षा करें तो हमें स्वीकार करना होगा कि सूत अथवा वस्त्र को छोड़ स्वयं 'प्राकृतिक तन्तुओं' की उन्नति में रसायन का कार्यभाग चाहे जितना भी महत्त्वपूर्ण हो, लेकिन है अंश-मात्र ही। सचमुच हमारी संभावनाएँ बड़ी सीमित हैं, फलतः हमें तन्तुओं की श्लेषिका-रचना (मिसेलर स्ट्रक्चर) को अपरिवर्तित अथवा तनिक संशोधित रूप में ही छोड़ देने के लिए बाध्य होना पड़ता है क्योंकि उनकी इसी रचना पर उनका तनाव सामर्थ्य तथा मुड़ने और लचीलेपन के गुण निर्भर होते हैं। परन्तु कृत्रिम तन्तुओं में ऐसी कोई अवरोधी सीमा नहीं होती। उनकी श्लेषिका-रचना को संशोधित करके उनके तनाव गुण तथा लचीलेपन का नियन्त्रण किया जा सकता है। अतः रसायनज्ञ को कलिल भौतिकी तथा एक्स किरणों का प्रयोग अथवा इन विषयों को जाननेवाले कार्यकर्ताओं के सहयोग से कुछ विशिष्ट फल प्राप्त करने के लिए सार्थक प्रयत्न करना चाहिए। हम ऐसे अखण्ड कृत्रिम तन्तुओं की बात सोचते हैं जो रेशम, कपास अथवा लिनेन से कहीं उत्तम हों, परन्तु इनके एक्स-किरण चित्रों से यह जान पड़ता है कि इस दिशा की सफलता के लिए उनकी रासायनिक रचना की अपेक्षा भौतिक रचना की ओर अधिक ध्यान देने की आवश्यकता है। रेशम-सदृश तन्तु की श्लेपिका को आन्तरिक भाग में समानान्तर, परन्तु उसके चारों ओर प्रत्यानुस्थापित (डिस ओरियेण्टेड) होना चाहिए। कृत्रिम कपास तन्तुओं में प्राकृतिक कपास के सर्वोत्तम गुण लाने के लिए उसे एक ऐसी रबर की नली की तरह होना चाहिए जो हवा निकाल देने से चपटी हो गयी हो, लेकिन उस पर कुन्तल तन्तुकों (स्पाइरल फिब्रिल) अथवा श्लेषिका का आवरण होना चाहिए। ऐसी रचना तैयार करने में अकेले रसा-यन विज्ञान सफल नहीं हो सकता बल्कि रसायन एवं भौतिकी दोनों मिलकर इस उद्देश्य की पूर्ति कर सकते हैं।

उद्योग में रसायन का प्रभाव आज भी उसी प्रकार बदलता जा रहा है जैसे पूर्व-

गामी २० वर्षों में और इस प्रगति का श्रेय अधिकांशतः सहकारी रिसर्च असोसियेशनों को है। जिस कारखाने का मालिक असोसियेशन का सदस्य होता है, उसका रसायनज्ञ असोसियेशन से किसी प्रकार की जानकारी प्राप्त कर सकता है अथवा उसके द्वारा अर्जित सारभूत ज्ञान का लाभ उठा सकता है। असोसियेशन में ऊन, कपास, रेयान अथवा रेशम के विशिष्ट विभाग होते हैं जो समस्या विशेष का समाधान करते रहते हैं। कारखाने के रसायनज्ञ यदि प्रयोगशाला की साज-सज्जा के अभाव के कारण अथवा कार्याधिक्य के कारण अपनी किसी समस्या का स्वयं हल करने में समय नहीं लगा सकते तो वे असोसियेशन से उनके समाधान के लिए अनुरोध करते हैं। कारखाने के रसायनज्ञ और विशेषतः अनुसन्धानकर्ताओं के सम्मुख निरन्तर ऐसी कठिनाइयाँ उत्पन्न होती रहती हैं जिन्हें सुलझाने के लिए गहन अध्ययन एवं अन्वेषण की आवश्यकता होती है, लेकिन बहुधा उनके मालिक ऐसे कष्ट-साध्य एवं खर्चीले अनुसन्धान की उपयोगिता स्वीकार नहीं करते, ऐसी परिस्थितियों में असोसियेशन बड़ा सहायक होता है और उनके कार्यों से रसायनज्ञों को बड़ा लाभ होता है। इन असोसियेशनों की विशेषता है कि वे वर्तमान की अपेक्षा भावी संभावनाओं की ओर अधिक ध्यान देते हैं। इन असोसियेशनों तथा उद्योग का संबन्ध उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है। इसका मुख्य कारण यह है कि वे विशुद्ध अनुसन्धान की अपेक्षा उद्योग की दिन प्रतिदिन की समस्याओं का समाधान करने के लिए उपलब्ध आधारभूत ज्ञान का अधिक प्रयोग करते हैं; परन्तु इससे यह नहीं समझ लेना चाहिए कि विशुद्ध अथवा व्यावहारिक अनुसंधान की सर्वथा उपेक्षा होती है।

कारखानों के रसायनज्ञों के कार्य मुख्यतः वस्तुओं की प्रकृति का ज्ञान प्राप्त करना, उनके गुणों में वृद्धि करना तथा उनकी प्राप्ति बढ़ाना, उत्पादन खर्च घटाना, क्षेप्यों का उपयोग करना तथा त्रुटियों के कारण खोज निकालना है। परन्तु कुछ ऐसे रसायनज्ञ भी होते हैं जिनकी आकांक्षा इन कार्यों से भी अधिक होती है और वे विज्ञान एवं उसकी नयी-नयी रीतियों का अपने कार्यविशेष में प्रयोग करना चाहते हैं और समस्त उद्योग को लाभान्वित करना चाहते हैं।

किसी ऐसे कार्य में, जिसकी वैज्ञानिक गतिविधि का ठीक-ठीक पता नहीं है, विज्ञान का प्रवेश कराना कठिन होने के साथ-साथ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भी है। कारखाने के साधारण कर्मियों को विज्ञान और अनुसन्धान क्या हैं समझाने के लिए 'परीक्षण' शब्द का प्रयोग किया जा सकता है, क्योंकि वह अपने दैनिक कार्य में 'परीक्षण' करते रहते हैं तथा उसे आवश्यक भी समझते हैं। कारखानों में विज्ञान और अनुसन्धान का बोध लोग केवल उन कार्यों से करते हैं जो रसायनज्ञ करता रहता है और जो किसी

प्रकार लाभदायक भी होते हैं। लेकिन यह कदाचित् ही कोई अनुभव करता है कि वह छोकरा भी उसका भागीदार है जो सूत्रांक एवं सूत की लम्बाई की परीक्षा करता है अथवा विरंजक विलयनों की प्रबलता की जाँच करता है। 'विज्ञान' तथा 'अनुसन्धान' के प्रतिरोध या खुले विरोध पर विजय प्राप्त करने का एकमात्र रास्ता यह है कि कर्मियों और कर्मशालाप्रबन्धक (वर्क्स मैनेजर) को यह बताया समझाया जाय कि 'विज्ञान' और 'अनुसन्धान' केवल परीक्षण, संपरीक्षण तथा संबद्ध कार्यकर्ताओं की पारस्परिक कठिनाइयों के समाधानार्थ साधनों की खोज की ही गौरवान्वित संज्ञा हैं। कर्मियों के सम्प्रदाय में कदाचित् विज्ञानदेवता का कोई स्थान नहीं है।

यद्यपि वस्त्र-अनुसन्धान एवं आविष्कारों में साधारणतया भौतिकी की ही प्रेरणा मानी जाती है लेकिन उसमें रसायनज्ञ का भी बड़ा एवं महत्त्वपूर्ण कार्य-भाग है। यदि एक ऐसा सीमेण्ट मिल जाय जो तन्तुओं को एक दूसरे से जोड़ सके और उतना ही अविलेय हो जितना तन्तु स्वयं होता है, तो कदाचित् अधिकांश प्रयोजनों के लिए कताई और बुनाई की आवश्यकता ही न रह जाय। ऐसे सीमेण्ट की अणु-मोटाई के स्तरों की ही आवश्यकता होगी। रंगाई और छपाई में भी ऐसे स्तरों के प्रयोग की असीम संभावनाएँ हैं। 'जेनरल इलेक्ट्रिक कम्पनी' ने बिजली के तारों के पृथक्करण (इन्सुलेशन) के लिए उन पर जैसे एक पतले स्तर का प्रयोग किया है उसी प्रकार एक दिन विविध तन्तुओं के लिए भी किया जायगा। उपर्युक्त बिजली के तारों के आवरण की चिपकाऊ शक्ति इतनी प्रबल थी कि "उन्हें पीटकर चिपटा कर देने अथवा हजारों बार मरोड़ने पर भी आवरण ज्यों के त्यों बने रहते।" (रीडर्स डायजेस्ट, कूलिज, अप्रैल १९४१, पृष्ठ ७९।) वर्तमान रंजकों की स्थिरता भी कुछ अधिक नहीं होती, पर्दों इत्यादि के रंग उड़ जाने की शिकायतें बराबर आती रहती हैं। किसी उत्साही रसायनज्ञ के लिए यह शिकायत उसे दूर करने के लिए पर्याप्त प्रेरणा दे सकती है। अधिस्वानिकी (सूपरसोनिक्स) भौतिक विज्ञान का एक ऐसा विकास है जिसमें रसायनज्ञों की रुचि होना आवश्यक है। कहा जाता है कि अधिस्वानिकी के प्रयोग से अब अण्डा केवल गाना गाकर उबाला जा सकता है। सचमुच इससे द्रवित धातुओं में चुम्बकत्व उत्पन्न किया जा सकता है, पनडुब्बियों का पता लगाया जा सकता है तथा वस्त्र-विज्ञान में सहाय कलिलों का संघनन किया जा सकता है। यह भौतिकी और रसायन के समन्वय—सहयोग का उत्तम उदाहरण है और वस्तुतः किसी बड़ी समस्या के हल में यह समन्वय अनिवार्यतया आवश्यक है।

वस्त्रोद्योग में रसायन का प्रभाव केवल बढ़ ही नहीं रहा है वरन् उसका वेग भी

तीव्रतर होता जा रहा है और अन्य विज्ञानों से होड़ ले रहा है। पचीस वर्ष पूर्व अमेरिका में वस्त्रोद्योग नगण्य सा था परन्तु आज यह महत्त्वपूर्ण स्थिति में है। वहाँ की प्रयोगशालाएँ प्रगतिशील एवं उन्नतिशील हैं, एतदर्थ उन्हें सफलता प्राप्त होना अवश्यंभावी है। कूलिज ने लिखा है--"१९१६ ई० में अमेरिका में केवल १९ औद्योगिक अनुसन्धानशालाएँ थीं और आज लगभग २००० हैं।"

ग्रंथसूची

BALLS, W. L. : *Studies of Quality in Cotton.* Macmillan & Co., Ltd.

KNECHT, E., AND FOTHERGILL, J. B. : *Principles and Practice of Textile Printing.* Charles Griffin & Co., Ltd.

MATHEWS, J. M. : *The Textile Fibres.* John Wiley & Sons, Inc.

SKINKLE, J. H. : *Textile Testing.* Howes Publishing Co.

सेलुलोज़, सेलुलायड और रेयान

एल० जी० एस० हेब्स, ए० आर० आई० सी०

कोशा भित्तियों की रचना के मुख्य पदार्थ के रूप में सेलुलोज़ पौधों में सदा विद्यमान रहता है; यद्यपि उसका भौतिक रूप समय समय पर बदलता रहता है, लेकिन रासायनिक निबन्ध[1] बराबर एकसम होता है।

रासायनिक भाषा में सेलुलोज़ को कार्बोहाइड्रेट कहते हैं, अर्थात् उसमें कार्बन, हाइड्रोजन और आक्सीजन होता है तथा एक अणु में अन्तिम दो तत्त्वों का अनुपात जल के समान होता है। सेलुलोज़ इस वर्ग के सर्वाधिक निष्क्रिय यौगिकों में से है। सक्रियता के इस अभाव से ही यान्त्रिक ढंग से बने इसके सामान बड़े टिकाऊ होते रहे हैं, लेकिन सेलुलोज़ पर आधारित रासायनिक उद्योगों के विकास में इतना समय लगने का कारण भी यही है।

जब सेलुलोज़ को वानस्पतिक पदार्थों से एकलित किया जाता है तो उसकी

[1] Composition

तान्तव रचना (फाइब्रस स्ट्रक्चर) होती है। इसके तन्तु अपनी औसत मोटाई के १००-१००० गुने लम्बे होते हैं। अन्तिम तन्तुओं की औसत लम्बाई भिन्न भिन्न होती है। शीघ्र बढ़नेवाले पौधों के तन्तुओं की लम्बाई औसतन $\frac{१}{८}$ इंच होती है, किन्तु कपासबीजों के बाल १ इंच लम्बे होते हैं और बास्ट तन्तु की लम्बाई २ इंच होती है।

प्रारम्भिक सेलुलोज़-उद्योग में वस्त्र बनाने के लिए केवल शीघ्र पृथक् किये जाने-वाले लम्बे तन्तु ही प्रयोग किये जाते थे। रस्से, रस्सियाँ तथा बोरी बनानेवाली सुतली के लिए ऐसे छोटे बास्ट तन्तु इस्तेमाल किये जाते थे जो विधायन में पादप-स्थित अपनी तन्तु-बण्डल अवस्था बनाये रख सकते हैं।

प्राकृतिक तन्तुओं के प्रायः अपरिवर्तनीय परिमाण के कारण औद्योगिक विकास में काफी बाधा अनुभव की गयी। इस बाधा का निवारण सेलुलोज़ को विलेय अथवा प्लैस्टिक अवस्था प्रदान कर विक्षेप्य (डिस्पर्सिब्ल) बनाकर ही किया जा सका। एतदर्थ शुद्ध सेलुलोज़ पर मिश्रित नाइट्रिक और सल्फ्यूरिक अम्लों की क्रिया कराकर सेलुलोज़ नाइट्रेट बनाना पड़ा। सेलुलोज़ नाइट्रेट के उत्पादन का प्रथम वर्णन ब्रैको-नॉट ने १८३३ में किया था परन्तु उस समय उसके विस्फोटक गुणों पर अधिक ध्यान दिया गया। १८५५ई० में पार्कस ने सेलुलोज़ नाइट्रेट में कुछ मृदुकर्मक अथवा प्लैस्टिककर्ता मिलाकर तापीप्लैस्टिक (थर्मोप्लैस्टिक) पदार्थ बनाने का सुझाव किया। अन्ततः १८६८-१८७५ की कालावधि में स्पिल ने इसके लिए कपूर और ऐल्कोहाल का प्रयोग करके इसे औद्योगिक रूप से सफल बनाया। उसी समय सेलुलायड के एक व्यापक उद्योग की नींव पड़ी और तभी से तापी-प्लैस्टिक ढालने योग्य पदार्थों का उत्पादन होने लगा।

सेलुलायड के उत्पादन के लिए विस्फोटक बनाने में प्रयुक्त होनेवाले सेलुलोज़ नाइट्रेट की अपेक्षा कम नाइट्रोजन मात्रावाला सेलुलोज़ नाइट्रेट इस्तेमाल किया जाता है। सेलुलोज़ नाइट्रेट को यन्त्रों द्वारा चूर्ण करके उसे कपूर (प्रायः ३०%) के साथ गूँधा तथा ऐल्कोहाल डालकर उसका पूर्ण विक्षेपण किया जाता है। इसी समय रंगपदार्थ अथवा रंगद्रव्य भी छोड़े जाते हैं। इसके बाद उष्ण-वेल्लन करते तथा सुखाते समय ऐल्कोहाल तो उड़ जाता है तथा सेलुलायड की सिलें, चद्दरें अथवा छड़ें बना ली जाती हैं, जिन्हें आवश्यकतानुसार साँचे में ढालने के लिए इस्तेमाल किया जाता है।

सर्वप्रथम वाणिज्यिक पैमाने पर उत्पन्न 'कृत्रिम रेशम' का पैठिक पदार्थ भी सेलुलोज़ नाइट्रेट ही था।

१६६५ ई० में हूक[1] ने तथा १७३४ ई० में र्‍यूमर[2] ने आश्लेषी (ग्लूटिनस) पदार्थ से कताई अथवा खिंचाई द्वारा रेशम जैसे रेशे बनाने का सुझाव दिया था। आगे चलकर १८४२ ई० में सूक्ष्म छिद्रोंवाले एक ऐसे कर्तनांग[3] के प्रयोग का सुझाव दिया गया जिसके द्वारा पुञ्ज को खींच कर रेशे बनाये जा सकें। परन्तु काफी समय तक ये सुझाव कार्यान्वित न हो सके। १८८० में विद्युत्-दीपों के लिए अखण्ड संतन्तु (फिलामेन्ट) बनाये गये, जिससे वस्त्रों के लिए सूत बनाने में महती प्रेरणा मिली।

स्वान ने १८८३ ई० में दीपों के लिए संतन्तु बनाने की रीति का पेटेण्ट लिया। उन्हीं ने वस्त्रोद्योग में ऐसे धागों के प्रयोग की संभावना का अनुभव किया तथा १८८५ ई० में 'कृत्रिम रेशम' के नाम से कुछ नमूनों का प्रदर्शन भी किया।

इंग्लैण्ड में हो रहे इस विकास के साथ साथ उसी कालावधि में चार्डोनेट भी फ्रांस में सेलुलोज़ नाइट्रेट से सूत तैयार करने में लगे थे, परन्तु आग लगने की जोखिम के कारण प्रगति बहुत धीमी रही। आगे चलकर सूत का विनाइट्रीयन करके तथा पुनः सेलुलोज़ में परिवर्तित करके उसकी ज्वलनशीलता कम की जा सकी।

पहले कृत्रिम रेशम बनाने की एक मात्र यही विधा (प्रक्रिया) थी, किन्तु शनैः शनैः अन्य विधाओं का प्रचलन होने लगा, फिर भी १९०९ ई० तक केवल इसी विधा से ५०% कृत्रिम रेशम तैयार होता रहा। लेकिन आगे चलकर तो इसका और शीघ्र विस्थापन हुआ। आज कृत्रिम रेशम के कुल उत्पादन का ०·५% से भी कम उस पुरानी प्रक्रिया से उत्पन्न किया जाता है।

अनुवर्ती विधाओं में कताई की ऐसी रीतियाँ अपनायी गयीं जिनमें सेलुलोज़-व्युत्पत्तिविक्षेपण (डिस्पर्सन) को छोटे-छोटे छिद्रों में से खींचकर तथा वाष्पशील (वोलाटाइल) विलायक को उद्वाष्पित करके या लवण-अवक्षेपण से स्कंदन करके तथा ऊष्मक में रासायनिक प्रतिक्रिया द्वारा संतन्तु (फिलामेन्ट) बनाये जाते हैं।

यद्यपि रेयान की कताई वस्तुतः एक यान्त्रिक विधा है, परन्तु कताई योग्य विक्षेपण का उत्पादन तथा सेलुलोज़ अथवा उसकी व्युत्पत्ति का अखण्ड संतन्तु के रूप में पुनर्जनन रासायनिक रीतियों पर ही आधारित हैं।

क्युप्रिक हाइड्राक्साइड के अमोनिया विलयन में सेलुलोज़ के विक्षेपण का श्रेय श्वीज़र[4] (१८५७) तथा समकालीन रसायनज्ञ मर्सर[5] को दिया जाता है। अन्ततः

[1] Hooke   [2] Reaumur   [3] Spinneret
[4] Schweiser   [5] Mercar

यही रेयान उत्पादन की एक दूसरी विधा का आधार बना जिसमें सेलुलोज़ नाइट्रेट विधा की तरह आग लगने का जोखिम न था। इस विधा से बारीक तथा मजबूत सूत भी बनने लगे, लेकिन यह थोड़ी जटिल थी तथा विक्षेपण बनाने और प्रयुक्त रस-द्रव्यों की पुन.प्राप्ति में कठिनाई होती थी। यद्यपि इस विधा से सूत तो १८८५ ई० में तैयार कर लिया गया था, लेकिन उसका वाणिज्यिक उत्पादन १८९५-१९०० ई० के पूर्व संभव नहीं हुआ।

क्युप्रामोनियम विधा में सेलुलोज़ के लिए प्रायः छोटे तन्तुओं वाली कपास (कॉटन लिण्टर्स) इस्तेमाल की जाती है, यद्यपि परिष्कृत काष्ठलुगदी भी सफलता-पूर्वक प्रयुक्त की गयी है। सेलुलोज़ की उपस्थिति में, ताम्र अथवा अवक्षेपित ताम्र-लवण को निम्न ताप पर अमोनिया में विलीन करके विक्षेपणकारक तैयार किया जाता है। इस विक्षेपण को कनवस पर लगाने से उसमें आर्द्रतारोधी तथा अपक्षयसहता (रॉट प्रूफ) के गुण आ जाते हैं। और ऐसे कनवस के उत्पादन के लिए यह रीति व्यापक रूप से प्रयुक्त भी होती है।

रेयान बनाने की क्युप्रामोनियम विक्षेपण विधा की विशेषता यह है कि कताई के समय काफी अधिक तनाव प्रयुक्त किया जा सकता है, जिसके फलस्वरूप प्रारम्भिक अवस्था में ही अति सूक्ष्म तन्तुक बना लिया जाता, जो लाभ अन्य रीतियों में संभव नहीं था। तनाव कताई से प्राप्त सूत के भौतिक गुणों के कारण ही यह रीति बनी रह सकी तथा बढ़ी भी। १९३२ ई० में इस रीति से संसार के कुल उत्पादन का ३% रेयान तैयार होता था और आज यह उत्पादन बढ़कर ४% हो गया है।

१८९२ ई० में क्रॉस और बिवैन ने सेलुलोज़ विक्षेपण की एक विधा (प्रोसेस) का आविष्कार किया जो आगे चलकर 'विस्कोज़' विधा कहलाने लगी। यह आज रेयान उत्पादन की सबसे बड़ी आधार विधा है। सूत-निर्माण के लिए प्रयुक्त होने से पहले यह विधा दीप संतन्तुओं के उत्पादनार्थ अपनायी गयी थी। रेयान उत्पादन की अन्य विधाओं के समान इसका विकास भी बहुत धीरे-धीरे हुआ, क्योंकि इसकी प्रारम्भिक अवस्था में बड़ी प्राविधिक कठिनाइयाँ थीं तथा आर्थिक हानि भी हुई। किसी कारण से १९१० ई० तक यह विधा सफलतापूर्वक न अपनायी जा सकी।

इस रीति के कुछ प्रत्यक्ष लाभ हैं; इसमें अपेक्षाकृत सस्ते रसद्रव्यों एवं कच्चे माल की आवश्यकता होती है। काष्ठलुगदी के स्तारों को प्रबल दह-सोडा-विलयन में डुबाया जाता है और फिर दबाने तथा उपविभाजित करने के बाद कार्बन डाइसल्फा-इड के उपचार से ऐसी सेलुलोज व्युत्पत्ति तैयार होती है जो दह-सोडाविलयन में विक्षेप्य होती है।

विस्कोज़ नामक विक्षेपण से सूत तैयार करने के लिए मुख्यत: सल्फ्यूरिक अम्ल और धात्वीय सल्फेट वाले संस्थापक उष्मक (सेटिंग बाथ) में डुबोये कर्तानांग में से उसे खींचा जाता है। इससे दहसोडा का उदासीनीकरण भी हो जाता है तथा सेलुलोज़ व्युत्पत्ति के विच्छेदन से अखण्ड तन्तुक के रूप में सेलुलोज़ की पुन:प्राप्ति हो जाती है।

यद्यपि आरम्भ में इस रीति से कुछ मोटा सूत प्राप्त होता था परन्तु आगे चलकर इसमें काफी उन्नति हुई और असली रेशम के समान या उससे भी अधिक बारीक सूत बनने लगे। 'तनाव' कताई की प्रविधि से सूत की मज़बूती बढ़ी और वे अब असली रेशम के सूतों के बराबर मजबूत होने लगे हैं।

इसके प्रयोग का क्षेत्र इतना बढ़ गया है कि आजकल विस्कोज़ विधा से संसार में प्रतिवर्ष १०० करोड़ पौण्ड का रेयान सूत तैयार हो रहा है। यह मात्रा संसार में असली रेशम की खपत की आठगुनी है। १९४० ई० के पूर्व ७ वर्षों में संसार के कुल उत्पादन का औसतन ८६% रेयान विस्कोज़ विधा से तैयार किया गया था, यद्यपि यह बात सभी देशों में एकसमान नहीं थी।

रेयान उत्पादन की एक दूसरी विधा का भी औद्योगिक प्रयोग होता है, यह विलायक उद्वाष्पन कताई पर आधारित है। यह रीति मूलत: सेलुलोज़ नाइट्रेट के लिए निकाली गयी थी लेकिन अब इसमें एसिटोन में विक्षेपित सेलुलोज़ एसिटेट प्रयुक्त होने लगा है।

सेलुलोज़ से उसका एसिटेट १८६९ ई० में ही बनाया गया था लेकिन उसमें भी काफी प्राविधिक कठिनाइयाँ थीं जिनकी वजह से इस व्युत्पत्ति का भी वाणिज्यिक विकास अवरुद्ध रहा। अन्तत: ऐसे सेलुलोज़ एसिटेट बनाने की रीति निकाली जो एसिटोन में सरलता से विक्षेपित हो सके और इसका बड़े पैमाने पर सर्वप्रथम प्रयोग १९१६-१८ में वायुयानों के वस्त्र पक्ष (फैब्रिक विंग) के उपचारार्थ किया गया था।

तदन्तर उपयोगी सूत तैयार करने में अनेक समस्याएँ हल की गयीं और अन्तत: इसका उद्योग भी जम गया। पिछले १० वर्षों से संसार के कुल उत्पादन का ८-१०% रेयान इस रीति से तैयार होता है।

सेलुलोज़ एसिटेट बनाने के लिए बहुत दिनों तक छोटे तन्तु वाली कपास ही प्रयुक्त होती रही परन्तु अब अति परिष्कृत काष्ठ-लुगदी का प्रयोग दिनों-दिन बढ़ता जा रहा है। एसिटेट बनाने के लिए सेलुलोज़ को एसेटिक ऐनहाइड्राइड तथा एसे-टिक अम्ल से उपचारित किया जाता है, और इन प्रतिकर्मकों की पुन:प्राप्ति के लिए विस्तृत व्यवस्था की आवश्यकता होती है। परन्तु उनके अधिक मूल्य के कारण उनको पुन:प्राप्त करना अनिवार्य है, अन्यथा यह विधा वाणिज्यिक रूप से सफल नहीं हो सकती।

इस विधा से उत्पन्न सूत सेलुलोज़ एसिटेट के रूप में रहता है जब कि अन्य औद्योगिक रेयानों में सेलुलोज़ व्युत्पत्ति पुनः सेलुलोज़ के रूप में परिवर्तित कर दी जाती है। सेलुलोज़ एसिटेट और विस्कोज़ सूत के बने मिश्रित वस्त्रों का बड़ा लाभ यह है कि इन दोनों की रंजकप्रियता भिन्न होने से वस्त्रों पर बड़ा आकर्षक एवं सुन्दर तिरोरंजित (क्रास डाइंग) प्रभाव उत्पन्न किया जा सकता है।

अभी हाल में कुछ सर्वथा नये प्रकार के रेयान पॉलिमराइज्ड़ विनाइल रेज़िन सदृश ऐसे पदार्थों से बनाये गये हैं जो सेलुलोज़ पर आधारित नहीं हैं। इनकी कताई एसिटोन विक्षेपणों से की जाती है और उसके बाद सूत को नियंत्रित ताप पर 'तान' दिया जाता है।

अब संघनित सूपरपॉली ऐमाइडों (नाइलॉन) से रेयान बनाने में कताई की एक नयी प्रविधि अपनायी जाने लगी है, इसमें द्रावित पदार्थ को कर्तानांगों द्वारा निकाल करके शीत तनाई विधा से उच्च तनाव सामर्थ्यवाले सूत तैयार किये जाते हैं। इसके लिए धागों को उनकी मूल लम्बाई से ४ से ७ गुना अधिक लम्बा ताना जाता है। ऐसे सूत की मजबूती उसी भारवाले असली रेशम सूतों से कहीं अधिक होती है। निम्नलिखित सारणी में विविध प्रकार के रेयानों के सामर्थ्य-मान दिये गये हैं। तुलना के लिए समभार के असली रेशम के मान भी लिखे गये हैं। इन मानों के अंक 'ग्राम प्रति डेनियर' के पदों में दिये गये हैं जिससे उनकी अनाश्रित तुलना हो सके।

असली रेशम और रेयानों का आपेक्षिक सामर्थ्य
(ग्राम प्रति डेनियर)

पदार्थ	तनाव-सामर्थ्य		वितान्यता प्रतिशत (एक्सटेन्सिबिलिटी)	
	शुष्क	आर्द्र	शुष्क	आर्द्र
१. असली रेशम	४·०	३·५	२३	३४
२. क्युप्रामोनियम (तनाव कताई)	२·१	१·०	१२	१५
३. विस्कोज़	२·१	१·०	२१	२८
४. विस्कोज़ (विशेष)	३·२	२·१	१४	१६
५. विस्कोज़ (लिलीन फेल्ड)	५·२	३·५	७	७
६. सेलुलोज़ एसिटेट	१·३	०·८	२५	३७
७. सेलुलोज़ एसिटेट (तानित एवं साबुनीकृत)	५·०	३·७	६	६
८. सूपर पॉली ऐमाइड (शीत उत्सारित)	६·५	४·८	१५	१५

इस संदर्भ में यह जानना भी आवश्यक है कि इसी आधार पर गणित इस्पात तारों के मान ०·५ ग्राम फी डेनियर (निर्बल इस्पात) से लेकर ४·६ ग्राम फी डेनियर (प्रबल इस्पात) तक होते हैं। इसका अर्थ यह है कि सेलुलोज़ अथवा संश्लिष्ट पदार्थों से बने सूत समभारवाले इस्पात से अधिक मज़बूत होते हैं।

'कृत्रिम रेशम' अथवा 'नकली रेशम' कहने से ऐसा ध्वनित होता है कि यह असली रेशम से कुछ घटिया वस्तु है, परन्तु अब वस्तुस्थिति ऐसी है कि 'कृत्रिम रेशम' असली रेशम से कहीं उत्तम गुणोंवाला होने लगा है। आजकल संसार में उत्पन्न रेयान की मात्रा असली रेशम की १०गुनी है और यह अनुपात गत कई वर्षों से स्थिर बना हुआ है।

रेयान-उद्योग-विकास के प्रारम्भिक काल में ऐसा सोचा गया था कि विविध विधाओं से उत्पन्न अखण्ड संतन्तुओं को १-२ इंच के टुकड़ों में काट-काटकर अधिक उपयोगी वस्त्रतन्तु तैयार किये जा सकते थे; तथा इस प्रकार तैयार किये गये कौशेय तन्तुओं (स्टेप्ल फाइबर) को कपास सूत कताई मशीनों पर विधायित किया जा सकेगा।

उपर्युक्त विकास की प्रगति भी बड़ी धीमी थी क्योंकि प्रारम्भ में संतन्तु[1] अपेक्षाकृत मोटे होते थे, फिर भी १९१४-१८ के बीच कौशेयक तन्तु[2] के एक प्रतिस्थापक पदार्थ के रूप में इनका अच्छा प्रयोग हुआ। लेकिन १९३४ में तो कम खर्च में ही बड़ी ऊँची श्रेणी के कौशेयक तन्तु बने जो सूक्ष्मता में अमेरिकी अथवा मिस्री कपास-तन्तुओं से किसी प्रकार कम न थे। उस समय से मिश्रित वस्त्रों के बनाने में इन तन्तुओं का प्रयोग उत्तरोत्तर बड़ी तीव्र गति से बढ़ता गया। १९३४ ई० में इसका कुल उत्पादन ६ करोड़ पौण्ड का था, परन्तु केवल पांच-छः साल के अन्दर इसके उत्पादन में चामत्कारिक वृद्धि हुई अर्थात् १९३९ ई० में कौशेयक तन्तुओं का संसार भर का कुल उत्पादन १०० करोड़ पौण्ड यानी १९३९ के उत्पादन का लगभग १७गुना हो गया था। प्रायः यह समस्त उत्पादन विस्कोज़ विधा से हुआ।

तात्पर्य यह है कि कौशेयक तन्तुओं का उत्पादन लगभग रेयान के बराबर हो गया। यद्यपि इन तन्तुओं के उत्पादन की इस भीषण वृद्धि का मुख्य कारण कुछ देशों की अधिकेन्द्रित (टोटैलिटेरियन) राजनीतिक अवस्था रही, लेकिन अब तो इसका उद्योग अन्य देशों में भी बड़ी तेज़ी से जमता जा रहा है क्योंकि इन तन्तुओं के कुछ अपने विशेष गुण हैं जो बुनाई के लिए बड़े उपयुक्त हैं।

[1] Filaments. [2] Staple fibre.

आज के संसार में रेयान अथवा कौशेयक तन्तुओं के 'मानव निर्मित' वस्त्रों का प्रयोग ऊनी कपड़ों से अधिक है। कौशेयक तन्तुओं के वस्त्रों का उत्पादन सूती वस्त्रों की कुल खपत के ५% है और इसका प्रयोग दिनों-दिन बढ़ता जा रहा है।

इन उद्योगों के कारण कम कीमत में इतने सुन्दर एवं मनोहारी कपड़े, मोजे, बनियाइनें तथा अन्य प्रकार के वस्त्र उपलब्ध होने लगे हैं कि बहुसंख्यक महिलाओं के जीवन का ढंग तथा उनके दृष्टिकोण में भारी परिवर्तन हो गया है जिसका समाज पर भी सहज प्रभाव पड़ा है।

ग्रंथ-सूची

CROSS, C. F., AND BEVAN, E. J. : *Cellulose.* Longmans, Green & Co., Ltd.

LIPSCOMB, A. G. J. : *Cellulose Acetate.* Ernest Benn, Ltd.

WHEELER, E. : *Manufacture of Artificial Silk.* Chapman & Hall, Ltd.

WORDEN, E. C. : *Technology of Cellulose Esters.* D. Van Nostrand Co., Inc.

अध्याय १०

लुगदी और कागज

छपाई और लेखन-सामग्री; रोशनाई; पेन्सिल

लुगदी और कागज

जूलियस ग्राण्ट, एम० एस-सी०, पी-एच० डी०, एफ० आर० आई० सी०

किसी समय एक उपन्यास में लिखा गया था कि कुछ गैसों के विमोचन से संसार का समस्त कागज नष्ट होकर राख हो गया। अकस्मात् कागज-रहित हुए संसार की द्वैधावस्था की कहानी अवश्य ही रोचक रही और उससे आधुनिक सभ्यता में कागज की अनिवार्यता भी सिद्ध हुई। बालू अथवा मिट्टी पर कुछ खरोच कर समाचार वहन का जो प्राचीनतम ढंग था वह कदाचित् मानवता के प्रारम्भिक इतिहास के साथ ही लुप्त हो गया। ३७०० वर्ष ईसाकाल के पहले तो हमें वे श्रीपत्र (पैपिरस) भी ज्ञात न थे, जिनमें हमें कागज का सर्वप्रथम दर्शन हुआ था। ये श्रीपत्र पौधों की छाल के पतले-पतले टुकड़ों से बने पत्रदली स्तार (लैमिनेटेड शीट) होते थे, यानी यथार्थतः वह भी कागज नहीं होते थे। श्रीपत्र कठोरीकृत चमड़े के बने चर्मपत्र (पार्चमेण्ट) से भी भिन्न थे। चर्मपत्र का संबन्ध एशिया माइनर के 'परगामस' (२०० ई० पू०) से बताया जाता है। कागज बनाने की कला ईसा युग के प्रारम्भ के पहले से ही चीन में प्रचलित थी और वहीं से यह यूरोप में भी फैली। यूरोप में इसके प्रवेश के दो मार्ग थे, एक तो टारटरी, मध्य एशिया तथा यूनान, जहाँ से यह वेनिस होता हुआ जर्मनी पहुँचा, और दूसरा अरब और मोरक्को होते हुए स्पेन का मार्ग। युद्धबन्दियों के स्थानान्तरण से भी इस कला का अच्छा प्रसार हुआ। यद्यपि स्पेन में ११५० ई० तथा फैब्रियानो (इटली) में १२८० ई० में कागज बनाने की मिलें विद्यमान थीं, लेकिन इंग्लैण्ड में सबसे पहली कागज मिल १४९० में बनी, किन्तु वह तथा उसके तुरन्त बाद बनी मिलें असफल ही रहीं। वस्तुतः १६७८ तक इंग्लैण्ड में कागज का उद्योग प्रतिष्ठित नहीं हो पाया, लेकिन लगभग उसी समय ह्यूगोनॉट शरणार्थियों द्वारा इसका उचित समारम्भ हुआ।

उस समय का कागज-निर्माण वर्तमान उद्योग से बहुत भिन्न था, यद्यपि अन्तिम उत्पत्ति के सामान्य गुण प्रायः एकसमान थे। पहले चीथड़ों को कूट तथा रेशेदार बनाकर पानी में आलम्बित किया जाता था। इसी तनु जलीय आलम्ब में एक तार की छन्नी को खड़ा करके डुबाया जाता और क्षैतिजावस्था में निकाल लिया जाता जिससे छन्नी की जाली पर रेशों का एक नमदित कट (फेल्टेड मैट) बन जाता। इस प्रकार जमे रेशों के स्तार को नमदों से दबाकर उनसे पानी निकाल दिया जाता और अन्त में उसको नमदे से छुटाकर जिलैटिन से उसका सज्जीकरण (साइजिंग) करके सुखा लिया जाता। प्राचीन काल में इसी प्रकार कागज तैयार किया जाता था। आज का भी हाथ-बना कागज बहुत कुछ इसी विधा से बनाया जाता है।

कागज-निर्माण के इतिहास में उन्नीसवीं शताब्दी का प्रारम्भ एक युगान्तर चिह्न है। प्रायः उसी समय इस उद्योग में वैज्ञानिक, विशेषकर रासायनिक, रीतियों का अप्रत्यक्ष रूप से प्रवेश हुआ। मशीन द्वारा कागज बनाने का आविष्कार इस दिशा में प्रथम पद था। यह आविष्कार लगभग एक ही समय दो स्थानों में हुआ। एक मशीन 'फोर्ड्रिनियर ब्रदर्स' द्वारा फ्रॉगमोर (हर्टफोर्डशायर) में स्थापित की गयी; इस मशीन में कागज की लुगदी को तार के चल रहे एक अन्तहीन पट्टे पर बहाया जाता था और नमदित कट को नमदा से ढके एक बेलन पर उठा कर सुखा लिया जाता था। दूसरी मशीन का अविष्कार जॉन डिकिन्सन ने १८०९ ई० में किया, यह कुछ दूसरे प्रकार की थी, और इसमें तार की जाली से ढका रंभाकार खोखला बेलन लुगदी में घूमता था कि लुगदी उसकी सतह पर लग जाती और पानी रंभ के अन्दर से होकर बह जाता; लुगदी की तह को उस पर से छुटा कर अखण्ड स्तारों के रूप में उसी प्रकार सुखा लिया जाता जैसे फोर्ड्रिनियर की मशीन में। ये दोनों रीतियाँ आज भी प्रचलित हैं।

मशीनों के प्रयोग से कागज का उत्पादन बढ़ गया, साथ ही शिक्षा-प्रसार के कारण पुस्तकों की माँग ने भी कागज-निर्माण की गति को और त्वरित किया। फिर तो इसके निर्माण के लिए कच्चे माल के रूप में प्रयुक्त होनेवाले चीथड़ों की अत्यधिक कमी पड़ गयी। एक समय तो ऐसी स्थिति आ गया कि कागज बनाने के लिए मुर्दों के कफ़न भी घसीटे जाने लगे। अनेक वैकल्पिक पदार्थ सोचे और आजमाये जाने लगे, यहाँ तक कि १८५४ ई० में 'टाइम्स' ने कागज-निर्माण के उपयुक्त कच्चे माल की खोज के लिए एक सहस्र पौण्ड का एक पुरस्कार घोषित किया। आज़माइश तो बहुतों ने की, लेकिन सफल बहुत कम ही हुए। यहीं रसायनज्ञ को इस उद्योग में अपनी प्रतिभा-प्रदर्शन का प्रथम अवसर मिला। फलस्वरूप एस्पार्टो घास, काष्ठ लुगदी तथा तृण (स्ट्रा) का इसके लिए प्रयोग करना संभव हो सका। कच्चे माल में से सेलुलोज़ को

छोड़कर अन्य सभी पदार्थों को अलग करना भी अब इस विधा का सबसे बड़ा काम है। सेलुलोज़ ($C_6H_{10}O_5$) ही वह तन्तुमय ढाँचा है जिस पर कागज के स्तारों[1] की रचना होती है। कागज-निर्माताओं को केवल इसीकी आवश्यकता भी होती है। अधिकांश श्रेणियों के कागज बनाने के लिए अन्य पदार्थों को पृथक करना बहुत जरूरी है। हाँ, यदि कागज में रंग, स्वच्छता, सामर्थ्य एवं टिकाऊपन का कोई विशेष महत्त्व न हो तो सेलुलोज़ के संग अन्य अशुद्धियाँ छोड़ दी जा सकती हैं। इस प्रकार लुगदी बनाने के लिए छाल-रहित वृक्षों को केवल कूट लिया जाता है, तथा इससे बने कागज में सेलुलोज़िक तन्तु और अन्य अशुद्धियाँ दोनों विद्यमान रहती हैं। इन कच्चे मालों में ४०-५०% सेलुलोज़ होता है और शेष अशुद्धियों के रूप में लिग्निन, वसा, रेज़ीन, कार्बोहाइड्रेट तथा पेक्टिन होती हैं। इसमें से कुछ अशुद्धियों का निस्सारण तो उच्च दबाव में अम्ल पाचन से किया जाता है तथा कुछ का क्षारों से।

लुगदी उद्योग के प्रारम्भिक दिन रसायनज्ञ के लिए बड़ी कठिनाई के थे। उपर्युक्त अशुद्धियों का निस्सारण तो उतना कठिन न था, लेकिन सेलुलोज़ की तन्तुमय प्रकृति को क्षति पहुँचाये बिना ऐसा करना अवश्य एक कठिन समस्या थी, क्योंकि सेलुलोज़ की क्षति होने से लुगदी कागज बनाने योग्य नहीं रह जाती। और जब सेलुलोज़ को अक्षत रखते हुए अशुद्धियों के निस्सारण की विधा ज्ञात हुई तब उसे बड़े पैमाने पर कार्यान्वित करने की समस्या उत्पन्न हुई। क्रास और बेवन की प्रारम्भिक रीति सेलुलोज़ एकलन की सर्वोत्तम रीतियों में से थी। इस रीति में लुगदी के साथ क्लोरीन की प्रतिक्रिया करायी जाती, जिससे क्लोरीन से संयुक्त होकर लिग्नित क्षार में विलीन हो जाती है। यह एक बड़ी चुनावशील रीति थी क्योंकि इससे सेलुलोज़ प्रायः सम्पूर्णतः अपरिवर्तित रह जाता था तथा अन्य क्रियाओं के मेल से बड़ी शुद्ध श्रेणी का सेलुलोज़ उत्पन्न होता था। वस्तुतः यह वर्षों पूर्व से प्रयोगशाला में सेलुलोज़ एकलन की प्रमाणित रीति मानी जाती रही। लेकिन आर्द्र क्लोरीन से बड़े पैमाने पर काम करना बड़ा कठिन था और केवल पिछले दशक में यह रीति पुनः प्रयुक्त होने लगी। इस रीति के विधायन में प्रायः प्रत्येक पद पर रसायनज्ञ और रासायनिक इंजीनियर का निकट सहयोग परमावश्यक है।

उपर्युक्त क्षारीय एवं अम्ल पाचन रीतियों में भी इंजीनियरी की अनेक कठिनाइयाँ उत्पन्न हुईं। उदाहरणार्थ यद्यपि टिल्घमैन ने १८६३ ई० में अम्ल पाचन

[1] Sheet

विधा प्रस्तावित की थी, परन्तु जब तक एक उपयुक्त पाचित्र (डाइजेस्टर) तैयार न हुआ तब तक इसका प्रयोग न किया जा सका। १८७२ ई० में एकमैन ने एक उपर्युक्त पाचित्र बनाया। इस रीति में कैल्सियम अथवा मैग्नीसियम बाइसल्फाइट तथा स्वतंत्र सल्फर डाइऑक्साइड के विलयन से लिग्निन का संयोजन होता है। इस प्रकार उत्पन्न लिग्नो-सल्फॉनिक अम्लों के लवण विलीन किये जा सकते हैं। लिब्लांक विधा से सस्ते क्षार उत्पन्न किये जाने के कारण इस क्षारीय विधा का अच्छा विकास हुआ। यद्यपि प्रारम्भ में कठिनाइयाँ अधिक न थीं, लेकिन काष्ठ लुगदी, एस्पार्टो घास और तृणों के लिए जब यह विधा एक बार प्रतिष्ठित हो गयी तो इसमें रासायनिक कठिनाइयों की एक शृखला-सी निकल पड़ी। पाचन की पूर्ति हो जाने पर अवशिष्ट क्षारीय द्रवों का निरसन ही एक समस्या बन गयी। यह द्रव इतना क्षारीय था और साथ ही मूल्यवान् भी कि इसको किसी जलधारा अथवा मलप्रणाल में बहा देना उचित न था, अतएव रसायनज्ञ को इसका कोई हल निकालना पड़ा। इस द्रव को उद्-वाष्पित करके जलाना समस्या का एक समाधान था। कार्बनिक पदार्थों के जलने से उत्पन्न उष्मा का प्रयोग कागज मिल के लिए आवश्यक भाप तैयार करने में किया जाने लगा और भस्म में से सोडियम कार्बोनेट निस्सारित करके उसे चूने से मिलाकर दह सोडा पुनः प्राप्त कर लिया जाता। इस विशुद्ध रासायनिक विधा के कारण ही लुगदी बनाने की यह विधा वाणिज्यिक रूप से सफल हो सकी तथा कम मूल्य पर कागज की विशाल मात्रा प्राप्त करना संभव हो सका।

क्षारीय विधा को संशोधित करके 'क्राफ्ट' विधा निकाली गयी जिससे बड़ा मजबूत कागज बनाया जाने लगा। क्षार की क्रिया को नियंत्रित करके ही कागज में विशेष मजबूती लायी गयी। आगे चलकर (१८७९) यह ज्ञात हुआ कि अगर पाचित्र में सोडियम सल्फेट डाल दिया जाय तो पुनर्प्राप्ति विधा में यह सोडियम सल्फा-इड बन जाता है और फिर इस सोडियम सल्फाइड पर जल की क्रिया से प्रायः उसी गति से क्षार उत्पन्न होता है जिससे पाचन-विधा में उसकी खपत होती है। इस प्रकार पाचन-काल में क्षार का सान्द्रण प्रायः बराबर एकसम बना रहता है, जिससे अति पाचन अथवा लघु पाचन नहीं होने पाता। विरंजन की आधुनिक रीतियों से भी इसके विधायन में अच्छी सहायता मिली और प्राप्ति-वृद्धि के साथ-साथ अच्छे रंग का मजबूत कागज उत्पन्न होने लगा, यद्यपि आपत्तिजनक उत्प्रवाह (एफ्लुयेण्ट) तथा उसकी गन्ध इस विधा के व्यापक प्रयोग में बाधक रहे हैं और उसे बहुत हद तक सीमित रखा है।

आज के कागज की स्वच्छता एवं उसका सुन्दर रंग रसायनज्ञ की दूसरी देन

हैं। कागज-निर्माण के प्रारम्भिक काल में उसका विरंजन केवल सूर्यप्रकाश में किया जाता था, परन्तु यह विधा इंग्लैण्ड में तो कभी संभव न थी। ब्लीचिंग पाउडर और बाद में कैल्सियम हाइपोक्लोराइट विलयन के प्रयोग से कागज मिलों में अविरंजित कागज को लेकर उसे वहीं विरंजित करने की प्रथा चली। गत कुछ वर्षों से यह स्वीकार किया जाने लगा है कि विरंजन की समस्या पर क्लोरीनीकरण से सेलुलोज़ एकलन की क्रास और बेवन-विधा का महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ा है। विरंजन भी तो अशुद्धि निवारण की ही एक रीति है, अतः उस पर भी पाचन-विधा के समान ही विचार करना चाहिए। इस उद्योग में रासायनिक इंजीनियरों के पदार्पण से आर्द्र क्लोरीनरोधी संयन्त्रों का समावेश हुआ जिससे लुगदी-निर्माण की आधुनिक रीतियों में भी दिशा-परिवर्तन हुआ। अब कच्चे माल का परम्परागत क्षारीय अथवा अम्ल-विधा से ही अपेक्षाकृत केवल मृदुपाचन किया जाता है जिससे उसका गठन खुल जाता तथा कुछ रेज़ीन और मोम विलीन हो जाते हैं। तत्पश्चात् लुगदी को धोकर स्वतंत्र गैस अथवा जल-पायस के रूप में क्लोरीन से उपचारित किया जाता है जिससे लिग्निन क्लोरीनीकृत हो जाती है। इस प्रकार उत्पन्न अम्ल सहित क्लोरी-लिगिनन को क्षार द्वारा निस्सारित कर लिया जाता है और तब कैल्सियम हाइपोक्लोराइट विलयन से उसका मृदु उपचार करके पूर्ण श्वेत रंग उत्पन्न किया जाता है। इस प्रकार विधा के पदों को और बढ़ाया जा सकता है तथा अशुद्धियों का इस प्रकार निस्सारण किया जा सकता है कि पुरानी अनाश्रित पाचन की प्रचण्ड विधा के प्रयोग से सेलुलोज़ का जो अपक्षय होता था काफी हद तक निवारण किया जा सके।

अभी तक हमने मुख्यतः लुगदी उत्पादन की विवेचना की है, वस्तुतः कागज निर्माण की वही पैठिक विधा है। यद्यपि इस उद्योग के उत्कर्ष में रसायनज्ञों का कुछ लघु योगदान नहीं रहा, फिर भी उसका सम्पूर्ण श्रेय उन्हीं को नहीं दिया जा सकता। लुगदी तैयार हो जाने पर उसकी रंगाई, सजाई एवं भरण की विधाएँ भी रासायनिक समस्याएँ हैं। तन्तुओं की रंगाई स्वयं एक विज्ञान बन गया है, क्योंकि उसमें उसके प्रतिधारण (रिटेन्शन), प्रकाश में स्थिरता तथा आसंजक रोध-जैसे अनेक प्रश्न निहित होते हैं जिनका सफल समाधान आवश्यक है। उच्च श्रेणी की श्वेतता एवं अपारदर्शिता उत्पन्न करने के लिए लुगदी का भरण आवश्यक है, लेकिन उसके कागज की मजबूती में कमी न आनी चाहिए। इसके लिए कागज-निर्माण में अब टिटैनियम डाइऑक्साइड-जैसे नये रंग द्रव्य प्रयुक्त होने लगे हैं। सज्जीकरण (साइजिंग) क्रिया में क्षारीय विलयन अथवा रोज़ीन के पायस पर होनेवाली अलुमिनियम सल्फेट की जटिल प्रतिक्रियाओं पर विशेष ध्यान देने तथा उन्हें अध्ययन करने की बड़ी आवश्यकता

होती है। रसायनज्ञों ने इस समस्या को व्यावहारिकतः तो अवश्य हल कर लिया है, लेकिन अभी तक उसका स्पष्टीकरण नहीं कर सके हैं।

आहनन क्रिया (बीटिंग आपरेशन) में तन्तुओं को एक परिभ्रामी बेलन पर लगे फलकों और स्थिर फलक के बीच में डाल दिया जाता है जिससे वह ऐसा कटता, खण्डित होता और कुटता है कि कागज मशीन पर नमदन (फेल्टिंग) के योग्य हो जाता है। अंशतः यह क्रिया भी रसायनज्ञ-समस्या है, यद्यपि प्रायः लोग इसे पूर्णतः इंजीनियरी का ही विषय मानते हैं। कुछ लोग इस क्रिया को मुख्यतः जल और सेलुलोज़ का संयोजन ही मानते हैं, इस प्रकार कुछ लोग आहनन (बीटिंग) को रासायनिक और दूसरी भौतिक क्रिया स्वीकार करते हैं। एक तीसरा वर्ग इसे भौति-रासायनिक क्रिया समझता है। हमें इस उलझन को भी छोड़ना पड़ेगा क्योंकि सज्जीकरण की भाँति इस दशा में भी सैद्धान्तिक स्पष्टीकरण के पूर्व व्यावहारिक फल प्राप्त हो गया है।

कागज और लुगदी मिलों में अन्य कितनी ऐसी समस्याएँ उठती हैं जो अपेक्षाकृत कम महत्त्व की होती हैं और जिनका संबन्ध कागज-निर्माण की तुलना में अन्य रासाय-निक उद्योगों से अधिक होता है। जैसे कागज मशीन में प्रयुक्त होनेवाले तारों के जीवन-काल एवं बनावट के बारे में धातुकर्म विज्ञान से अधिक जाना जा सकता है। कागज के आर्द्र जाल को मशीनों की तार-जाली पर से अलग करके शोषक रम्भों के ऊपर ले जाने के लिए सर्वोत्तम नमदे वस्त्रोद्योग से ही प्राप्त होते हैं। जल की उचित प्राप्ति तथा उत्प्रवाह का शोधन दोनों ही परम महत्त्वपूर्ण बातें हैं, विशेषकर यह जान लेने पर इसकी महत्ता समझ में आती है कि १ टन कागज बनाने के विविध क्रिया पदों में १००,००० गैलन जल की आवश्यकता होती है। ये दोनों रसायनज्ञ के ही कार्यक्षेत्र हैं, विशेषतया दूसरी समस्या में उसकी काफी जवाबदारी है क्योंकि पाचित्र के क्षेत्र द्रव में विविध प्रकार के मूल्यवान उपजात विद्यमान रहते हैं। इन सब के अतिरिक्त कच्चे मालों के नियंत्रण के लिए सामान्य वैश्लेषिक रीतियाँ भी अपनायी जाती है, विशेषकर लुगदी के मूल्यांकन के लिए प्रामाणिक रीतियाँ विकसित की गयी हैं, जिनसे अब यह सर-लता से बताया जा सकता है कि लुगदी का अमुक नमूना कागज मिल में कैसा चलेगा, खरीदने के पूर्व थोक माल का भी परीक्षण कर लिया जा सकता है। अन्त में कागज की भी परीक्षा होनी चाहिए। यद्यपि इन परीक्षाओं की अधिकांश रीतियाँ भौतिक होती हैं, परन्तु वे रसायनज्ञों की ही जिम्मेदारियाँ होती है। कतिपय मिलें ऐसी हैं जहाँ इन दोनों विज्ञानों में भेद समझा जाता है। अधिकांश स्थानों पर भौतिकीविद् भी एक प्रकार का रसायनज्ञ ही माना जाता है, अथवा इसका उलटा भी होता है। इसी कारण से रसा-

यनज्ञ को कागज के पीछे-पीछे आधुनिक सभ्यता की उन सभी शाखाओं-प्रशाखाओं में उत्तरदायित्त्व वहन करना पड़ता है जिनमें कागज प्रयुक्त होता है। आसंजकों का प्रयोग तथा छपाई और व्यापन (इम्प्रिग्नेशन) विधा इत्यादि इसके कुछ उदाहरण हैं, परन्तु कागज रूपान्तर विधाओं में प्लास्टिक का नवागमन विशेष उल्लेखनीय है। कागज अथवा बोर्ड के ऊपर जब प्लास्टिक पोता जाता है अथवा उसके अन्दर व्याप्त किया जाता है तब वह उसमें एक आर्द्रबल (वेट स्ट्रेंग्थ) का संचार करता है जिससे उसमें जल, स्नेह, गैसों और वाष्पों के अन्त:प्रवेश के लिए अवरोधी गुण उत्पन्न हो जाता है। इस क्रिया ने संवेष्टन विज्ञान (पैकेजिंग साइन्स) में एक नयें अध्याय का समारम्भ किया है। यदि व्याप्त कागज को एक के ऊपर एक को जमाने के लिए इनका प्रयोग किया जाय तो बड़ी उच्च घनता एवं प्रबलता के पदार्थ प्राप्त होते हैं जिनका प्रयोग दन्तिचक्र (गियरव्हील) तथा भवननिर्माण की सामग्री बनाने-जैसे अनेक प्रयोजनों में होता है। सेलुलोज़ लुगदीटान (पल्पिंग) विधा से प्राप्त क्षेप्य द्रव से एकलित लिग्निन के बने प्लास्टिक का प्रयोग इस प्रकार का एक नया एवं रोचक विकास है।

उपर्यक्त संक्षिप्त विवरण से रसायनज्ञों के प्रति कागज उद्योग के ऋण का पर्याप्त आभास मिलता है। यह ठीक ही कहा गया है कि "इंजीनियर लोग कागज की मिलें बनाते हैं और रसायनज्ञ उन्हें चलाते हैं।"

ग्रंथ-सूची

CLAPPERTON, R. H. : *Paper Making by Hand. An Historical Account* Shakespeare Head Press.

CROSS, C. F., AND BEVAN, E. J. : *Text-book of Paper Making.* E. & F. N. Spon, Ltd.

GRANT, J. : *Books and Documents.* Grafton & Co.

GRANT, J. : *Laboratory Handbook of Pulp and Paper Manufacture.* Edward Arnold & Co.

GRANT, J. : *Wood Pulp.* Wm. Dawson & Sons, Ltd.

WEST, C. J. : *Bibliography of Pulp and Paper Making.* Lockwood Trade Journal Co., Inc.

मुद्रण और लेखन-सामग्री

जी० एल० रिडेल, पी-एच० डी० (लन्दन), एफ० आर० आई० सी०

मुद्रण एवं लेखन-सामग्री उद्योग भी रसायनविज्ञान का काफी ऋणी है क्योंकि न केवल मुद्रण प्रक्रियाओं का विकास रासायनिक अनुसन्धानों द्वारा हुआ है बल्कि उस उद्योग में प्रयुक्त होनेवाले अनेक पदार्थों का उत्पादन रासायनिक नियंत्रण के अन्तर्गत होता है। कागज और रोशनाई इस उद्योग के प्रमुख पदार्थ हैं जिनका वर्णन इस ग्रन्थ में अन्यत्र किया गया है।

मुद्रण को केवल टाइपों द्वारा छपाई मानना भूल है, इसकी शाखाएँ उपशाखाएँ बहुत विस्तृत हैं। मुद्रण की तीन मुख्य विधाएँ (प्रक्रियाएँ) होती हैं और प्रत्येक एक दूसरे से भिन्न। प्रथम, अक्षर-मुद्रण, पुस्तक एवं समाचार पत्र छापने के लिए; द्वितीय, शिला-मुद्रण, इश्तहार, प्रदर्शन कार्ड, नामपत्र की छपाई तथा डब्बों, मिट्टी के बर्तनों इत्यादि को अलंकृत करने के लिए; और तृतीय, प्रकाश-उत्किरण (फोटो ग्राव्योर) चित्रित पत्र-पत्रिकाओं तथा डाक-टिकट की छपाई के लिए।

अक्षर-मुद्रण विधा में छपाई का उभरा हुआ तल (रिलीफ सरफेस) होता है, अर्थात् छपाई पट्ट का रोशनाई लगनेवाला भाग उभरा रहता है। मुद्रा छपाई के विकास का श्रेय अधिकांशतः इंजीनियरी को है, उन्नत छपाई मशीनें बनाना उसी विज्ञान का कार्य है। इन मशीनों में सबसे निपुणता से बनी एकमुद्र और पंक्तिमुद्र प्रकार की स्वतः चालित मशीनें हैं, जिनमें मुद्राओं की ढलाई और बैठाई अपने आप होती है। इनके क्रियाकरण की सफलता प्रयुक्त होनेवाली मुद्र-धातु अर्थात् टिन, ऐण्टीमनी और सीस के मिश्रधातु पर निर्भर होती है। इन मिश्रधातुओं का निर्माण रासायनिक नियंत्रण से होता है। विश्लेषकों तथा धातुकर्मज्ञों के निरन्तर प्रयत्न से उनकी क्रिया-शीलता बराबर एकसम बनी रहती है।

हाफ-टोन विधा से चित्रों की छपाई में रासायनिक विज्ञान का महत्त्वपूर्ण योगदान है। चित्रों की छपाई के लिए चित्र को विन्दुओं में विघटित किया जाता है और हाफटोन विधा में ये विन्दु विभिन्न परिमाण के होते हैं, गाढ़ी आभा के लिए बड़े तथा हलकी आभा के लिए छोटे। गाढ़ी आभा में बड़े होने के अतिरिक्त बिन्दु, हलकी आभा की अपेक्षा, अधिक पास-पास होते हैं। किसी समाचार-पत्र में छपे किसी चित्र को हाथ लैन्स से देखने पर विन्दु स्पष्ट रूप से दिखाई देंगे तथा यह बात समझ में आ जायगी •

हाफटोन प्रतिचित्र[1] साधारण फोटोग्राफी की रीति से बनाये जाते हैं, केवल भेद यह है कि फोटोग्राफी पट्ट के सामने एक संकाच (स्क्रीन) रख दिया जाता है और इसी संकाच पर बिन्दु बनते हैं। संकाच में दो काच-पट्ट जुड़े रहते हैं, जिनमें से प्रत्येक के ऊपर समानान्तर काली रेखाएँ उत्कीर्ण (एन्ग्रेव्ड) रहती हैं और ये दोनों पट्ट इस प्रकार जोड़े जाते हैं कि दोनों की रेखाएँ ९०° का कोण बनायें। एक इंच में ५०-२०० रेखाएँ होती हैं और उनकी मोटाई दोनों रेखाओं के बीच रिक्त स्थान के बराबर होती है। संकाच रेखाओं के परिमाण पर ही मुद्रित चित्र के बिन्दुओं की संख्या निर्भर करती है अर्थात् ५० रेखा संकाच पर प्रति इंच ५० बिन्दु अथवा प्रति वर्ग इंच २५०० बिन्दु बनते हैं। तांबें अथवा यशद का एक चिकना स्तार[2] लेकर उस पर अमोनियम बाइ-क्रोमेट मिश्रित सरेस की एकसम परत पोत दी जाती है। सूखने पर यह प्रकाश सुग्राही और सरेस कठोर एवं जल अविलेय हो जाता है। छपाई क्रिया में सुग्राहीकृत धातुपट्ट को हाफटोन प्रतिचित्र (निगेटिव) के नीचे रखकर कार्बन अथवा मर्करी आर्क के प्रचण्ड प्रकाश में विगोपित[3] करके पानी से विकसित करते हैं। कठोरीभूत सरेस को गरम करके और अधिक कठोर करते हैं जिससे अनुगामी निक्षारण (एचिंग) विधा के प्रति उसमें रोध उत्पन्न हो जाय। तांबे का निक्षारण फेरिक-क्लोराइड से और यशद का तनुनाइट्रिक अम्ल से किया जाता है तथा यह क्रिया आवश्यक गहराई प्राप्त होने तक जारी रखी जाती है। पट्ट के न छपनेवाले भाग का निक्षारण हो जाता है, लेकिन छपनेवाला भाग सरेस रोध के कारण सुरक्षित रहता है। (देखिए चित्र पृ० २०५)

हाफटोन विधा और फोटोग्राफी का प्रारम्भ एकसमान है, अतः इसके विस्तृत विवरण के लिए इस पुस्तक के फोटोग्राफी अध्याय को पढ़ना चाहिए। जे० नीप्से (जिन्होंने १८२५ ई० के लगभग प्रथम प्रकाश उत्किरण उत्पन्न किया था), फाक्स-टैलबॉट, मुँगो पॉन्टॉन, सर जोज़ेफ स्वान-जैसे फोटोग्राफी के अग्रगामी कार्यकर्ताओं के प्रारम्भिक कार्यों के फलस्वरूप फोटोग्राफी तथा फोटो प्रतिरूपण (रिप्रोडक्शन) उद्योगों की उत्पत्ति हुई और उनके तथा क्रोमियम के आविष्कर्ता लुई वैंक्युलिन तथा १८३२ ई० में कुछ कार्बनिक पदार्थों की उपस्थिति में बाइक्रोमेटों की प्रकाश सुग्राह्यता का प्रथम अनुभव करनेवाले सुकाउ-जैसे प्रारम्भिक रसायनज्ञों के परिश्रमों से संसार की समृद्धि बढ़ी तथा असंख्य लोगों को जीविका प्राप्त हुई। १८९० ई०

[1] Negative [2] Sheet चद्दर [3] Exposed

में फिलैडेल्फिया के मैक्सलेवी नामक संस्थान में हाफटोन संकाच बनाया गया था, यद्यपि उसके लगभग आठ वर्ष पहले ही मीज़ेनबाख़ ने एक-रेखा संकाचवाला हाफटोन तैयार किया था।
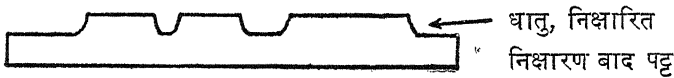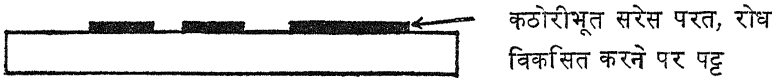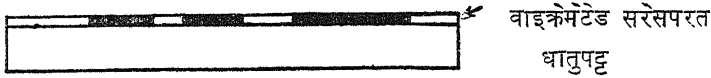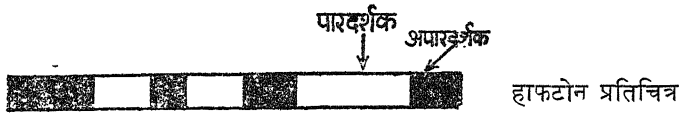
आज की अक्षर-मुद्रण-विधा में कागज, रोशनाई, ग्लिसरीन, सरेस के बने बेलन, फोटोग्राफी के सामान, धातु तथा निक्षारण[1] विलयन-जैसी अनेक वस्तुओं की आवश्यकता होती है, और इनमें से बहुतों में विशिष्ट गुणों की भी ज़रूरत होती है। ये सभी वस्तुएँ रासायनिक विज्ञान की सहायता से ही उत्पन्न की जाती हैं। संभव है, इस सहायता के अभाव में यह उद्योग अपना वर्तमान रूप न प्राप्त कर सका होता।

हाफटोन विधा से रंगीन चित्रों की छपाई भी प्रायः उपर्युक्त रीति से ही होती है, भेद केवल यह है कि मूल चित्र का तीन बार फोटो लिया जाता है, परन्तु हर बार विभिन्न रंग के फिल्टर इस्तेमाल किये जाते हैं। ये फिल्टर नीले, हरे और लाल रंग के होते हैं। इस प्रकार से बनाये गये प्रतिचित्रों से मुद्रण पट्ट तैयार करके क्रमशः पीली, मैजेण्टा और नीली रोशनाई से छपाई की जाती है। चार रंग की छपाई में एक काले रंग का मुद्रण पट्ट भी होता है। सर आइज़क न्यूटन, टामस यंग, हेल्म होज़ तथा क्लर्क मैक्सवेल-जैसे विशिष्ट कार्यकर्ताओं के अनुसन्धानों के फलस्वरूप रंगीन

[1] Etching solutions

छपाई का प्रारम्भ हुआ तथा रासायनिक उद्योगों द्वारा उत्पन्न आवश्यक रंजक रंग द्रव्य फिल्टर, फोटोग्राफी सामग्री तथा रोशनाई के कारण ही रंगीन छपाई की वर्तमान उत्कृष्ट अवस्था संभव हुई है।

बहुधा-मुद्रण पट्टों के द्वितीयक (डुप्लिकेट) भी बनाने पड़ते हैं, ये दोनों रीतियों से बनाये जाते हैं—(१) विद्युन्मुद्रण से (टास० स्पेन्सर ऐण्ड सी० जे० जॉर्डन, १८३९) तथा (२) सान्द्र मुद्रण (स्टीरियो टाइपिंग) (विलियम जेड, १७२५)। विद्युन्मुद्रण के लिए मूलमुद्रण पट्ट का मोम अथवा सीस स्तार[1] पर एक साँचा बनाया जाता है, जिस पर ग्रैफाइट पोत कर उसे विद्युत् संवाहन की शक्ति प्रदान की जाती है। इन्हीं मोम अथवा सीस स्तारों के बने साँचों पर अम्ल कापर सल्फेट विलयन में से तांबे का विद्युत् रोपण (एलेक्ट्रो डिपाज़िटिंग) करके द्वितीयक पट्ट तैयार किये जाते हैं। आज का यह उद्योग वोल्टा तथा फैरेडे-जैसे विद्युत-रसायनज्ञों के प्रारम्भिक कार्यों का फल है और अब भी विद्युन्मुद्रण विलयनों के निबन्ध के नियंत्रण तथा उसे उन्नत करने के लिए रासायनिक अनुसन्धान बराबर चलते रहते हैं। मुद्रण-पट्टों को अधिक टिकाऊ बनाने के लिए अब निकेल और क्रोमियम का भी प्रयोग होने लगा है। निकेल और क्रोमियम पट्टण में रसायनज्ञ का महत्त्वपूर्ण कार्यभाग रहा है तथा अब भी है। द्वितीयक पट्ट बनाने की दूसरी रीति सान्द्रमुद्रण कहलाती है, जिसमें मूल पट्ट का साँचा **'पैपियर माशे'** में बनाया जाता है और फिर इससे टिन, ऐण्टिमनी और सीस के मिश्र-धातु का प्रयोग करके पट्ट ढाल लिये जाते हैं। यह ढलाई बहुधा बड़ी तीव्र गति से होती है जिसके लिए मिश्र धातु में विशिष्ट गुणों की अत्यधिक आवश्यकता होती है। एतदर्थ रासायनिक नियंत्रण अनिवार्य होता है।

छपाई की दूसरी मुख्य विधा (प्रोसेस) शिलामुद्रण कहलाती है। इसमें समतल सतह से छपाई की जाती है, जिसमें छपाई भाग स्नेही होता है तथा शेष भाग इस प्रकार उपचारित रहता है कि उस पर स्नेही रोशनाई नहीं लग पाती। १७९६ ई० में एलाँयस सेनेफेल्डर नामक एक गायक ने इस विधा का आविष्कार किया था और उसका अन्वेषण इतना सम्पूर्ण था कि उसकी विधा में आज तक कोई सारभूत परिवर्तन नहीं किया जा सका। इस विधा में मुद्रित होनेवाली लेख-सामग्री अथवा चित्र चून-पत्थर की एक समतल शिला पर स्नेही रोशनाई से लिखा या बनाया जाता है, शिला के शेष भाग पर तनु नाइट्रिक अम्ल द्वारा अम्लित बबूल गोंद विलयन

[1] Sheet lead

पोत कर सुखा दिया जाता है। शिला को पानी से आर्द्र करने पर गोंद की झिल्ली गीली हो जाती है, लेकिन स्नेही रोशनाई पर उसका प्रभाव नहीं पड़ता। पानी सूखने के पहले ही रोशनाई लगे बेलन को शिला-तल पर फेर दिया जाता है। रोशनाई की स्नेही प्रकृति के कारण आर्द्र गोंद उसे स्वीकार नहीं करता यानी शिला के न छपनेवाले भाग में रोशनाई नहीं लग पाती, परन्तु उसकी छपाई प्ररचना पर रोशनाई लग जाती है और जब उस पर कागज लगा कर दबाया जाता है तो वांछित भाग छप जाता है। यद्यपि शिलामुद्रण की विधा का संबन्ध तल-रसायन से है और इसे 'रासायनिक छपाई' के नाम से संबोधित भी किया जाता रहा है, फिर भी रसायनज्ञों को इस विधा के अध्ययन का अवसर अभी हाल में ही प्राप्त हुआ है।

यशद एवं अलुमिनियम पट्टों का प्रयोग, फोटोग्राफी का प्रयोग तथा अनुलम्ब (ऑफ सेट) मशीनों का प्रयोग शिलामुद्रण के मुख्य-मुख्य विकास हैं। यशद पट्ट १८२० ई० में तथा अलुमिनियम पट्ट १८९० ई० में प्रयुक्त होने शुरू हुए थे यद्यपि अब तो सर्वथा इन्हीं पट्टों का प्रयोग किया जाता है। यह न भूलना चाहिए कि सेनेफेल्डर ने भी धातु पट्टों के प्रयोग की संभावना का उल्लेख किया था। शिलामुद्रण में फोटोग्राफी का प्रवेश प्रायः उसी प्रकार से हुआ, जैसे अक्षर-मुद्रण की हाफटोन विधा में, जिसका उल्लेख अभी किया जा चुका है। फोटो-शिलामुद्रण का बहुत पुराना प्रयोग (१८४०) अथवा दुष्प्रयोग जाली नोट बनाने में किया गया था। फोटो-शिलामुद्रण की वर्तमान विधा में प्रकाश सुग्राही लेप के लिए बाइक्रोमित ऐल्बुमेन का प्रयोग किया जाता है। एल्फोन्से पोर्टबिन ने १८५५ ई० में इसका पेटेण्ट कराया था। ऐल्बुमेन का प्रकाश विगोपन द्वारा कठोरीकरण होता है तथा शिलामुद्रण के लिए आवश्यक स्नेही रोशनाई इसी कठोरकृत ऐल्बमेन पर लग जाती है। अनुलम्ब विधा में चित्र मुद्रणपट्ट पर से एक बेलन के चारो ओर लिपटे रबर के गत्ते पर संक्रामित हो जाता है और तब उस पर से कागज पर छपता है। इस विधा से टिन पट्टों को भी अलंकारित करना संभव हुआ है, यही इसकी विशेषता है। विशेष प्रकार की रोशनाई, अनुलम्ब गत्ते के लिए विशिष्ट रबर के गत्ते बनाकर रसायनज्ञों ने इस विधा के विकास में भी अच्छा हाथ बटाया है।

छपाई की तीसरी मुख्य विधा प्रकाश उत्किरण है, जिसमें छपनेवाला लेख अथवा चित्र एक चिकने ताँबे के बेलन पर निक्षारित कर दिया जाता है। यह बेलन रोशनाई के पात्र में घूमता है जिससे इसके समस्त तल पर रोशनाई लग जाती है। उसके बाद बेलन के चिकने तल पर से रोशनाई एक छुरी से खुरच उठती है, लेकिन निक्षारित अवकाशों में वह भरी रहती है और जब बेलन पर कागज दबाया जाता

उद्योग के अन्य कई ऐसे क्षेत्र हैं जिनमें रसायनज्ञ का महत्त्वपूर्ण कार्यभाग रहा और अब भी है। पुस्तकों की जिल्द-बंधाई में चमड़ा, कपड़ा, आसंजक[1] सीने के लिए तागा, सोने और कांसे के पर्ण इत्यादि का प्रयोग किया जाता है; इन सभी वस्तुओं का उत्पादन रासायनिक नियंत्रण में होता है तथा उनकी उपयुक्तता की जाँच करने के लिए रासायनिक परीक्षाएँ भी निकाल ली गयी हैं। लेखन-सामग्री व्यापार में छपाई की सभी मुख्य विधाओं का प्रयोग होता है; कागज, रोशनाई तथा आसंजकों का बड़ी मात्रा में प्रयोग होता है, इनके अतिरिक्त मुहर लगाने की लाख, सूत और रस्सियाँ भी प्रयुक्त होती हैं और इन सभी चीजों के उत्पादन में रसायनज्ञ का कुछ कम योगदान नहीं होता।

ग्रंथ-सूची

ATKINS, W. : *Art and Practice of Printing.* Sir Issac Pitman & Sons, Ltd.

BROMLEY, H. A. : *Articles of Stationery and Allied Materials.* Grafton & Co.

BULL A. J. : *Photo-Engraving.* Edward Arnold & Co.

KNIGHTS C. : *Printing : Reproductive Means and Materials.* Butterworth & Co. (Publishers) Ltd.

MERTLE J. S. : *Photolithographic Procedure Bulletin No.*1. Cincinnati : International Photoengravers' Union of North America.

रोशनाई

सी० एन्सवर्थ मिचेल, एम० ए०, डी० एस-सी० (ऑक्सन),
एफ० आर० आई० सी०

अंग्रेजी शब्द—'इंक', जिसे भारतीय भाषा में रोशनाई या मसि कहते हैं, लैटिन शब्द 'एन्काउस्टम' अर्थात् 'बर्ण्ट इन्' से निकला है। क्योंकि प्राचीन काल में मिस्र-

[1] Adhesives

वासियों द्वारा मिट्टी के बर्तन के टुकड़ों पर लिखने के लिए कार्बनीय कालिख का प्रयोग किया जाता था, और लिखने के बाद वे उन टुकड़ों को आँच पर सेंक लेते थे। बुरुश या नरकल की कलम से रंगीन द्रव लगाकर एक प्रकार की लिपि बना लेते थे।

कार्बन रोशनाई—दिये की सूक्ष्म कालिख को सरेस अथवा गोंद के साथ मिला कर कार्बन रोशनाई बनायी जाती थी जिसका प्रयोग श्रीपत्रों अर्थात् 'पैपिराइ' पर लिखने के लिए किया जाता था। चीनी रोशनाई भी इसी प्रकार का पदार्थ है, लेकिन उसे पीस और दबा करके 'यष्टि' का स्वरूप दे दिया जाता था। यह प्राचीनकालीन कार्बन रोशनाई भारत तथा सुदूर पूर्व के देशों में अब तक इस्तेमाल की जाती है, लेकिन यूरोप में अब केवल कलाकार ही उसका प्रयोग करते हैं और 'आर्टिस्ट्स' ब्लेक इंक के नाम से ही मशहूर है। कार्बन रोशनाई के काले कण तत्स्थित सरेस अथवा गोंद की सहायता से कागज पर चिपक जाते हैं और सूखने पर वार्निश की तरह चमक उठते हैं। आगे चलकर लौह-टैनिन रोशनाई का उद्भव[1] हुआ, जो कुछ हद तक तन्तुओं में प्रवेश करके कागज के अन्दर एक रंगद्रव्य का निर्माण करती थी। रोशनाई के विकास में यह एक उल्लेखनीय कदम है।

लौह मांजूफल रोशनाई—सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी में टैनीन विलयन में लौह लवण मिलाकर बनी रोशनाई का प्रचलन था। इंग्लैण्ड में कार्बन रोशनाई को छोड़कर टैनीन रोशनाई अपनाने में काफी समय लगा, लेकिन लगभग पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्त तक टैनीन रोशनाइयों का प्रयोग प्रचलित हो गया था। और चूंकि टैनीन पदार्थ के लिए मांजूफल अर्थात् गाल का प्रयोग होता था इसलिए यह लौह-मांजूफल (आयरन-गाल) रोशनाई कही जाने लगी। लौह लवण के लिए फेरस सल्फेट अर्थात् कासीस का प्रयोग किया जाता था। १७वीं तथा १८वीं शताब्दी में स्थायी काली रोशनाई बनाने में कासीस और टैनीन का सर्वोत्तम अनुपात खोजने के लिए बड़ा अनुसन्धान किया गया था। फलस्वरूप १ भाग कासीस और ३ भाग मांजूफल के मिश्रण को गाढ़ा करने के लिए पर्याप्त गोंद डालकर छोटे-छोटे कुण्डों में खुला छोड़ देने से उसका आंशिक ऑक्सीकरण होता तथा वह थोड़ा और काला हो जाता था। अविलेय आयरन टैनेट कणों को कागज पर चिपकाने के लिए गोंद मिलाया जाता था।

[1] Invention

नीली काली रोशनाई—लौह-मांजूफल रोशनाई का प्रचलन गत शताब्दी के मध्य तक जारी रहा लेकिन १८वीं शताब्दी के अन्त में अनऑक्सीकृत रोशनाइओं का प्रयोग प्रारम्भ हो गया था। इस नये प्रकार की रोशनाई को कुण्डों में छोड़कर उसका ऑक्सीकरण नहीं किया जाता था और अविलेय हो जाने से बचा लिया जाता था। अनऑक्सीकृत अवस्था में उसके स्थायीकरण के लिए उसमें थोड़ा अम्ल मिलाया जाता था जिससे कागज से सम्पर्क होने के पहले उसकी वह अवस्था बनी रहे और तत्पश्चात् तन्तुओं के अन्दर ही उसका आक्सीकरण हो। इस रोशनाई की लिखावट बड़े हलके पीले रंग की होती थी और ऑक्सीकरण के बाद ही काली होती है, इसलिए ऑक्सीकरण से काली होने तक रंगीन बनाने के लिए उसमें इण्डिगो मिला दिया जाता था। ऐनिलीन रंजकों के आविष्कार के बाद इण्डिगो के स्थान पर नीले, लाल अथवा हरे रंजक मिलाये जाने लगे, लेकिन नीला रंग अधिक लोकप्रिय हुआ। इस प्रकार 'नीली-काली' (ब्लू ब्लैक) रोशनाई का नामकरण हुआ।

ऐनिलीन रोशनाई—ऐनिलीन रोशनाई का प्रथम प्रयोग १८६१ ई० में प्रारम्भ हुआ। अधिक चलिष्णु होने के कारण स्टाइलोग्राफिक लेखनियों के लिए निग्रोसीन विलयनों का प्रयोग अधिक पसन्द किया जाता था। पुरानी रंगीन रोशनाइयों में प्रयुक्त होनेवाले कोचीनियल, मैंडर अथवा इण्डिगो-जैसे प्राकृतिक रंजक तथा प्रशन ब्लू अथवा हरिकी (वर्डिग्रिस) सदृश खनिज रंग द्रव्यों के आलम्बन के स्थान पर इयोसीन और ऐनिलीन ब्लू-जैसे कृत्रिम रंजक प्रयोग किये जाने लगे। लेकिन इन ऐनिलीन रोशनाइयों की त्रुटि यह थी कि उनसे तन्तु केवल रंग जाते थे और स्थायी नहीं होते थे। लौह-मांजूफल रोशनाइयों की तरह कागज पर ही इनसे कोई रंग द्रव्य नहीं बनता।

प्रतिलिपि रोशनाई—लौह-मांजूफल रोशनाई की लिखावट की प्रतिलिपि करना कठिन होता है और ऑक्सीकरण के बाद तो संभव ही नहीं होता। अतः व्यावहारिक प्रयोजनों के लिए साधारण रोशनाई की अपेक्षा प्रतिलिपि रोशनाई में अधिक द्रव्य डालने की आवश्यकता होती है। इसीलिए ऐसी रोशनाई सान्द्रित रूप में बनायी जाती है तथा उसमें ग्लिसरीन सदृश ऐसे पदार्थ डाले जाते हैं जो कागज पर रोशनाई के ऑक्सीकरण को अवरुद्ध करें। इससे मूल रोशनाई कुछ समय तक चिपकदार बनी रहने से उसकी एक या अधिक प्रतिलिपियाँ बनायी जा सकती हैं।

मुद्रण रोशनाई—छपाई के लिए बनी रोशनाई में अलसी के उबले तेल के साथ सूक्ष्मतः विभाजित दीप-कालिख अथवा कार्बन-कालिख मिली रहती है और जब यह कागज पर लगायी जाती है तो शीघ्र ही सूख कर काले रंग लेप का रूप धारण कर

लेती है। तेल और कालिख का अनपात आवश्यकतानुसार बदलता रहता है, उदाहरणार्थ समाचारपत्र छापने की रोशनाई का निबन्ध किताब की सुन्दर छपाई के लिये बनी रोशनाई के निबन्ध से बहुत भिन्न होता है। ऐसी रोशनाई के तान तथा गुण में हेर-फेर करने के लिए उसमें साबुन, खनिज तेल, रेज़ीन, प्रशन ब्लू इत्यादि सरीखे अन्य संघटक भी मिलाये जाते हैं। रंगीन छपाई के लिए कार्बन कालिख के स्थान पर कोई खनिज रंग द्रव्य अथवा कार्बनिक लाक्षक प्रयुक्त होता है। मॉनस्ट्रल ब्लू-जैसी ऐनिलीन की कुछ नयी व्युत्पत्तियाँ इतनी स्थायी सिद्ध हुई हैं कि मुद्रण रोशनाइयों में पुराने रंग द्रव्यों के स्थान पर उनका प्रयोग आसानी से किया जा सकता है। इस प्रकार की रोशनाई बनाने में संघटकों को यथासंभव सूक्ष्मतम विभाजित अवस्था में प्रयोग करना अनिवार्य है।

मुद्रलेखन रोशनाई—पहले मुद्रलेखन (टाइपिंग) रोशनाई के लिए किसी ऐनिलीन रंजक (बहुधा मिथिल व्यायलेट) के विलयन में ग्लिसरीन अथवा डेक्स्ट्रीन डालकर उसे थोड़ा गाढ़ा कर लिया जाता था, लेकिन अब तो सूक्ष्मतः विभाजित अथवा कलिलीय कार्बन से बनी काली रोशनाई बड़ी अधिकता से इस्तेमाल की जाती है। इस रोशनाई में मिथिल व्यायलेट रोशनाइयों की तरह उड़ जाने का अवगुण नहीं होता।

अंकन रोशनाई—संसार के विभिन्न भागों में अंकन (मार्किंग) के लिए विविध पौधों के रसों का प्रयोग किया जाता है। न्यु ग्रैनाडा का 'इंक प्लाण्ट' तथा भारतीय भिलावा (मार्किंग नट) इसके अच्छे उदाहरण हैं। परन्तु यूरोप में इस प्रयोजन के लिए मुख्यतः रासायनिक रोशनाई का प्रयोग होता है। आजकल भी प्रायः १०० वर्ष पूर्व प्रचलित 'रेडउड्स सिल्वर इंक' के ही आधार पर वाणिज्यिक अंकन रोशनाइयाँ बनायी जाती हैं। अमोनिया में रजत नाइट्रेट का विलयन इनका मुख्य रूप है। इस विलयन से कपड़े पर निशान बनाकर उसे लोहे से गरम कर दिया जाता है जिससे रजत अपचयित (रिड्यूस्ड) होकर काले अवक्षेप के रूप में स्थायी रूप से जम जाय। चिह्न के स्थिरीकरण के लिए कपड़े को गरम करने की असुविधा के कारण रजत रोशनाइयाँ जो एक समय बहुत चालू थीं, अब कम पसन्द की जाती हैं और उनके स्थान पर ऐनिलीन रोशनाइयाँ इस्तेमाल की जाने लगी हैं। ये सस्ती भी होती हैं। इनका निर्माण दो प्रकार से होता है—द्विविलयन[1] रोशनाई तथा

[1] Two solutions

एक-विलयन रोशनाई। प्रथम प्रकार की रोशनाई के प्रयोग में किसी ऐनिलीन लवण के विलयन कोइस्तेमाल के तुरन्त पहले कापर क्लोराइड और सोडियम क्लोरेट के मिश्रण सदृश ऑक्सीकारक के साथ मिलाया जाता है, जिससे प्रतिक्रिया वस्त्र के तन्तुओं के ऊपर तथा उनके भीतर होती है और धीरे धीरे ऐनिलीन ब्लैक बनता है; कपड़े के भापन अथवा धावन से यह प्रतिक्रिया त्वरित होती है। परन्तु इसके प्रयोग की विधा भी रजत रोशनाई की प्रयोग-विधा से किसी प्रकार कम असुविधाजनक नहीं; इसलिए एक-विलयन ऐनिलीन रोशनाई की माँग बढ़ी। यह रोशनाई जब तक बोतल में बन्द रहती है उसका ऑक्सीकरण नहीं होता। ऐसी रोशनाइयों के इस विलम्बित आक्सीकरण की रीति अब तक व्यापारिक रहस्य ही है।

मिली-जुली रोशनाइयाँ—कुछ विशिष्ट प्रयोजनों के लिए बनायी गयी रोशनाइयों में संवादी (सिम्पैथेटिक) रोशनाई है जिसका प्रयोग गोपनीय लेखनों में किया जाता है। इनमें ऐसे द्रव पदार्थ होते हैं जिनसे लिखने पर सद्यः कुछ प्रत्यक्ष नहीं होता और उनके अक्षर किसी विशेष स्थापक द्वारा उपचार के बाद ही उभरते हैं। फुटकर रोशनाइयों में स्टेन्सिल रोशनाई भी गिनी जा सकती है, यह पतली काली अथवा रंगीन वार्निश होती है। काठ और हाथी दाँत इत्यादि पर लिखने के लिए भी विशेष प्रकार की रोशनाइयाँ बनायी जातीं हैं। चेक रोशनाइयों कि विशेषता यह होती है कि उनमें ऐसे संघटक मौजूद रहते हैं, जिनकी प्रतिक्रिया चेक पर से लेख मिटाने के लिए इस्तेमाल किये जानेवाले रसद्रव्यों के साथ होती है; अतः वे सरलता से नहीं मिटायी जा सकतीं।

ग्रंथ-सूची

HINRICHSEN F. W. : *Die Untersuchung von Eisengallustinten.*

LEHNER S. : *Die Tinten-Fabrikation.*

MITCHELL C. A. : *Inks : Their Composition and Manufacture.* Charles Griffin & Co. Ltd.

MITCHELL C. A. : *Documents and their Scientific Examination.* Charles Griffin & Co. Ltd.

MITCHELL C. A. : *Allen's Commercial Organic Analysis.* J. & A. Churchill Ltd.

MITCHELL C. A. : *Recent Advances in Analytical Chemistry.* J. & A. Churchill Ltd.

NEAL R. O. AND PERROTT G. S. J. : *Carbon Black.* Bulletin No. 192, U. S. A. Dept. of Interior Bureau of Mines.

SCHLUTTIG, O., AND NEUMANN, G. S. : *Die Eisengallustinten.*

SEYMOUR A. : *Modern Printing Inks.* Ernest Benn Ltd.

UNDERWOOD, N., AND SULLIVAN, J. V. : *The Chemistry and Technology of Printing Inks.* D. Van Nostrand Co., Inc.

BUREAU OF STANDARDS, WASHINGTON : *Composition, Properties and Testing of Printing Inks* Circular, No. 55.

पेन्सिल

(स्वर्गीय) जॉन सैण्डर्सन, एफ० आर० आई० सी०

श्रीपत्रों (पैपिराइ) पर अक्षर अंकित करने के लिए बुरुश के प्रयोग का उल्लेख किया जा चुका है। 'पेन्सिल' शब्द का उद्भव लैटिन के 'पेन्सिलस' शब्द से है, जिसका शाब्दिक अर्थ है 'छोटी दुम'। प्रारम्भिक काल में कुछ लिखने के लिए लकड़ी, कोयले अथवा उसी प्रकार के अन्य पदार्थों का प्रयोग किया जाता था। हाथी दाँत, चर्मपत्र अथवा कागज पर चिह्न बनाने के लिए सीस इस्तेमाल किया जाता था इससे 'लेड पेन्सिल' तथा 'ब्लैक लेड' जैसे भ्रामक शब्दों का आज भी प्रयोग किया जाता है, यद्यपि वस्तुस्थिति यह है कि आजकल पेन्सिल बनाने में जो ग्रैफाइट इस्तेमाल किया जाता है उसमें प्रायः सम्पूर्णतः कार्बन ही होता है, लेड का तो उसमें नाम तक नहीं होता। प्लम्बैगो अथवा ग्रैफाइट से बनाये गये चिह्न सीस से बने चिह्नों से अधिक काले होते हैं।

१६वीं शताब्दी के प्रारम्भ में कम्बरलैण्ड स्थित बॉरोडेल नामक स्थान में ग्रैफाइट पाया गया था। वहाँ इसके बेढंगे आकार के बड़े ठोस टुकड़े मिलते थे। इनको पतले-पतले पत्तरों में काटा जाता था और इन पत्तरों को दूसरी ओर से काटकर लम्बी चौकोर छड़ें बना ली जाती थीं और इन्हीं को लकड़ी में धानीगत (एन्केस्ड) कर दिया जाता था और पेन्सिल तैयार हो जाती थी।

पेन्सिल बनाने की ग्रैफाइट बहुत वर्षों तक केवल बॉरोडेल की खानों से ही प्राप्त होती रही। फलतः उसे प्राप्त करने के लिए बड़ी स्पर्धा करनी पड़ती थी। उक्त खान में साल में केवल ६ सप्ताह काम करने के लिए वहाँ की संसद में एक अधिनियम

पारित हुआ और खान की सुरक्षा का यथेष्ट प्रबन्ध किया गया, चोरी रोकने के लिए साल के बाकी समय में उसमें पानी भर दिया जाता था।

फिर भी १९वीं शताब्दी के प्रारम्भ में यह खान समाप्त हो गयी और अनेक पेन्सिल-निर्माताओं ने कोई उपयुक्त प्रतिस्थापक ढूँढ़ निकालने के लिए बड़े व्यापक प्रयत्न किये। पहले तो उन्होंने क्षेप्य को पीसकर विविध मिश्रणों के साथ उसकी छड़ें बनायीं। इनसे केवल एक ही कठोरता की पेन्सिल बन पायी, जब कि उस समय विभिन्न कठोरतावाली पेन्सिलों की माँग होने लगी थी। इसकी पूर्ति के लिए विभिन्न अनुपात में बारीक पिसी ग्रैफाइट और मिट्टी मिलाकर उनकी पट्टियाँ बनायी गयीं और उन्हें सेंककर पक्का किया जाने लगा। इस विधा के आविष्कार का श्रेय पेरिस के कॉण्टे को है। इस रीति से १४ अथवा उससे अधिक कोटि की कठोरता उत्पन्न की जा सकी, इनकी सीमा ६ H (हार्ड) से लेकर ६ B (ब्लैक) तक थी तथा HB (हार्ड-ब्लैक) मध्य की कोटि थी।

ग्रैफाइट, प्लम्बैगो अथवा ब्लैक लेड संसार के अन्य भागों में भी पाये जाते हैं; इनके दो प्रकार होते हैं—केलासीय और अनाकार। सर्वोत्तम केलासीय श्रेणी श्रीलंका से प्राप्त होती है, वहाँ यह बड़े-बड़े चिपटे पट्टों अथवा शल्कलों के रूप में मिलता है। इसकी पिसाई में बड़ी कठिनाई होती है तथा इससे काला चिह्न भी नहीं बनता, अतएव इसका प्रयोग पेन्सिल बनाने के लिए नहीं किया जाता; लेकिन बारीक पिसाई तथा कुछ रासायनिक उपचार करके थोड़ा भाग इस काम में लगाया जा सकता है। अनाकार ग्रैफाइट के मुख्य प्रकार बोहेमिया, बवेरिया, मेक्सिको तथा कोरिया में पाये जाते हैं। खान से निकालने के बाद यह पानी के साथ खूब बारीक पीसा जाता और विभिन्न तड़ागों में से पार कराया जाता है। बड़े-बड़े कण प्रथम तड़ाग में ही नीचे बैठ जाते हैं और सूक्ष्म कण पाँचवें अथवा छठवें तड़ाग में बह जाते हैं, वहीं उनको एकत्र कर लिया जाता है। मिट्टी का भी वैसा ही उपचार किया जाता है।

गत कुछ वर्षों से जलधावन के बजाय वायु-प्लवन (एअर फ्लोटिंग) विधा प्रयुक्त होने लगी है। पिसी ग्रैफाइट अथवा मिट्टी को चलते हुए पंखे के सामने डाला जाता है और वह हवा के झोंके से कई वेश्मों में होकर गुजरते हैं और अपनी सूक्ष्मता के अनुसार विभिन्न वेश्मों में बैठते चले जाते हैं। सूक्ष्मतम कण अन्तिम वेश्म में जमा होते हैं।

इस रीति से तैयार ग्रैफाइट और मिट्टी को वांछित अनुपात में जल की सहायता से एक में मिलाकर उसकी घोंटाई की जाती है जिससे आवश्यक कोटि की चिकनाहट उत्पन्न हो जाय, उसके बाद अतिरिक्त जल को निचोड़कर निकाल दिया जाता

पेन्सिल निर्माण

मिट्टी
ग्रैफाइट
मिट्टी
रंग
पिसाई
पिसाई
पिसाई
जल धावन
या
वायु प्लवन
जल धावन
या
वायु प्लवन
जल धावन
या
वायु प्लवन
मिश्रण
पिसाई
अतिरिक्त जल
का निरसन
उत्सारण (एक्सट्रूडिंग)
सुखाना
काटना
परीक्षण और सेंकना
विरचना (प्रीपेयरिंग)
मिश्रण
पिसाई
अतिरिक्त जल
का निरसन
उत्सारण
सुखाना
काटना
परीक्षण
विरचना
लकड़ी की नाली
में रखना
सरेस लगाना
संधारण (क्लैम्पिग)
सुखाना
शिरोघर्षण (एण्ड ग्राइण्डिग)
आकार प्रदान
परीक्षण
बालुका पत्र से घर्षण
पालिश करना
शिरो घर्षण
ठप्पा लगाना
परीक्षण
बण्डल बांधना
और बक्स में रखना
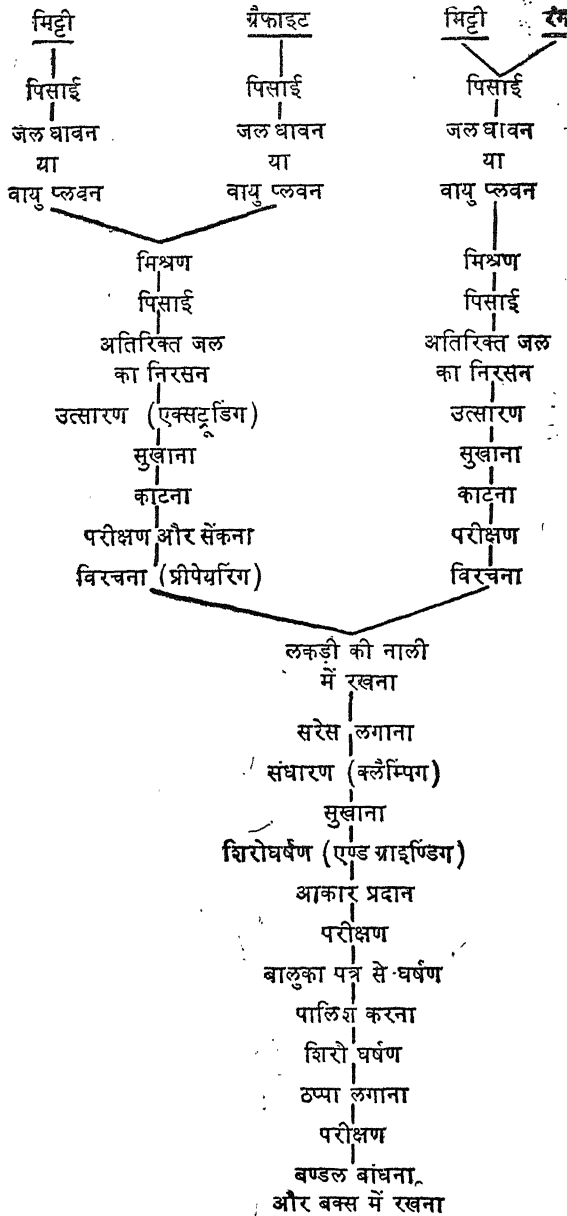
है। इस प्रकार एक सुघट्य पुन्ज तैयार हो जाता है जिसे उच्च दाब से एक ठप्पे अथवा साँचे के द्वारा उत्सारित (एक्सट्रूडेड) करके आवश्यक माप एवं आकार की पट्टियाँ बना ली जातीं हैं। इन्हें आंच में सेंकने के बाद कुछ वसाओं तथा मोमों के मिश्रण से उपचारित कर दिया जाता है। इस प्रकार वह काष्ठ में बन्द करने के लिए तैयार हो जाता है।

प्रायः सभी पेन्सिलें देवदारु की लकड़ी (सिडारउड) से बनती हैं क्योंकि वह बड़ी सीधी, उत्तम कणोंवाली तथा मुलायम होती है। लाल अथवा पेन्सिल देवदारु को **'जुनिपेरस वर्जिनियाना'** कहते हैं तथा वह जुनियर जाति का होता और फ्लोरिडा तथा संयुक्त राज्य के अलबामा और टेनेसी क्षेत्रों में पाया जाता है। इससे लेबनान के देवदारु का भ्रम नहीं होना चाहिए क्योंकि वह सर्वथा भिन्न कुल का होता है। फ्लोरिडा देवदारु की अल्पता के कारण उसके उपयुक्त प्रतिस्थापक की बड़ी व्यापक खोज की जा रही है। कीनिया में एक लाल देवदारु मिला है, लेकिन इसकी लकड़ी बड़ी कठोर होती है और पेन्सिल के उपयुक्त बनाने के लिए उसका रासायनिक उपचार करना पड़ता है।

कैलिफोर्निया (यू० एस० ए०) में मिलनेवाले इन्सेन्स देवदारु (लेब्रोसीडस डिकरेन्स) के बारे में भी उपर्युक्त बात लागू है। पेन्सिल बनाने के लिए प्रयोग करने के पहले इसका भी रासायनिक उपचार आवश्यक है। इस लकड़ी को एक पेन्सिल के बराबर लम्बे तथा २ से ६ तक पेन्सिलें निकलने भर को मोटे टुकड़ों में काट लिया जाता है। इन टुकड़ों में ग्रैफाइट की पट्टी रखने के लिए पतली नाली बनायी जाती है और दो टुकड़ों को सरेस से जोड़ दिया जाता है। जब वे पूरी तरह से सूख जाते हैं तब उन्हें मशीन में डाल दिया जाता है, जो टुकड़ों की चौड़ाई के अनुसार उन्हें २–६ पेन्सिलों में काट देती है। विभिन्न माप एवं आकार की—गोली, षट्कोणीय अथवा त्रिकोणीय पेन्सिलें बनाने के लिए इस मशीन का आपरिवर्तन (आल्टरेशन) किया जा सकता है। आकार ठीक हो जाने पर उन्हें बालुकापत्र से रगड़ा जाता है तथा पालिश करके बक्सों में रख दिया जाता है।

रंगीन पेन्सिलों के बनाने के लिए मिट्टी में सिन्दूर, प्रशन ब्लू, क्रोम ऐलो, गैरिक (ऑकर) तथा बभ्रुकी (अम्बर) जैसे रंग को एक साथ पीसकर पट्टियाँ बना ली जाती हैं। ये पट्टियाँ सेकीं नहीं जातीं वरन् वसाओं और मोमों के मिश्रण से उपचारित की जाती हैं जिससे वे कड़ी और चिकनी हो जाती हैं, तदन्तर वे भी ब्लैक लेड की भाँति लकड़ी में रखी जाती हैं।

प्रतिलिपि-पेन्सिलें जल-विलेय ऐनिलीन रंगों से बनायी जाती हैं। कुछ अन्य

विशेष प्रयोजनों के लिए भी पेन्सिलें बनायी जातीं हैं, जैसे काच अथवा चीनी मिट्टी पर लिखने के लिए अथवा शल्य चिकित्सकों द्वारा त्वचा पर लिखने के लिए। लिनेन पर लिखने के लिए लिनेन-अंकन पेन्सिलें भी होती हैं।

पेन्सिल बनाने के सब मिलाकर लगभग ५०० विभिन्न सूत्र हैं, जिन पर कड़ा रासायनिक नियंत्रण रहता है। ये सूत्र प्रत्येक संस्था के अपने-अपने रहस्य माने जाते हैं, लेकिन उनकी उत्तमता तथा उनके कच्चे मालों की शुद्धता एवं उपयुक्तता का उत्तरदायी रसायनज्ञ ही होता है। मशीनें तो मुख्यतः लकड़ी के टुकड़े तैयार कर उन्हें पेन्सिल का आकार प्रदान करती हैं। बड़े-बड़े कारखानों में उनकी अपनी कर्मशाला होती है जहाँ इंजीनियर लोग नयी मशीनें बनाते रहते हैं तथा पुरानी की मरम्मत करते रहते हैं।

अध्याय ११

संश्लिष्ट रेज़ीन तथा प्लास्टिक; रंगलेप तथा वार्निश

संश्लिष्ट रेज़ीन तथा प्लास्टिक

सी० ए० रेडफार्न, बी० एस-सी०, पी-एच० डी० (लिव०),
एफ० आर० आई० सी०

'संश्लिष्ट रेज़ीन' से यह भ्रम होना संभव है कि इन पदार्थों की प्रकृति एवं रासायनिक बनावट प्राकृतिक रेज़ीनों के समान है और वे केवल कृत्रिम रूप से उत्पन्न किये गये हैं। किन्तु यह केवल भ्रम मात्र है; वे तो विभिन्न रासायनिक निबन्धवाले रेज़ीनीय पदार्थ हैं जो संश्लेषण रीतियों से तैयार किये जाते हैं। 'प्लास्टिक' शब्द का प्रचार अमेरिकी विक्रेताओं ने इसी शताब्दी के दूसरे दशक में किया था और अब यह एक जातिनाम के रूप में प्रयुक्त होने लगा है। इसके अन्दर कुछ ऐसे स्वच्छन्द कार्बनिक पदार्थ भी शामिल हैं, जिनकी निर्माण के किसी पद पर एक सुघट्य (प्लास्टिक) अवस्था रही हो और जो सामान्यतः उसी अवस्था में ताप और दाब के प्रयोग से मन चाहे आकार के बनाकर आवश्यकतानुसार ठंढा करके जमा लिये गये हैं। बहुधा संश्लिष्ट रेज़ीन ही प्लास्टिकों के आधार होती हैं, लेकिन बहुत से प्लास्टिक संश्लिष्ट रेज़ीनों से नहीं बनाये जाते, साथ ही कुछ संश्लिष्ट रेज़ीनें ऐसी भी होती ह जिनका प्लास्टिक के अतिरिक्त अन्य और भी प्रयोग है।

प्लास्टिकों को दो मुख्य वर्गों में विभाजित किया जा सकता है, यद्यपि यह कोई पूर्ण विभाजन नहीं है, बल्कि इसमें कुछ हद तक अतिच्छादन (ओवरलैपिंग) भी हो गया है।

(क) उष्मस्थाप (थर्मोसेटिंग) प्लास्टिक जो ताप के प्रभाव से मृदु हो जाते हैं, तथा तापन जारी रखने पर कठोर और अगलनीय हो जाते हैं।

(ख) उष्म प्लास्टिक (थर्मो प्लास्टिक) जो गरम करने पर मृदु होते और उसी अवस्था में दबाकर वांछित आकार के बना लिये जाते हैं, परन्तु कठोरीकरण के लिए उन्हें ठंढा करना पड़ता है। औद्योगिक दृष्टि से इनका विशेष गुण यह है कि इनके क्षेप्यों को फिर से इस्तेमाल किया जा सकता है।

सर्वाधिक महत्त्ववाले उष्म-स्थाप प्लास्टिक फिनाल-फार्मालिडहाइड रेज़ीन से व्युत्पन्न होते हैं। कोलतार से प्राप्त फिनाल तथा मिथेनाल के उत्प्रेरक आक्सी-करण से तैयार किया गया फर्मालिडहाइड इसका निर्माण-पदार्थ है। १८७२ में बायर ने यह उल्लेख किया था कि फिनालों एवं ऐल्डिहाइडों की प्रतिक्रिया से रेज़ीनीय पदार्थ उत्पन्न किया जा सकता है। पुराने कार्बनिक रसायनज्ञों के लिए तो रेज़िनीय पदार्थ एक अभिशाप होते थे क्योंकि उन्हें केलासन विधा द्वारा विशुद्ध बनाना संभव नहीं है और न उनके ऐसे भौतिक नियतांक (कान्स्टैण्ट) ही होते हैं जिनका उल्लेख बील्स्टीन की सारणियों में किया जा सके। १८९३ ई० में जी० टी० मॉर्गन द्वारा फिनॉल और फार्मल्डिहाइड से एक भूरे रंग की रेज़ीन बनाये जाने का पुनः उल्लेख मिलता है, परन्तु फिनालिक रेज़ीनों की दूसरी बार निकलने पर भी उस समय इसके संबन्ध में कोई औद्योगिक चेतना जाग्रत नहीं हुई।

इस शताब्दी के प्रथम दस वर्षों में जब कि फिनाल और फार्मल्डिहाइड केवल रासायनिक प्रतिकर्मक मात्र नहीं रह गये थे वरन् औद्योगिक पैमाने पर उनका उत्पा-दन होने लगा था, तब एच० एल० बेकलैण्ड नामक एक अमेरिकी नागरिक ने (जो मूलतः बेल्जियन थे) फिनाल फार्मालिडहाइड के बने सामान तैयार किये और उन्हीं के नाम पर ऐसे पदार्थों को 'बेकालाइट' कहा जाने लगा। मौलिक अथवा एक-पद रेज़ीनों का निर्माण फिनाल और फार्मालिडहाइड की प्रतिक्रिया को अमोनिया से उत्प्रेरित करके किया गया था। निष्पन्न रेज़ीन विलेय, तथा ठण्ढी अवस्था में ठोस होती हैं, परन्तु गरम करने पर द्रव हो जाती और फिर रबर जैसी और अन्ततः कठोर, भंगुर और अविलेय। ऐसी रेज़ीनें अब भी स्पिरिट विलेय परितापन प्रलाक्षों (स्टोविंग लैकर्स), तथा उच्च आघातरोधी (शॉक रेजिस्टिंग) ढलाई पदार्थों के उत्पादन में प्रयुक्त होती हैं, जिनमें पूरकों के रूप में कपड़े अथवा लम्बे रेशेवाले संबलन (रीइ-न्फोर्सिंग) पदार्थ इस्तेमाल किये जाते हैं। इसके अलावा उपर्युक्त प्रकार की रेज़ीनें पत्रदलीय (लैमिनेटेड) वस्तुओं के बनाने में भी प्रयुक्त होती हैं। इनके निर्माण में सूती कपड़े, कागज, कनवस अथवा ऐसबेस्टस कपड़ों में रेज़ीन भरकर उनकी कई तहें गरम करके एक साथ दाब दी जाती हैं। इन पत्रदलीय वस्तुओं का प्रयोग विद्युत् पृथक्करण (इन्सुलेशन), अलंकारिक पट्टन, मौन दन्तिचक्र (साइलेण्ट गियर व्हील) और ब्रेक इत्यादि के लिए किया जाता है। युद्धकाल में पत्रदलीय फिनालिक पदार्थों का प्रयोग वायुयानों के कुछ राचनिक भागों में भी किया जाता रहा है।

फिनाल रेज़ीनों का सबसे बड़ा उपयोग ढलाई चूर्णों (मोल्डिंग पाउडर) के बनाने में है, जो अब द्विपद विधा से बनती हैं। फिनाल और कुछ अपर्याप्त फार्मल्डि-

हाइड की प्रतिक्रिया अम्लावस्था में करायी जाती है, जिससे पर्याप्ततः अकठोरकारी (नॉन-हार्डेनिंग) रेज़ीन बन जाती है, इसे 'नोवोलैक' कहते हैं। इसको हेक्ज़ामिथिलीन-टेट्रामीन नामक फार्मल्डिहाइड और अमोनिया के एक यौगिक के साथ गरम करके कठोर किया जाता है। हेक्ज़ा एक फार्मल्डिहाइड दाता एवं पैठिक उत्प्रेरक का काम करता है और इस विधा से प्राप्त कठोर रेज़ीन भी प्रायः सभी प्रयोजनों के लिए कठोरकृत एकपद रेज़ीन के समान होती है। ढलाई चूर्ण के निर्माण में नोवोलैक, हेक्ज़ा, रंग पदार्थ, साँचा स्नेहक सुघटक (मोल्ड लुब्रिकैण्ट प्लास्टिसाइज़र) एवं पूरक पदार्थ अर्थात् काष्ट-चूर्ण अथवा छोटे ऐसबेस्टस तन्तु अथवा खनिज चूर्ण का उष्म मिश्रण किया जाता है, परन्तु मिश्रण को कठोरावस्था के पूर्व ही बन्द तथा ठंढा करके विघटित कर लिया जाता है। इस रीति से प्राप्त चूर्ण से इस्पात साँचों में उष्म दाब से मिनटों में विविध आकार की वस्तुएँ बना ली जाती हैं। बहुधा भापतप्त मुद्र पटों (प्लेटेन्स) वाले द्रवचालित निपीड इस्तेमाल होते हैं। ऐसी वस्तुओं का सर्वाधिक प्रयोग बिजली के सामान बनाने में किया जाता है। सामान्यतः फिनालिक प्लास्टिक हलके रंग के नहीं होते। फिनाल प्लास्टिकों के उत्पादन में उसके सजातीय यौगिक, विशेषकर क्रिसॉल मिश्रणों का भी बहुत हद तक प्रयोग किया जाता है, लेकिन इनसे बनी वस्तुएं यद्यपि सस्ती परन्तु मध्यम गुणोंवाली होती हैं।

फिनॉल-फार्मल्डिहाइड प्लास्टिक में एक 'कास्ट फिनालिक रेज़ीन' कही जाती है। इसके लिए विशिष्ट रीति से एक फिनाल-फार्मल्डिहाइड चासनी बनायी जाती है जिसे सीस साँचों में ढालकर तथा मध्यम ताप पर कई दिनों तक सेंक करके कठोर किया जाता है। ऐसी रेज़ीनें कड़ी, उत्तम, हलकी और स्थायी होती हैं तथा इनसे रंगीन, पारदर्शक तथा बहुरंगी और चित्रित वस्तुएँ बनायी जा सकती हैं। हजामत के बुरुस, छुरी तथा छातों की मुठिया, किवाड़ों के मुण्डे बनाने में इस प्रकार की रेज़ीन का बड़ा इस्तेमाल होता है।

उष्म-स्थाप प्लास्टिक का दूसरा महत्त्वपूर्ण वर्ग यूरिया और फार्मल्डिहाइड से व्युत्पन्न किया जाता है। कार्बन डाइ ऑक्साइड और अमोनिया के उच्च दाब में अनाश्रित संयोजन से यूरिया का संश्लेषण किया जाता है। १९२८ ई० में यूरिया-फार्मल्डिहाइड के ढलाई चूर्ण बाजार में बिकने लगे थे। इसके निर्माण की द्विपद विधा है; प्रथम पद में क्षारीय उत्प्रेरक की उपस्थिति में यूरिया और फार्माल्डिहाइड विलयन की साधारण ताप पर प्रतिक्रिया होती है और फिर सल्फाइट काष्ठ-लुगदी तथा काष्ठ-चूर्ण-जैसे पूरक मिलाकर सुखाया और पीसा जाता है, इसमें कोई गुप्त अम्ल कठोरकारक भी प्रयुक्त होता है। इस चूर्ण की भी उष्म ढलाई प्रायः उसी प्रकार

होती है जैसे फिनालिक चूर्णों की, भेद केवल इतना होता है कि इसमें अपेक्षाकृत ऊँचे दाब तथा न्यून ताप की आवश्यकता होती है। इन दोनों प्रकार के उष्म-स्थाप प्लास्टिकों का सबसे बड़ा अन्तर यह है कि यूरिया प्लास्टिक हलके स्थायी रंगों में प्राप्य हैं जब कि फिनाल प्लास्टिक का रंग हलका नहीं होता। इस प्रकार की रेज़ीन से भी पत्रदलीय पदार्थ बनाये जाते हैं, परन्तु ऐसे पदार्थों के लिए प्राविधिक कारणों से साधारण यूरिया की जगह सल्फर सजातीय यौगिक-थायोयूरिया का प्रयोग अधिक अच्छा माना जाता है। यूरिया प्लास्टिक के बहुरंगी होने के कारण इसका प्रयोग मुख्यतः सुन्दर और फैन्सी चीज़ों के बनाने में किया जाता है।

यूरिया-फार्मोल्डिहाइड प्लास्टिक की एक त्रुटि भी है, फिनाल प्लास्टिक की तुलना में इसका आर्द्रता अवशोषण बहुत अधिक है। एक त्रिअमिनो यौगिक, मेलानीन को भी यूरिया की ही तरह फार्मल्डिहाइड के साथ संयुक्त करके रेज़ीन और प्लास्टिक पदार्थ उत्पन्न किया जाता है, जिसका आर्द्रता-रोधी गुण अधिक उन्नत होता है। मेलानीन का वाणिज्यिक उत्पादन प्रारम्भ हो गया है तथा उसके बाद मेलानीन-फार्मल्डिहाइड प्लास्टिक का विकास भी संभाव्य है।

सेलुलायड उष्म प्लास्टिक पदार्थों का अग्रणी हैं, जो गन-काटन की अपेक्षा कम नाइट्रोजन मात्रा वाले नाइट्रो सेलुलोज़ (वस्तुतः सेलुलोज़ नाइट्रेट) तथा कपूर मिला कर बनाया जाता है। इस योग में कपूर एक सुघटक अर्थात् प्लैस्टिसाइज़र का काम करता है। सुघटक का तात्पर्य ऐसे पदार्थों से है जिनके मिलाने से प्लास्टिकों की भंगुरता कम होती है और उसका ढलाई गुण उन्नत होता है। १८५५ ई० में साउथ वेल्स के बरी पोर्ट पर एलेक्ज़ैण्डर पार्कस ने गन काटन और अरण्ड तेल से एक नाइट्रो सेलुलोज प्लास्टिक तैयार किया था, लेकिन सेलुलायड का प्रथम वाणिज्यिक उत्पादन न्युजर्सी (यू० एस० ए०) के 'ह्याट ब्रदर्स' द्वारा १८६९ ई० में हुआ। समय-समय पर नये-नये प्लास्टिकों के प्रचलित होते रहने पर भी सेलुलायड अभी तक अपने स्थान पर बना हुआ है। इस पदार्थ की ज्वलनशीलता ही इसका बहुत बड़ा दोष था, सो अब वह भी बहुत हद तक कम कर दिया गया है; इसका सस्तापन, इसकी नाम्यता तथा क्रियाकरण की सुविधा तो इसके ऐसे गुण हैं, जिनकी वजह से आजकल भी इसका व्यापार जारी है। छुरी तथा दन्त बुरुश की मुठियाँ, कंघियों तथा सिनेमा की फिल्में बनाने के लिए सेलुलायड का सर्वाधिक प्रयोग होता है।

१९१४—१८ के प्रथम महायुद्ध के प्रारम्भिक काल में वायुयानों के पंखों के प्रलेपन के लिए नाइट्रो सेलुलोज प्रलाक्ष का प्रयोग किया जाता था। आगे चलकर ज्वलनशीलता कम करने के लिए सेलुलोज नाइट्रेट के स्थान पर इन प्रलेपों में सेलुलोज

एसिटेट प्रयुक्त होने लगा, तथा सेलुलोज एसिटेट के उत्पादनार्थ बड़े-बड़े संयन्त्र लगाये गये। युद्ध के बाद इन संयन्त्रों द्वारा उत्पन्न सेलुलोज एसिटेट की विशाल मात्रा के उपयोग का रास्ता ढूंढ़ना पड़ा। फलस्वरूप एसिटेट रेयान उद्योग का जन्म हुआ और सेलुलोज एसिटेटप्लास्टिक रेयान की एक शाखा के रूप में प्रगट हुआ। किसी सुघटक (प्लास्टिसाइज़र) के साथ सेलुलोज़ एसिटेट के संयोजन से वह पदार्थ बनता है जो एक समय अज्वलनशील सेलुलायड के नाम से ज्ञात था। सेलुलायड के स्थान पर सेलुलोज एसिटेट प्लास्टिक इस्तेमाल किये जा सकते हैं, लेकिन वे उतने मजबूत नहीं होते और साथ ही मँहगे भी होते हैं। सेलुलोज एसिटेट प्लास्टिक की श्रेष्ठता यह है कि इसका प्रयोग अन्तःक्षेपी ढलाई (इन्जेक्शन मोल्डिग) के लिए किया जा सकता है। इस प्रकार की ढलाई में प्रोथ (नॉज्ल) लगे रम्भ में से एक प्रवेशी (प्लन्जर) की सहायता से तप्त प्लास्टिक पदार्थ को ठण्ढे साँचे में उत्सारित किया जाता है, जहाँ जाकर प्लास्टिक तुरन्त जम जाता है। यह विधा जटिल आकारवाली वस्तुएं, जिनमें अन्तःप्रवेशी कोण (रीइन्ट्रेण्ट ऐंगिल्स) होते हैं, बनाने में विशेष उपयोगी है।

प्रायः सभी उष्म प्लास्टिक पदार्थ अन्तःक्षेपी ढलाई के लिए उपयुक्त होते हैं। गत कुछ वर्षों में एक प्रकार की अन्तःक्षेपी ढलाई जिसे संक्रामण ढलाई (ट्रान्सफर मोल्डिग) कहते हैं उष्म-स्थाप प्लास्टिकों के लिए प्रयुक्त होने लगी हैं।

पिछले दस वर्षों के अन्दर 'इथेनायड' कही जानेवाली संश्लिष्ट रेज़ीनों का महान् औद्योगिक विकास हुआ है। इथिलीन की व्युत्पत्तियाँ इनके निर्माण पदार्थ माने जा सकते हैं, स्टाइरीन, विनाइव एसिटेट, विनाइल क्लोराइड, एक्रिलिक एस्टर तथा स्वयं इथिलीन इनमें से मुख्य हैं। ऐसे किसी द्विबन्ध (डब्ल-बॉण्ड) पदार्थ में पालीमराइज़ करने की शक्ति होती है, अर्थात् एक ही यौगिक के अनेक अणु परस्पर संयुक्त होकर पॉलीमर का एक बड़ा अणु उत्पन्न कर देते हैं। और ये पालीमर उष्म-प्लास्टिक पदार्थ होते हैं तथा इनके विशेष गुणों के कारण इनकी उपयोगिता बढ़ती जा रही है।

पाली स्ट्रीन अपने विशिष्ट जलरोधी एवं विद्युत गुणों के लिए विशेष उल्लेखनीय है और उच्चावृत्ति (हाई फ्रिक्वेन्सी) विद्युत् पृथक्करण में प्रयुक्त होता है।

संशोधित पॉली विनाइल एसिटेट में उच्च नाम्यता तथा उत्तम आसंजन[1] गुण होता है, अतः यह अमेरिका में पत्रदलीय निरापद काच (लैमिनेटेड सेफ्टी ग्लास)

[1] Adhesion

बनाने के लिए बड़ा उत्तम माना गया है। पाली विनाइल क्लोराइड भी यदि उपयुक्त ढंग से संयोजित किया जाय तो उसमें रबर सरीखी नाम्यता तथा जल और तेल-रोधी विद्युत गुण आ जाते हैं तथा उसका शीघ्र ह्रास अथवा क्षय भी नहीं होता, इसलिए बिजली के नाम्यसमुद्री तारों के आवरण के रूप में वे प्रयुक्त होते हैं।

पॉली ऐक्रिलिक एस्टरों में बड़ी उच्च कोटि की स्वच्छता होती है तथा ताप परिवर्तनों का उन पर विशेष प्रभाव नहीं पड़ता, इसलिए वें वायुयान कबन्ध (फ्यूज़-लेज) बनाने के लिए विस्तृत रूप से प्रयुक्त होते हैं। हाल में इन एस्टरों का प्रयोग दन्त पट्ट एवं कृत्रिम दाँत बनाने के लिए भी होने लगा है।

पॉली इथिलीन अत्यधिक नाम्य एवं रबर-जैसी होती है। समुद्री तारों के आवरण के लिए उसका इस्तेमाल होता है। इथेनायड रेज़ीनों के नवीन विकास से डाइ-ऐलिल थलेट सदृश दो इथेनायड ग्रन्थनों (लिंकेज) वाले मानोमरों का उत्पादन होने लगा। इन मानोमरों के पालीमरीकरण से उष्मस्थाप रेज़ीन प्राप्त होती है। यद्यपि औद्योगिक क्षेत्र में इथेनायड रेज़ीनों का प्रभाव प्रायः पिछले १० वर्षों में ही हुआ है, लेकिन शैक्षणिक दृष्टि से तो काफी समय से उनका अध्ययन किया जाता रहा है। वैज्ञानिक साहित्य में पॉलीस्ट्रीन का प्रथम उल्लेख सन् १८३९ ई० में किया गया था तथा पॉली विनाइल एसिटेट सन् १९१२ ई० में, पौली विनाइल क्लोराइड १८७२ ईसवी में और पॉली एक्रिलिक एस्टर १८८० ईसवी में ज्ञात हुए थे।

संश्लिष्ट रेज़ीन एवं संश्लिष्ट रबर के बीच की एक कड़ी के रूप में इथेनायड रेज़ीनों का विशेष महत्त्व है।

रिनेट नामक एन्ज़ाइम से मथित दूध का उपचार करने पर केज़ीन प्राप्त होती है। इस केज़ीन को धोकर तथा सुखाकर इससे प्लास्टिक पदार्थ बनाये जाते हैं। केज़ीन में उसके भार का २०% जल मिला कर एक जेल तैयार किया जाता है तथा मशीन में डालकर उसे समांग (होमोजीनियस) बनाया जाता है और अन्त में इस पदार्थ को फार्मेल्डिहाइड के एक तनु विलयन में डाल कर कठोर बनाया जाता है। समांगन के बाद प्राप्त पदार्थ उष्म प्लास्टिक होता है और उसे दबा करके उसके स्तार बनाये जा सकते हैं, लेकिन फार्मेल्डिहाइड से उपचार करने के बाद वह

[1] Thermoset

अधिक कड़ा तथा कम जल-अवशोषक हो जाता है और अंशतः ही ऊष्म-प्लास्टिक रह जाता है।

इंग्लैण्ड में केज़ीन प्लास्टिकों का विकास लगभग १९१२ ई० से प्रारम्भ हुआ था तथा इनका प्रयोग विशेषतया बटन और बक्सुआ बनाने के लिए किया जाता है। एतदर्थ इन प्लास्टिकों की आश्चर्यजनक मात्रा प्रयुक्त की जाती है। इनका एक बड़ा लाभ यह भी है कि इन्हें विविध रंगों और रूपों में परिवर्तित किया जा सकता है और साथ ही इनसे पदार्थों में वह कृत्रिमता भी दर्शित नहीं होती जो विशुद्ध संश्लिष्ट प्लास्टिकों की बनी वस्तुओं में दिखाई पड़ती है। यह एक विशिष्ट गुण है, जिसके कारण तथा साथ ही साथ सस्ता होने के कारण उच्च जलावशोषण के बावजूद और नये नये प्लास्टिक पदार्थ आ जाने पर भी केज़ीन प्लास्टिक तथा उससे बने पदार्थ अब भी खूब प्रचलित हैं।

ग्लिसरॉल तथा थैलिक ऐन्हाइड्राइड की प्रतिक्रिया से 'ऐल्किड' नामक रेज़ीन बनती है, जो अपेक्षाकृत मन्थर ऊष्मस्थायी गुणवाली होती है। प्लास्टिक के रूप में तो इसका सीमित प्रयोग होता है, अभ्रक के साथ कुछ विशिष्ट विद्युत्-पृथक्करण कार्यों में ही सामान्यतः इसका इस्तेमाल किया जाता है।

कुछ प्राकृतिक रेज़ीन भी प्लास्टिकों के रूप में प्रयुक्त होती रही हैं। शिलैक अर्थात् लाख, जो कुछ कीटों का निर्यास होता है, किसी समय विद्युत्-पृथक्करण के लिए व्यापक रूप से इस्तेमाल किया जाता था, परन्तु अब इसके स्थान पर फिनालिक प्लास्टिकों का अधिक प्रयोग होने लगा है। लेकिन फिर भी ग्रामोफोन के रेकार्ड बनाने के लिए आजकल भी लाख सबसे महत्त्वपूर्ण रेज़ीन है।

गिल्सोनाइट एवं रैफीलाइट जैसे प्राकृतिक बिटुमिनों और तारकोल से भी कुछ ऊष्म-प्लास्टिक पदार्थ बनाये जाते हैं। इन बिटुमिनों का मुख्यतः ऐसबेस्टस जैसे पूरकों के साथ संयोजन किया जाता है तथा अम्ल-रोधी बैटरी-बक्स तैयार करने में इनका मुख्य प्रयोग होता है।

प्लास्टिक में प्रयुक्त होने के साथ-साथ रंगलेपों, वार्निशों एवं एनामलों में संश्लिष्ट रेज़ीनों का बड़ा प्रयोग होता है। यह उनका बड़ा महत्त्वपूर्ण विकास माना जाता है। इन रंगलेपों में मुख्यतः अलसी और तुंग तेल जैसे शोषक तेल, कुछ रंग-द्रव्य, वाष्पशील तरलक (थिनर) तथा ऐसे धातवीय शोषक होते हैं जो वायु-शोषण को त्वरित करते हैं। तेलवार्निश में शोषक तेल, शोषक, रेज़ीन और तरलक होते हैं तथा रंगद्रव्ययुक्त तेल-वार्निश ही ऐनामल कहा जा सकता है। शोषक तेल का प्रयोजन एक पतला स्तर बनाने का होता है और रेज़ीन से अच्छी चमक, आसंजकता

अर्थात् चिपकाऊपन तथा ऋतुसहता के गुण आते हैं, जब कि रंगद्रव्य से रंग एवं गोपन (हाइडिंग) गुण उत्पन्न होते हैं तथा तरलक से श्यानता कम होती है जिससे बुरुश से लेप करने में सुविधा हो। पहले रोज़ीन (कोलोफोनी) तथा कांगो कोपल जैसे शोषक तेल-विलेय प्राकृतिक रेज़ीनों का प्रयोग होता था। इन प्राकृतिक रेज़ीनों में कुछ ऐसे दोष थे जिनका कुछ निवारण इनको ग्लिसराल के साथ संयुक्त करके रोज़ीन एस्टर तथा कोपल एस्टर बनाकर किया जाता था। साधारण फिनॉल-फार्मल्डिहाइड रेज़ीनें शोषक तेलों में विलेय नहीं होतीं, परन्तु रोज़ीन के साथ, अथवा अच्छा हो कि रोज़ीन एस्टर के साथ, मिलाकर इन्हें अधिक तेलविलेय बनाया जा सकता है। गत १० वर्षों में प्राप्त अनुभव से यह ज्ञात हुआ है कि अगर पारा-टर्शरी-ब्युटाइल अथवा अमाइल फिनॉल जैसे पारा-प्रतिस्थापित फिनालों और फार्मल्डिहाइड की प्रतिक्रिया करायी जाय तो शोषक तेलों में सीधी विलेय रेज़ीन बन जाती है। "१००% फिनालिक तेलविलेय रेज़ीन" के व्यापारिक नाम से इनका बड़ा विस्तृत प्रयोग होने लगा है। तेलविलेय रेज़ीनों में तेलसंशोधित ऐल्किडों का भी एक महत्त्वपूर्ण वर्ग है। ग्लिसरॉल और थैलिक ऐन्हाइड्राइड से बने ऋजु ऐल्किड तो शोषक तेलों में अविलेय होते हैं, परन्तु यदि थैलिक ऐन्हाइड्राइड के एक अंश के स्थान पर शोषकतेल-वसीय अम्ल जोड़ दिया जाय तो उनकी तेलविलेयता बहुत बढ़ जाती है। कुछ विशिष्ट रीति से बनी यूरिया-फार्मल्डिहाइड रेज़ीन ऐरोमैटिक हाइड्रोकार्बनों में विलेय होती हैं, और प्रायः तेलसंशोधित ऐल्किडों के साथ रंगलेपों में ये रेज़ीनें भी इस्तेमाल की जाती हैं; इनसे अधिक कठोर स्तर प्राप्त होता है।

स्तर-काष्ठ (प्लाइउड) उद्योग के पुनःप्रतिष्ठापन एवं विस्तरण में संश्लिष्ट रेज़ीनों का बड़ा महत्त्वपूर्ण कार्यभाग रहा है। प्रारम्भ में लकड़ी के पतले पतले स्तारों को सरेस से जोड़कर स्तर-काष्ठ बनाया जाता था, परन्तु ऐसे स्तर-काष्ठ का आर्द्रता-रोध अत्यन्त लघु था तथा सरेस के कारण उसमें फफूँदी उत्पन्न हो जाती थी, फलतः वह बहुत टिकाऊ नहीं होता था।

आगे चलकर फिनॉल-फार्मल्डिहाइड तथा यूरिया-फार्मल्डिहाइड मेलानीन के बने आसंजकों के प्रयोग से बड़े उन्नत एवं टिकाऊ स्तर-काष्ठ बनने लगे। लकड़ी जोड़ने के लिए अब इसी प्रकार की संश्लिष्ट रेज़ीनों का प्रयोग होने लगा है। 'मास्क्विटो' नामक वायुयानों की रचना संश्लिष्ट रेज़ीन आसंजकों का सबसे रोचक युद्धकालीन विकास है। ये वायुयान संश्लिष्ट रेज़ीन से जोड़ी गयी लकड़ी और स्तर-काष्ठ से बनाये गये थे।

शिकन न पड़नेवाले कपड़ों का उत्पादन जथा जल-विलेय आयनों[1] का निरसन[2] (जैसे जल-मृदुकरण) संश्लिष्ट रेज़ीनों के प्रयोग के अन्य रोचक उदाहरण हैं।

पुराने प्रतिष्ठित रासायनिक उद्योगों की तुलना में लागत पूँजी के हिसाब से संश्लिष्ट रेज़ीन तथा प्लास्टिक उद्योग कदाचित् बहुत छोटा है; परन्तु फिर भी रासायनिक उद्योगों में यह सबसे अधिक सक्रिय उद्योग है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि गत वर्षों में लिये गये रेज़ीनों और प्लास्टिकों के पेटेण्टों की संख्या रासायनिक उद्योग के अन्य किसी विभाग के पेटेण्टों से कहीं अधिक है। प्लास्टिक पदार्थ बनाने के लिए नाइट्रोसेलुलोज़, फिनॉल, फार्मल्डिहाइड, सेलुलोज एसिटेट, यूरिया, ग्लिसरॉल तथा थैलिक ऐन्हाइड्राइड सदृश पूर्व-ज्ञात रासायनिक यौगिकों का प्रयोग करके यह उद्योग जमाया गया था। इन निर्माण-वस्तुओं के उत्तरोत्तर बढ़ते हुए प्रयोग से निष्पन्न पदार्थों के मूल्यों में भी बराबर कमी होती गयी है।

अब तो एकमात्र संश्लिष्ट रेज़ीनों तथा प्लास्टिकों के उत्पादनार्थ ही निर्माण-वस्तुएँ बनायी जाने लगी हैं। यह इस उद्योग की नवीन अवस्था है। तेलविलेय रेज़ीनों के लिए पारा-टर्शरी-फिनॉल, पॉलीऐक्रिलिक एस्टर प्लास्टिक के लिए मिथिल मेथाक्रिलेट तथा 'नाइलॉन' के लिए लम्बी शृंखलावाले डाइऐमाइड और लम्बी शृंखलावाले डाइकार्बाक्सिलिक अम्लों के उत्पादन इसके सुन्दर उदाहरण हैं।

यान्त्रिक इंजीनियरी की दृष्टि से आशु उत्पादन के हेतु भी इस उद्योग ने एक नयी दिशा अपनायी है। अब स्वतःचालित ढलाई प्रेसों के उपयोग से निष्पन्न वस्तुएँ बड़ी द्रुतगति से तैयार होती हैं तथा केवल छोटी-छोटी चीजें ही नहीं बल्कि बड़े-बड़े पदार्थ तैयार करने के यंत्र बन गये हैं। प्लास्टिक के ढले हुए शवसंपुट, उपस्कर (फर्नीचर) वायुयानों के पंख तथा आत्मवाहनों के ढाँचे बनाने की योजना भी चल रही है।

ग्रंथसूची

BURK, THOMSON, WEITH AND WILLIAMS : *Polymerisation.* Reinhold Publishing Co.

ELLIS, CARLETON : *Synthetic Resins and their Plastics.* Reinhold Publishing Co.

[1] Ions [2] Removal

High Polymers, Vols. I, II, III, IV, V and VI, Interscience Publishers Inc.
MORRELL, R. S. : *Synthetic Resins and Allied Plastics.* Oxford University Press.
ROWELL, H. W. : *Technology of Plastics.* Plastics Press, Ltd.
SUTERMEISTERE, E., AND BROWNE, F. L. : *Casein and its Industrial Applications.* Reinhold Publishing Co.

रंगलेप और वार्निश

एच० डब्लू० कीनैन, पी-एच० डी० (कैम्ब्रिज), एफ० आर० आई० सी०

ठोस रंगद्रव्य (पिग्मेण्ट) के सूक्ष्म कणों को तेल अथवा वार्निश के माध्यम में मिलाकर या विक्षेपित करके रंगलेप (पेण्ट) तैयार किया जाता है और उसकी अन्तिम गाढ़ता को उसमें टर्पेण्टाइन अथवा अन्य उपयुक्त तरलक[1] डालकर कार्यानुकूल बनाया जाता है।

रंगलेप व्यापार में प्रयुक्त कच्चे मालों अर्थात् निर्माणद्रव्यों में रसायनविज्ञान के प्रयोग का वर्णन निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत किया जा सकता है—

(१) रंगद्रव्य—ह्वाइट लेड, ज़िंक ह्वाइट, लिथोपेन, ऐण्टीमनी ह्वाइट और टिटैनियम ह्वाइट रंगलेपनिर्माण में सामान्यतः प्रयुक्त होनेवाले रंगद्रव्य अर्थात् 'पिग्मेण्ट' हैं। रासायनिक अनुसन्धानों से ही इन द्रव्यों का विकास हुआ है, जिसके द्वारा उनकी बनावट यानी सूक्ष्मता, अपारदर्शिता, तेल-अवशोषण गुण, विषालुता तथा टिकाऊपन जैसे गुणों के बारे में हमारे ज्ञान की वृद्धि हुई है। तेल-अवशोषण गुण से हमारा तात्पर्य तेल की उस मात्रा से ही है जिसे रंगद्रव्य में मिलाने से एक कड़ा लेप बन जाय।

रंगद्रव्य-ज्ञान में रासायनिक विकास एवं प्रगति का आभास तत्संबंधी अनुसंधानों से प्राप्त होता है। ये अनुसन्धान-कार्य सदा आवश्यकताओं एवं कठिनाइयों के अनुरूप रहे हैं। उदाहरण के लिए ह्वाइट लेड (श्वेत सीस) रंगलेप को लीजिए, यह गंधकयौगिक-मिश्रित औद्योगिक वातावरण में काला पड़ जाता है; इस दोष

[1] Thinner

को दूर करने के लिए जिंक ह्वाइट (यशद श्वेत) का प्रयोग होने लगा। परन्तु जिंक ह्वाइट को कुछ माध्यमों के साथ पीसने में विशेष कठिनाई अनुभव होने लगी, जिसका निवारण लिथोपोन का प्रयोग करके किया गया। लिथोपोन की अपनी अन्य विशेषताएँ एवं उपयोगिताएँ भी हैं। आगे चलकर औद्योगिक रंगद्रव्यों, विशेषकर शीकरन द्वारा व्यवहृत होनेवाले द्रव्यों के विकास में महत्तम अपारदर्शिता तथा संगतता (कॉम्पैटिबिलिटी) वाले रंगद्रव्यों की आवश्यकता हुई। इसकी पूर्ति के लिए ऐण्टिमनी ह्वाइट तथा टिटैनियम ह्वाइट का प्रचलन प्रारम्भ हुआ।

उपर्युक्त श्वेत रंगद्रव्यों को अलसी के तेल में मिलाने से जो रासायनिक संयोजन होता है, उसकी सीमा अलग-अलग रंगद्रव्यों के लिए भिन्न-भिन्न होती है; फलतः उनसे बने लेपों की प्रत्यास्थता, कठोरता तथा टिकाऊपन जैसे गुणों में भी अन्तर आ जाता है। रसायनविज्ञान की सहायता से रंगलेप-निर्माता इन विषमताओं को दूर करने में सफल हुए हैं और अब ऐसे रंगलेप तैयार करने लगे हैं जिनके गुण और प्रकृति पूर्वनिश्चित योजना के अनुसार बनायी जा सकती है। श्वेत लेपों के रंग-रोध का भी अध्ययन किया गया तथा बहुमूल्य रंगों के प्रयोग में मितव्ययिता का समावेश किया जा सका।

विविध कारणों से कभी-कभी 'विस्तारक' (एक्सटेण्डर्स) कहे जानेवाले कुछ अक्रिय पदार्थों को मिलाकर रंगीन अथवा श्वेत रंगद्रव्यों का सान्द्रण कम करने की भी आवश्यकता होती है। बहुत समय तक विस्तारकों का प्रयोग केवल रंगलेप को सस्ता करने का साधन माना जाता था। परन्तु यह सिद्ध किया गया कि यदि विस्तारकों का ठीक-ठीक प्रयोग किया जाय तो रंगलेप के सामान्य गुणों में काफी उन्नति होती है और कुछ दशाओं में तो उनका टिकाऊपन भी बढ़ जाता है। बैराइट, चाक, चीनी मिट्टी, जिप्सम, तालक, सिलिका तथा इसी प्रकार के रासायनिकतया तैयार किये गये अन्य पदार्थ विस्तारक के रूप में प्रयुक्त होते हैं।

अस्थापन (नॉन-सेटिंग) रेड-लेड का विकास भी बड़ा उल्लेखनीय है। रेड लेड में २ : १ के अनुपात में सीस-मॉनोआक्साइड और सीस-पराक्साइड के अणुओं का मिश्रण होता है। पहले तेल में रंगद्रव्य मिलाने के तुरन्त ही बाद रेड-लेड रंगलेप को इस्तेमाल करना पड़ता था, क्योंकि रंगद्रव्य का बहुत शीघ्र स्थापन (सेटिंग) हो जाता था। लेकिन अब अस्थापन रेड-लेड की प्रयुक्ति से इसकी आवश्यकता नहीं रही, क्योंकि केवल सीस-मॉनोआक्साइड प्रयोग करने से जो कठिनाई उत्पन्न होती थी वह मॉनोआक्साइड और पराक्साइड के मिश्रण से दूर हो गयी और अब मिश्रित रंगलेप को संतोषजनक अवस्था में महीनों तक रखना संभव है।

पीत रंगद्रव्यों में पीले सीसक्रोमेट मुख्य होते हैं, परन्तु इनमें भी काला पड़ जाने का बड़ा भारी अवगुण है। रसायनज्ञों ने इस समस्या को भी हल किया तथा वर्तमान पीत-क्रोमों का प्रयोग करने लगे, जिनमें काला पड़ने की प्रवृत्ति बहुत कम होती है। निर्माण काल में रासायनिक एवं भौतिक अवस्थाओं के समुचित नियंत्रण से अधिक चमकदार तथा स्वच्छ आभावाले रंगद्रव्य और रंगलेप तैयार करना संभव हुआ है। इन्हीं अनुसन्धानों के फलस्वरूप सुन्दर स्कारलेट क्रोम भी उत्पन्न किया जा सका है।

पीले क्रोमों को तनिक प्रशन ब्लू के साथ मिलाकर हरे रंगद्रव्य बनाये जाते हैं, परन्तु इनमें 'प्लवन' (फ्लोटिंग) का एक विचित्र दोष होता है जो दोनों रंगों के पृथक्करण के कारण ही होता है। लेकिन अब इस पृथक्करण का कारण ज्ञात हो जाने से अप्लवन (नॉन-फ्लोटिंग) प्रकार के हरे क्रोमों का उत्पादन होने लगा है।

नीले रंगद्रव्यों में अल्ट्रामेरीन ब्लू, प्रशन ब्लू, कोबल्ट ब्लू तथा 'मोनास्ट्रल फास्ट ब्लू' के नाम से ज्ञात रंगद्रव्य उल्लेखनीय हैं। बहुत दिनों तक इंग्लैण्ड को अल्ट्रामेरीन ब्लू के लिए अन्य देशों पर निर्भर रहना पड़ता था, किन्तु आगे चलकर स्वयं ब्रिटिश रसायनज्ञों के अध्यवसाय से उच्च कोटि का अल्ट्रामेरीन ब्लू उसी देश में बनने लगा। अल्ट्रामेरीन ब्लू प्रकाश एवं क्षारसह होता है लेकिन अम्लसह नहीं, दूसरी ओर प्रशन ब्लू प्रकाशसह और अम्लसह होता है परन्तु क्षारसह नहीं। लेकिन मोनास्ट्रल ब्लू में प्रकाश, अम्ल और क्षार तीनों के प्रति प्रबल सहता होती है। यद्यपि इसका आविष्कार सर्वथा भिन्न यौगिकों का निर्माण करते समय संयोगवश हो गया था, किन्तु इसका वैज्ञानिक विकास संयोग की बात न थी वरन् यह शैक्षणिक एवं औद्योगिक अनुसन्धान के पारस्परिक सहयोग पर आधारित है। ऐसी सहकारिता का यह उत्तम उदाहरण भी है।

उपर्युक्त रंगद्रव्य अकार्बनिक वर्ग के हैं। इनके अलावा अनेक सुन्दर-सुन्दर कार्बनिक लाक्षक रंगद्रव्य भी उत्पन्न तथा प्रयुक्त होते हैं। किसी उपयुक्त लवण द्वारा शुद्ध रंजक का अवक्षेपण करके लाक्षक (लेक) बनाया जाता है। परन्तु इस प्रकार तैयार किये गये इन शुद्ध किन्तु महँगे लाक्षकों का सामान्य रंगद्रव्यों के रूप में प्रयोग करना आर्थिक दृष्टि से लाभप्रद नहीं है। इसलिए बैराइट, अलूमिना अथवा चीनी मिट्टी जैसे किसी उपयुक्त पीठ की उपस्थिति में उपर्युक्त क्रिया सम्पन्न की जाती है। इन पीठों पर लाक्षक स्थापित करने से न केवल उनका मूल्य कम होता है वरन् रंग की पूरी चमक भी निखर उठती है। बहुत से उद्योगों में ऐसे रासायनिक यौगिकों का प्रयोग होने लगा है जो पहले केवल प्रयोगशालाओं में प्रतिकर्मक के रूप में प्रयुक्त

होते थे। किन्तु ऐसे यौगिकों की संख्या में अन्य कोई उद्योग लाक्षक रंगद्रव्य-उद्योग का मुकाबला नहीं कर सकता।

(२) **माध्यम**—अलसी का तेल रंगलेपों के लिए प्रमुख माध्यम है। प्रति वर्ष इंग्लैण्ड में सहस्रों टन अलसी अर्जेण्टाइना, कलकत्ता तथा बाल्टिक से मँगायी जाती है। हांककांग से आयातित 'चाइनीज उड आयल' मुख्यतः वार्निश बनाने के काम आता है। इन दोनों तेलों के प्राविधिक गुणों का उल्लेख आगे किया जायगा। रंगलेप-उद्योग में थोड़ी मात्रा में पेरिला तेल (मंचूरिया), सोयाबीन तेल (हिन्दचीन), नाइजर-सीड तेल (भारत) तथा मत्स्य तेल (न्यू फाउण्डलैण्ड) भी प्रयुक्त होते हैं।

(३) **तरलक**—विशुद्ध अमेरिकी टर्पेण्टाइन सर्वोत्तम तरलक (थिनर) माना जाता है। यद्यपि इसका उत्पादन अमेरिका में सबसे अधिक मात्रा में होता है लेकिन फ्रांस, यूनान, भारत, रूस तथा स्पेन जैसे देशों में भी इसका उत्पादन होता है। पाइन वृक्षों के रेज़ीनीय निर्यास से ही टर्पेण्टाइन प्राप्त होता है। 'ओलियो-रेज़ीन' कहे जानेवाले इस निर्यास के आसवन से एक जल-श्वेत द्रव के रूप में टर्पेण्टाइन प्राप्त होता है तथा एक ठोस पदार्थ अवशेष रहता है जिसे रोज़ीन अथवा गंधराल कहते हैं। रंगलेपों के लिए टर्पेण्टाइन एक स्वीकृत तरलक है, लेकिन इसका मूल्य अधिक होने के कारण इसके प्रतिस्थापक की खोज स्वाभाविक थी। फलतः टर्पेण्टाइन प्रतिस्थापक के रूप में आजकल 'ह्वाइट स्पिरिट' बहुतायत से प्रयुक्त होने लगी है। यह जल श्वेत तथा मीठी गंधवाला एक पेट्रोलियम आसुत है, जिसमें न केवल टर्पेण्टाइन के अनेक अच्छे विलायक गुण हैं वरन् बहुत सी दशाओं में यह उससे भी अच्छा माना जाता है। मुख्यतः रूमानियाई, अमेरिकी तथा बोर्नियाई पेट्रोलियम से ह्वाइट स्पिरिट प्राप्त की जाती है। इनमें से अन्तिम को अपने अच्छे विलायक गुण के कारण अधिक पसन्द किया जाता है।

कोलतार आसवन से प्राप्त बेंज़ॉल, टोलुऑल, ज़ाइलॉल तथा विलायक नैप्था भी विशेष प्रकार के रंगलेपों के लिए प्रचुर मात्रा में इस्तेमाल किये जाते हैं।

तरलक उत्पादन की नयी रीतियाँ मालूम करने के लिए भी रसायनविज्ञान का अच्छा उपयोग किया गया है। अब तक क्षेप्य यानी बेकार समझे जानेवाले पदार्थ टर्पेण्टाइन उत्पादन के लिए कच्चे माल के रूप में प्रयुक्त होने लगे हैं तथा निरुपयोगी समझे जानेवाले इन द्रव्यों से ह्वाइट स्पिरिट तैयार की जाने लगी है। यदि इस संदर्भ में सेलुलोज़ तथा आधुनिक संश्लिष्ट पदार्थों का उल्लेख किया जाय तो वाणिज्यिक विलायकों की ऐसी बृहत् सूची तैयर हो जायगी जिसमें अनेक ऐसे विलायक शामिल होंगें जिनका बहुत सी वर्तमान पाठ्य पुस्तकों में भी वर्णन नहीं है।

आलंकारिक रंगलपों का प्राविधिक विकास—अलसी के तेल में किसी एक रंग-द्रव्य को पीसकर तथा उसमें टर्पेण्टाइन की समुचित मात्रा मिलाकर उसे बुरुश से पोतने योग्य बनाया जाता है। आलंकारिक रंगलेप बनाने का यह सरलतम उपाय है। किन्तु यह समझाने के लिए कि यह सरल मिश्रण किस प्रकार एक जल-सह एवं प्रत्यास्थ स्तर का रूप धारण करता है, अलसीतेल जैसे शोषक तेल की रासायनिक प्रकृति का थोड़ा दिग्दर्शन कराना पड़ेगा। अलसी के तेल में बहुत से वसीय अम्लों का जटिल मिश्रण होता है। ये वसीय अम्ल ग्लिसरॉल से संयुक्त होते हैं इसी लिए ऐसे तेल 'वसीय अम्लों के ग्लिसराइड' कहे जाते हैं। इन ग्लिसराइडों का विशेष गुण यह है कि इनमें ऑक्सीजन से संयोजन की क्षमता होती है जिससे उनकी रचना थोड़ी और जटिल हो जाती है और फलस्वरूप वह अपनी तरलावस्था छोड़कर एक ठोस रूप धारण कर लेते हैं। इसी को तेल का शोषण अथवा सूखना कहते हैं; यह परिवर्तन हवा की उपस्थिति में ही होता है। अगर एक काचपट्ट पर अलसीतेल की एक पतली परत पोत दी जाय तो उपर्युक्त रासायनिक क्रिया की पूर्ति में ३-४ दिन लगेंगे यानी तेल सूखकर ठोस हो जायगा। इस प्रतिक्रिया को त्वरित करने की भी रीतियाँ और साधन हैं। अगर तेल को ५००° फ० ताप पर खुली हवा में उबाला जाय अथवा उससे भी अच्छा हो कि उबालते समय उसमें सीस अथवा मैंगनीज अथवा कोबल्ट की थोड़ी मात्रा डाल दी जाय तो प्राप्त तेल के सूखने में ३-४ दिन के बजाय ८-१२ घण्टे ही लगेंगे। त्वरण-प्रभाव उत्पन्न करने के लिए धातु-तेल का आवश्यक अनुपात बहुत कम होता है तथा अलग-अलग धातु के लिए भिन्न होता है। सीस और मैंगनीज़ का सान्द्रण अगर क्रमशः ०·२ और ०·०५ न हो तो अलसी तेल २४ घण्टे में सूख जायगा। हाँ, ये दोनों धातु सदा एक साथ प्रयुक्त होते हैं।

सीस, मैंगनीज़ और कोबल्ट की थोड़ी मात्राओं द्वारा उत्पन्न उपर्युक्त त्वरण-प्रभाव वर्षों से रासायनिक अनुसन्धान का विषय रहा है और आज भी इसका कोई ऐसा स्पष्टीकरण नहीं किया जा सका है जिस पर सभी कार्यकर्ता सहमत हो सकें। केवल इतना कहा जा सकता है कि ये धातु तेल के आस-पास की हवा के ऑक्सीजन-अणुओं का ग्लिसराइड अणु तक संक्रमण तथा वसीय अम्लों द्वारा उनकी अवशोषण-क्रिया का त्वरण करते हैं, इसी लिए उन्हें शोषक अथवा 'ड्रायर्स' कहते हैं। इस प्रयोजन के लिए सीस लिथार्ज (लेड मॉनोक्साइड), रेड-लेड तथा सीस-एसिटेट के रूप में सीस और मैंगनीज़ डाइऑक्साइड अथवा मैंगनीज़ सल्फेट या बोरेट के रूप में मैंगनीज का प्रयोग किया जाता है। यद्यपि कोबल्ट का प्रयोग कभी-कभी एसिटेट के रूप में किया जाता है परन्तु साधारणतः अलसीतेल और रोज़ीन से क्रमशः कोबल्ट

लिनोलियेट अथवा रोज़िनेट बनाकर उसका प्रयोग किया जाता है। सीस तथा मैंगनीज़ के लिनोलियेट अथवा रोज़िनेट भी शोषक के रूप में प्रायः प्रयुक्त होते हैं। सीस मैंगनीज अथवा कोबल्ट नैप्थिनेट नवीनतम शोषक हैं। ये यौगिक नैप्थिनिक अम्ल नामक एक पेट्रोलियम व्युत्पत्ति तथा उपर्युक्त धातुओं के किसी लवण की प्रतिक्रिया से तैयार किये जाते हैं। ऐसा कहा जाता है कि लिनोलियेटों अथवा रोज़िनेटों की तुलना में नैप्थिनेट अधिक उत्तम शोषक हैं और इनसे अधिक टिकाऊ लेप प्राप्त होते हैं, परन्तु सच बात यह है कि इनमें से प्रत्येक का अपना-अपना उपयोग है। ये शोषक विलयन के रूप में प्राप्य होते हैं तथा 'टेरीबीन' अथवा 'तरल शोषक' के नाम से बिकते हैं। इन शोषकों को इस्तेमाल करते समय उपर्युक्त धातवीय यौगिकों की सक्रियता का बराबर ध्यान रखना चाहिए क्योंकि कई बार उनका आधिक्य भी हानिकर सिद्ध होता है।

तेल रंगलेप—उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट हो गया होगा कि किसी धातवीय शोषक की उपस्थिति में अलसी तेल का विशिष्ट व्यवहार ही रंगलेप-प्रौद्योगिकी का आधार-भूत सिद्धान्त है। केवल रंगद्रव्य, अलसी तेल और टर्पेण्टाइन मिले हुए सरल रंग-लेप ही इस व्यापार में 'तेल रंगलेप' के नाम से जाने जाते रहे। बहुत वर्षों तक यही रंगलेप प्रमुख महत्त्व के माने जाते थे। लेपी के रूप में रंगलेप खरीदकर और अपने अपने अनुभव के अनुसार रंगलेप करनेवाले उसमें तेल, वार्निश अथवा टर्पेण्टाइन मिलाकर उसे अपने काम लायक बना लेते थे। इसमें संदेह नहीं कि इन पुराने रंग-लेपकों द्वारा निर्मित लेप आधुनिक कारीगरों की कारीगरी से यदि उत्तम नहीं तो किसी प्रकार उनसे कम संतोषजनक तो नहीं होते थे। कुछ लोग तो यह भी मानते हैं कि पुरानी रीतियाँ अधिक उत्तम थीं, लेकिन ऐसी तुलना करने में एक भ्रान्ति भी होती है जिसका निवारण आवश्यक है। लेप किये जानेवाले तेलों को उचित ढंग से तैयार करना तथा उन पर किये गये लेपों की संख्या भी अन्तिम फल की उत्तमता का कारण होती है और यह निश्चित है कि पुराने कारीगर इन दोनों बातों पर आज के कारीगरों की अपेक्षा अधिक ध्यान देते अथवा दे सकते थे।

एनामल—अलसी तेल को गरम करने की कालावधि एवं उसके ताप के पारस्परिक सम्बन्ध तथा तेल के तत्संवादी व्यवहार के विषय में दीर्घकालीन अनुसन्धान किये गये हैं और आलंकारिक रंगलेपों के विकास में इन अनुसन्धानों से प्राप्त ज्ञान बड़ा महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ। समुचित रूप से परिष्कृत उच्चकोटि के अलसी तेल क उच्च ताप पर तप्त करने से उसकी श्यानता अथवा गाढ़ता में जो परिवर्तन होता है वह तापन

काल पर निर्भर होता देखा गया है। गाढ़ता के सम्बन्ध में तापन के ताप और समय में प्रतिलोमानुपात होता है, परन्तु चूँकि निष्पन्न पदार्थ का पीलापन अधिकांशतः ताप से निर्धारित होता था इसलिए अलसी तेल को मध्यम ताप पर कई दिनों तक गरम करने की प्रथा थी, जिससे पीला गाढ़ा तेल तैयार हो जाय, इसे 'स्टैण्ड आयल' कहते थे। आधुनिक प्रविधि एवं संयन्त्रों की सहायता से उस कार्य को कुछ घण्टों में सम्पन्न किया जा सकता है जिसके लिए पुराने समय में कई कई दिन लग जाते थे।

यद्यपि तेल के तापनोपचार-संबन्धी अधिकांश महत्त्वपूर्ण आविष्कार इंग्लैंड में हुए, फिर भी वाणिज्यिक वस्तुओं के विकास का श्रेय अन्य देशों के निर्माताओं को है। तापनोपचारित तेलों के संबन्ध में डच लोगों के कार्यों की विशेष ख्याति मानी जाती है और किसी समय तो डच 'स्टैण्ड आयल' सर्वोत्तम कहे जाते थे।

स्टैण्ड आयल के सूखने पर प्राप्त लेप मूल अनुपचारित तेल के लेप से सर्वथा भिन्न होता है। स्टैण्ड आयलवाले लेपों में सूखने पर एक कठोर छवि (हार्ड ग्लॉस) आ जाती है तथा वे बहुत प्रत्यास्थ भी होते हैं। इन्हीं दोनों गुणों के समन्वय से एनामल रंगलेपों का प्रचलन हुआ। एनामल रंगलेपों से बुरुशचिह्न-रहित ऐसी सुन्दर, द्युतिमय एवं चिकनी पालिश प्राप्त होती है, जिसमें कठोरता तथा टिकाऊपन के उन्नत गुण भी होते हैं।

उपर्युक्त गुणों के होते हुए भी आजकल एनामल रंगलेप बहुत प्रचलित नहीं हैं क्योंकि वे इतने अधिक गाढ़े होते हैं कि उनका लगाना कठिन होने के अतिरिक्त महँगा पड़ता है। तदुपरान्त एनामल रंगलेपों के पश्चात् औद्योगिक क्षेत्र में जो प्रगति हुई वह उनसे कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुई। उदाहरणार्थ यशद आक्साइड के प्रयोग को ऐसा प्रोत्साहन मिला कि श्वेत रंगलेपों में उसका स्थान बड़ा उत्कृष्ट माना जाने लगा। अधोलेप (अण्डर कोटिंग) के सूत्र तैयार करने में अब केवल ह्वाइट लेड पर ही निर्भर रहने की आवश्यकता नहीं रह गयी थी। एनामल रंगलेपों में रंगद्रव्य-मात्रा अपेक्षाकृत कम होने के कारण विशेष प्रकार के अधोलेप तैयार करने पड़े, जिनकी अपारदर्शिता एवं कठोरता अधिक हो और जिनके प्रयोग करने में बुरुश के चिह्न न पड़ें।

इन विकासों के कारण इञ्जीनियरों को भी रंगलेप उद्योग की आवश्यकताओं की ओर विशेष ध्यान देना पड़ा, क्योंकि अब पहले की अपेक्षा अत्यधिक सूक्ष्म पिसाई की आवश्यकता होने लगी। इञ्जीनियरों को यह क्षेत्र केवल रोचक ही नहीं वरन् लाभ-प्रद भी जान पड़ा, इसलिए उनका अधिकाधिक सहयोग प्राप्त हुआ जिसके फलस्वरूप

आगे चलकर इस उद्योग में विशेष उन्नति हुई। इस उन्नति में इंजीनियर एवं रसायनज्ञ दोनों प्रायः बराबर के साझीदार हुए।

कठोर-छवि रंगलेप—अपने कार्य में उत्तम छवि (ग्लॉस) उत्पन्न करने के लिए पुराने छविकार (डिकोरेटर्स) प्रथमक (प्राइमर) और अधोलेप के ऊपर उपयुक्त आभावाले रंग का एक या अधिक लेप लगाते थे। उच्च कोटि की छवि प्राप्त करने के लिए बालुकापत्र रगड़ने के बाद चिकनी सतह पर स्वच्छ वार्निश का एल लेप लगाना आवश्यक होता है। कुछ पुराने कारीगर अब उस तरीके से काम करते हैं लेकिन वह महँगा पड़ता है। रसायनज्ञों ने ऐसे नये प्रकार के रंगलेप के विकास की बात सोची, जिसके लगाने में सुविधा हो और जिसमें तेल-रंगलेपों के अन्य अवगुण भी न हों तथा साथ ही एनामल रंगलेप की उत्तम छवि भी उसमें मौजूद हो। ऐसे विकास में प्रथम आवश्यकता स्टैण्ड-आयल के स्थान पर प्रयुक्त होनेवाले किसी उपयुक्त माध्यम को ढूँढ़ निकालने की थी। इसके लिए तेल में कोई उपयुक्त रेज़ीन मिलाकर माध्यम तैयार किया गया। इस समस्या का हल कोई छोटी बात न थी क्योंकि इसमें रंग-द्रव्य तथा माध्यम की संगतता से संबद्ध अनेक रासायनिक कठिनाइयों का निवारण करना था, इञ्जीनियरों को अधिक उत्पादन तथा सूक्ष्म पिसाई करनेवाली नयी मशीनों का भी विकास करना पड़ा। सारांश यह है कि रंगलेप-उद्योग में कठोरछवि रंगलेपों (हार्ड ग्लॉस पेण्ट्स) का निर्माण संभवतः सबसे बड़ा काम है।

संश्लिष्ट एनामल—संश्लिष्ट रेज़ीनों की उत्पादनसंबन्धी गहन गवेषणा के फलस्वरूप नवीनतम रंगलेपों का विकास हुआ है। इन रेज़ीनों के दो मुख्य वर्ग हैं—(१) फिनॉल-फार्मल्डीहाइड रेज़ीन तथा (२) थैलिक ऐनहाइड्राइड-ग्लिसरॉल रेज़ीन। प्रथम वर्ग को फिनॉलिक रेज़ीन भी कहते थे यद्यपि उसे वार्निश-रेज़ीन कहना अधिक ठीक है। यहाँ इनके संबन्ध में अधिक न कहकर इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि रंगलेप-माध्यमों के निबन्ध में इनका प्रचुर प्रयोग होता है। थैलिक ऐनहाइड्राइड-ग्लिसरॉल रेज़ीन को प्रायः "ऐल्किड रेज़ीन" भी कहते हैं। थैलिक ऐनहाइड्राइड और ग्लिसरीन की प्रतिक्रिया से ही ऐल्किड रेज़ीन तैयार होती है; थैलिक ऐनहाइड्राइड अप्रत्यक्ष रूप से कोलतार से प्राप्त एक सफेद केलासीय पदार्थ है। उपर्युक्त प्रतिक्रिया की अवस्थाओं में संशोधन करके तथा शोषक तेलों के वसीय अम्लों की उपस्थिति में विभिन्न प्रकार की ऐल्किड रेज़ीन तैयार की जा सकती हैं तथा एनामलों की योग-रचना (फार्मूलेशन) के लिए विविध प्रकार के ऐसे यौगिक उपलब्ध किये जा सकते हैं। संश्लिष्ट एनामलों की प्रमुख विशेषता उनके शोषण तथा कठोर होने की शीघ्रता है, जिसका लाभ यह है कि साधारण लेपों

की अपेक्षा इस पर बहुत कम धूल जमती है। उत्तम टिकाऊपन, विशेषकर शुष्क और गरम वातावरण में, तथा उत्तम प्रवाहिता (फ्लोएबिलिटी) जिससे बुरुश के निशान न पड़ें, इसके अतिरिक्त लाभ एवं गुण हैं। लेकिन संश्लिष्ट एनामलों के लिए विशिष्ट प्रकार के प्रथमकों (प्राइमर्स) तथा अधोलेपों की आवश्यकता होती है। ये ऐनामल बहुत जल्द सूखते हैं और इनमें एक अनूठी कठोरता उत्पन्न होती है। ऐल्किड वर्ग के संश्लिष्ट एनामलों के संबन्ध में जानने योग्य एक बात यह है कि छविकारों को इन्हें कठोरछवि रंगलेपों के साथ मिलाना नहीं चाहिए।

डिस्टेम्पर—भवनों के भीतरी भाग को सजाने के लिए आजकल डिस्टेम्पर का बहुत प्रचलन है। पुराने समय में सरेस के गरम विलयन में पैरिस ह्वाइट और रंग मिलाने की प्रथा थी; आधुनिक डिस्टेम्पर उसी प्रथा का विकसित रूप है। बहुत परिष्कृत न होने पर भी पुरानी प्रथा काफी दिनों तक चलती रही, किन्तु आगे चल-कर रसायनज्ञों ने डिस्टेम्पर की सम्पूर्ण कला की उन्नति की, जिसके फलस्वरूप आज के तेल-बद्ध (ऑयल बाउण्ड) प्रकार के सुन्दर डिस्टेम्पर हमें प्राप्त हैं, जिन्हें आसानी से धोया और साफ किया जा सकता है। रसायनज्ञों ने तेल अथवा वार्निश मिला-कर डिस्टेम्परों में जलरोधी गुण उत्पन्न करने पर विशेष ध्यान दिया और पायस के सैद्धान्तिक एवं प्रयोगात्मक ज्ञान का उपयोग करके आजकल के सुन्दर, सस्ते और आकर्षक डिस्टेम्परों की उत्पत्ति की।

चिकनी दीवारों के रंगलेप—संभवतः डिस्टेम्परों की सफलता के फलस्वरूप आजकल के नये-नये प्रकार के चिकनी दीवारों के रंगलेपों (फ्लैट वाल पेण्ट्स) का भी सफल विकास हुआ। डिस्टेम्पर चाहे कितने भी अच्छे क्यों न हों किन्तु उनसे 'उत्तम ठोस रूप' नहीं प्राप्त होता। यद्यपि भेद अत्यन्त सूक्ष्म है लेकिन अनुभव से यह स्पष्ट हो जाता है कि डिस्टेम्पर से 'फ्लैट वाल फिनिश' अधिक सुन्दर होता है।

उपर्युक्त प्रकार के रंगलेपों अर्थात् 'फ्लैट वाल' तथा 'एगशेल फिनिश' को इस्ते-माल करने में रंगसाज़ों को काफी कठिनाई होती है और इसमें संदेह नहीं कि इस प्रकार की रंगाई के लिए उत्तम एवं अनुभवी कारीगरों की ही आवश्यकता होती है। इन रंगलेपों में माध्यम की अपेक्षा रंगद्रव्य का अनुपात अधिक होता है, जिससे उसकी गाढ़ता नवनीत के समान हो जाय। ऐसी गाढ़ता सामान्य रंगलेपों से सर्वथा भिन्न होती है। योग (फार्मूला) में तनिक संशोधन करके अन्तिम परिरूप में अण्डे के छिलके के समान चमक उत्पन्न की जाती है, और इसी को 'एगशेल फिनिश' कहते हैं।

फ्लैट और एगशेल फिनिशों में विन्दुछादन (स्टिप्लिंग[1]) करके बड़ी मनोहारी छवि प्राप्त की जा सकती है। तदर्थ छविकार एक मोटी परत लगाकर उत्तम बालों-वाले चौकोर बुरुश से गीले रंगलेप का पुचारा फेरते हैं, इसका फल यह होता है कि तलविशेष पर एक समरूप, चिकना और ग्रन्थामय[2] प्रभाव बन जाता है।

वार्निश—वार्निशों के भी दो मुख्य वर्ग होते हैं—(१) तेल वार्निश और (२) स्पिरिट वार्निश।

(१) तेल वार्निश के आवश्यक संघटक ये हैं—रेज़ीन (प्राकृतिक अथवा संश्लिष्ट), तेल और कोई तरलक। इनमें से रेज़ीन को छोड़कर अन्य संघटकों पर विचार किया जा चुका है, अतः सम्प्रति केवल उसी का वर्णन किया जायगा। बहुत समय तक वार्निश बनाने की कला बड़ी गोपनीय मानी जाती थी। उसमें रसा-यनज्ञ तथा उसके वैज्ञानिक सिद्धान्तों का प्रवेश तो हाल की घटना है और तभी उसका रहस्योद्घाटन हुआ है।

प्राकृतिक रेज़ीनों को एक प्रकार से फौसिल कहा जा सकता है, क्योंकि वे भी उस भूमि को खोदकर निकाली जाती हैं जहाँ चिरकाल से उनके स्रोत-वृक्ष दबे पड़े रहते हैं। वे अत्यन्त कठोर होती हैं तथा उनके अन्य गुण उनके वानस्पतिक एवं भौगोलिक उद्गम के अनुसार भिन्न-भिन्न होते हैं। पूर्वी और पश्चिमी अफ्रीकी कोपल तथा न्यूज़ीलैण्ड कौड़ी[3] उन प्राकृतिक रेज़ीनों के उत्तम उदाहरण हैं जिनका वार्निश बनाने में प्रयोग होता है। कांगो कोपल भी सर्वाधिक सामान्य रेज़ीन है।

प्राकृतिक रेज़ीनें तेल में अविलेय होती हैं परन्तु यदि उन्हें इस तरह गलाया जाय कि उनका भार २०–२५% कम हो जाय तो वे तप्त तेल में विलेय हो जाती हैं। भार की कमी रेज़ीन के प्रकार पर निर्भर होती है। रेज़ीनों को इस प्रकार गलाने के लिए तथा यह जानने के लिए कि गलाने की उपयुक्त सीमा क्या है, बड़ी निपुणता की आवश्यकता होती है, अन्यथा सारा माल और समय नष्ट हो जाता है। रेज़ीन के गल जाने पर उसमें पूर्वतप्त तेल धीरे धीरे छोड़ा जाता है तथा उसका बरा-बर विचालन किया जाता है। सारा तेल छोड़ देने के बाद गली हुई रेज़ीन और तेल के मिश्रण को उपयुक्त सीमा तक पकाया जाता है; हाँ, इस उपयुक्त सीमा को ठीक ठीक जानने के लिए प्रचुर अनुभव एवं बुद्धि की आवश्यकता होती है। पकी वार्निश के ठंढी हो जाने पर शोषक मिलाकर तथा उसमें टरपेण्टाइन सदृश कोई उपयुक्त

[1] Stippling [2] Nodular [3] Kauri

तरलक डालकर उसे पतला किया जाता है। वार्निश को पतली करने के लिए ह्वाइट स्पिरिट अथवा टरपेण्टाइन और ह्वाइट स्पिरिट का मिश्रण भी प्रयुक्त होता है।

वार्निश बनाने में अनेक जटिल प्रतिक्रियाएँ घटित होती हैं, और इनमें से कई तो वार्निश बन जाने के बाद तक चलती रहती हैं। इसलिए ताज़ी बनी वार्निश को दाबक छन्ने (फिल्टर प्रेस) से छानना अथवा अपकेन्द्रित्र (सेण्ट्रीफ्यूज) की सहायता से स्वच्छ करना पड़ता है, जिससे परिपक्व होने के लिए तड़ागों में रखने से पहले उसकी निलम्बित अशुद्धियाँ साफ कर दी जाँय। यह परिपक्वन नियंत्रित ताप पर ही सम्पन्न होता है तथा वार्निश की श्रेणी के अनुसार इसमें तीन मास से लेकर तीन वर्ष तक समय लग जाता है।

चीनी काष्ठ तेल (चाइनीज़ उड ऑयल) के आर्थिक विकास तथा उत्पादन की प्राविधिक रीतियों की उन्नति से वार्निश बनाने की कला में एक क्रान्ति-सी हो गयी है। सम्प्रति काष्ठ तेल इस उद्योग की सर्वाधिक मूल्यवान् वस्तु है। गरम करने पर इसमें विभिन्न परिवर्तन होते हैं—इसकी श्यानता (विस्कॉसिटी) बड़ी तेज़ी से बढ़ती है और यह एक अविलेय, दृढ़ (इन्ट्रैक्टेब्ल) तथा पारदर्शक जेली का रूप धारण कर लेता है। परन्तु काष्ठ तेल की इस विचित्रता का बुद्धि एवं अनुभव से नियंत्रण किया जा सकता है और एक चतुर वार्निशनिर्माता उपर्युक्त तेल के तेज़ी से गाढ़े होनेवाले गुण का भी लाभ उठाकर उसे अपने कार्यानुकूल नियंत्रित कर लेता है। चतुराई से इसमें अलसी तेल अथवा स्टैण्ड ऑयल मिलाने से उसमें जल एवं ऋतुसहता, उत्तम चमक, प्रत्यास्थता, कठोरता तथा अन्य वांछनीय भौतिक गुण उत्पन्न होते हैं। इसी कारण से वार्निश के योगों में उपयुक्त अनुपात में काष्ठ तेल का समावेश होता है।

हाल के कुछ वर्षों में फिनॉल-फार्मालिडहाइड प्रकार की संश्लिष्ट रेज़ीनों के प्रचलन से वार्निश बनाने की रीतियाँ काफी सरल हो गयी हैं। फिनॉलिक रेज़ीन स्वच्छ, कठोर एवं सुचूर्ण्य होती हैं तथा इनका रूप साधारण रोज़ीन की तरह का नहीं होता। इनके प्रयोग की सफलता का एक और कारण भी है, संश्लिष्ट फिनॉलिक रेज़ीनों और चीनी काष्ठ तेल के बीच तापन प्रभाव से रासायनिक संयोजन होता है और उसके फलस्वरूप जो परत बनती है उसमें जल, ऋतु एवं तनु अम्लों और क्षारों के प्रति एक विशिष्ट सहता होती है।

प्राकृतिक रेज़ीन तथा संश्लिष्ट रेज़ीन वार्निशों का, जिनकी अभी चर्चा की गयी है, कठोरछवि माध्यम (हार्ड ग्लॉस वेहीक्ल) के लिए प्रचुर मात्रा में निर्माण होता है। आजकल कठोरछवि माध्यम साधारणतया ऐल्किड -प्रकार की संश्लिष्ट रेज़ीनों

से ही बनाये जाते हैं, इनमें कभी-कभी प्राकृतिक एवं अन्य संश्लिष्ट रेज़ीन मिलायी जाती हैं अथवा उनके बगैर भी उनका निर्माण होता है। ऐसी वार्निशें अन्य प्रकार की वार्निशों की अपेक्षा बड़ी टिकाऊ होती हैं तथा उनका अन्तिम परिरूप[1] भी बड़ा आलंकारिक होता है।

(२) स्पिरिट वार्निश—वाष्पशील विलायकों में बनी रेज़ीनों के साधारण विलयन ही स्पिरिट वार्निश कहलाते हैं। 'फ्रेन्च पॉलिश' और 'नॉटिंग' इनके उदाहरण हैं। ये औद्योगिक ऐलकोहाल में चपड़ा घोलकर बनाये जाते हैं। औद्योगिक ऐलकोहॉल में मैनिला कोपल का विलयन ही ह्वाइट हार्ड स्पिरिट वार्निश' कहलाता है तथा टरपेण्टाइन में पीत डैमर रेज़ीन विलयन का ही नाम 'क्रिस्टल वार्निश' है। इन वार्निशों के निर्माण में प्रयुक्त होनेवाली रेज़ीन बड़ी भंगुर होती हैं अतः उनकी योग-रचना (फार्मूलेशन) में सुघट्यकरण (प्लस्टिसाइज़िंग) की कला एक महत्त्वपूर्ण अंग है।

स्पिरिट वार्निशों के लिए भी कुछ संश्लिष्ट रेज़ीन अच्छे पीठ का काम देती हैं। उनके भौतिक गुणों के अनुसार उन्हें विशिष्ट प्रयोजनों के लिए इस्तेमाल किया जाता है। ठीक ढंग से सुघट्यकृत जल-श्वेत विनाइल रेज़ीन को ज़ाइलॉल अथवा विलायक मिश्रणों में विलीन करके स्पिरिट वार्निश तैयार की जाती है। विनाइल रेज़ीनों में आसंजन (ऐडहिसन) का विशेष गुण होता है, इसलिए इनसे बनी वार्निशें धातुओं के लिए रक्षक आवरण (प्रोटेक्टिव कोटिंग) के रूप में प्रयुक्त होती हैं। संश्लिष्ट रेज़ीनों से बनी स्पिरिट वार्निश आजकल सड़क, फर्श एवं खिलौनों के रंगलेप, अम्ल एवं क्षारसह रंगलेप तथा अनेक औद्योगिक प्रयोजनों के लिए रंगलेप के रूप में इस्तेमाल होने लगी हैं।

प्रस्तुत लेख में रसायनज्ञ तथा रंगलेप उद्योग में उसके योगदान का विशद वर्णन संभव नहीं। आलंकारिक रंगलेप तथा वार्निश तो इस महान् उद्योग की एक शाखा मात्र है, इसलिए औद्योगिक महत्त्व की अन्य शाखाओं का भी संक्षिप्त विवरण आवश्यक है।

सेलुलोज फ़िनिश—स्वच्छ अथवा रंगद्रव्य-युक्त प्रलाक्ष रस[2] (लैकर्स) ही सेलुलोज़ फिनिश कहलाते हैं, और ये सावधानी से संतुलित विलायक मिश्रणों में नाइट्रो-सेलुलोज़ अथवा सेलुलोज़ नाइट्रेट विलीन करके तैयार किये जाते हैं। इनके

[1] Finish [2] Lacquers

महत्त्व का अनुमान केवल इस बात से लगाया जा सकता है कि हवाई जहाज़, उपस्कर (फर्नीचर), बेतार, विद्युत् एवं मोटरगाड़ी उद्योगों में इनकी अत्यधिक खपत होती है। पुंजोत्पादन रीतियों के लिए ये विशेष रूप से उपयुक्त होते हैं।

संश्लिष्ट औद्योगिक फिनिश—प्रलाक्ष रसों और एनामलों का विशेष ढंग के बने चूल्हों पर परितापन (स्टोविंग) करने से विशिष्ट कठोर, दृढ़ एवं टिकाऊ परतें बनती हैं। इसलिए जहाँ किसी पुंजोत्पादन केन्द्र में परितापन संयन्त्र की सुविधा होती है तो वहाँ के 'संश्लिष्ट औद्योगिक फिनिशों' ने कुछ हद तक 'सेलुलोज़ फिनिशों' से आगे बढ़ने का प्रयत्न किया है।

कुछ समय पूर्व इन प्रलाक्ष रसों और एनामलों का परितापन ऐसे चूल्हों पर किया जाता था जिनमें ऊष्मा-संक्रमण चालन (कॉण्डक्शन) तथा संवहन (कॉन्वेक्शन) रीतियों से होता था। इसका अर्थ यह है कि तापन प्रत्यक्षतः तापभेद (कॉण्डक्शन) तथा चूल्हे में तप्त वायु संचालन (कॉन्वेक्शन) पर निर्भर होता था। ऐसे चूल्हों की उत्पादन-गति बहुत सी आशु-वायु-शोषण परतों से कहीं अधिक त्वरित होती थी, किन्तु विकिरण (रैडियेशन) द्वारा पुते तलों तक ऊष्मा पहुँचाने की रीति अपनाने से तो परितापन प्रलाक्ष रसों एवं एनामलों द्वारा वस्तुओं की परिरूपण-गति में विशेष वृद्धि हुई है।

विकिरण द्वारा ऊष्मा-संक्रमण के वैज्ञानिक सिद्धान्त संवहन (कॉन्वेक्शन) चूल्हों के सिद्धान्त से बहुत भिन्न हैं। संवहन द्वारा तापन में वायु का बड़ा महत्त्वपूर्ण भौतिक भाग होता है मगर विकिरण तापन में ऊष्मा-संक्रमण के नियम प्रायः पूर्णतया ऊष्मास्रोत अर्थात् विकिरक (रैडियेटर) के ताप तथा विकिरित ऊर्जा (रैडियेटेड एनर्जी) प्राप्त करनेवाली वस्तु के प्रतिचार[1] से आबद्ध होते हैं। वस्तु का प्रतिचार भी इस विधा में एक महत्त्वपूर्ण कारक है, इसका अर्थ यह है कि रंगलेप का रंगविशेष भी एक कारक हो सकता है, क्योंकि लेप की हुई वस्तु द्वारा ऊष्मा अवशोषण तथा विकिरण पर रंग का भी काफी प्रभाव पड़ता है। विकिरकों में ऊर्जासंचार गैस अथवा विद्युत् से किया जा सकता है।

विकिरण ऊष्मा शोषण (ड्राइंग) में रंगलेप के गुणों के प्रभाव के स्पष्टीकरण के लिए एनामलों के तापन के अन्तर्गत बतायी गयी स्टैण्ड ऑयल बनाने की रीति का हमें फिर उल्लेख करना होगा। उपचारविशेष में तेल के गाढ़े होने का कारण यह

[1] Response

है कि उसके अणु परस्पर पुनर्गठित होकर बड़े-बड़े एककों का रूप धारण कर लेते हैं; इसको पुरुभाजन ('पॉलीमराइज़ेशन') कहते हैं। अतः विकिरण-ऊष्मा-शोषण के लिए सर्वाधिक उपयुक्त रंगलेप-माध्यम वे हैं, जिनमें पॉलीमराइज़ेशन विशेष रूप से होता है, क्योंकि यह क्रिया उष्मा से काफी अधिक त्वरित होती है। ऐल्किड प्रकार की संश्लिष्ट रेज़ीनों में पॉलीमराइज़ेशन (पुरुभाजन) की मात्रा विशेषतया अधिक होती है अतएव वे विकिरण-ऊष्मा-शोषण के उपयुक्त रंगलेपों के निर्माण के लिए अधिक अच्छी मानी जाती हैं। इस रीति की त्वरित गति का कुछ आभास इस बात से मिल सकता है कि एक युद्ध टैंक पर रंगलेप करके तथा उसे विकिरण ऊष्मानाली (टनेल) में से पार कराकर केवल मिनटों में (प्रायः ४ मिनट में) पूर्णतया शुष्क अवस्था में तैयार किया जा सका।

विकिरण-ऊष्मा द्वारा रंगलेपों के सुखाने की रीति अभी नयी है, और बहुत सी अन्य नयी चीज़ों की भाँति इसमें भी एक ओर अतिवाद का दोष है तो दूसरी ओर कट्टरपन्थ का विरोध। अनुभवी लोगों का कहना है कि संवहन चूल्हों (कॉन्वेक्शन ओवेन्स) को एकाएक बिल्कुल बेकार एवं गतकाल नहीं मान लेना चाहिए। उनका मत है कि दोनों रीतियों का सावधानी से तुलनात्मक अध्ययन करके, विशेषकर पुंजोत्पादन संबन्धी समस्याओं की पृष्ठभूमि में उनकी विवेचना करके तब अधिक दाम वाले संयन्त्रों के अधिष्ठापन का निश्चय करना चाहिए।

युद्ध की बढ़ती माँगों की पूर्ति के लिए रंगलेप उद्योग का संघटन युद्धकाल में ही बड़ी तीव्र गति से किया गया, इसके फलस्वरूप रसायनज्ञों के सामने बड़े-बड़े दुस्तर काम उपस्थित हुए। इनके कुछ उदाहरण निम्नलिखित हैं—जलसेना-विभाग एवं समुद्री व्यापारविभाग की ओर से जहाज़ों के लिए ऐसे रंगलेपों की माँग हुई, जिनके प्रयोग से जहाज़ों के पेटे पर समुद्री पौधे इत्यादि न उग सकें; युद्ध कार्यालयों में गैस-रोधी, गैस-उपलम्भन (गैस डिटेक्टिंग) एवं अग्निरोधी रंगलेपों तथा स्फोट वार्निशों (शेल वार्निश) जैसे विशिष्ट प्रकार के रंगलेपों की विशाल मात्रा की आवश्यकता थी। राजकीय विमानसेना (रॉयल एयर फोर्स) में अनेक प्रकार के विशेष रंगलेपों की आवश्यकता थी, जैसे सभी प्रकार के हवाई जहाज़ों के लिए रंगलेप एवं प्रलेप (डोप), पहचान रंग, औज़ारों के लिए रंगलेप, दीप्त (लुमिनस) रंगलेप इत्यादि। गृह एवं सुरक्षा मंत्रालय में ऐसे छद्मावरण रंगलेप आवश्यक थे, जिन पर प्रकाश का परावर्तन (रिफ्लेक्शन) न हो तथा जो ऋतुसह एवं सभी प्रकार के तलों के लिए उपयुक्त हों; इस मंत्रालय में अग्निरोधी एवं प्रतिसंघनन (ऐण्टी कॉण्डेन्सेशन) रंगलेपों की भी आवश्यकता थी।

उपर्युक्त आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए रसायनज्ञों को दूसरे-दूसरे कच्चे मालों की खोज करने में भी बड़ा परिश्रम करना पड़ा, और उनकी सफलता एवं योगदान से इस उद्योगविशेष का महान् कल्याण हुआ।

रंगलेप उद्योग से रसायन और रसायनविज्ञान का संबन्ध—रंगलेप उद्योग पर रसायनविज्ञान तथा रसायनज्ञों के प्रभाव का, बिना प्राविधिक भाषा की सहायता लिये, मूल्यांकन करना बड़ा कठिन कार्य है, और रंगलेप प्रौद्योगिकी की वैज्ञानिक पृष्ठभूमि का वर्णन करने में पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग प्रायः अनिवार्य-सा होगा।

कच्चे मालों के उपर्युक्त सर्वेक्षण से रंगलेप उद्योग के इस पहलू पर रसायनशास्त्र एवं रसायनशास्त्रियों के प्रभाव का अच्छा आभास मिलता है। उद्योगपतियों ने इस प्रभाव को समझा तथा रसायनज्ञों के सहयोग के उत्तम फल की संभावनाओं का ठीक अनुमान किया। इसी सहयोग के फलस्वरूप कच्चे मालों की श्रेणी एवं उत्तमता पर निरन्तर चौकसी रखकर संसार भर के संसाधनों (रिसोर्सेज़) का पूरा लाभ उठाया जा सका।

शोषण-तेल-रसायन का अध्ययन बहुत दिनों तक प्रायः उपेक्षित रहा, इसका विशेष कारण यह था कि लब्धप्रतिष्ठ रसायनज्ञ सुरभि-रसायन की ओर आकृष्ट होने लगे थे क्योंकि उस क्षेत्र में चामत्कारिक प्रगति हो रही थी। शोषण-तेलों के ऊष्मोपचार में उनके निबन्ध (कॉम्पोज़ीशन), संरूप (कॉन्फिगुरेशन), रचना (स्ट्रक्चर) तथा रचनापरिवर्तन के जटिल प्रश्नों से संबद्ध सैद्धान्तिक कल्पनाओं के स्पष्टीकरण के लिए विश्वस्त विश्लेषण रीतियाँ अपनाना अनिवार्य था।

पिछले ४० वर्षों में शोषण-तेल रसायन में जो महत्त्वपूर्ण काम हुए हैं उनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है। आयोडीन अवशोषण पर आधारित असंतृप्त ग्रन्थनों की निश्चयन रीतियाँ निर्धारित की गयीं। कालान्तर में यह रीतियाँ ब्रोमीन अवशोषण पर और फिर एक-ग्रन्थनों से थायोसियनोजेन के मात्रात्मक संयोजन पर आधारित हुईं। इन रीतियों से शोषण तेलों में विद्यमान असंतृप्ति की सीमा जानने में बड़ी सहायता मिली। हाइड्रॉक्सिल वर्गों के आगणन की रीतियों तथा ग्लिसरीन, असाबुनीकरणीय पदार्थों और अम्ल-मानों (एसिड वैल्यू) के मात्रात्मक निश्चयन की रीतियों में उन्नति तथा भौतिक नियतांकों (फिज़िकल कॉन्स्टैण्ट्स) की निश्चयन रीतियों के विकास से रंगलेप तेलों की संरचना (कॉन्स्टिट्यूशन) के स्पष्टीकरण में बड़ी सहायता मिली है। या यों कहिए कि ये सभी रीतियाँ इस कठिन कार्य के साधन में अनिवार्यतया आवश्यक थीं। ग्लिसराइड अणुओं का संरूप आज़ के रंगलेप-रसायनज्ञों के

विवाद की मूल समस्या है। कुछ का मत है कि उसका संरूप E की भाँति है तो कुछ उसे Y की भाँति मानते हैं। फिर भी यह सामान्यतः स्वीकृत है कि गाढ़े स्टैण्ड ऑयल बनाने के लिए रंगलेप तेलों के ऊष्मोपचार में प्राथमिक संयोजकताबन्ध (प्राइमरी बैलेन्सी बॉण्ड) द्वारा अनुप्रस्थतः ग्रन्थित (क्रॉस लिंक्ड) पॉलीमरों की रेखीय (लीनियर) बनावट को प्रेरणा प्राप्त होती है। इसी से उसकी श्यानता एवं अणु-भार में बड़ी वृद्धि होती है।

तेल और रंगद्रव्य की मिश्रणविधा में भी कई ऐसी बातें उठती हैं, जिनका संबन्ध भौति-रसायनज्ञों से है। सहसा कोई एकस्तर अणुओं के अनुस्थापन (ओरियेण्टेशन) एवं तल-रसायन के आधुनिक सिद्धान्तों का उपर्युक्त विधा से कोई घनिष्ठ संबन्ध मानने को तैयार न होगा। किन्तु वस्तुस्थिति यह है कि तेलों द्वारा रंगद्रव्यों का आर्द्रण न केवल एक विशुद्ध भौतिक घटना है, जिस पर तल-तनाव एवं संस्पर्श कोण (कॉण्टैक्ट ऐंगिल) का विशिष्ट प्रभाव है, वरन् इसमें रंगद्रव्य के कणों द्वारा ध्रुवीय अणुओं के एकस्तरों का विशेष प्रकार से अवशोषण भी होता है। इसके फलस्वरूप रंगद्रव्य के कणों के चारो ओर एक रक्षक आवरण बन जाता है जिससे एक कण दूसरे से अलग हो जाता है। यदि रंगद्रव्य सक्रिय होते हैं तो उनसे साबुन बन जाता है और उसके कणों के तल पर इसी साबुन के अणुओं का रक्षक आवरण बनता है। यदि किसी कारण से ठोस-द्रव अन्तःसीमा (इण्टरफेस) पर की इस क्रिया में बाधा पड़ती है तब ऊर्णिकायन (फ्लॉकुलेशन) होने लगता है और गुरुत्वाकर्षण के कारण ऊर्णिकायित (फ्लॉकुलेट्स) नीचे बैठने लगते हैं यानी रंगद्रव्य और माध्यम अंशतः विलग होना प्रारम्भ कर देते हैं। लेकिन अगर रंगलेप को हिला दिया जाय तो रंगद्रव्य पुनः विक्षेपित (डिस्पर्स्ड) हो जाता है तथा उसकी अपारदर्शिता एवं प्रसरण शक्ति ज्यों की त्यों हो जाती है।

कणों के आकार और रूप तथा तलसक्रियता को ध्यान में रखकर ही एनामलों और कठोर छविरंगलेपों के विकास में रसायनज्ञों द्वारा किये गये योगदान पर विचार किया जाना चाहिए। इस कार्यक्षेत्र में भौतिकीविदों का सहयोग भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रहा है क्योंकि विशुद्धतया भौतिक मापनों की रीतियाँ तो उन्हीं की देन हैं। इन अध्ययनों का एक उद्देश्य कणों की लघुता की सीमा निर्धारित करना है, क्योंकि अत्यधिक लघु आकार के कणों से बड़ी हानियाँ होती हैं।

फ्लैट वाल रंगलेप उनमें रंगद्रव्य भर देने मात्र से अथवा किन्हीं अक्रिय विस्तारकों के उच्च तेल-अवशोषण का आश्रय लेकर तैयार नहीं किये जा सकते। इस संबन्ध में रंगलेप-प्रौद्योगिकीविद ने थिक्सोट्रोपी नामक एक नवीन विषय

का उद्घाटन किया है। यद्यपि अन्य कई संहितों (सिस्टम) में थिक्सोट्रोपी घटित होती है किन्तु रंगलेपसंबन्धी उसका अध्ययन जितना रुचिकर और कठिन है उतना कदाचित् और किसी में नहीं। इसलिए यह कोई आश्चर्य की बात नहीं कि इस विषय में औरों की अपेक्षा रंगलेपरसायनज्ञों ने अनेक महत्त्वपूर्ण योगदान किये हैं।

जल में बेण्टोनाइट का आलम्बन (सस्पेन्शन) इसका सबसे साधारण उदाहरण है। यदि यह आलम्बन कुछ समय के लिए रख दिया जाय तो बड़ा दृढ़ बन जाता है। लेकिन हिलाने पर अपनी चलिष्णु अवस्था तुरन्त प्राप्त कर लेता है। कुछ एक रंग-लेप-संहितों में भी ऐसा प्रभाव देखा जाता है। कुछ विक्षेपणों (डिस्पर्सन) के पुन-द्रवण (लिक्वीफाई) के लिए आवश्यक ऊर्जा भी मापी गयी है और इसे 'लब्धि मान' (ईल्ड वैलू) अथवा 'द्रवण प्रतिबल' (लिक्वीफाइंग स्ट्रेस) कहा जाता है। नवनीत की गाढ़तावाले फ्लैट वाल रंगलेपों को तलों पर लगाने के लिए आवश्यक ऊर्जा उनके 'द्रवण प्रतिबल' से अधिक होती है, फलतः बुरुश से ये रंगलेप बड़ी कुशलतापूर्वक लगाये जाते हैं। फ्लैट एनामलों के प्रयोग में बहुधा अपनायी जाने-वाली बिन्दुछादन (स्टिप्लिंग) विधा में भी थिक्सोट्रोपिक प्रभाव से बड़ी सहायता मिलती है।

संश्लिष्ट रेज़ीन रसायन का अब वार्निश रसायन से बड़ा घनिष्ठ संबन्ध हो गया है। इतने अल्पकाल में जो यह आश्चर्यजनक प्रगति हुई है, वह संश्लिष्ट रेज़ीनों के व्यापक औद्योगिक प्रयोग का ही फल है। अन्य उद्योगों में लगे रसायनज्ञों ने भी इन रेज़ीनों के उपयोग एवं विकास में रंगलेप और वार्निश रसायनज्ञ द्वारा किये गये योगदानों का बड़े ध्यान एवं रुचि से अनुशीलन किया है।

मई १९३९ में 'दि ऑयल ऐण्ड कलर केमिस्ट्स असोसियेशन' ने हैरोगेट में वार्निश निर्माणसंबन्धी एक सम्मेलन का आयोजन किया था। उसके अध्यक्ष ए० जे० गिब्सन, एफ० सी० एच०, एफ० एल० एस० तथा कौंसिल ने उक्त सम्मेलन का प्रतिवेदन 'वार्निश मेकिंग' नामक एक ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित किया था। यह अपने विषय का सर्वाधिक आधिकारिक एवं व्यापक ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ का उल्लेख अन्य उद्योगों में काम करनेवाले उन रसायनज्ञों एवं भौतिकीविदों के लाभार्थ किया गया है, प्रस्तुत लेख पढ़कर वार्निश-निर्माण के बारे में और अधिक ज्ञान प्राप्त करने की जिनकी जिज्ञासा जाग उठी हो।

लेख के मूललेखक ने डब्लू० ई० वोर्नम, एम० सी०, बी० एस सी०-एफ० आर० आई० सी० तथा अपने अन्य सहयोगियों के प्रति आभार प्रदर्शित किया है।

ग्रंथसूची

BEARN, J. G. : *The Chemistry of Paints, Pigments and Varnishes.* Ernest Benn, Ltd.

CHATFIELD, H. W. : *Varnish Constituents.* Leonard Hill, Ltd.

DURRANS, T. H. : *Solvents.* 5th Ed. Chapman & Hall, Ltd.

FOX, J. J., AND BOWLES, T. H. : *Analysis of Pigments, Paints and Varnishes.* Ernest Benn, Ltd.

GARDNER, H. A. : *Physical Examination of Paints, Varnishes, Lacquers and Colour*, 9th Ed. Institute of Paint and Varnish Research, Washington, D. C.

HEATON, NOEL : *Outlines of Paint Technology.* Charles Griffin & Co., Ltd.

KRUMBHAAR, W. : *Chemistry of Synthetic Surface Coatings.* Reinhold Publishing Co.

MARSH, J. J., AND WOOD, F. C. : *An Introduction to the Chemistry of Cellulose.* Chapman & Hall, Ltd.

MATTIELLO, J. J. : *Protective and Decorative Coatings*, Vols I-III. John Wiley & Sons, Inc.

MORRELL, R. S. : *Synthetic Resins and Allied Plastics.* Oxford University Press.

NELSON, J. H., AND SILMAN, H. : *The Application of Radiant Heat to Metal Finishing.* Chapman & Hall, Ltd.

OIL AND COLOUR CHEMISTS' ASSOCIATION : *Varnish Making.*

REMINGTON, J. S. : *Zinc Oxide : A Monograph on Zinc Oxide. Leaded Zinc Oxides and Zinc Dust Paints. Their Properties and Uses in Industry.* Leonard Hill, Ltd.

SMITH, J. C. : *Manufacture of Paint.* Scott, Greenwood & Son, Ltd.

ZIMMER, F. : *Nitro Cellulose Ester Lacquers.* Chapman & Hall, Ltd.

अध्याय १२

इण्डिया रबर, चमड़ा, आसंजक और सरेस

इण्डिया रबर

डगलस एफ० ट्विस, डी० एस-सी० (बर्मिघम),
एफ० आर० आई० सी०

भूमिका—रबर का सर्वप्रथम उल्लेख १५२१ में किया गया था, परन्तु १६वीं शताब्दी के अन्त तक प्रत्यास्थता एवं जल-रोध जैसे इसके विलक्षण गुणों का ज्ञान न था। हेरिसैण्ट और मैकर ने सबसे पहले १७६३ में विविध कार्बनिक विलायकों में रबर के विलयन बनाने का अनुसन्धान किया था। इस कार्य के फलस्वरूप रबर-स्तरित (प्रूफ्ड) रेशम के वैमानिकीय बैलून बनाये गये, जिनमें बैठकर जे० ए० सी० चार्ल्स और उनके मित्र पहले पहल १७८५ में उड़े थे। यह वही चार्ल्स महोदय थे जिनका ऊष्मा से गैसों के प्रसरण का नियम प्रसिद्ध है। सी० ग्रोसार्ट ने (Ann. Chim १७९१, II, १४३) विलायकों में डुबोकर मृदुल की गयी पट्टियों को काच-रम्भों अथवा नालों के चारों ओर लपेटकर रबर-नाल बनाने की संभावना का उल्लेख सन् १७९१ में किया था। उसी वर्ष (Ann. Chim १७९१, II, २२५) में ए० एफ० फौरक्रॉय ने आक्षीर (लेटेक्स, जिस रूप में रबर वृक्षों से प्राप्त होता है) पर क्षारों की परिरक्षण-क्रिया का उद्घाटन किया। संयोगवश इस ज्ञान का बीसवीं शताब्दी तक कोई व्यावहारिक उपयोग न किया जा सका। १७७० में ऑक्सीजन की प्रसिद्धिवाले जोज़ेफ प्रिस्ले ने 'थियोरी ऐण्ड प्रैक्टिस ऑफ पर्सपेक्टिव' नामक ग्रन्थ में कागज़ पर से काली पेन्सिल की लिखावट मिटाने के लिए एक पदार्थ का उल्लेख किया था। चूँकि यह क्रिया घिसकर पूरी की जाती थी इसलिए इस पदार्थ को अंग्रेज़ी में 'रबर' (अर्थात् घिसनेवाला) कहा गया।

यद्यपि रबर उत्पन्न करनेवाले वृक्षों की अनेक जातियाँ हैं परन्तु आजकल प्रयुक्त होनेवाला प्राकृतिक रबर 'हेविया ब्रैसिलियेन्सिस' नामक वृक्ष से ही प्राप्त होता है;

और निम्नलिखित वर्णन में जहाँ विशेष रूप से लिखा न हो वहाँ रबर और आक्षीर[1] का तात्पर्य इसी वृक्ष से प्राप्त पदार्थ से है।

रबर की प्रकृति--पूर्व (दिशा) से प्राप्त अवल्कनीकृत सूखे रबर में प्रायः ९५% हाइड्रोकार्बन होता है, रासायनिक विश्लेषण करके जिसका आनुभविक[2] सूत्र---$C_5 H_8$ निश्चित किया गया है।

रबर के भौतिक गुणों से पता लगता है कि इसका अणुभार बहुत अधिक होगा। फैलायी अवस्था में लिये गये रबर के एक्स-रे चित्रों से पता चलता है कि इसके हाइड्रोकार्बन के अणु तन्त्वाकार हैं जिनमें $C_5 H_8$ नाभिकों (न्युक्लिअस) के एक दूसरे से जुड़ने से एक लम्बी शृंखला बन जाती है। इनमें से प्रत्येक शृंखला की रचना निम्नांकित है — $CH_2 \cdot C : CH — CH_2 —$

$$\begin{array}{l} — CH_2 \cdot \underset{\displaystyle CH_3}{C} : CH — CH_2 — \end{array}$$

सम्पूर्ण अणु का सूत्र $(C_5 H_8)_n$ होता है जिसमें n की संख्या सहस्रों के परिमाण की होती है। रबर-अणु की उपर्युक्त रचना का सुझाव एस० एस० पिकल्स ने १९१० में किसी प्रयोगात्मक प्रमाण के पूर्व ही दिया था, आगे चलकर उनकी कल्पना ठीक सिद्ध हुई। उपर्युक्त सूत्र में n की संख्या स्थिर नहीं होती वरन् भिन्न भिन्न नमूनों एवं भिन्न अवस्थाओं में वह भिन्न होती है; कभी-कभी तो एक ही नमूने में रबर के अणु एक परिमाण के नहीं होते बल्कि उनमें विभिन्न परिमाणों के अणु विद्यमान रहते हैं।

जैसा कि ऊपर अंकित है, रबर के अणु असंतृप्त होते हैं, किन्तु फिर भी वे विशिष्टतया स्थायी होते हैं। वल्कनीकृत रबर के नमूने १००-१०० वर्ष तक अपरिवर्तित रूप में ज्यों के त्यों रखे रहे हैं। अवल्कनीकृत अथवा वल्कनीकृत दोनों अवस्थाओं के रबर में अम्लों तथा क्षारों के प्रति विशेष सहता होती है, इसी लिए आजकल हाइड्रोक्लोरिक अम्ल के संग्रहण एवं परिवहन के लिए हज़ारों गैलनवाले रबर-स्तरित तड़ागों और पीपों का प्रयोग किया जाता है। एबोनाइट रबर का एक अत्यधिक वल्कनीकृत रूप है और यह मृदु वल्कनीकृत रबर की अपेक्षा रासायनिकतया कहीं अधिक रोधी होता है।

अपरिष्कृत रबर---१९४१ तक सारे संसार की खपत का लगभग ९०% रबर मलय, डच ईस्ट इण्डीज़, हिन्द चीन तथा सीलोन के क्षेत्रों से प्राप्त होता था।

[1] Latex [2] Empirical

इन स्थानों में रबरवृक्षों (हेविया ब्रैसिलियेन्सिस) का रोपण अच्छी तरह से जम गया था। ये वृक्ष ब्राज़ील में प्राकृतिक रूप से उपजनेवाले उन वृक्षों के ही वंशज हैं, जिनसे पुरानी परम्परा के अनुसार पारा रबर प्राप्त होता था। यद्यपि ब्राज़ील में पारा रबर अब भी उत्पन्न होता है परन्तु उपर्युक्त क्षेत्रों से प्राप्त रबर की तुलना में उसकी उत्पत्ति बहुत कम होती है। इन दोनों प्रकार के रबरों में केवल अति सूक्ष्म भेद होता है सो भी बड़ा विवादग्रस्त है।

वृक्षों से प्राप्त आक्षीर (लैटेक्स) में ४०% रबर होता है। यह दुग्धीय द्रव पेड़ की छाल के नीचे रहता है और छाल को काटकर आक्षीर-वाहिनियों से चुआया जाता है। ब्राज़ील में आक्षीर को धुआँ दिखाकर उसका स्कन्दन (कोआगुलेशन) किया जाता है, जब कि अन्य स्थानों में उसमें निश्चित अनुपात में फार्मिक अथवा एसेटिक अम्ल अथवा कभी-कभी तनु सल्फ्यूरिक अम्ल डालकर उपर्युक्त क्रिया प्रतिपादित की जाती है। प्राप्त स्कन्द (कोआगुलम या क्लॉट) को बेलनों के बीच बेलकर उनका स्तार (शीट) बनाया जाता है और इन्हीं स्तारों को धूम-वेश्म (स्मोक चेम्बर) में सुखाकर सुविख्यात धूमित-स्तार (स्मोक्ड शीट) रबर बनता है। पीला क्रेप रबर बनाने के लिए स्कन्द को बेलते समय बहते पानी में धोया जाता है तथा धूमनक्रिया नहीं की जाती।

विविध प्रकार की वस्तुएँ बनाने के लिए उपर्युक्त रबर को सबसे पहले पर्याप्त रूप से सुघट्य बनाना पड़ता है, जिससे उसमें विविध संयोजन-संघटक मिलाये जा सकें तथा सरलता से उसका संरूपण (शेपिंग) अथवा ढलाई की जा सके। रबर को अच्छी तरह कूट या गूँधकर ही उसे सुघट्य (प्लास्टिक) बनाया जाता है। यह क्रिया प्रायः शक्तिशाली बेलनों द्वारा की जाती है। इस उपचार के समय रबर पर वायुमण्डलिक ऑक्सीजन का प्रभाव होता है, जिसके फलस्वरूप इस सुघट्य रबर का भौतिक बल कम हो जाता है, किन्तु तत्पश्चात् वल्कनीकरण से उसका यांत्रिक बल पहले से भी अधिक हो जाता है तथा अन्तिम पदार्थ में प्रत्यास्थता (इलैस्टिसिटी) एवं प्रत्यास्कन्दन (रेसीलियेन्स) के विशेष गुण आ जाते हैं। उल्लेखनीय बात यह है कि इसमें रोधी बल तथा अपघर्षण बचाव की शक्ति इस्पात से भी अधिक हो जाती है। सुघट्यन विधा को त्वरित करने के लिए लघु अनुपात में कुछ रासायनिक पदार्थों विशेषकर न्यून वाष्पशील एरिल मर्कैप्टनों का प्रयोग किया जाता है।

रबर के वल्कनीकरण के लिए प्रायः एकमात्र गंधक का ही प्रयोग होता है और इस क्रिया में रबर के हाइड्रोकार्बन से गंधक का रासायनिक संयोजन होता है। यह क्रिया १२५°–१५०° सेण्टीग्रेड ताप पर सम्पन्न होती हैं। वल्कनीकृत रबर में

१–४% संयुक्त गंधक होता है। यह पदार्थ कोई निश्चित रासायनिक यौगिक नहीं होता, वरन् ऐसा समझा जाता है कि इसमें ऊपर बताये गये प्रकार के लम्बे-लम्बे अणु होते हैं जो बीच-बीच में पार्श्वतः गंधकसेतुओं (ब्रिजेज़) द्वारा जुड़े रहते हैं। उपर्युक्त सूत्र से यह स्पष्ट है कि गंधक से रासायनिकतः पूर्णतया संतृप्त रबर का निबन्ध $(C_5H_8S)_x$ होगा, और यह निबन्ध पूर्णतया वल्कनीकृत एबोनाइट के निबन्ध से बहुत मिलता है। संतृप्त होने के कारण एबोनाइट को रासायनिकतया बहुत स्थायी होना चाहिए। यह बड़ी आश्चर्यजनक बात है कि मृदु रबर तथा एबो-नाइट के बीचवाले अन्तःस्थ यौगिक इन दोनों की अपेक्षा बहुत कम स्थायी होते हैं।

सेलीनियम और गंधक के सादृश्य से यह आशा की जाती है कि सेलीनियम भी रबर के वल्कनीकरण के लिए इस्तेमाल किया जा साकता है, परन्तु इसका प्रयोग केवल मृदु रबर बनाने तक ही सीमित है। विशेषकर टेट्रामिथिलथ्युरम-डाइसल्फा-इड तथा सल्फर क्लोराइड जैसे कुछ ऐसे यौगिक भी, जिनके विच्छेदन से गंधक प्राप्त होता है, वाणिज्यिक वल्कनीकर्ता के रूप में प्रयुक्त होते हैं। सल्फर क्लोराइड का शीत वल्कनीकरण के लिए बड़े व्यापक रूप से प्रयोग होता है। इसके लिए साधा-रण ताप पर किसी वाष्पशील विलायक में इस यौगिक का विलयन इस्तेमाल किया जाता है। सल्फर क्लोराइड द्वारा वल्कनीकरण का आविष्कार १८४६ में एलेक्-ज़ेण्डर पार्कस ने किया था। इन्होंने व्यावहारिक रसायन के क्षेत्र में अनेक महत्त्व-पूर्ण विधाओं का भी आविष्कार किया था।

केवल गंधक से रबर का वल्कनीकरण १५०° से० ताप पर भी बहुत धीमी गति से होता है, अतः इस विधा को त्वरित करने के लिए आजकल कुछ उत्प्रेरक काम में लाये जाते हैं। जब चार्ल्स गुडइयर ने १८३९ में वल्कनीकरण का आविष्कार किया था तो उनके रबर में गंधक के अतिरिक्त ह्वाइट लेड जैसे त्वरक (ऐक्सिलरेटर) भी विद्यमान थे। बहुत से पैठिक खनिज पदार्थ, विशेषकर मैग्नीसियम ऑक्साइड, सीस ऑक्साइड तथा कैल्सियम ऑक्साइड अथवा हाइड्रॉक्साइड का त्वरक के रूप में प्रयोग किया जा सकता है। पिछले लगभग ३० वर्षों में वल्कनीकरण त्वरकों के रूप में कार्बनिक यौगिकों की प्रयुक्ति का विशेष विकास हुआ है। रबर के अनुपात में इन त्वरकों की मात्रा बहुत कम होती है, प्रायः १% से भी कम, लेकिन उनकी कुल खपत बहुत अधिक होती है। इस कार्य के लिए प्रति वर्ष सहस्रों टन ऐसे कार्ब-निक यौगिक बनाये जाने लग हैं, जिनका पहले कोई विशेष महत्त्व न था। २–थियोलबेंज़थायज़ोल, डाइफिनिलग्वानिडीन, यशद आइसोप्रोपिल ज़ैन्थोजिनेट तथा पाइपिरिडीनियम पेण्टामिथिलीन डाइथायोकार्बामेट, यशद डाइइथिलथायोकार्बामेट

एवं टेट्रामिथिलथ्युरैम मोनो तथा डाई-सल्फाइड सदृश ऐलिफैटिक द्वितीयक अमीनों से व्युत्पन्न विविध डाईथायोकार्बामिट यौगिक इन त्वरकों के साधारण उदाहरण हैं। इनकी त्वरण शक्ति को पूर्णरूप से विकसित करने के लिए यशद ऑक्साइड का रहना भी आवश्यक है, इसी लिए गंधक के साथ-साथ यशद आक्साइड भी वल्कनीकृत रबर में प्रायः व्यापक रूप से मौजूद रहता है। इन त्वरकों की रासायनिक क्रिया अब भी ठीक-ठीक नहीं समझी जा सकी है।

प्रारम्भिक अनुभवों से यह ज्ञात हुआ था कि विभिन्न कार्बनिक त्वरकों की प्रयुक्ति से वल्कनीकृत रबर के भौतिक गुणों पर विविध प्रकार के प्रभाव पड़ते हैं। यह भी देखा गया कि ऐसे कार्बनिक यौगिक, जो अपेक्षाकृत क्षीण त्वरक थे, वल्कनीकृत रबर के उपयोगी जीवन तथा वायुमण्डलिक ऑक्सीजन, सूर्यप्रकाश एवं ऊष्मा के प्रति उसकी रोधशक्ति बढ़ाने में विशेष प्रभावशाली थे। फलतः 'प्रतिऑक्सीकारक' एवं ऐण्टी एजर्स कहलाने वाले कार्बनिक यौगिकों के बनाने के लिए एक बड़ा उद्योग उठ खड़ा हुआ। α और β फिनिलनैफ्थिलऐमीन तथा डाईनैफ्थिल-प-फिनिलीनडाईऐमीन सदृश द्वितीयक ऐरोमैटिक ऐमीन अथवा इथिलीडीन ऐनिलीन जैसे ऐरोमैटिक ऐमीनों और ऐलीफैटिक ऐल्डिहाइडों के संघनन पदार्थ उपर्युक्त यौगिकों के अच्छे उदाहरण हैं।

यहाँ यह बात भी उल्लेखनीय है कि सच्चे रासायनिक अर्थ में रबर का विवल्कनीकरण अभी तक सम्पन्न नहीं किया जा सका है। यह संभव नहीं कि वल्कनीकृत रबर में से गंधक को निकालकर पुनः मूल अपरिष्कृत रबर प्राप्त किया जा सके। वाणिज्यिक 'पुनर्जनित' अथवा 'पुनःप्राप्त' रबर प्रायः ऐसा वल्कनीकृत रबर होता है जिसे किसी क्षार के साथ गरम करके उसमें विद्यमान स्वतंत्र गंधक का निरसन कर दिया गया हो और जो गरम करने तथा यांत्रिक उपचार से न्यूनाधिक रूप से सुघट्य हो गया हो। इस रबर में रासायनिकतया संयुक्त गंधक फिर भी मौजूद रहता है।

रबर का संयोजन—यद्यपि वल्कनीकृत रबर तथा उससे और पदार्थ बनाने के लिए रबर और गंधक प्रथम आवश्यकताएँ हैं, किन्तु इसके लिए अन्य संघटकों[1] का भी उपयोग होता है और इनके विभिन्न प्रयोजन होते हैं। पूरकों (फिलर्स) के अतिरिक्त सूक्ष्म कणोंवाले कुछ चूर्ण रबर का बल बढ़ाने में विशेष सहायक होते हैं। अनाकार[2] कार्बन इसका सबसे अच्छा उदाहरण है। नेचुरल गैस की लौ को इस्पात

[1] Ingredients [2] Amorphous

प्रणाल (चैनेल) से टकराकर इस प्रकार का कार्बन बनाया जाता है। टायर वगैरह जैसे रबर के ऐसे सामानों के बनाने में, जिन्हें अपघर्षण[1] तथा यांत्रिक प्रतिबल[2] सँभालना पड़ता है, रबर के बाद चैनेल ब्लैक ही मुख्य संघटक होता है। दीप-काजल (लैम्प ब्लैक), एसेटिलीन काल तथा गैसीय हाइड्रोकार्बनों के ऊष्मीय विच्छेदन अथवा विदरण (क्रैकिंग) से बने अनाकार कार्बन भी इस काम के लिए इस्तेमाल किये जाते हैं। यद्यपि रबर के संबलन (रीइन्फोर्सिंग) में ये उत्तम चैनेल ब्लैक से तनिक हीन होते हैं, किन्तु इनके अपने विशेष लाभ भी होते हैं। इसलिए रबरनिर्माता अपने कार्यानुकूल कोई कार्बन अथवा विभिन्न कार्बनों के मिश्रण चुन लेते हैं। निर्मित पदार्थों में यांत्रिक गुण उत्पन्न करने के लिए प्राकृतिक रबर की अपेक्षा संश्लिष्ट रबर में कार्बन काजल को मिलाना अधिक महत्त्वपूर्ण होता है। अन्य विशिष्ट प्रयोजनों के लिए भी संयोजक संघटकों की आवश्यकता होती है, जैसे पिसाई-गुंधाई एवं अन्य यांत्रिक विधाओं को सरल बनाने के लिए पाइन-टार सदृश सुघट्यकारक (प्लैस्टिसाइज़िंग एजेण्ट) तथा ऐच्छिक रंग उत्पन्न करने के लिए रंगद्रव्य (पिग्मेण्ट)। त्वरक[3] एवं प्रतिऑक्सीकर्ता के अतिरिक्त अन्य संघटक वस्तुविशेष के अनुकूल चुने जाते हैं।

आक्षीर[4] विधाएँ—पिछले दो दशकों में रबरनिर्माण विधा में उल्लेखनीय विकास हुआ है, इनमें रबर का प्रयोग सीधे आक्षीर के रूप में किया जाने लगा है। १७९१ में एस० पील के एक पेटेण्ट में कपड़ों को जलरोधी बनाने के लिए रबर विलयन अथवा आक्षीर का वर्णन किया गया है। परन्तु इसके लिए अथवा अन्य प्रयोजनों के लिए आक्षीर का वाणिज्यिक उपयोग अभी हाल तक नहीं किया गया। परिवहन व्यय कम करने के लिए आक्षीर का सांद्रण करके उसकी रबर-मात्रा ६०% कर दी जाती है, यह क्रिया या तो अपकेन्द्र-पृथक्कारी की सहायता से पूरी की जाती है या सोडियम ऐल्गिनेट जैसे कलिलीय क्रीमिंग एजेण्ट डालकर। आक्षीर के सांद्रण के लिए उसमें पोटासियम हाइड्राक्साइड अथवा रक्षक कलिलीय पदार्थ डालकर उसे उद्वाष्पित भी किया जाता है। एक परिरक्षी[5] के रूप में अमोनिया अथवा पोटासियम हाइड्रॉक्साइड की लघु मात्रा सहित आक्षीर को पीपों अथवा बड़े-बड़े टैंकों में भरकर जहाज़ों में भेजा जाता है।

[1] Abrasive wear [2] Stress [3] Accelerator [4] Latex
[5] Preservative

संयोजक संघटक चाहे ठोस हों या द्रव, आक्षीर में मिलाने के पूर्व जल में सूक्ष्मत विक्षेपित कर लिये जाते हैं। इस प्रकार संयोजित आक्षीर से रबर की वस्तुएँ बनाने के लिए विभिन्न रीतियाँ अपनायी जाती हैं, जैसे थैलों अथवा बैलूनों के लिए निमज्जन (डिपिंग), धागे के लिए स्कन्दी ऊष्मक (कोआगुलैण्ट बाथ) से उत्सारण[1], स्तारों के लिए विस्तारण (स्प्रेडिंग) तथा कृत्रिम चमड़े के लिए व्यापन[2] और वल्कनीकरण बहुधा सुखाने के बाद किया जाता है। उपयुक्त यंत्रों की सहायता से आक्षीर को फेनायमान (फोमिंग) बनाकर कोशामय (सेलुलर) रबर तैयार करने में भी संयोजित आक्षीर का बड़ा सफल एवं व्यापक प्रयोग किया जाता है। फेनक (फ्रॉथ) को वांछित आकार के साँचों में ढालकर स्कन्दित तथा वल्कनीकृत करके धोने तथा सुखाने के बाद हलका और मुलायम रबर-स्पञ्ज तैयार हो जाता है। इसकी बनावट में विशिष्ट एकरूपता होती है तथा वायु-कोशिकाएँ एक दूसरे से जुड़ी रहती हैं। विद्युत्-संचायक (ऐकुमुलेटर्स) के पृथक्कर्ता बनाने के लिए सूक्ष्म रन्ध्रीय[3] एबोनाइट तैयार करते समय भी कुछ-कुछ इसी प्रकार का सिद्धान्त अपनाया जाता है, उपयुक्तत: संयोजित आक्षीर के आर्द्र स्कन्द का वल्कनीकरण करके "कठोर रबर" बनाते समय उसके अन्दर पड़े जल को बाहर नहीं निकलने दिया जाता।

आक्षीर की गोलिकाओं पर सामान्यत: ऋणात्मक विद्युत प्रभार होता है और इसके स्कन्दन के बहुत से रूप (फीचर) इस प्रभार (चार्ज) पर निर्भर होते हैं। इसके अलावा इनके विद्युत प्रभार के कारण आक्षीर में विद्युत्धारा प्रवाहित कराकर रबर की वस्तुएँ बनायी जा सकती हैं। धातुओं के विद्युत-निक्षेपण (इलेक्ट्रो डिपाज़िशन) के प्रतिकूल रबर का निक्षेपण धनाग्र[4] अर्थात् उस विद्युदग्र[5] पर होता है जिसके द्वारा धारा द्रव में प्रवेश करती है। स्वाभाविकतया रबर उस तल का आकार ग्रहण कर लेता है जिस पर वह निक्षेपित होता है और बाद में उससे पृथक् कर लिया जाता है।

रबर-आक्षीर का एक अत्यन्त चमत्कारी गुण यह है कि जब इसका गंधक (अथवा यशद ऑक्साइड तथा शक्तिशाली त्वरक) के साथ संयोजन होता है तो इसके रबर का बिना स्कन्दन के ही वल्कनीकरण किया जा सकता है। इस प्रकार वल्कनीकृत आक्षीर की वल्कनीकृत गोलिकाओं पर अब भी विद्युतप्रभार एवं साधारण रबर

[1] Extrusion [2] Impregnation [3] Microporous [4] Anode
[5] Electrode

गोलिकाओं के अन्य लक्षण बने रहते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि वस्तुनिर्माण के लिए साधारण रबर-आक्षीर की तरह इस प्रकार वल्कनीकृत आक्षीर का भी सफलतापूर्वक प्रयोग किया जा सकता है, अन्तर केवल इतना होगा कि निष्पन्न वस्तु पहले से ही वल्कनीकृत होगी, उसे केवल सुखाना मात्र शेष रहेगा।

रबर की रासायनिक व्युत्पत्तियाँ—एक असंतृप्त रासायनिक यौगिक होने के नाते तेलों की तरह रबर में भी कुछ संकाली[1] प्रतिक्रियाओं की अपेक्षा की जा सकती है, यद्यपि यह पहले ही बताया जा चुका है कि इस असंतृप्त संरचना के बावजूद भी रबर में अपूर्व स्थायित्व होता है। यह भी लिखा जा चुका है कि वल्कनीकरण में गंधक का रबर से संयोजन होता है तथा एबोनाइट के रबर-अणु प्रायः पूरी तरह संतृप्त माने जाते हैं। इसी प्रकार शीत वल्कनीकरण में सल्फर क्लोराइड की क्रिया भी तेलों की तरह होती है। रबर के तल का चिपकाऊपन[2] कम करने के लिए ब्रोमीन और क्लोरीन का प्रयोग किया जाता है।

प्रायः पिछले दस वर्षों से दूसरे रासायनिक पदार्थ बनाने के लिए कच्चे माल के रूप में रबर का इस्तेमाल करने का व्यापक प्रयत्न किया गया है। अधिक उत्पादन के समय रबर के भंजक आसवन (डिस्ट्रक्टिव डिस्टिलेशन) द्वारा ऐसे वाष्पशील कार्बनिक विलायक तैयार किये गये, जो टर्पेण्टाइन के प्रतिस्थापक के रूप में प्रयुक्त हो सकें। इस प्रकार की विधा का १८३३ ई० में ब्रिटिश पेटेण्ट कराया गया था किन्तु बार बार इसकी पुनरावृत्ति होती रही। कोबल्ट साबुन जैसे उत्प्रेरकों[3] की उपस्थिति में रबर का ऑक्सीकरण करके 'रबोन'[4] नामक प्रलाक्षरस[5] जैसा एक पदार्थ उत्पन्न करने का भी प्रयत्न किया गया।

प्रारम्भ से ही रबर के क्लोरीनीकरण की ओर भी लोगों का ध्यान आकृष्ट हुआ था और इसके लिए १८५९ में लगभग एक साथ ही दो पेटेण्ट लिये गये थे। गत २५ वर्षों में रबर के क्लोरीनीकरण में लोगों की रुचि फिर से जागी और विविध स्वामित्व-नामों से पदार्थ बने जिनका व्यापक प्रयोग भी हुआ। ऐसा पदार्थ केवल एक संकाली (ऐडिटिव) यौगिक नहीं बल्कि उसमें क्लोरीन द्वारा हाइड्रोजन का प्रतिस्थापन भी हो जाता है। इस प्रकार की एक उत्पत्ति का सूत्र $C_{10}\ H_{13}\ Cl_7$ निश्चित किया गया है। यह पदार्थ अज्वलनशील (नॉन-इंफ्लेमेब्ल) है तथा इसका

[1] Additive [2] Tackiness [3] Catalysts [4] Rubbone
[5] Lacquer

रूपान्तरण करके लघु घनता एवं उत्तम उष्मा-विसंवाहन (हीट इन्सुलेशन) वाली रन्ध्री (पोरस) तथा रेशेदार (फाइब्रस) वस्तु बनायी जा सकती है। इसमें अम्लों एवं क्षारों के प्रति विलक्षण रोध[1] भी होता है तथा यह रंगलेपों के एक उपयोगी संघटक का भी काम करता है। साधारण ताप पर यह पदार्थ रबर की तरह नहीं होता। रबर तथा हाइड्रोजन क्लोराइड का संकाली यौगिक भी आकर्षक वस्तु है, इसमें विशेषतया नम्य एवं पारदर्शक झिल्ली बनने की क्षमता होती है और इस काम के लिए 'प्लियोफिल्म' के नाम से यह बाजारों में बिकती भी है।

यह एक बड़ी रोचक बात है कि परिशुद्ध गटापार्चा तथा परिशुद्ध रबर का रासायनिक विश्लेषण करने पर एक समान ही फल प्राप्त होते हैं। परन्तु एक को दूसरे का रूप देने का, विशेष कर सस्ता होने के कारण रबर को गटापार्चा बनाने का, कोई प्रयत्न सफल न हो सका। लेकिन कुछ रासायनिक प्रतिकर्मकों[2] की सहायता से रबर से उसी निबन्धवाले अन्य उपयोगी पदार्थ बनाये गये हैं। इनमें से कुछ पदार्थों का तो अब उत्तम वाणिज्यिक महत्त्व भी है। 'प्लियोलाइट' अथवा 'प्लियोफार्म' विशेष उल्लेखनीय हैं, ढलाई अथवा कपड़ों वगैरह पर विस्तारण (स्प्रेडिंग) के लिए इसका अच्छा उपयोग होता है। 'वल्कलॉक' नामक एक दूसरा पदार्थ लोहे तथा इस्पात पर रबर चढ़ाने के लिए बन्धनकारक[3] के रूप में बहुतायत से प्रयुक्त होता है। प्लियोफार्म तथा वल्कलॉक दोनों ही ऊष्मप्लास्टिक हैं तथा साधारण ताप पर इनका कठोर, अवितान्य[4] ठोस रूप होता है।

संश्लिष्ट रबर—१८७९ में जी० बोखार्डाट ने आइसोप्रेन से रबर बनते देखा था, परन्तु रबर के भंजक आसवन (डिस्ट्रक्टिव डिस्टिलेशन) के अतिरिक्त अन्य साधनों से प्राप्त आइसोप्रेन से रबर के संश्लेषण का प्रथम अनुभव डब्लू० ए० टिल्डेन ने ही किया, जिसके फलस्वरूप अन्य पदार्थों से भी संश्लिष्ट रबर का उत्पादन संभव हुआ। उसी समय से यह ज्ञात हुआ कि ऐसे अनेक हाइड्रोकार्बनों तथा उनकी व्युत्पत्तियों में, जिनमें C : C · C : C सूत्र की तरह की चार कार्बनपरमाणुओं की शृंखला जुड़ी रहती है, स्वतः एक में मिलकर रबर जैसे पदार्थ उत्पन्न करने की क्षमता होती है। यद्यपि साधारणतया इस प्रकार की प्रतिक्रिया बड़ी मन्द गति से होती है परन्तु कुछ उत्प्रेरकों द्वारा यह त्वरित की जा सकती है। रबर के संश्लेषण के लिए अगर आइसो-

[1] Resistance [2] Chemical agents [3] Bonding agent
[4] Inextensible

प्रेन के स्थान पर अन्य असंतृप्त यौगिक प्रयुक्त किये जायँ तो उत्पन्न पदार्थ की बनावट प्राकृतिक रबर की बनावट से भिन्न होती है, यद्यपि उसके भौतिक गुणों में अन्तर नहीं होता, क्योंकि वे लम्बी श्रृंखलावाले अणुओं की विशेषता हैं। प्रारम्भिक अवस्था में प्राकृतिक रबर-जैसे ही रासायनिक यौगिक उत्पन्न करने की कोशिश की गयी थी, किन्तु आगे चलकर बूटाडीन के पुरुभाजन[1] से संश्लिष्ट रबर तैयार करने में बड़ी प्रगति हुई। इस प्रतिक्रिया में बूटाडीन के साथ कुछ अन्य पुरुभाजन योग्य पदार्थ भी रखे जाते थे। जर्मनी में बने ऐसे संश्लिष्ट रबर को 'बूना' की संज्ञा दी गयी। इस नाम की उत्पत्ति 'बूटाडीन' से ही है। बूटाडीन के पुरुभाजन को सोडियम से उत्प्रेरित किया जाता था। बूना रबर के कई प्रकार होते हैं, जिनकी अपनी-अपनी विशेषताएँ होती हैं। ये विशेषताएँ पुरुभाजन के समय उपस्थित अन्य पुरुभाजन योग्य पदार्थों की प्रकृति एवं प्रतिक्रिया की विभिन्न अवस्थाओं पर निर्भर करती हैं। 'बूना एस०' बूटाडीन और स्टाइरीन (C_6H_5 $CH:CH_2$) का सह-पॉलीमराइड है, उसी प्रकार 'बूना एन०' बूटाडीन और ऐक्रिलिक नाइट्रील ($CH_2:CH\cdot CN$) का सह-पॉलीमराइड है, 'परबुनान' भी उसी प्रकार की उत्पत्ति है जिसमें ऐक्रिलिक नाइट्रील का अनुपात अधिक होता है। यद्यपि ऐसे पदार्थ प्राकृतिक रबर से रासायनिकतया भिन्न होते हैं परन्तु उनका महत्त्व तो अपघर्षण-रोध, तेल-अवशोषण-रोध तथा विद्युत्-पृथक्कारी जैसे गुणों के कारण होता है। ऐसे गुण इन संश्लिष्ट रबरों में ऐसी सीमा तक विकसित किये गये हैं जितना प्राकृतिक रबर में भी संभव नहीं हुआ।

१९४१ में जापानियों द्वारा रबर के मुख्य रोपण-क्षेत्रों पर अधिकार कर लिये जाने के बाद रबर के मुख्य स्रोत मित्र राष्ट्रों के हाथ से निकल गये। परन्तु संयुक्त राज्य अमेरिका के प्रबल प्रयत्नों से संभावित संकट टला और १९४४ तक संश्लिष्ट रबर का ऐसा उद्योग स्थापित हो गया जिससे प्रायः प्रति वर्ष १० लाख टन रबर उत्पन्न होने लगा। अमेरिका और कनाडा के कारखानों से उत्पन्न रबर बूटाडीन-स्टाइरीन सहपॉलीमर प्रकार के होते हैं तथा GR–S के नाम से जाने जाते हैं। प्राकृतिक रबर के स्थान पर इनका प्रयोग सब प्रकार की यंत्रचालित सवारियों अथवा गाड़ियों के टायर बनाने के लिए किया जाता है। उत्तरी अमेरिका में अनेक अन्य प्रकार के भी रबर-संश्लिष्ट होते हैं, इनमें अवल्कनीकरणीय एक रबर सदृश पदार्थ 'पॉली-आइसोबुटिलीन' भी है। जैसा कि इसके नाम से स्पष्ट है, यह आइसोबुटिलीन और

[1] Polymerisation

बुटिलीनों तथा बूटाडीन या आइसोप्रेन के एक वल्कनीकरणीय सह-पॉलीमर के पुरुभाजन से बनता है। अन्य और कई प्रकार के संश्लिष्ट रबर बड़े पैमाने पर बनाये जाते हैं; प्रयोगशाला-पैमाने पर तैयार किये जानेवाले ऐसे रबरों की संख्या सैकड़ों की है। संश्लिष्ट रबर का उद्योग रूस में भी विद्यमान है किन्तु उसके बारे में अधिक जानकारी नहीं है। अनुमान है कि जर्मनी के 'बूना' उद्योग का भी विशेष प्रसार एवं विकास हुआ होगा।

नियोप्रेन संश्लिष्ट रबर का एक दूसरा वाणिज्यिक रूप है, जो क्लोरोबूटाडीन ($CH_2 : CH \ CCl : CH_2$) के पुरुभाजन से उत्पन्न किया जाता है, फलतः इसकी बनावट $(C_4 H_5 CL)_x$ होती है। इसमें पुराना न होने तथा ऊष्मा-स्थायित्व के बड़े उत्तम गुण होते हैं, तथा बूना–N प्रकार के रबर की तरह इसमें तेलों और अनेक कार्बनिक विलायकों की क्रियाओं का प्रतिरोध भी प्राकृतिक रबर की तुलना में कहीं अधिक होता है। प्राकृतिक रबर तथा बूटाडीन से व्युत्पन्न संश्लिष्ट रबरों की तरह वल्कनीकरण के लिए इसमें गंधक अनिवार्य नहीं होता, बल्कि उसी प्रकार का भौतिक परिवर्तन उत्पन्न करने के लिए इसे यशद ऑक्साइड के साथ गरम किया जाता है। यद्यपि प्रारम्भ में 'नियोप्रेन' नाम का प्रयोग क्लोरोबुटाडीन के पुरुभाजन से उत्पन्न पदार्थ के लिए ही किया गया था किन्तु बाद में इसका प्रयोग एक वर्ग के लिए किया जाने लगा और उसके आगे कोई एक अक्षर लगाने से पदार्थविशेष का बोध होने लगा।

'बूना' और 'नियोप्रेन' के संश्लेषण के लिए चूना और कोक प्रारम्भिक पदार्थ के रूप में इस्तेमाल होते हैं, जिनसे पहले कैल्सियम कार्बाइड और एसिटिलीन बनती है। इसी एसिटिलीन से विविध रासायनिक परिवर्तनों के बाद बूटाडीन या क्लोरो-बूटाडीन तैयार होता है। संयुक्त राज्य अमेरिका में बूटाडीन उत्पादन के अन्य तरीकों को भी प्रश्रय दिया गया है—ब्यूटेन तथा ब्युटिलीनों जैसी पेट्रोलियम गैसों के उत्प्रेरक हाइड्रोजनन की विधा और ऐलकोहाल से उत्प्रेरक विधा द्वारा बूटाडीन प्राप्त करना इनके उदाहरण हैं। GR–S के लिऐ स्टायरीन का उत्पादन बेंज़ीन तथा इथिलीन के उत्प्रेरक संघनन से किया जाता है।

उपर्युक्त संश्लिष्ट रबरों के अतिरिक्त आजकल विविध रासायनिक विधाओं (प्रक्रियाओं) से अनेक ऐसे वाणिज्यिक पदार्थ प्राप्त होते हैं, जिनमें रबर जैसे गुण होते हैं यद्यपि वे रासायनिकतया प्राकृतिक रबर से और भी भिन्न होते हैं। इनमें से अधिकांश पदार्थ अपने-अपने स्वामित्व (प्रोप्राइटरी) नामों से बाजार में बिकते हैं। इनके रबर जैसे गुण भी लम्बी श्रृंखलावाली आणविक संरचना पर निर्भर होते हैं।

इस संबन्ध में थायकोलों तथा 'पॉलीथीन' की चर्चा की जा सकती है। इथिलीन-डाइसल्फाइड के पदार्थ थायकोलों के बड़े सरल उदाहरण हैं। इथिलीन के पुरुभाजन से ही पॉलीथीन तैयार होती है। ये पदार्थ बहुत कुछ गटापार्चा के समान होते हैं लेकिन ऊष्मा तथा ऑक्सीभवन के प्रति इनमें अधिक स्थायित्व होता है।

संयुक्त राज्य अमेरिका एवं कनाडा के संश्लिष्ट रबर कारखानों के बन जाने से द्वितीय महायुद्ध में मित्र राष्ट्रों की फौजों के गमनागमन के लिए अत्यावश्यक पदार्थ रबर के भयंकर अभाव की बड़ी सफल पूर्ति हुई। उस समय अधिकाधिक रबर उत्पन्न करने की समस्या थी, किन्तु आज रसायनज्ञों एवं रासायनिक इञ्जीनियरों के सामने इतने व्यापक पैमाने पर उत्पन्न होनेवाले रबर की खपत का विशाल प्रश्न उपस्थित हो गया है।

ग्रंथसूची

BARRON, H. : *Modern Synthetic Rubbers*, 2nd Ed. Chapman & Hall, Ltd.

DAVIS, C. C., AND BLAKE, J. T. : *Chemistry and Technology of Rudber.* Reinhold Publishing Co.

GEER, W. C. · *Reign of Rubber.* The Century Co.

HENCOCK, THOMAS : *Personal Narrative of the Origin and Progress of the Caoutchouc or India-Rubber Manufacture in England.* Longman, Brown, Green, Longmans and Roberts.

GOODYEAR, CHARLES. : *Gum Elastic.* 1855 : fascimile reproduction, 1937. Maclaren & Sons.

चमड़ा

डोरोथी जॉर्डन-लायड, एम० ए० (कैम्ब्रिज), डी० एस-सी० (लन्दन), एफ० आर० आई० सी०

चमड़े का उद्योग मानव-इतिहास के प्राचीनतम उद्योगों में से है। चमड़ा बनाने का काम सहस्रों वर्ष पूर्व प्रारम्भ हुआ था और प्राचीन लोगों में शायद ही कुछ ऐसे होंगे जिनकी संस्कृति में चमड़ा-कमाई की सरल रीतियों का उल्लेख न हो। फारो

की क़ब्रों से चमड़े की ऐसी ऐसी वस्तुएँ मिलीं हैं, जिनसे उन पशुओं का भी पता लगता है जिनकी खाल से वे बनी थीं। चमड़ा-निर्माण कला की इस प्राचीनता को ध्यान में रखते हुए इसमें आश्चर्य ही क्या किया जा सकता है कि रसायनविज्ञान के प्रादुर्भाव के बहुत पहले से यह कला अपनी अनुभवजन्य पूर्णता प्राप्त कर चुकी थी।

प्राचीन समय के चमड़ा कमानेवालों के पास ऐसी चीज़ें थीं जिनसे पशुओं की सड़नेवाली एवं नाशवान् खाल से वे न सड़नेवाला अच्छा चमड़ा तैयार कर लेते थे। इस कार्य के लिए प्रयुक्त होनेवाले पदार्थ विविध प्रकार के होते थे—स्थावर, जंगम एवं खनिज। पशुओं की वसा तथा तेल तो इस काम के लिए बहुत समय से इस्तेमाल होते रहे हैं। बैल की खाल को पशुवसा से कमाने का उल्लेख होमर ने अपने 'इलियड' में किया है। यह विधा अब भी कारखानों में कम्वाय चमड़ा बनाने के लिए इस्तेमाल की जाती है। यह चमड़ा आजकल भेड़ों की खाल से तैयार किया जाता है। कम्वायकरण अर्थात् तेल से चमड़ा कमाई अब भी प्रायः एक अनुभवजन्य विधा है। इससे जो चमड़ा तैयार होता है उसमें जलरोकता विशेष रूप से होती है। इसी लिए इसे धाव्य-चमड़ा[१] भी कहते हैं। इस विधा में तेल का स्वतः ऑक्सीकरण होता है, जिससे ऐल्डिहाइड उत्पन्न हो जाते हैं। कच्चे चमड़े के कमाये जाने से इस प्रतिक्रिया का सचमुच कितना संबन्ध है, नहीं बताया जा सकता। इस काम के लिए इस्तेमाल होनेवाले तेलों में काड तेल प्रमुख है, जिसमें असंतृप्त वसीय अम्लों वाले कुछ ग्लिसराइड होते हैं। एस्किमो लोगों में तेल से चमड़ा कमाने की पुरानी विधा अब भी प्रचलित है। कुछ जातियों में सील की खाल को आदमी के बासी मूत्र में भिगोकर कमाने की प्रथा है। इस रीति में मूत्र के संघटकों से खाल की वसा-कोशाओं की भित्तियाँ फट जाती हैं और उनमें से वसा निकलकर उसके तन्तुओं में फैल जाती है, जिससे वह कमा उठता है।

तेल से कमाये हुए चमड़ों की यह विशेषता होती है कि भीगने पर वे कड़े हो जाते हैं लेकिन काम में लाये जाने पर फिर मुलायम हो जाते हैं। ऐल्डिहाइडों से कमाये चमड़े में भी यह विशेषता होती है। उत्तरी एशिया के रेण्डियर तुंगस लोगों द्वारा धुएँ से कमाये चमड़े इस वर्ग के प्राचीन उदाहरण हैं। एस्किमो लोगों की तरह ये लोग भी पेड़ों की छाल और टहनियों से चमड़े की कमाई करते थे। चमड़ा-कमाई की यह विधा यद्यपि अनुभवजन्य ही है, फिर भी लकड़ी के धुएँ में फार्माल्डिहाइड की

[1] Wash-leather

उपस्थिति जानी गयी है, और इसके धुएँ से कमाये चमड़े फार्मोल्डिहाइड से कमाये चमड़े के समान होते हैं। सीधे फार्मोल्डिहाइड इस्तेमाल करके चमड़ा कमाने की रीति रासायनिक ज्ञान पर आधारित है। इस रीति से "डोएस्किन" दस्ताने के चमड़े बनाये जाते हैं, ये भी कम्वाय चमड़े की तरह भेड़ों की खाल से ही तैयार किये जाते हैं। तेल से कमाये चमड़े हलके पीले अथवा पीले रंग के होते हैं जब कि फार्मोल्डिहाइड से कमाये चमड़े सफेद होते हैं। इन दोनों प्रकार के चमड़ों को साबुन और पानी से धोया जा सकता है तथा सुखाकर और काम में लाकर मुलायम कर लिया जा सकता है। इसी लिए ऐसे चमड़े दस्ताने बनाने के लिए बहुत प्रचलित हैं, उनका या तो प्राकृतिक रंग रहने दिया जाता है या उन्हें रुचि-अनुसार रंग लिया जाता है।

उपर्युक्त दोनों विधाओं (प्रक्रियाओं) में खाल के कणों अर्थात् उसकी ऊपरी सतह की कमाई में कठिनाई होती है। इस कठिनाई को हल करने के लिए पहले यंत्रों द्वारा खाल के कणों को साफ कर दिया जाता था, जिससे दोनों तरफ 'स्वेड' सतह वाला चमड़ा बन जाता था। लेकिन अब रासायनिक ज्ञान से बिना कणों को साफ किये हुए फार्मोल्डिहाइड चमड़े तैयार किये जाते हैं, जो सरलता से धोये जा सकते हैं। इनके एक ओर 'किड' सतह और दूसरी ओर 'स्वेड' सतह होती है। पूरे कणसहित फार्मोल्डिहाइड चमड़े के निर्माण में प्रत्येक पद पर कठोर रासायनिक नियंत्रण की आवश्यकता होती है।

वनस्पति पदार्थों के जलीय निस्सार से चमड़ा कमाना बड़ी प्राचीन रीति है, जो साधारणतया अब भी प्रयुक्त होती है। तल्ले के चमड़े प्रायः इसी तरह कमाये हुए होते हैं। इनके अतिरिक्त मशीनों के पट्टे, घोड़े की काठी, लगाम, बाईसिकिल की गद्दी, अन्य प्रकार के पट्टे और तस्मे, सूटकेस, पम्प वगैरह के वाशर, कवच एवं अन्य शस्त्रसंभार, घर के सामान, मोटर गाड़ियों के सामान, हैट की पट्टी, जिल्दबन्दी के सामान, चश्मों के केस तथा अन्य प्रकार के सुन्दर सुन्दर बक्स और डब्बे इत्यादि ऐसे ही चमड़े से बनाये जाते हैं। वस्तुतः सभी प्रयोजनों के लिए चमड़े की वानस्पतिक कमाई की जाती रही।

पुराने समय में वानस्पतिक कमाई करनेवाले सामान जुटाकर उनके जलीय आक्वाथ[1] अपने आप बना लेते थे। यह प्रथा कुछ हद तक अब भी प्रचलित है, विशेष कर कुछ विशिष्ट पदार्थों के लिए, किन्तु अब बहुधा बने-बनाये सांद्रित निस्सारों[2]

[1] Infusion [2] Concentrated extracts

का प्रयोग बढ़ता जाता है। पहले चमड़ा कमाने के द्रव ओक, मिमोसा, हेमलॉक, मैंग्रोव इत्यादि की छाल, सुमैक और खैर (गैम्बीर) की पत्तियों एवं टहनियों, हरीतकी के फल और ऐल्गैरोबिल्ला, टारा, डिवी-डिवी की फलियों से तैयार किये जाते थे।

उपर्युक्त प्राकृतिक पदार्थ चमड़ा कमाने के लिए अब भी उपलब्ध हैं किन्तु जैसा पहले कहा जा चुका है, आजकल इनके सांद्रित निस्सारों का प्रयोग अधिक प्रचलित है। इन निस्सारों के बनाने का एक रासायनिक उद्योग ही खड़ा हो गया है जिसके फलस्वरूप कुछ ऐसी लकड़ियों से प्राप्त टैनीन भी काम में आने लगीं, जो सरलता से प्राप्य न होने के कारण पहले कभी नहीं इस्तेमाल की जाती थीं। इस प्रकार की लकड़ियों के निस्सारों का आधुनिक चमड़ा-कमाई में बड़ा महत्त्व है। इनमें से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण दक्षिणी यूरोप तथा उत्तरी अमेरिका से प्राप्त चेस्टनट, दक्षिणी अमेरिका का क्युब्रैको, स्वीडन का ओकउड, स्प्रूस तथा अन्य कोनीफर हैं। इनके अलावा कागज उद्योग की लुगदी के अवशिष्ट सल्फीयित लिग्नीन भी बड़े काम की चीज़ है।

यद्यपि प्राकृतिक पदार्थों से चमड़ा कमाने की प्रथा प्रायः एक हज़ार वर्ष से प्रचलित है, लेकिन केवल पिछले लगभग पचास वर्षों से ही इसके विकास में रसायन-विज्ञान की सहायता ली गयी है। पुराने दिनों में कच्चे माल सस्ते थे तथा जहाँ के तहाँ मिल जाते थे, और सबसे बड़ी बात यह थी कि समय का कोई प्रश्न न था। चमड़ा कमाई का काम किसान लोग बहुधा जाड़ों में किया करते थे और जिस खाल को तनु द्रवों में एक ऋतु में डाल देते वह दूसरी ऋतु तक उसमें बिना खराब हुए पड़ी रहती। किन्तु आजकल चमड़ा कमाई एक सुगठित उद्योग है और इंग्लैण्ड में प्रायः बन्दरगाहों के नज़दीक स्थित है, जहाँ सारे संसार से कच्चे माल आते हैं। इसके अलावा ऊपरी ख़र्चे को कम करने में समय की बचत भी बड़ी महत्त्वपूर्ण बात है। साथ ही चमड़ा कमाई विधा में विशेष गति आ जाने के कारण उसके प्रत्येक पद पर कठिन एवं सुतथ्य नियंत्रण की आवश्यकता हो गयी जो रासायनिक रीतियों से ही संभव हुआ।

वानस्पतिक पदार्थों से चमड़ा कमाने के लिए अम्ल द्रव की आवश्यकता होती है। पुराने समय में यह अम्ल टैन द्रवों के किण्वन[1] से तैयार हो जाता था, किन्तु किण्वन केवल कुछ ही द्रवों में हो पाता था। कालान्तर में रासायनिक अनुसन्धानों से ठीक ठीक अनुपात में उपयुक्त अम्ल अलग से डालना संभव हो गया। इसके परि-

[1] Fermentation

णामस्वरूप न केवल किण्वन योग्य टैनीनों का अनुचित खर्च बच गया (क्योंकि टैनीनों से ही अम्ल तैयार होता था) वरन् ऐसे टैनीन निस्सार भी सफलतापूर्वक इस्तेमाल होने लगे, जिनके किण्वन से अम्ल नहीं उत्पन्न होता था।

हरीतकी टैनीन से प्रचुर अम्ल उत्पन्न होता है किन्तु ब्युब्रैको से नहीं। किन्तु अब अलग से अम्ल डालने के कारण टैनीन और उपयुक्त अम्ल का ठीक ठीक चुनाव करके चमड़ा कमानेवाले अपने चमड़े के प्रकार और गुण में यथेष्ट परिवर्तन कर सकते हैं, वह चाहें तो कड़ा चमड़ा तैयार कर लें चाहे मुलायम और चमड़े की जल-पारगम्यता (परमीयेबिलिटी) भी प्रायः अपनी इच्छानुसार निश्चित कर सकते हैं। आजकल चमड़ा-कमाई के लिए निस्सार बनानेवाले भी मिश्रित निस्सार तैयार करने लगे हैं, लेकिन इनके प्रयोग से वांछित सफलता तभी प्राप्त होती है जब इनके संघटकों के रासायनिक गुण अच्छी तरह ज्ञात हों।

चमड़ा-कमाई के लिए फिटकरी और नमक जैसे खनिज पदार्थों का प्रयोग भी बड़ा पुराना है। दस्तानों और जूतों के लिए सुन्दर सफेद और रंगीन चमड़े बनाने के लिए यह प्रक्रिया प्रयुक्त होती थी। आजकल भी यह रीति श्वेत चमड़ा बनाने तथा फ़र खाल एवं ऊनी भेड़ों की खाल कमाने के लिए इस्तेमाल की जाती है। फिटकरी से चमड़ा कमाने में सबसे बड़ी हानि यह है कि चमड़े एकदम जल-अनवरोधी (नॉन-रेसिस्टेण्ट) हो जाते हैं, अर्थात् एक बार भींगकर कड़े हो जाने पर फिर वे कभी मुलायम नहीं होते। पुराने काल में कुछ समय तक प्रयोग करने के बाद दस्तानों के कड़े होकर ख़राब हो जाने का यही कारण था, क्योंकि हाथ के पसीने से जहाँ वे एक बार कड़े हो जाते फिर वे बेकार ही हो जाते थे।

आजकल फिटकरी के स्थान पर क्रोम लवणों से चमड़े की कमाई होने लगी है। इस विधा के आविष्कार का श्रेय रसायनज्ञों को है। क्रोम लवण क्रोम अयस्कों (ओर्स) से बनाये जाते हैं तथा सर्वथा रासायनिक उद्योग की ही देन हैं। १८५८ में नैप ने चमड़ा-कमाई की क्रोम विधा का पेटेन्ट कराया था और उन्हीं ने १८७९ में इंग्लैण्ड में इसका प्रचलन भी किया। अच्छे जूतों का ऊपरी चमड़ा तथा कोट और वेस्ट कोट के लिए चमड़े आजकल इसी विधा से तैयार किये जाते हैं।

क्रोम से कमाये चमड़े की सबसे मनोरंजक विशेषता यह है कि एक बार सूख जाने के बाद फिर यह भींगता नहीं यानी किसी विशेष रीति से जल-सह बनाये बिना ही यह जूतों के ऊपरी चमड़े के लिए बड़ा उपयुक्त होता है। क्रोम चमड़े पर वानस्पतिक पदार्थों से कमाये चमड़े की तुलना में गरम जल का भी कम असर होता है।

रासायनिक अन्वेषणों के परिणामस्वरूप चमड़ा कमाई के लिए अन्य और

खनिज पदार्थों का पेटेण्ट कराया गया। उदाहरणार्थ लौह पदार्थों का जर्मनी में बड़ा विकास हुआ। वस्तुतः सभी ऐसे तत्त्व जिनसे जटिल अयन[1] बनते हैं, टैन का काम दे सकते हैं। इसी प्रकार सिलिकेट और फास्फेट टैनों का भी उल्लेख किया गया है तथा टिन और ज़िरकोनियम टैनों का विकास हो रहा है। क्वीनोन, क्लोरीन तथा ब्रोमीन जैसे अन्य सक्रिय पदार्थ भी इस काम के लिए इस्तेमाल किये जा सकते हैं। यद्यपि अभी ये टैन पदार्थ प्रयोगशालाओं में केवल जिज्ञासा की वस्तुएँ हैं, लेकिन भविष्य में इनकी महती वाणिज्यिक संभावनाएँ हैं।

संश्लिष्ट टैन पदार्थों का विकास भी चमड़ा-कमाई उद्योग में एक बड़ा रोचक अध्याय है। ऐसे पदार्थ प्रायः फार्माल्डिहाइड और फिनॉल के संघनन[2] से बनते हैं तथा इनकी संरचना उन संश्लिष्ट रेज़ीनों की तरह होती है, जो इस समय प्लास्टिक उद्योग के लिए कच्चे माल के रूप में सारे संसार में प्रसिद्ध हैं। इस प्रयोजन के लिए इन संश्लिष्ट यौगिकों के अणुओं में एक अयनीभवन-योग्य (आयोनाइज़ेब्ल) समूह होना चाहिए, एतदर्थ इनमें सल्फेट या सल्फॉनिक मूल[3] प्रविष्ट करा दिये जाते हैं। १९११ में स्टियस्नी ने प्रथम संश्लिष्ट टैनीन बनाया, जो "नेराडॉल" के नाम से बिकने लगा। अब तो बाज़ार में अनेक संश्लिष्ट टैनीन मिलते हैं, जिनकी विभिन्न रासायनिक बनावट होती है तथा जिनसे चमड़ों में भिन्न भिन्न विशेषताएँ एवं गुण उत्पन्न किये जा सकते हैं। यद्यपि अभी ये वस्तुएँ काफी महँगी हैं लेकिन आगे चलकर इनकी खपत और बढ़ेगी क्योंकि इनकी विशिष्ट उपयोगिता है। चमड़ा कमाईवाले कभी सुन्दर पतला चमड़ा बनाना चाहते हैं तो कभी मोटा भरा-भरा चमड़ा, इसके लिए उन्हें एक ओर पतली और दूसरी ओर मोटी और खुरदरी खाल लेनी पड़ती है। किन्तु उनका यह ध्येय भिन्न प्रकार के टैन पदार्थ लेने से भी सिद्ध हो सकता है, जैसे पतले बारीक चमड़े के लिए छोटे अणुओं वाले टैन पदार्थ से काम बन सकता है, जब कि बड़े बड़े कलिलीय अणुओंवाले टैनों से मोटा चमड़ा बनता है, क्योंकि वे सचमुच अधिक स्थान घेरकर चमड़े को भरा-भरा बना देते हैं। विभिन्न टैनों के मिश्रणों का भी प्रयोग किया जा सकता है, जैसे अर्ध-क्रोम विधा में चमड़ा वानस्पतिक पदार्थों एवं क्रोम लवणों दोनों से कमाया जाता है। इस प्रकार जब विविध प्रकार के टैन पदार्थ उपलब्ध होंगे तो चमड़ा-कमाई करनेवाले अपनी इच्छा के अनुसार उनके मिश्रण तैयार करके भिन्न भिन्न तरह के चमड़े बना सकेंगे।

[1] Ion [2] Condensation [3] Radicle

किन्तु आजकल चमड़ा बनाने में केवल उसे कमाना मात्र ही पर्याप्त नहीं, उसके लिए कितनी ही अन्य विधाएँ (प्रक्रियाएँ) भी अपनानी पड़ती हैं। पहले खाल को साफ करके उसके बाल निकाले जाते हैं, जिससे उसके छिद्र इस प्रकार खुल जायँ कि उनमें टैनीन के अणु सरलता से प्रवेश कर सकें। खाल से बालों की सफाई सोडियम सल्फाइड सहित चूने के आलम्बन (सस्पेन्शन) से की जाती है। चूने से हल्का सा जलांशन (हाइड्रॉलिसिस) होता है और सोडियम सल्फाइड अपचायक (रिड्यूसिंग एजेण्ट) का काम करता है। इस प्रकार रसायनशास्त्र की सहायता से इस विधा का नियंत्रण किया जा सकता है। कभी कभी खालों से बाल उतारने का काम दह-सोडा उपचार और तत्पश्चात् प्रोटीनांशिक एन्ज़ाइमों की क्रिया द्वारा भी सम्पन्न किया जाता है। यह रीति भी रासायनिक अन्वेषण का ही फल है तथा इसमें कठिन रासायनिक नियंत्रण की आवश्यकता होती है। मुलायम चमड़ा बनाने के लिए हलकी खालोंको कमाने के पहले प्रायः हमेशा उनका एन्ज़ाइम से उपचार करना पड़ता है। पुराने समय में इस क्रिया के लिए कुत्ते, मुर्गी तथा शेर तक के मल का आक्वाथ इस्तेमाल किया जाता था। आगे चलकर जे० टी० उड के कार्यों से यह स्पष्ट हो गया कि इस अनुभवजन्य रीति का रासायनिक आधार प्रोटीनांशिक एन्ज़ाइमों की ही क्रिया थी, और अब ये एन्ज़ाइम पैंक्रियास अथवा जीवाणु-संवर्ध (बैक्टीरियल कल्चर) से प्राप्त तथा दुर्गन्धयुक्त मल आक्वाथों के स्थान पर प्रयुक्त किये जाते हैं।

कमाये जाने के बाद चमड़ों का परिरूपण किया जाता है। तल्लों के चमड़ों को तेलोपचारित करके बेलनों द्वारा बेल दिया जाता है जिससे वे मज़बूत और टिकाऊ हो जायँ।

मशीन के पट्टे, घोड़े की काठी और लगाम, साइकिल की गद्दी तथा तस्मों के चमड़ों का खूब स्नेहन किया जाता है। इस उपचार से चमड़े के तन्तुओं में स्नेह प्रवेश कर जाता है जिससे वह मज़बूत और आनम्य (प्लायेब्ल) हो जाता है। चमड़े के अन्दर तेल का प्रवेश उसकी श्यानता (विस्कॉसिटी) तथा तलतनाव (सर्फेस टेन्शन) पर निर्भर होता है, साथ ही उसके भीतर तेल को अपरिवर्तित रूप में बनाये रहने के लिए हवा द्वारा उसके असंतृप्त वसीय अम्लों के स्वतः ऑक्सीकरण को रोकना पड़ता है।

जूतों, दस्तानों, वस्त्रों तथा शोभा की वस्तुओं के लिए चमड़ों को तरह-तरह के रंगों से रँगना पड़ता है, आजकल उन पर प्लास्टिक परिरूप भी चढ़ाया जाता है। रँगाई उद्योग भी रसायनविज्ञान पर आधारित है और आज के प्रायः सभी रंग रासा-

यनिक प्रयोगशालाओं के उत्पादन हैं तथा सफल रँगाई के लिए सतर्क रासायनिक नियंत्रण की आवश्यकता होती है।

रँगाई के संबन्ध में कपड़े और चमड़े में एक आधारभूत भेद होता है। चमड़े की तन्तुरचना एकसम नहीं होती बल्कि विभिन्न स्थानों पर भिन्न-भिन्न होती है। इसी लिए साधारणतया उनकी रँगाई एकरूप नहीं होपाती। इसके लिए आजकल चमड़ों पर रंगद्रव्य-युक्त प्लास्टिक का एक स्तर चढ़ा दिया जाता है। ये प्लास्टिक चाहे तो केज़ीन-फार्मालिडहाइड प्लास्टिक हों अथवा नाइट्रो-सेलुलोज़ प्रलाक्ष (लैकर)। अन्य संश्लिष्ट एवं प्राकृतिक रेज़ीनें भी प्रयुक्त होती हैं। चमड़ों का इस प्रकार परि-रूपण प्लास्टिक उद्योग का एक भाग कहा जा सकता है और प्लास्टिक उद्योग तो सर्वथा रासायनिक विज्ञान पर ही निर्भर है। मोटर गाड़ियों के सामानों के लिए प्रयुक्त होनेवाले सभी चमड़ों का परिरूपण नाइट्रो-सेलुलोज़ प्रलाक्षों से ही किया जाता है। पुराने ज़मानेवाले पेटेण्ट चमड़े पर अलसी तेल की धीरे-धीरे जमनेवाली वार्निश का स्तर चढ़ाया जाता था, किन्तु आधुनिक समय में चमड़ों का परिरूपण रंगद्रव्य--युक्त प्लास्टिक अथवा नाइट्रो-सेलुलोज़ से किया जाता है, यह एनामलकृत चमड़े कहे जाते हैं।

ग्रंथसूची

ARNOLD, J. R. : *Hides and Skins.* A. W. Shaw Co., Chicago.

GNAMM, H. : *Gerbstoffe u. Gerbmittel.* Julius Springer.

GRASSER, G., AND ENNA, F. G. A. : *Synthetic Tannins.* Crosby Lockwood & Son.

HOUBEN, L. : *La Courroie,* Houben, Verviers.

IMPERIAL INSTITUTE : *Preparation of Empire Hides and Skins.*

IMPERIAL INSTITUTE : *Tanning Materials of the British Empire.*

JORDON-LLOYD, D. : *Leather.* Royal Institute of Chemistry.

LAMB, M. C. : *Manufacture of Chrome Leather.* Anglo-American Technical Co., Ltd., London.

LAMB, M. C. : *Leather Dressing.* Anglo-American Technical Co., Ltd., London.

NIERENSTEIN, M. : *Natural Organic Tannins.* J. & A. Churchill.

PROCTER, H. R. : *Principles of Leather Manufacture.* E. & F. N. Spon, Ltd.

SCHINDLER, W. : *Die Grundlagern des Fettlicherns.* Sachsische Verlag, Leipzig.

STIASNY, E. : *Gerbereichemie.* Theodor Steinkopf.

WILSON, J. A. : *Chemistry of Leather Manufacture.* Reinhold Publishing Co.

WOOD, J. T. : *Puering Bating and Drenching of Skins.* E. & F. N. Spon, Ltd.

आसंजक और सरेस[1]

आर० बैरी ड्र्यू, एम० एस-सी० (मेलबोर्न), एफ० आर० आई० सी०

आसंजक अर्थात् 'ऐडहेसिव' उद्योग में सरेस, गोंद, लेप तथा अन्य इसी प्रकार की वस्तुएँ तैयार की जाती हैं, जिनका अनेक औद्योगिक प्रयोजनों में उपयोग होता है। पशु सरेस इनका एक उत्तम उदाहरण है, जिसका प्रयोग प्राचीन मिस्र के लोग करते थे और तभी से सजावट और बनावट के काम में इसका इस्तेमाल होता आया है। उपस्कर (फर्नीचर) के कौतुकालयों (म्यूज़ियम) में ऐसी सुन्दर सुन्दर वस्तुएँ संगृहीत हैं जो आज तक अपने मूल स्वरूप में पूर्णतया सुरक्षित हैं। दो लकड़ी के टुकड़ों को सरेस से जोड़ने की साधारण क्रिया का यह अति सूक्ष्म इतिहास है। इस सामान्य रीति के अध्ययन से यह ज्ञात होगा कि एक पुरानी कला विज्ञान के प्रभाव से किस प्रकार बढ़ी और कैसे आज एक विशाल आधुनिक उद्योग के रूप में विद्यमान है।

पुराने कारीगर पशुओं की खाल एवं स्नायुओं को पानी में उबालकर अपने काम के लिए सरेस बनाते थे। क्वाथ को निथारकर उसे उद्वाष्पित करके गाढ़ा सरेस द्रव तैयार किया जाता था। यही द्रव जो गरम रहते श्यान (विस्कस) द्रव के रूप में होता, ठंडा हो जाने पर जमकर जेली बन जाता। गरम श्यान द्रव को दो लकड़ियों के बीच लगाकर उन्हें कसकर बाँध दिया जाता, जोड़ के सूख जाने पर खोलने से दोनों टुकड़े आपस में जुट जाते।

स्पष्ट है कि जोड़ को पक्का करने के लिए कुछ अन्य बातें भी आवश्यक थीं।

[1] Adhesives and glues

जैसे गरम सरेस द्रव में लकड़ी को आर्द्र करने की क्षमता होनी चाहिए अर्थात् उसमें स्नेह की मात्रा अत्यन्त कम होनी चाहिए, दूसरी महत्त्वपूर्ण बात उसकी गाढ़ता है क्योंकि अगर बहुत पतला हो तो वह सबका सब लकड़ी में प्रवेश कर जाय और यदि बहुत गाढ़ा हो तो एकदम प्रविष्ट न हो। तीसरे, उसे सूखकर एक ऐसी दृढ़ झिल्ली के रूप में बन जाना चाहिए जो दोनों तलों को बाँधे रहे।

उपर्युक्त आवश्यकताएँ कुछ बहुत टेढ़ी नहीं थीं; स्नेही पदार्थों को क्वाथ बनाते अथवा उबालते समय उतरा जाने पर छाँट दिया जा सकता था तथा उद्वाष्पन से गाढ़ता को उचित सीमा के अन्दर ठीक कर लिया जा सकता था। और अगर द्रव में जेली की तरह जमने का गुण आ जाता तो सूखने पर उसकी दृढ़ता भी अवश्यम्भावी मान ली जा सकती थी। इस प्रकार इस अनुभवजन्य कला को भी दो पदों में विभाजित किया गया था, एक तो सरेस बनाना और दूसरे उसका प्रयोग करना। सरेस बनाने-वाले खालों के टुकड़ों को उबालकर पहले क्वाथ, फिर सरेस द्रव बनाते, और उसकी जेली जमाकर तथा अन्त में सुखाकर सरेस की बट्टियाँ बना लेते। अभी प्रायः १४ वर्ष पूर्व तक सरेस सुखाने के लिए ऊँची-ऊँची छतें बनायी जाती थीं जो लन्दन ब्रिज से भी दिखाई पड़तीं। इन्हीं छतों पर सरेस की जेली को महीनों तक सूखने के लिए छोड़ दिया जाता था।

सरेस से लकड़ी जोड़नेवाले कारीगर सरेस के सूखे टुकड़ों को लेकर उनके और छोटे-छोटे टुकड़े बना लेते तथा पानी में भिगोकर पुनः जेली बनाते और फिर उसे एक सरेसपात्र में लेकर एक जल-चोलित (वाटर जैकेटेड) ऊष्मक में गलाते। अगर सरेस में जेली बनने का उचित गुण होता तो कारीगर उसकी श्रेणी से संतुष्ट हो जाते और उसकी श्यानता (विस्कॉसिटी) कम करने के लिए यथावश्यक और पानी मिला देते अथवा गाढ़ा करने के लिए कुछ समय तक और उबालते।

सरेस निर्माण के विकास में चमड़ा-कमाई उद्योग का मुख्य प्रभाव रहा है क्योंकि इसी से सरेस बनाने के लिए कच्चा माल अर्थात् खाल के टुकड़े प्राप्त होते थे। इसी के परिणामस्वरूप आर्थिक एवं प्राविधिक कारणों से सरेस बनाने के कारखाने प्रायः टैनरियों के नजदीक स्थापित किये गये और बहुधा दोनों के मालिक भी एक ही होते थे। खाल को पीपों में धोने, चूने के पानी में भिगोने और उसके उदासीनीकरण की विधाएँ मूलतः चमड़ा-कमाई की विधाएँ थीं, जिनका उपयोग सरेस बनाने में भी किया जाने लगा। खाल को लेकर सीधे पानी में उबालने के बजाय पहले उसके शोधन की ये क्रियाएँ की जाने लगीं। इसका फल केवल यही नहीं हुआ कि अधिक शुद्ध सरेस बनने लगा बल्कि उसका जेली बनने का गुण भी बढ़ गया। चूने के उपचार से खाल

सरलता से गल जाती, जिससे उसे अधिक समय तक उबालना नहीं पड़ता, और सरेस का बल क्षीण नहीं होने पाता।

सरेस की उत्तमता बढ़ने का एक कारण और भी था। उन्नीसवीं शताब्दी में भैषजिक, खाद्य एवं फोटोग्राफी प्रयोजनों के लिए अधिक शुद्ध सरेस की माँग हुई, जिसकी पूर्ति के लिए प्रविधियों में विकास किया गया। निर्माताओं ने इस अवसर का उत्तम लाभ उठाया और अन्तिम पदार्थ का श्रेणीकरण प्रारम्भ किया, क्योंकि जो जिलेटिन मिठाई बनाने के लिए उपयुक्त होती वह लकड़ी जोड़ने के लिए अत्यधिक श्यान (विस्कस) होती और इसी के उल्टे लकड़ी जोड़ने के काम आनेवाला सरेस खाद्य पदार्थों के लिए अनुपयुक्त होता। इस श्रेणीकरण से ही इस उद्योग में विश्लेषण-रसायनज्ञ का प्रवेश प्रारम्भ हुआ। पहले तो वह केवल जेली-बल की ही जाँच करते क्योंकि वही सरेस की उत्तमता का मानक माना जाता था। आगे चलकर सरेस अथवा जिलेटिन की शुद्धता एवं विशेष प्रयोजनों के लिए उसकी उपयुक्तता की परीक्षणविधियाँ भी विकसित की गयीं। इन नयी-नयी प्रकार की जिलेटिनों की माँगों और तदर्थ उसके श्रेणीकरण का एक विशेष प्रभाव यह हुआ कि लकड़ी के काम में आनेवाले पुरानी किस्म के सरेस की भी जाँच और परीक्षा होने लगी।

लकड़ी जोड़नेवाले सरेस को खाल से बनाने की प्रथा उन्नीसवीं शताब्दी तक चलती रही, किन्तु उसके अन्तिम चरण में हड्डियों से भी सरेस बनना शुरू हो गया था। हड्डियों में सरेस बनानेवाले पदार्थ के अतिरिक्त फास्फेट और वसा भी होती है, अतः इन दोनों वस्तुओं की माँग बढ़ने से ही हड्डी से सरेस तैयार करने के उद्योग को भी बड़ा प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। हड्डी खाल से कहीं अधिक अवरोधी पदार्थ है, अतः इसके मृदुलन के लिए 'पॉपिन' द्वारा नियोजित दाब के अन्तर्गत गरम करने की रीति बड़ी सफलतापूर्वक अपनायी जा सकी। उसी शताब्दी के अन्त तक कई कारखाने स्थापित हो गये और हड्डी से सरेस बनाने की प्रथा अपनी सफलता के उच्च शिखर पर पहुँच गयी थी। वसा को तो विलायकों की सहायता से निस्सारित किया जाता था और सरेस को ऑटोक्लेवों में प्रति-वाह (काउण्टर-करेण्ट) प्रविधि से। अवशिष्ट चूने के फास्फेट को सुखाकर उर्वरक के काम में लाया जाता था। हड्डी से बना सरेस लकड़ी जोड़ने के काम के लिए बड़ा ही उपयुक्त सिद्ध हुआ और साथ ही इसका उत्पादन भी कम खर्च में इतनी प्रचुरता से होने लगा कि लकड़ी उद्योग की बढ़ती हुई माँग की इससे भली प्रकार पूर्ति होने लगी। इसके साथ ही रसायनज्ञों को न केवल सरेस की परीक्षा बल्कि वसा एवं उर्वरकों की जाँच और परीक्षा भी करनी पड़ी।

अम्लों की क्रिया पर आधारित हड्डियों के मृदुलन की एक अन्य विधा भी विकसित हुई, किन्तु इसका अधिक प्रयोग खाद्य जिलेटिन तैयार करने में हुआ, अतः यहाँ पर उसका कोई विस्तृत उल्लेख करने की विशेष आवश्यकता नहीं है।

बीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक में सरेस उद्योग काफी अच्छी तरह विकसित हो गया था और उसमें बड़े पैमाने पर प्राविधिक रीतियाँ भी अपनायी गयीं थीं। यदि पॉपिन की प्रतिभा और उसके अनुशीलन की बात छोड़ दी जाय तो यह कहा जा सकता है कि उपर्युक्त रीतियों के विकास में वैज्ञानिक अनुसन्धानों का कोई विशेष हाथ न था, वरन् इसका श्रेय अधिकांशतः उन कारखानेवालों की योग्यता और उनके अध्यवसाय को है जो अपने समय की आर्थिक स्थिति एवं प्राविधिक प्रगति के साथ साथ बराबर चलते रहे। वस्तुतः आज के रासायनिक इन्जीनियरिंग एवं प्रोटीन-रसायन को ध्यान में रखकर इस बात पर बड़ा अचम्भा होता है कि प्रोटीन जैसा जटिल पदार्थ केवल अनुभवजन्य रीतियों से इतने बड़े औद्योगिक पैमाने पर कैसे इतनी सफलतापूर्वक विधायित होता रहा।

१९१४ के महायुद्ध का आसंजकों के अध्ययन पर विशेष प्रभाव पड़ा। हवाई जहाज बनाने में लकड़ी जोड़ने के लिए पशुसरेस की बड़ी महत्त्वपूर्ण आवश्यकता हुई। ऐसे सरेस की अनिवार्य उत्तमता के कारण सरकार ने पशुसरेस की विशिष्टियाँ (स्पेसिफिकेशन्स) निर्धारित कर दीं जिनमें उसके तनाव सामर्थ्य (टेन्सिल स्ट्रेंथ) का निश्चयन भी शामिल था। इतना ही नहीं, सरकार ने इस समस्या पर समष्टि रूप से अध्ययन करने के लिए एक समिति भी नियुक्त कर दी। मौलिक प्रयोगात्मक कार्य की एक योजना बनी एवं कार्यान्वित हुई, और १९२२—२३ में उसकी रिपोर्ट तीन खण्डों में प्रकाशित हुई। "ऐडहेसिव कमेटी" के ये प्रतिवेदन (रिपोर्ट) बड़े उल्लेखनीय हैं, क्योंकि इनमें आसंजन की समस्याओं को हल करने के लिए आधुनिक अन्वेषणरीतियों का प्रथम वर्णन है, इसके अतिरिक्त इनसे विषयविशेष की भावी प्रगति एवं विकास के लिए बड़ी प्रेरणा और बड़ा उत्साह प्राप्त हुआ। इस प्रकार 'ब्रिटिश स्टैण्डर्ड्स इन्स्टिट्यूशन' प्रारम्भिक विशिष्टियों को निरन्तर संशोधित करता रहा तथा १९२७ में सरेसपरीक्षा की कुछ और रीतियाँ भी प्रकाशित की गयीं। इन रीतियों के निर्धारण में रसायनज्ञों और निर्माताओं तथा उपभोक्ताओं के प्रतिनिधियों ने काफी सावधानी एवं जाँच-पड़ताल से काम लिया, जो परम्परागत रीतियों की तुलना में काफी विकसित एवं प्रगतिशील सिद्ध हुईं।

सरेस उद्योग में विश्लेषणरीतियों के प्रवेश के साथ-साथ उस पर विज्ञान का दूसरा महत्त्वपूर्ण प्रभाव कलिलीय रसायन (कोलॉयड केमिस्ट्री) के विकास का पड़ा।

१८५० में ग्राहम ने "कोलॉयड" शब्द को जन्म दिया था, जिसका ध्येय जिलेटिन, स्टार्च तथा गोंद जैसी अकेलासीय (नॉन-क्रिस्टलाइन) पदार्थों की प्रकृति का बोध कराना था। १९१७ में कलिलीय रसायन की स्थिति एवं उसकी औद्योगिक उपयोगिता के बारे में जाँच करने के लिए "ब्रिटिश असोसियेशन फॉर दि ऐडवान्समेण्ट ऑफ साइन्स" ने एक उप-समिति नियुक्त की, जिसने १९१७–१९२३ की कालावधि में अपना प्रतिवेदन विस्तृत खण्डों में प्रकाशित किया। इस विषय की तत्कालीन प्रगति का "फैरेडे सोसायटी" के "डिस्कशन्स" तथा "अमेरिकन कोलॉयड सिम्पोज़िया" के "मोनोग्राफ्स" में बड़ा सुन्दर विवरण है।

इन विकासों की पृष्ठभूमि तथा आधुनिक पदों में लकड़ी जोड़ाई की आवश्यकताओं का वर्णन एक रोचक विषय है। गरम सरेसद्रव को अब भागशः जलांशित प्रोटीन का कलिलीय विलयन कहना अधिक उपयुक्त होगा। ऐसे विलयन में विद्यमान एकक विभिन्न आणविक (मॉलिक्यूलर) परिमाणों के होते हैं, जिनका प्रवेश भी विभिन्न रन्ध्रिता (पोरॉसिटी) वाले तलों में होता है। इस द्रव का तल-तनाव कम तथा श्यानता का उच्च तापगुणांक (हाई टेम्परेचर कोइफिशेण्ट ऑफ विस्कॉसिटी) अधिक होता है। यह भी ठंडा होने पर जमकर जेली बन जाता है, जिसके सूखने पर ऐसा दृढ़ और ठोस स्तर बनता है जो फिर से पानी नहीं सोखता अर्थात् आर्द्र नहीं होता। इस स्तर की तनावसामर्थ्य दो बातों पर निर्भर होती है—(१) मूल प्रोटीन की शुद्धता एवं उसके जलांशन (हाइड्रॉलिसिस) की सीमा, और (२) जोड़ की अन्तिम आर्द्रतास्थिति। जोड़ों को सूक्ष्मदर्शी की सहायता से देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि लकड़ी के दो तलों के बीच सरेस का एक ठोस एवं अखण्ड स्तर होता है जो दोनों तलों के रन्ध्रों के अन्दर प्रविष्ट हो जाता है, इसी से वे दोनों तल परस्पर आबद्ध होते हैं और खूबी यह है कि जब ऐसे जोड़ों पर बलप्रयोग किया जाता है तब जोड़ के बीच का स्तर नहीं टूटता बल्कि उसकी समीपस्थ लकड़ी टूट जाती है।

प्रस्तुत लेख में सरेस की काफी चर्चा की गयी क्योंकि आसंजक वर्ग का यह बड़ा महत्त्वपूर्ण पदार्थ है। आसंजक बहुधा ऐसे पदार्थों से बनाये जाते हैं जिनके अणु काफी बड़े होते हैं, जैसे प्रोटीन, स्टार्च, रेज़ीन, रबर इत्यादि। द्रव में इनका ऐसा विक्षेपण (डिस्पर्शन) होता है कि इनके अणु खण्डित होकर विभिन्न परिमाणों के हो जाते हैं। द्रव भी ऐसा होना चाहिए जो तलविशेष को आर्द्र कर सके, इसी लिए लकड़ी के लिए जलीय विलयन, सेलुलायड के लिए एसिटोन विलयन तथा रबर के लिए बेन्ज़ीन विलयन प्रयुक्त होते हैं। सूखने पर आसंजक का यथावश्यक एक दृढ़ अथवा

लचकीला ठोस स्तर बनना चाहिए और इस स्तर में जुड़नेवाले तलों के प्रति एक स्वाभाविक बन्धुता भी होनी चाहिए। तल के रन्ध्रों में आसंजक अणुओं की प्रविष्टि से उसमें और भी अधिक मजबूती आ जाती है। अंशतः अपचयित (डिग्रेडेड) प्रोटीन और स्टार्च अथवा अंशतः रचित संश्लिष्ट रेज़ीन उत्तम आसंजक का काम करती हैं। इनकी कुछ ऐसी भौतिरासायनिक सक्रियता होती है जिसके कारण उनमें विशिष्ट आसंजन गुण आ जाता है, विशेष कर उनके अणुओं के अनेकत्व (प्लूरैलिटी) के कारण तलरन्ध्रों में उनका प्रवेश सहज हो जाता है जिससे जोड़ में विशेष सामर्थ्य आ जाती है। न सूखनेवाले आसंजक द्रव ही रह जाते हैं और उनके जोड़ने की क्रिया उनकी चिपचिपाहट (टैकीनेस) के गुण पर ही निर्भर होती है, इसी से ऐसे जोड़ लचीले किन्तु कमजोर होते हैं।

यद्यपि इस लेख की सीमा के अन्दर संपूर्ण विषय का प्रतिपादन संभव नहीं, फिर भी कच्चे मालों के आधार पर वर्गीकृत कुछ उदाहरण तथा उनके वैज्ञानिक विकास का संक्षिप्त वर्णन किया जा सकता है।

पशु-सरेस—लकड़ी के कामों में तथा अपघर्ष[1] पत्र एवं गोंदलगे पत्र बनाने तथा जिल्दसाज़ी के काम के लिए पशु-सरेस का प्रयोग होता है। जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, आजकल के सरेस-निर्माता अपने निष्पन्न पदार्थ की नम्यता, चिपकाऊपन, श्यानता जैसे गुणों पर विशेष नियंत्रण रखने में सफल हुए हैं तथा वे प्रयोजनविशेष के लिए विशिष्ट श्रेणियों के सरेस बना भी सकते हैं। पशु-सरेस का प्रयोग प्रायः तप्त दशा में किया जाता है, लेकिन सूख जाने पर उसके स्तर में पुनः आर्द्र होने अर्थात् भींग जाने का गुण बना रहता है, इसलिए इस सरेस से जुड़ी वस्तुएँ खुली नहीं रखी जा सकतीं, यद्यपि घर के अन्दर रखने पर ये असीम काल तक टिकती हैं।

मत्स्य-सरेस—यह सरेस एक श्यान द्रव के रूप में बिकता तथा लकड़ी के काम, जिल्दसाज़ी और सामान्य मरम्मत के काम में प्रयुक्त होता है।

केज़ीन-सरेस—गत महायुद्ध में हवाई जहाज़ बनाने के काम के लिए इस प्रकार के सरेस का विशेष विकास किया गया था, और आज भी उस प्रयोजन के लिए इसका बड़ा महत्त्व है। यह सरेस चूर्ण अवस्था में मिलता है, और इसमें केज़ीन, चूना तथा सोडा मिला होता है। इसमें ठंडा पानी मिलाकर इसका इस्तेमाल किया जाता है। इस प्रकार जल मिलाने से भागशः जलांशित केज़ीन का एक श्यान विलयन तैयार हो

[1] Abrasive paper

जाता है, जिसे ६ से ८ घण्टे के अन्दर इस्तेमाल कर लेना पड़ता है। सूखने पर जोड़ के बीच में अविलेय कैल्सियम केज़िनेट का एक दृढ़ स्तर बन जाता है। कैल्सियम केज़िनेट के जल-अविलेय होने के कारण एक बार सूख जाने पर इसके स्तरों पर पानी का फिर कोई प्रभाव नहीं होता, इसी लिए केज़ीन-सरेस के जोड़ बहुत कुछ आर्द्रता-अवरोधी होते हैं। इस सरेस का विशेष गुण यह है कि इसे साधारण ताप पर बनाया और इस्तेमाल किया जा सकता है। इसके निर्माण-उद्योग में भी वैज्ञानिक अनुसन्धान का बड़ा महत्त्व रहा है।

संश्लिष्ट सरेस—संश्लिष्ट सरेस सर्वथा रासायनिक अनुसन्धानों के फलस्वरूप प्राप्त हुए तथा प्लास्टिक उद्योग के प्रभाव में ही विकसित हुए हैं। ये संश्लिष्ट ऊष्म-स्थाप[1] रेज़ीनों के विलयन होते हैं और इनकी विशेषता यह है कि जहाँ पशुसरेस ठंडा होने पर जमते हैं वहाँ ये गरम करने पर जमते हैं। मुख्यतः इनका उपयोग स्तरकाष्ठ (प्लाईउड) बनाने में होता है। लकड़ी के स्तारों पर द्रव आसंजक पोत दिया जाता है, अथवा उसको पतले कागज पर पोतकर सुखा लिया जाता है और इसी कागज को दो स्तारों के बीच रख दिया जाता है। इस प्रकार सरेसलगे स्तारों को ९०°-१४०° से० ताप पर रखे यांत्रिक प्रेसों में दबा देने से वे आपस में जुड़ जाते हैं। यह सारी क्रिया बहुत शीघ्र हो जाती है जिससे उत्पादन भी बड़े पैमाने पर हो सकता है। इस प्रकार तैयार किये गये स्तरकाष्ठ में जल की अतिरिक्त मात्रा की आवश्यकता नहीं होती। इन आसंजकों का विकास जलाभेद्य[2] स्तरकाष्ठ बनाने के लिए हुआ था और वे सफल भी हुए। पुरुभाजित फिनॉल-फार्माल्डिहाइड से सर्वथा जलावरोधी स्तर बनता है अतः वायुयानों के प्रतिबलित (स्ट्रेस्ड) भागों के लिए पत्रदलीय[3] लकड़ी बनाने में इसका विशेष प्रयोग होता है। यूरिया-फार्माल्डिहाइड इतना अवरोधी नहीं होता किन्तु इसमें कुछ अन्य गुण होते हैं, जिनके कारण यह शल्कल काष्ठ[4] के लिए उपयुक्त होता है। इन दोनों प्रकार के संश्लिष्ट सरेसों के लिए वायुयान-विशिष्टियाँ निर्धारित होती हैं। साधारण लकड़ी जोड़ने के काम में भी इनका प्रयोग होता है जो प्रायः साधारण ताप पर ही किया जाता है, परन्तु इसके लिए इसमें कोई कठोरकारी[5] पदार्थ मिलाना पड़ता है। आधुनिक अनुसन्धान-रीतियों से इसका उद्योग भी बड़ी द्रुत गति से आगे बढ़ रहा है।

[1] Thermosetting [2] Waterproof [3] Laminated [4] Veneering
[5] Hardening

स्टार्च आसंजक—३५०० ईसा पूर्व में भी महत्त्वपूर्ण कागजों को चिपकाने के लिए स्टार्च आसंजकों का प्रयोग होता था। स्टार्च अथवा मैदे को जल के साथ उबालकर एक लेपी (पेस्ट) तैयार करना स्टार्च आसंजक बनाने की सर्वसाधारण रीति है। इसमें क्षार मिला देने से कुछ अवस्थाओं में इससे लकड़ी भी भली प्रकार जोड़ी जा सकती है, इसलिए स्तरकाष्ठ यानी प्लाईउड बनाने के लिए भी ऐसे आसंजक प्रयुक्त होते रहे हैं। अम्ल, क्षार अथवा लवण मिलाकर इस प्रक्रिया में भी संशोधन करके उसे कागज तथा गत्तों के लिए विशेष उपयोगी बनाया गया। उन्नीसवीं शताब्दी में डेक्स्ट्रीन अथवा "ब्रिटिश गम" का महत्त्वपूर्ण विकास हुआ। इसके बनाने के लिए स्टार्च में कोई उत्प्रेरक (कैटेलिस्ट) मिलाकर उसको शुष्क अवस्था में गरम किया जाता है। इस पदार्थ को जल में विलीन करने से एक श्यान (विस्कस) एवं चिपकदार विलयन तैयार हो जाता है, जो सूख जाने पर प्रयोग के लिए फिर गीला किया जा सकता है। इस गुण के नाते यह टिकटों एवं लिफाफों के लिए विशेष रूप से इस्तेमाल किया जाता है। इससे स्पष्ट है कि आसंजन के लिए स्टार्च-अणुओं का आंशिक खण्डन आवश्यक है, किन्तु यदि उसका अपचयन (डिग्रैडेशन) अधिक सीमा तक हो जाय और माल्टोज़ बन जाय तो उसका आसंजन गुण गायब हो जाता है। पिछले कुछ दशकों में स्टार्चरसायन का बड़ा विकास हुआ है जिसके फलस्वरूप विशिष्ट प्रयोजनों के लिए विविध प्रकार के स्टार्च तैयार किये जा सके हैं। इन आसंजकों के विश्लेषण की रीतियाँ 'ब्रिटिश स्टैण्डर्ड पब्लीकेशन' में दी गयी हैं। इस उद्योग पर भी विज्ञान का प्रमुख प्रभाव रहा है, जिसके परिणामस्वरूप इसमें यथावश्यक संशोधन, परिवर्तन होते रहे हैं।

सोडियम सिलिकेट—सोडियम सिलिकेट विलयन का विकास अभी हाल की बात है और यह अकार्बनिक आसंजक का एक रोचक उदाहरण है। यह विलयन क्षारीय होता है और इसकी श्यानता भी अधिक होती है तथा इसमें विशिष्ट कलिलीय गुण भी होते हैं। इसके स्तर सूखने पर जलावरोधी नहीं होते। कागज के डब्बे तथा वलयित (कॉरुगेटेड) पत्र बनाने के उद्योग में इसका मुख्य प्रयोग होता है।

निर्जलीय आसंजक—निर्जलीय (नॉन-ऐकुअस) आसंजकों का विकास भी आधुनिक काल की ही बात है और अब इनका महत्त्व भी अधिकाधिक बढ़ता जाता है। इनका उपयोग मुख्यतः इस बात पर आधारित है कि आसंजक द्वारा जोड़े जानेवाले तलों का आर्द्र होना आवश्यक है। उदाहरणार्थ रबर को बेन्ज़ीन में विलीन करके एक श्यान विलयन बना लेने से रबर-सीमेण्ट तैयार हो जाता है। उसी प्रकार एसिटोन में सेलुलोज़ नाइट्रेट के विलयन से सेलुलायड ज़ोड़ा जा सकता है। लाख

को भी ऐलकोहॉल में घुला कर अथवा यों ही गलाकर जोड़ने के काम में लाया जा सकता है। लकड़ी वाले संश्लिष्ट सरेस तनु ऐलकोहॉल में विलेय होते हैं, किन्तु उनमें कुछ ऐसे भी होते हैं जो अन्य कार्बनिक विलायकों में घुलनशील होते हैं, लेकिन इनका प्रयोग उष्मस्थाप (थर्मोसेटिंग) सिद्धान्त पर नहीं, केवल विलायक के साधारण उद्वाष्पन पर ही आधारित होता है। विनाइल एवं स्टायरीन रेज़ीन तथा सेलुलोज़ ईथर और एस्टर ऐसी संश्लिष्ट रेज़ीनों के उत्तम उदाहरण हैं। वस्तुतः आजकल किसी भी प्रकार के तल के लिए उपयुक्त आसंजक प्राप्य हैं।

अभिनव विकास—युद्ध काल में आसंजकों के विकास में भी रोचक एवं महत्त्वपूर्ण उन्नति हुई। पशु-सरेस की बेञ्ज़ीन में अविलेयता का विशेष लाभ उठा कर उससे युद्ध-वायुयानों की इंधन टंकियाँ बनाने का काम लिया गया। और वायुयान बनाने में प्रतिबलित[1] जोड़ों के लिए संश्लिष्ट सरेसों का प्रयोग हुआ। उष्मस्थाप संश्लिष्ट सरेसों का उपयोग जलावरोधी स्तरकाष्ठ, संपीडित काष्ठ तथा व्यापित (इम्प्रेग्नेटेड) काष्ठ बनाने में किया जाता है। इन काष्ठों का विशेष प्रयोग वायुयान एवं जलयान बनाने में होता है। इन सरेसों के उष्मस्थापन के लिए भापचोलि[2] प्रेसों के स्थान पर अब रेडियो आवृत्ति (फ्रिक्वेन्सी) शक्ति का प्रयोग होने लगा है। इसका विशेष लाभ यह है कि जोड़ों में एकरूप ताप उत्पन्न किया जा सकता है। आजकल अलुमिनियम के स्तारों को स्थानिक संधान (स्पॉट वेल्डिंग) से न जोड़कर कार्बनिक आसंजकों की सहायता से ही जोड़ा जाने लगा है।

आधुनिक प्लास्टिकों के क्षेत्र में भी असाधारण विकास हुआ है और संश्लिष्ट आसंजकों की उन्नति में उससे विशेष लाभ हुआ। इसका पेटेण्ट वाङ्मय बड़ा विस्तृत है और दिनोंदिन तेजी से बढ़ता जा रहा है।

आसंजकों का बड़ा प्राचीन इतिहास है, किन्तु इनका उद्योग समय की माँग के साथ-साथ बराबर चलता, बदलता रहा तथा नयी माँगों की पूर्ति और नये ज्ञान का उपयोग करता रहा है। प्रबल आशा है कि भविष्य में भी यह इसी प्रकार उन्नति करता रहेगा।

[1] Stressed [2] Steam-jacketed

ग्रंथ-सूची

BOGUE, R. H. : *Chemistry and Technology of Gelatine and Glue.* McGraw Hill Book Co., Inc.

DULAC, R. : *Industrial Cold Adhesives.* Charles Griffin & Co., Ltd.

ELLIS, C. : *Chemistry of Synthetic Resins.* Reinhold Publishing Co.

HILL, F. T. : *Materials of Aircraft Construction.* Sir Isaac Pitman & Sons, Ltd.

MORRELL, R. S. : *Synthetic Resins and Allied Plastics.* Oxford University Press.

RADLEY, J. A. : *Starch and its Derivatives.* Chapman & Hall Ltd.

SUTERMEISTER, E. AND BROWNE, F. L. : *Casein and its Industrial Applications.* Reinhold Publishing Co.

SMITH, P. I. : *Glue and Gelatine.* Sir Isaac Pitman & Sons Ltd.

PERRY T. D. : *I. and S. C. News* 1944, p. 700.

DE BRUYNE : *Aircraft Eng.*, Vol. XVI. 1944 Pp. 115. 140.

ARTICLE ON CYCLEWELD : *Modern Plastics* (*U. S. A.*) Sept. 1943.

BOOKLET ON PLASTICS : *Postwar Building Studies, No.* 3, 1944. H. M. Stationery Office.

अध्याय १३

फोटोग्राफी

डी० ए० स्पेन्सर, पी-एच०डी० (लन्दन), ए०आर०सी०एस०,
एफ०आर०आई०सी०

रजत लवणों के प्रकाश-सुग्राही होने की बात प्रायः १७वीं शताब्दी के मध्य में ज्ञात हुई थी, किन्तु इस तथ्य का व्यावहारिक प्रयोग करके फोटोग्राफी का प्रारम्भ गत सौ वर्ष के पहले नहीं हुआ। फ्रान्स की सरकार ने १८३९ में डाग्युरे के आविष्कार का एक विस्तृत विवरण प्रकाशित कराया था। डाग्युरे ने अपने इस आविष्कार में यह प्रदर्शित किया था कि यदि रजत आयोडाइड के एक बहुत पतले स्तर को अल्प समय तक प्रकाश में विगोपित[1] किया जाय तो उसमें प्रत्यक्षतः कोई परिवर्तन नहीं होता, किन्तु उस पर एक 'गुप्त प्रतिबिंब' (लेटेण्ट इमेज) अंकित हो जाता है; इसे पारद वाष्प में विकसित किया जा सकता है। प्रकाश द्वारा रजत आयोडाइड के विच्छेदन से उसके तल पर जो लेशमात्र अदृष्टव्य रजत विमुक्त हो जाता है, उसी के साथ पारद का संरसीकरण[2] होने से द्रष्टव्य प्रतिबिंब उत्पन्न हो जाता है। पट्ट को सोडियम थायोसल्फेट विलयन में डुबो करके अपरिवर्तित रजत आयोडाइड को साफ कर देने से वह प्रतिबिंब स्थायी बनाया जा सकता है। इसी सोडियम थायो-सल्फेट को फोटोग्राफर लोग 'हाइपो' कहते हैं।

डाग्युरे के फोटो चित्र धातु-पट्टों पर बनते थे तथा उन्हें परावर्तित प्रकाश (रिफ्-लेक्टेड लाइट) में ही देखा जा सकता था। दूसरी बात यह थी कि उनकी अतिरिक्त प्रतियाँ नहीं बनायी जा सकती थीं। किन्तु १८४० में इंग्लैण्ड में फॉक्स टैलबॉट ने फोटोग्राफी की आधुनिक विधा का समारम्भ किया। उन्होंने यह दिखलाया कि प्रकाश विगोपित रजत हैलाइड को हलके अपचायक (रिडक्टेण्ट) से उपचारित

[1] Exposed [2] Amalgamation

करके गुप्त प्रतिबिंब को द्रष्टव्य चित्र के रूप में विकसित किया जा सकता है। इस उपचार से सुग्राही पदार्थ पर जहाँ-जहाँ प्रकाश पड़ता है वहाँ वहाँ काला रजत जमा हो जाता है, फलतः अंकित चित्र में मूल वस्तु का प्रकाश काला एवं उसकी छाया सफेद हो जाती है। प्रकाश सुग्राही पदार्थ लगे कागज पर मोम लगा करके उसे पार-भासक (ट्रान्सलूसेन्ट) बनाया और इस प्रतिचित्र[1] के द्वारा दूसरे सुग्राही स्तार (शीट) को अवगुण्ठित (मास्क) करके उसे विगोपित किया गया। इस दूसरे स्तार को विकासित करने से ऐसा अनुचित्र[2] बना जिसमें वस्तु का मूल प्रकाश और छाया प्राकृतिक रूप से अंकित थी।

कालान्तर में ऐसे कैमरे बनाये गये जिनमें रखकर कोलोडियन लगा काच पट्ट विगोपित करने से रजत हैलाइड का स्वस्थाने[3] अवक्षेपण (प्रेसिपिटेशन) हो जाता था। किन्तु इस विधा में यह कठिनाई थी कि कोलोडियन पायस (इमल्शन) को विगोपन के तुरन्त पूर्व बनाना पड़ता तथा उसका विकासन भी स्तार के आर्द्र रहते-रहते कर लेना होता था। परन्तु जिलेटिन का आविष्कार हो जाने से एक ऐसा उत्तम माध्यम मिल गया जो रजत हैलाइड को यथास्थान धारण किये रह सकता था, परिणामस्वरूप शुष्क पट्ट (ड्राई प्लेट) बनने लगे। अब फोटोग्राफरों को अपनी सामग्री अपने आप तैयार करने की आवश्यकता भी न रह गयी। १८७७ से फोटोग्राफी के सामान तैयार करने का एक उद्योग भी प्रारम्भ हो गया। १८८४ में सेलुलायड के आविष्कार से कैमरों के लिए हलकी रोल फिल्में बनने लगीं, इसके फलस्वरूप फोटोग्राफी का लोगों को व्यापक शौक हो गया तथा सिनेमैटोग्राफी का प्रारम्भ हुआ। यह लोगों के संसारव्यापी मनोरंजन का साधन बना। फोटोग्राफी के शौक और सिनेमा के मनोरंजन की व्यापकता के कारण लोग फोटोग्राफी को एकमात्र इन्हीं के निमित्त मानने लगे और इस बात को प्रायः एक दम भूल गये कि विज्ञान की प्रगति में भी उसका बड़ा आधारभूत योगदान हुआ।

फोटोग्राफी के संसार-व्यापी एवं महत्त्वपूर्ण उद्योग ने मानव सुख एवं कल्याण में बड़ा उत्तम योगदान किया है और इसकी कहानी व्यावहारिक रसायन का एक बड़ा मनोहारी अध्याय बन गया है। पूर्वगामी अव्यवस्थित दशा से लेकर आधुनिक फोटोग्राफी के विकास तक की कहानी बड़ी लम्बी है, जिसके वर्णन के लिए वर्तमान लेख में पर्याप्त स्थान नहीं है, इसलिए हम पाठकों को सीधे वर्तमान स्थिति

[1] Negative [2] Positive [3] In situ

का अवलोकन करायेंगे तथा विस्तृत विवरण जानने के लिए उन्हें ग्रन्थ-सूची का संकेत करेंगे।

उन पदार्थों को, जिन पर डाग्युरे और फॉक्स टैलबॉट ने फोटो चित्र बनाये थे, कई मिनट तक विगोपित करना पड़ता था, जिसके कारण प्रकृति का केवल एक रंग-अन्ध प्रतिरूप (कलर ब्लाइण्ड रिप्रेज़ेण्टेशन) प्राप्त हो पाता था क्योंकि रजत हैलाइड स्वयं प्रथमतः केवल परा-नीललोहित तथा नीले प्रकाश के ही सुग्राही थे। किन्तु आधुनिक फोटोग्राफी में पायस की सहायता से एक सेकेण्ड के दस लाखवें भाग को भी अंकित किया जा सकता है तथा उसे २००० से लेकर १२००० ऐंग्स्ट्राम तक के विकिरण वर्णक्रम (स्पेक्ट्रम ऑफ रैडियेशन) के लिए सुग्राही बनाया जा सकता है। यह स्मरण रखना चाहिए कि दृश्य वर्णक्रम का विस्तार ४००० से ७००० ऐंग्स्ट्राम (A°) तक होता है। इसके परिणामस्वरूप अनुसन्धान, नियंत्रण एवं संलेखन कार्य में फोटोग्राफी एक अति उत्तम साधन बन गया, क्योंकि स्थायी एवं अमिट स्मृति के प्रतिरूपण के अलावा इससे ऐसे तथ्यों का रहस्योद्घाटन भी हुआ जिनके संबन्ध में अन्यथा किसी प्रकार से नहीं जाना जा सकता था।

फोटोग्राफी पायस एक काफी जटिल संहित (कॉम्प्लेक्स सिस्टम) होता है, जिसके सफल निर्माण में विज्ञान एवं कला दोनों निहित होते हैं। प्रथमतः यह ०·१-५ μ (माइक्रॉन) परिमाण के रजत हैलाइड केलासों (क्रिस्टल) का आलम्बन (सस्पेन्शन) है। विभिन्न परिमाणवाले कणों का अनुपात एवं उनके परिमाणों की सीमा तथा किसी हैलाइड विशेष अथवा कई हैलाइडों के मिश्रणों की उपस्थिति, ये सब बातें प्रयोजन विशेष के अनुसार नियोजित की जाती हैं, क्योंकि उत्किरणकर्ता (एंग्रेवर), ज्योतिषी (ऐस्ट्रॉनोमर), रेडियो शास्त्री (रेडियॉलोजिस्ट), धातुकर्मज्ञ (मेटलर्जिस्ट), वाटर बोर्ड इन्जीनियर, मुद्रक तथा सिनिमैटोग्राफर—सभी की आवश्यकताएँ भिन्न-भिन्न होती हैं। निर्माताओं द्वारा १०० से भी ऊपर किस्म के पायस प्रस्तुत किये जाते हैं। प्रेमानुशीली अर्थात् अव्यवसायी फोटोग्राफरों के प्रयोग के लिए इनमें से ४—५ से अधिक का महत्त्व नहीं होता। किसी पदार्थ की कार्यकारी गति (वर्किंग स्पीड) कुछ हद तक कणों के परिमाण से संबन्धित होती है, सामान्यतः बड़ा कण सर्वाधिक सुग्राही होता है। इसलिए कैमरों में प्रयुक्त होनेवाले पायसों को निर्माण की किसी अवस्था पर उपयुक्त समय के लिए गरम रखा जाता है जिससे छोटे-छोटे कण मिलकर बड़े कणों का सर्जन करते हैं। अमोनिया के उपचार से भी ऐसा फल प्राप्त होता है। इस परिपक्वन (राइपनिंग) रीति से पदार्थ की कार्यकारी गति आश्चर्यजनक सीमा तक बढ़ जाती है। फोटोग्राफी पायसों को रंग-सुग्राही

बनाने के लिए कणों को पॉलीमेथीन रंजकों से रंजित कर दिया जाता है, इससे रजत हैलाइड के कण वर्णक्रम के उस क्षेत्र के लिए सुग्राही बन जाते हैं जिन्हें रंजक विशेष रूप से अवशोषित कर सकता है। पॉलीमेथीन रंजक पैठिक रंजक होते हैं, जिनमें दो नाभिक CH वर्ग से जुड़े होते हैं। आजकल ऐसे रंजकों की प्रचुर संख्या उपलब्ध है, जिससे फोटोग्राफ किये जानेवाले वर्णक्रम की सीमा अव-रक्त[1] क्षेत्र तक बढ़ गयी है। सफल पायस बनाने में निर्माताओं द्वारा अब भी बड़ी गोपनीयता बर्ती जा रही है, इसका कारण यह है इसमें निहित रासायनिक प्रतिक्रियाएँ बड़ी जटिल हैं और बहुत-सी कार्य-रीतियाँ केवल अनुभव पर ही आधारित हैं। लेकिन बड़ी-बड़ी निर्माणशालाओं के अनुसन्धान विभागों में भौतिक, कलिल एवं कार्बनिक रसायनज्ञ आधारभूत सिद्धान्तों के रहस्योद्घाटन में संलग्न हैं तथा बहुतों के स्पष्टीकरण में वे सफल भी हुए हैं, जिससे फोटोग्राफी सम्बन्धी सामग्री के उत्पादन में विशेष उन्नति हुई है।

हमारे मन में यह प्रश्न भी उठने लगा है कि जिस समय रजत ब्रोमाइड के केलासों पर प्रकाश पड़ता है उस समय वस्तुतः क्या होता है? यह बात तो वैसे बहुत समय से ज्ञात है कि केलास-विशेष के तल के ऊपर ऐसे अत्यन्त छोटे-छोटे क्षेत्र फैले हुए हैं जिनका परिमाण कण-तल के दस लाखवें भाग के बराबर होता है और जो विकासन के लिए नाभिक (न्यूक्लिअस) का काम करते हैं। आधुनिक पायसों (इमल्शन) के प्रकाश के प्रति असीम सुग्राह्यता इन्हीं नन्हें-नन्हें विन्दुओं के कारण होती है। इन विन्दुओं पर रजत सल्फाइड होता है, जो केलास के विगोपन से उसके समस्त पुञ्ज (मास) भर में उन्मुक्त एलेक्ट्रानों को पाशित (ट्रैप) कर लेता है। इस प्रकार इन विन्दुओं पर ऋणात्मक आवेश (निगेटिव चार्ज) चढ़ जाता है, जिसके फलस्वरूप ये केलास-काय के अन्दर से रजत आयनों को आकृष्ट करने लगते हैं और सुग्राह्यता विन्दुओं पर उदासीन रजत परमाणु बन जाते हैं तथा विकासन के लिए नाभिक का काम करने लगते हैं। फोटोग्राफी का मूल-भूत आधार इस तथ्य पर निर्भर करता है कि गुप्त प्रतिबिम्ब बनने में लगी अति सूक्ष्म ऊर्जा (एनर्जी) का उपयोग हो सके, क्योंकि इसी ऊर्जा से गुप्त प्रतिबिंब (लेटेण्ट इमेज) रजत हैलाइड केलास पर विकासक अर्थात् 'डेवेलपर' द्वारा होनेवाले कार्य का उपक्रमण करता है।

[1] Infra red

विकासक यानी डेवेलपर अपचायक पदार्थ (रिड्यूसिंग सब्सटैन्सेज़) होते हैं। इन पदार्थों का रजत हैलाइड द्वारा ऑक्सीकरण होता है तथा रजत हैलाइड स्वयं अपचयित होकर रजत का रूप धारण कर लेता है। यह आवश्यक है कि केवल वे ही कण अपचयित हों, जिनके तल पर उपर्युक्त ढंग से रजत नाभिक बन गये हैं। यदि अपचायक अधिक प्रबल हुआ तो वह विगोपित तथा अविगोपित रजत हैलाइड दोनों का समान रूप से अपचयन कर देगा। दूसरी ओर अति क्षीण अपचायक का विगोपित कणों पर भी कोई प्रभाव न होगा। रसायनज्ञों की कृपा से आजकल आवश्यकतानुसार अपचयन विभव (रिडक्शन पोटेन्शियल) वाले विभिन्न अपचायक पदार्थ प्राप्य हो गये हैं। इनमें से कुछ के ऑक्सीकृत पदार्थ रंगीन एवं अविलेय होते हैं, जिसके कारण रजत प्रतिबिंब के साथ-साथ रंगीन रंजक प्रतिबिंब भी बन जाता है, और अगर रजत के काले प्रतिबिंब को विलीन कर दिया जाय तो रंगीन प्रतिबिंब बच रहेगा। प्राकृतिक रंगवाली फोटोग्राफी की विधा में आवश्यक प्राथमिक रंगीन प्रतिबिंब तैयार करने के लिए यह बड़ी सरल रीति है। रंगीन फोटोग्राफी में प्राकृतिक रंगों के वर्णक्रम निबन्ध (स्पेक्ट्रल कॉम्पोजीशन) की नकल करने का प्रयास नहीं होता, वरन् तीन प्राथमिक रंगों के उपयुक्त मिश्रण से उसकी बराबरी करायी जाती है। सबसे पुरानी विधा में किसी प्राकृतिक दृश्य के तीन प्रतिचित्र (निगेटिव) तैयार कर लिये जाते थे, इनके लिए कैमरे के लेन्स के सामने लाल, हरा तथा नील-नीललोहित स्क्रीन या फिल्टर लगा दिया जाता था। इस प्रकार वस्तु विशेष से परावर्तित होने वाले लाल, हरे और नीले विकिरणों (रैडियेशन्स) को तीनों प्रतिचित्रों की तत्संवादी अपारदर्शिता (ओपैसिटी) के रूप में अंकित कर लिया जाता। इन प्रतिचित्रों की अपारदर्शिता को अनुचित्रों (पॉज़िटिव) की पारदर्शिता (ट्रान्सपैरेन्सी) में बदल कर लाल, हरे और नीले फिल्टरों द्वारा पर्दे पर प्रक्षेपित (प्रोजेक्ट) करने से मिश्रण का जो रंग उत्पन्न होता है वह कार्यकारी परिस्थितियों में मूल प्राकृतिक रंग के इतना निकट अथवा समान होता है कि उसका सूक्ष्म भेद दर्शक की अनुभूति के परे होती है। इस विधा की आधुनिक रीति में तीनों संलेख पायस आधार में ही विद्यमान छोटे-छोटे अदृष्टव्य फिल्टरों की सहायता से एक ही पायस पर अंकित कर लिये जाते हैं।

एक दूसरी रीति में तथाकथित कलाकार के प्राथमिक रंग अर्थात् मैजेण्टा, पीत तथा हरिनील (सियान) का प्रयोग किया जाता है। इस रीति का प्रयोग उस समय किया जाता है जब पारदर्श अनुचित्र (पॉज़िटिव ट्रान्सपैरेन्सी) के स्थान पर चित्र को कागज पर छापना होता है, और आजकल इसका प्रचलन धीरे-धीरे बढ़ रहा है।

उपर्युक्त रंग (मैजेण्टा, पीत एवं हरिनील) पहले बताये गये संकालीत्रय[1] के अनुपूरक रंग हैं। और इन व्यवकाली[2] विधाओं में पूर्व-प्रचलित संकाली प्रथा के अनुसार अलग अलग स्रोतों से लाल, हरे और नीले रंगों को मिलाकर वांछित रंग नहीं उत्पन्न किया जाता, बल्कि श्वेत प्रकाश के एक ही स्रोत में से अवांछित विकिरण (रैडियेशन) के व्यवकलन से ऐच्छिक रंग प्राप्त किया जाता है।

कागज पर रंगीन छपाई के लिए संकाली विधा की ही तरह लाल, हरे और नीले फिल्टर लगा कर पृथक प्रतिचित्र तैयार किये जाते हैं, परन्तु मुद्रित अनुचित्र (पॉज़िटिव प्रिण्ट) रंगीन रोशनाई (फोटोकेमिकल प्रॉसेसेज़), रंगीन रंगद्रव्य (कार्ब्रो, वाइवेक्स), अथवा रंगीन रंजकों (ईस्टमैन वाश-ऑफ रिलीफ, टेक्नीकलर) से बनाये जाते हैं। कोडाक्रोम विधा में तीनों प्रतिचित्रों को एक ही जिलेटिन फिल्म पर बनाया जाता है। ऐसी फिल्म के बनाने में उपयुक्ततः रंग-सुग्राहीकृत पायसों के स्तर एक दूसरे के ऊपर जमाये जाते हैं और फिर ये स्तर रंग विकासन प्रविधियों की सहायता से उपयुक्त रंगों में परिवर्तित कर दिये जाते हैं।

आधुनिक रंगीन फोटोग्राफी रसायन-शास्त्र की देन है और रसायनज्ञों की ही कृपा से किसी वस्तु के विविध रंगों की सूक्ष्म आभा का ठीक-ठीक चित्रण करना संभव हुआ है। इस विकास से निर्माताओं की विक्रय-शक्ति में निस्संदेह वृद्धि हुई है। फिर भी अभी इस उद्योग में फोटोग्राफी की अन्य शाखाओं का भी बड़ा महत्त्व है और सम्प्रति हम उन शाखाओं पर भी दृष्टिपात करेंगे।

व्यावहारिक फोटोग्राफी का कदाचित् सबसे मूल्यवान् गुण यह है कि वह हमारी अनुभूतियों को मूर्त रूप प्रदान करती है। इसीलिए इसे विज्ञानों और कलाओं का "संलेखक देवदूत" (रेकार्डिङ्ग ऐन्जिल) कहा जाता है, क्योंकि शायद ही कोई ऐसी घटना अथवा क्रिया हो जिसे फोटोग्राफिक संलेखों में रूपान्तरित अथवा मूर्त न कर लिया जा सके। आधुनिक कैमरा सचमुच एक ऐसा संश्लिष्ट नेत्र है, जो मानव-नेत्रों की सीमा से बहुत परे है, और वह जो कुछ भी एक बार देख लेता है उसे ऐसा स्थायी बना देता है कि उसकी स्मृति अमिट हो जाती है। एडिंगटन ने कहा था कि हम प्रकृति के बारे में जो कुछ जान सके हैं या जान सकते हैं वह सांकेतिक ज्ञान मात्र है। फोटोग्राफी से ऐसी कठिनाई एवं परिश्रम समाप्त हो गये और अब तो मस्तिष्क को केवल संलेखों के समझने या निर्वचन का ही काम शेष रह गया है, उनके अवलोकन का नहीं।

[1] Additive trio [2] Subtractive

ग्राहकों द्वारा हज़ारों बार किये गये टेलीफोनों का हिसाब यद्यपि अनाश्रित ढंग से भी रखा जा सकता है, किन्तु उसके साथ परिश्रम एवं ग़लती होने की संभावना लगी रहती है। लेकिन कैमरे की सहायता से न केवल समय और परिश्रम बचाया जा सका है बल्कि हिसाब भी एकदम सही-सही रखा जा सकता है। इसी प्रकार के अन्य उदाहरण भी हैं। ऋणाग्र-किरण दोलनलेखी (कैथोड रे ऑसिलोग्राफ) में प्रकाश-विन्दु की गति को मानव नेत्रों से केवल एक बड़े धुँधले तरीके से देखा जा सकता है, अतः इस गति को स्पष्ट एवं बोधगम्य बनाने के लिए गतिमान फोटोग्राफिक फिल्म अनिवार्यतः आवश्यक है।

फोटोग्राफिक चित्रों एवं संलेखों को यथावश्यक रूप से बड़ा अथवा छोटा भी किया जा सकता है। मानव शरीर अथवा यांत्रिक कल पुर्जों के सूक्ष्म दोषों के कारण उत्पन्न अत्यन्त लघु स्पन्दनों का कैमरा द्वारा चित्र लेकर तथा उन्हें बड़ा करके केवल उन्हें स्पष्ट देखा ही नहीं वरन् उनके कारणों को भलीभाँति आँका और समझा जा सकता है।

आधुनिक फोटोग्राफी का आजकल एक बड़ा उपयोगी प्रयोग और भी है। ग्रन्थालयों की पुस्तकों और पाण्डुलिपियों, टाउन हाल के दस्तावेजों, बैंकों के चेकों एवं वाणिज्यिक संस्थाओं के पत्राचारों तथा लेखाओं को फोटोग्राफी की सहायता से अत्यन्त सूक्ष्म रूप में संलेखित कर लिया जा सकता है, जो मूल वस्तुओं की अपेक्षा अत्यन्त छोटे स्थान में रखे जा सकते हैं। इस प्रविधि से न केवल उपर्युक्त संलेखों को थोड़े स्थान में सुरक्षित रखा जा सकता है वरन् इस यंत्र की सहायता से वांछित वस्तु को बड़ी जल्दी और सुविधा से ढूँढ़ भी लिया जा सकता है। इन लघु संलेखों को पर्दे पर उनके मूलाकार में प्रक्षेपित (प्रोजेक्ट) करके विद्यार्थी-वर्ग का बड़ा लाभ किया जा सकता है और साथ ही ऐसे ग्रन्थों, पाण्डुलिपियों एवं अन्य वस्तुओं की भी सुरक्षा की जा सकती है, जो फिर से कभी प्राप्त न की जा सकती हों। फोटोग्राफी के इस प्रयोग का स्पष्ट दृष्टान्त कल-पुर्जे-कारखानों का है जहाँ उन्हें यंत्रों के लाखों चित्र रखने पड़ते हैं, जहाँ पहले इन चित्रों को रखने के लिए १५०० वर्गफुट भूमि स्थान की आवश्यकता होती थी वहाँ अब सूक्ष्म फोटोग्राफी की सहायता से उन सबको दो दराजों में ही बन्द कर लिया जा सकता है।

जैसा कि पहले बताया जा चुका है, कैमरे की आँख उन स्थितियों में भी चीजों को भलीभाँति देख लेने में सफल होती है, जहाँ मनुष्य की आँखें कदापि नहीं देख सकतीं। फोटोग्राफिक प्लेट का एक बड़ा भारी गुण यह है कि उस पर किसी अति धुँधले प्रकाश को भी बड़ी लम्बी कालावधि तक अंकित करके उसके प्रत्यक्ष प्रभाव को संचित किया

जा सकता है। हमारी अपनी आँख यह काम नहीं कर सकती क्योंकि अगर हम किसी धुँधली वस्तु को बहुत देर तक देखते रहें तो स्वयं हमारी आँख ही धुँधला जाती है और हम उस वस्तु को उतना भी नहीं देख सकते जितना प्रथम दृष्टि में देख सके थे। चाँदनी रात में यदि हम स्वयं अपनी आँखों से १०,००० तारे देख सकते हैं तो ज्योतिषीय कैमरों को घण्टों तक विगोपित रख कर लगभग तीन खरब नक्षत्रों के चित्र लिये जा सके हैं।

एक ओर तो ज्योतिषीय कैमरे होते हैं जो टनों भारी होते हैं, दूसरी ओर अति सूक्ष्म जठरान्तर (इण्ट्रागैस्ट्रिक) कैमरे होते हैं, जो रोगियों द्वारा निगल लिये जा सकते हैं। इन कैमरों द्वारा पेट के अन्दर का चित्र लिया जाता है जिससे डाक्टर अथवा सर्जन को रोग-निदान एवं उसकी चिकित्सा में बड़ी सहायता मिलती है। इस कैमरे में एक छोटा-सा दमक दीप (फ्लैश लैम्प) भी लगा रहता है, जिसकी दमक लगभग १/१०,००० सेकण्ड तक रहती है और उसी से कैमरे को चित्र लेने के लिए प्रकाश प्राप्त होता है। कभी-कभी उपर्युक्त समय से भी कम विगोपन की आवश्यकता होती है और एक सेकेण्ड के दस लाखवें भाग के विगोपन से फोटोचित्र बनाये जा सकते हैं। इस अति लघु काल तक दमक देनेवाले भी दमक-दीप[1] होते हैं।

सामान्यतः अत्यल्प विगोपनों की आवश्यकता उस समय अधिक होती है जब फोटो चित्रों की माला तैयार की जाती है। इस प्रकार उन अल्पकालिक घटनाओं को समझने में सुविधा होती है जिन्हें हम अपने नेत्रों से देख-समझ नहीं सकते। इस प्रकार एक विद्युत स्फुल्लिंग अर्थात् चिनगारी के, जो केवल १/५० सेकेण्ड तक ही दुतिमान रहती है, एक सहस्र अलग-अलग चित्र लेकर उसके क्षणिक जीवन का सारा इतिहास जाना जा सकता है। ऐसे अध्ययन से स्फुल्लिंग अन्तरालों (स्पार्क गैप्स) तथा स्विचों की प्ररचना (डिज़ाइन) में बड़ी सहायता मिलती है।

उपर्युक्त प्रकार की चित्र-माला के परीक्षण का सबसे सुविधाजनक एवं सार्थक तरीका अत्यन्त शीघ्रता से पर्दे पर उनका प्रक्षेपण करने का है, यानी मूल-माला को एक विशेष प्रकार के सिनमैटोग्राफ कैमरे में रूपांकित कर लेना। पाठक गण कसरती लोगों के व्यायामों की गतिविधि के मन्द-गति विश्लेषण से परिचित होंगे। यह मनोरंजक चित्रण तीव्रगतिक सिनमैटोग्राफ कैमरे की सहायता से ही संभव होता है। उद्योगकर्मियों की गतिविधि का समय-विश्लेषण करना भी इसका एक व्यावहारिक

[1] Flash lamps

कहानी है। जब बौल्डर बाँध बन रहा था तो उसके ठीकेदारों को अन्तरिम दाम का चुकता तभी किया जाता था जब वे उस दिन तक के सभी संधानों (वेल्ड) का एक्स-किरण फोटो चित्र प्रस्तुत करते थे।

ऐसा समझा जाता है कि एक्स-किरण द्वारा उत्पन्न प्रतिबिंब को प्रतिदीप्त (फ्लूओ-रेसेण्ट) पर्दे पर देख लेने से अधिकांश दशाओं का एक्स-किरण चित्र लेना अनावश्यक हो जायगा, किन्तु रुख दूसरी ओर है और एक्स-किरण फिल्मों से बनाये गये स्थायी चित्रों का उपयोग अधिकाधिक बढ़ता जा रहा है। एक्स-किरण पर्दों पर बने प्रति-दीप्त प्रतिबिंबों का लघु फोटोग्राफी संलेख तैयार करने की रीति से समय-समय पर समस्त जन-समुदाय के एक्स-किरण सर्वेक्षण (सर्वे) की कठिनाई और खर्च में काफी बचत हो जाती है। फलतः अब यक्ष्मा के निर्मूलन में यह प्रविधि बड़ी महत्त्वपूर्ण सिद्ध हो रही है।

ढलुआ धातु के अन्दर के धम छिद्रों[1] (ब्लो होल्स) का पता लगाने के लिए भी एक्स-किरण फोटोग्राफी बड़ी उपयोगी है क्योंकि ऐसे छिद्रों को मानव-नेत्रों से नहीं देखा जा सकता। ६ इंच मोटे धातु स्तर तथा ५·९ इंच धातु धन ०·१ इंच वायु के संकलित स्तर के बीच प्रकाश की चमक का सूक्ष्म भेद तभी स्पष्ट हो सकता है जब फोटोग्राफ की सहायता से उनके घनत्व भेद को सार्थक (सिग्नीफिकेंट) तथा मापनीय रूप में अंकित कर लिया जाय।

मिश्रधातुओं के वर्णक्रम लेखी (स्पक्ट्रोग्राफिक) विश्लेषण में यह बात फिर उठती है। नियंत्रण वर्णक्रम लेखों से दूसरे वर्णक्रम लेखों के फोटो चित्र की तुलना करने से न केवल धातुओं की अति सूक्ष्म मात्रा का पता लगता है वरन् इतनी शीघ्रता से उसका सही-सही आगणन[2] हो जाता है कि द्रवित मिश्रधातु का उपयुक्त संशोधन कर दिया जा सकता है।

उचित रूपेण सुग्राहीकृत फोटोग्राफी पायसों पर दृष्टव्य रक्त प्रकाश (विज़िबिल रेड लाइट) और उष्मा तरंगों (हीट वेव्स) के बीच के विद्युत्-चुम्बकीय वर्णक्रम (एलेक्ट्रो-मैग्नेटिक स्पेक्ट्रम) वाले अदृष्टव्य अवरक्त विकिरणों[3] का चित्र उतारा जा सकता है। इसी रीति से अविश्वसनीय दूरियोंवाले भूदृश्यों (लैण्डस्केप) के भी चित्र उतारे जाते हैं, क्योंकि अवरक्त तरंगें उस कुहरे (हेज़) को भी पार कर जाती हैं जो दृष्टव्य प्रकाश को प्रकीर्णित (स्कैटर) करके मानव-दृष्टि को अल्प दूरी तक

[1] Blow holes [2] Estimate [3] Invisible infra-red radiation

सीमित कर देती हैं। अवरक्त अर्थात् इन्फ्रारेड फोटोग्राफी का चिकित्सा एवं औद्योगिक क्षेत्रों में अभी अधिक प्रयोग नहीं हुआ है। लेकिन अवरक्त तरंगें बाह्य त्वचा (एपीडर्मिस) में प्रवेश कर जाती हैं। इस तथ्य का उपयोग करके अब अपस्फीत शिराओं[1] (वैरिकोज़ वेन्स), चर्मक्षय[2] अथवा मोतियाविन्द के कारण अपारदर्शी मूर्तिपट (रेटिना) के फोटोचित्र बनाये जाने लगे हैं। इसके अलावा भट्ठियों की दीवालों, विकिरकों (रैडियेटर्स) तथा इंजनों के रम्भों (सिलिण्डर) में उष्मा वितरण को भी उनके आनुषंगिक अवरक्त विकिरण का फोटोचित्र लेकर उन्हें अंकित किया जा सकता है।

उद्योगों में भी फोटोग्राफी का प्रयोग एवं महत्त्व दिन-प्रति-दिन बढ़ता जा रहा है, फलतः फोटोग्राफी उद्योग में निरन्तर वृद्धि हो रही है। फोटोग्राफी के सामान बनाने में प्रति वर्ष ५०० टन रजत, ३००० टन जिलेटिन, ६००० टन कपास तथा १३००० टन काष्ठ-लुगदी लगायी जा रही है। इन सामग्रियों की सबसे ज्यादा खपत चलचित्रों के निर्माण के लिए होती है। चलचित्रों के बनाने में लगभग पाँच लाख मील लम्बी फिल्म लग जाती है। किन्तु जन-समुदाय के कल्याण के लिए अथवा विभिन्न उद्योगों में फोटोग्राफी के महत्त्व को ऐसे आँकड़ों से उतना नहीं जाना जा सकता जितना उसके उपयोग की विविधता से। मानव-प्रतिभा ने फोटोग्राफी प्रविधि को बहु-प्रयोजनीय एवं बहुमुखी बना दिया है।

ग्रंथ-सूची

Kodak Date Book of Applied Photography. Kodak Ltd., Harrow.

MEES C. E. K. : *Photography.* George Bell & Sons Ltd.

Photography as an Aid to Scientific Work (Booklet). Ilford Ltd.

ROEBUCK AND STAEHLE : *Photography—Its Science and Practice.* Appleton Century Co.

SPENCER D. A. : *Photography To-day.* Oxford University Press.

[1] Varicose veins [2] Lupus

अध्याय १४

कोयला और उसके उत्पादन; अन्य गैसें; खनिज तैल

कोयला और उसके उत्पादन

एल० सिल्वर, बी० एस-सी० (लन्दन), ए० आर० सी० एस०,
डी० आई० सी०, ए० आर० आई० सी०

यह प्रायः निर्विवाद है कि संसार में ग्रेट ब्रिटेन की ऊँची स्थिति, उसका महत्त्व एवं उसकी उन्नति और सफलता उसके कोयले की खानों की प्रचुरता के ही कारण है। बहुत दिनों तक ये खानें प्रकृति की अनिश्शेष्य (इन्एक्ज़ास्टिब्ल) देन मानी जाती थीं जिसके फलस्वरूप उन्हें सुरक्षित रखने की बात पर कोई ध्यान नहीं दिया जाता था।

सर्वप्रथम डब्लू० एस० जेवोन्स ने १८६५ में लोगों का ध्यान इस बात की ओर आकृष्ट किया और उन्हें चेतावनी दी कि यदि यह कोयला समाप्त हो गया तो "उसके बिना हम (अर्थात् इंग्लैण्ड के निवासी) पुनः अपनी प्राचीन-कालीन दरिद्रता को प्राप्त हो जायेंगे।" उस समय से अब तक कई बार कोयले की खानों का अनुमान लगाया गया और प्रमुख वैज्ञानिकों ने उनके अपव्यय के विरुद्ध चेतावनियाँ भी दीं। सर विलियम रैमज़े ने इस बात पर बड़ा ज़ोर दिया कि अगर इंग्लैण्ड वासी संसार के राष्ट्रों में अपनी ऊँची स्थिति बनाये रखना चाहते हैं तो उन्हें प्रकृति की इस महती सम्पत्ति का अविवेकपूर्ण अपव्यय रोकना होगा।

वर्तमान शताब्दी में कोयले को बचा रखने और बड़ी सावधानी एवं मितव्ययिता से खर्च करने की प्रवृत्ति अधिकाधिक बढ़ी है तथा इस दिशा में रसायनज्ञों एव इञ्जी-नियरों ने बड़े महत्त्वपूर्ण और प्रभावी काम भी किये हैं। प्रथम महायुद्ध (१९१४–१९१८) में कोयला उद्योग से उसके उत्पादनों की भीषण माँग हुई जबकि उसके अधिकांश कर्मी भी युद्ध में भाग लेने के लिए चले गये थे। ऐसे समय में ब्रिटिश राष्ट्र को इंधन की मितव्ययिता का विशेष ध्यान हुआ तथा लोगों ने उसके सच्चे महत्त्व को

समझा। वे ही समस्याएँ और भयंकर रूप में गत महायुद्ध में भी उठीं और मितव्ययिता की आवश्यकता और भी नग्न रूप में लोगों के सामने आयी। अपने कोयले का कुशलता-पूर्वक पूरी तरह उपयोग करने के लिए जो वैज्ञानिक प्रयत्न आज हो रहे हैं वैसे पहले कभी नहीं हुए।

कोयले के बहुमुखी उपयोग होते हैं और उनकी संख्या एवं विविधता दिनों-दिन बढ़ती जा रही है। घरेलू एवं अन्य प्रकार के उष्मन के लिए तथा शक्ति उत्पादनार्थ भाप तैयार करने के लिए कच्चे कोयले का सीधा दहन (कम्बस्चन) उसकी खपत का सबसे बड़ा पद है। उसके व्यवहार के प्रायः अन्य सभी तरीकों में इस खनिज विशेष का रासायनिक विच्छेदन करके उससे दूसरे अधिक सुगम इंधन अथवा अन्य उपयोगी उत्पादन तैयार किये जाते हैं; और ये सभी प्रयोग रासायनिक विज्ञान पर ही आश्रित हैं। खानों में से कोयला निकालने में भी रसायनज्ञों के सहयोग का बहुत बड़ा महत्त्वपूर्ण अंश रहा है। १८१५ में सर हम्फरी डेवी द्वारा निरापद दीप (सेफ्टी लैम्प) के आविष्कार से लेकर ह्वीलर और अन्य कार्यकर्ताओं के कोयला धूलि से होनेवाले विस्फोटों के निवारणार्थ प्रस्तर धूलन (स्टोन डस्टिंग) संबन्धी कामों तक रसायनज्ञों ने इस उद्योग में हताहत होनेवाले असंख्य मनुष्यों के प्राण बचाने में योगदान किया है। फलतः ऐसी-ऐसी खानों से भी कोयला निकाला जा सका, अन्यथा जिनमें काम करना महा भयावह था।

इस छोटे से प्रकरण में कोयला प्रयोग करनेवाले उद्योगों के विकास एवं उन्नति में रसायनज्ञों द्वारा किये गये योगदान का पूर्ण विवरण संभव नहीं है। इसलिए जो कुछ यहाँ लिखा गया है वह सामान्य विषय का दृष्टान्त मात्र है।

भाप बनाने के लिए कोयले के सीधे दहन में रसायनज्ञों का काम मुख्यतः कच्चा कोयला तथा उसके गैसीय एवं ठोस उत्पादनों के विश्लेषण तक ही सीमित था। इस विश्लेषण का विशेष प्रयोजन कोयले की कोटि पर नियंत्रण रखना तथा विशिष्ट कामों के लिए उपयुक्त कोटि के कोयले का चुनाव करना था, साथ ही दहन की कुशलता बढ़ाना भी इसका महत्त्वपूर्ण ध्येय था।

१९१४–१९१८ वाले महायुद्ध के बाद बिजली तैयार करने में शक्ति उत्पादन की कार्यकुशलता एवं आर्थिक व्यवस्था पर अत्यधिक ध्यान दिया जाने लगा। एलेक्ट्रिक कमिश्नरों ने छोटे-छोटे और कम कार्यकुशलता वाले केन्द्रों को बन्द करके सारे देश को विद्युत शक्ति उपलब्ध कराने के लिए कुछ थोड़े-से किन्तु बहुत बड़े-बड़े केन्द्र स्थापित करने का निश्चय किया। 'सूपर-पावर स्टेशन' कहे जानेवाले इन विशाल केन्द्रों में कोयला-दहन, भाप-जनन एवं उससे विद्युत-शक्ति-उत्पादन में उच्चतम

कुशलता और क्षमता लाने के लिए सभी आधुनिक विकास-साधनों को प्रयुक्त करने का विचार किया गया। लेकिन शक्ति-वितरण में न्यूनतम खर्च करने के लिए इन विशाल केन्द्रों को बड़ी-बड़ी बस्तियों के अन्दर अथवा उनके समीप वनाना आवश्यक था। किन्तु इसमें भी धुएँ, धूमकण तथा अम्ल गैसों से वायुमण्डल के व्यापक दूषण का भी बड़ा भारी डर था, क्योंकि इससे समीपस्थ जन-बस्तियों के स्वास्थ्य एवं धन-सम्पत्ति के विनाश की बड़ी संभावना थी। इस प्रकार की बुराइयों और हानियों की ओर जनता का ध्यान भी आकृष्ट हुआ और लन्दन के पार्लिमेण्ट भवन तथा अन्य बड़े बड़े भवनों के पत्थरों को हुए बड़े नुकसान संबन्धी स्मारक-पत्र के प्रकाशन से लोगों में काफी अशान्ति फैल गयी। इन कारणों से ऐसे विशाल केन्द्र बनाने के लिए पार्लिमेण्ट का संमोदन (सैन्कशन) इस स्पष्ट शर्त पर प्राप्त हुआ कि वाहिनी गैसों (फ्लू गैस) को वायुमण्डल में छोड़ने के पहले उसमें से धुआँ और गंधक के ऑक्साइडों का सम्पूर्ण निरसन कर दिया जायगा। किन्तु उस समय इतने बड़े-बड़े केन्द्रों की चिमनियों से निकलनेवाली गैसों की अति विशाल मात्रा में से गंधक ऑक्साइडों के निस्सारण की कोई उत्तम अथवा संतोषप्रद विधा ज्ञात न थी। इस क्रिया की विशालता का अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि केवल एक केन्द्र में ही प्रति मिनट १५ लाख घनफुट गैस का उपचार करना पड़ता, जिसमें गंधक ऑक्साइड की प्रारम्भिक मात्रा ०·०२–०·०५% होती थी।

'बैटरसिया पावर स्टेशन' बनाने के पहले लन्दन पावर कम्पनी के इञ्जीनियरों और रसायनज्ञों ने अन्य तत्कालीन प्रख्यात रसायनज्ञों के सहयोग से कई वर्ष तक अनुसन्धान करके ऐसी रीतियाँ आविष्कृत कीं जिनसे वे पार्लिमेण्ट की शर्तों को पूरी कर सकें। इस प्रकार नये शक्ति-केन्द्र (पावर स्टेशन) का संयंत्र (प्लाण्ट) लगाया गया, जो विद्युत-शक्ति संचार करनेवाला संसार का सबसे बड़ा केन्द्र बन गया। प्रारम्भ से ही इस संयंत्र द्वारा बड़ी कुशलतापूर्वक काम होता आया है, तथा गंधक ऑक्साइडों का ९०-९५% तक निरसन किया जा सका है और धुएँ एवं धूम-कणों को एकदम निकालना संभव हुआ।

उपर्युक्त रीति में गैसों के क्षैतिज प्रवाह (हॉरिज़ॉण्टल फ्लू) पर टेम्स नदी का प्रचर जल छिड़का जाता है, शीकरन अर्थात् छिड़काव का अन्तर देकर गैसों पर लौह व्यारोधों (बैफल्स) के प्रयोग से गंधक डाइऑक्साइड के ऑक्सीकरण से गंधकाम्ल बनता है। साथ ही साथ गैस को जल से धो लेने के बाद चिमनी के अगल-बगल दोनों ओर लगे स्तम्भों में चाक के क्षीण आलम्बन से अन्तिम क्षारीय धावन उपचार करके स्वच्छ, शीत एवं उदासीन गैस को वायुमण्डल में छोड़ दिया जाता है। संयंत्र से निकले

धावन जल का वातन[1] (एरेशन) करके सल्फाइट का सल्फेट बनाया जाता है और अन्त में इसे संघनकों (कॉण्डेन्सर) से निकले जल में मिलाकर पुनः टेम्स नदी में बहा दिया जाता है। जल की प्राकृतिक कठोरता उसकी विशाल मात्रा के कारण इतनी पर्याप्त होती है कि उससे तद्विलीन अम्लों का उदासीनीकरण हो जाने से उत्प्रवाही[2] जल उदासीन एवं निरापद हो जाता है।

बैटरसिया केन्द्र जब कुछ वर्षों तक सफलतापूर्वक चल चुका, तब टेम्स के ऊपरी भाग में स्थित फुलहैम नामक स्थान पर एक दूसरा बड़ा शक्तिकेन्द्र (पावर स्टेशन) बनाया गया। इसके लिए भी क्षेप्य गैसों की शुद्धता संबन्धी वे ही शर्तें लागू थीं। किन्तु यहाँ उपर्युक्त रीति नहीं लागू हो सकी क्योंकि यह स्पष्ट था कि अनावृष्टि में टेम्स का सम्पूर्ण जल दोनों केन्द्रों की गैसों के शोधन एवं उत्प्रवाही गंधकाम्ल के उदासीनीकरण के लिए पर्याप्त न था। इसलिए ऐसी युक्ति निकालने का प्रयत्न किया गया जिसमें द्रव उत्प्रवाही (एफ्लुयेण्ट) उत्पन्न ही न हो। वाहिनी गैसों को चूने अथवा चाक के आलम्बन से धोकर उनमें से सल्फर डाइऑक्साइड को पूरी तरह निकालने की एक रीति निकाली गयी। किन्तु दुर्भाग्यवश कैल्सियम सल्फाइट और सल्फेट के अतिसंतृप्त विलयन बन जाने से इन लवणों का धावन-तलों पर केलासन होने लगा जिससे अवरोध होने के कारण यह विधा क्रियान्वित न की जा सकी। गहन अन्वेषण के बाद इस रीति में संशोधन किया गया और धावनजल में पहले से ही ५% अव-क्षेपित[3] कैल्सियम सल्फेट डाल दिया जाने लगा। इस युक्ति से अति संतृप्तीकरण कम होने से केलासित लवणों का जमना भी कम हो गया और रीति अधिक सुचारु रूप से चलने लगी। लवणों का अवक्षेपण धावकों के बाद बने टैंकों में होता और वहीं उनका तलछटीभवन[4] होता है। फुलहैम शक्तिकेन्द्र पर लगे संयंत्र में यह रीति क्रियान्वित होने लगी और इससे चिमनियों से निकली गैसों में गंधक की मात्रा कम होकर प्रति घनफुट ०·००४६ ग्रेन रह जाती है; यह मात्रा अनुज्ञापित मात्रा का केवल छठा भाग है। इस रीति की यह विशेषता है कि इससे उत्पन्न किसी प्रकार का कोई उत्प्रवाही (एफ्लुयेण्ट) नदी में नहीं डाला जाता। ये दोनों विशाल शक्तिकेन्द्र, जिनसे प्रति दिन लगभग १०० टन गंधकाम्ल निकलता है, बिना किसी हानिकारक परिणाम के वर्षों से काम कर रहे हैं।

कोल गैस का निर्माण उद्योगों पर विज्ञान के प्रत्यक्ष प्रभाव का एक उल्लेखनीय

[1] Aeration [2] Effluent [3] Precipitated [4] Sedimentation

दृष्टान्त है अतः इसकी चर्चा तनिक विस्तारपूर्वक की जायगी। इसके विकास में दार्शनिक (फिलासोफिकल) प्रयोगों का भी हाथ होने से इसका इतिहास और भी रोचक हो गया है। सत्रहवीं शताब्दी में वैज्ञानिक अनुशीलन केवल कुछ विद्वान् व्यक्तियों, विशेषकर पादरियों के शौक का विषय था। क्रॉफ्टन के रेक्टर रेवरेण्ड डा० क्लेटन ने कोयले का आसवन करके गैस प्राप्त की और उसे ब्लैडर में एकत्र किया। इस तथ्य की सूचना ब्यायल ने रॉयल सोसायटी को १६८८ में दी। १७५० में लैण्डॉफ के बिशप डा० वाट्सन ने कोयले के आसवन से न केवल गैस प्राप्त की वरन् नलों के द्वारा उसे एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाने में भी वे सफल हुए। लेकिन रोशनी करने के लिए कोल गैस का प्रथम सुझाव देने का श्रेय विलियम मुरडॉक नामक एक इन्जीनियर को दिया जाता है। १७९२ में उन्होंने ही रिटॉर्ट में कोल गैस उत्पन्न करके कलई किये हुए लोहे और ताँबे के नलों की सहायता से ७० फुट दूर अपने मकान और कार्यालय में ले जाकर उससे रोशनी की थी। उनके ये प्रारम्भिक प्रयोग रेड्रथ में किये गये थे और उसके छः वर्ष बाद वह बाउल्टन के सोहो ढलाई घर तथा बर्मिघम-स्थित वैट में कोल गैस से प्रकाश करने में सफल हुए। १७९९ में लीबॉन ने फ्रान्स में भी ऐसे ही प्रयोग प्रारम्भ किये। १८०७ में जब पाल माल के एक तरफ विन्सर द्वारा रोशनी की गयी तो लन्दन में भी कोल गैस उपलब्ध करने के लिए एक कम्पनी को अधिकार देने के निमित्त एक विधेयक उपस्थित किया गया और इसी प्रयोजन के लिए एक अधिनियम पारित हुआ। इसके दो वर्ष बाद 'गैस लाइट ऐण्ड कोक कम्पनी' को एक निगम-राजलेख (चार्टर ऑफ इन्कार्पोरेशन) भी दिया गया। यह कम्पनी आज भी संसार भर में इस प्रकार की सबसे बड़ी संस्था है। वेस्ट मिनिस्टर पुल तथा पार्लिमेण्ट भवनों को १८१३ में कोल गैस से प्रकाशित किया गया। उस समय से कोल गैस से प्रकाश करने की प्रथा संसार के अन्य सुसभ्य देशों में फैली।

कोल गैस का निर्माण मुख्य रूप से रासायनिक उद्योग है क्योंकि इसमें कोयले के भंजक विच्छेदन (डिस्ट्रक्टिव डिकॉम्पोज़िशन) से अनेक पदार्थ उत्पन्न होते हैं, जो रासायनिक एवं भौतिक रूप में मूल पदार्थ से सर्वथा भिन्न होते हैं। इन सभी उत्पादनों के विशिष्ट गुण होते हैं, जिनके कारण ये खास खास प्रयोजनों में काम आते हैं। हाँ इनमें से कोल गैस प्राथमिक महत्त्व का उत्पादन है। प्रारम्भिक काल की अपेक्षा अब उसकी प्राप्ति (ईल्ड) और श्रेणी (कोटि) में बड़ी उन्नति हुई है और इसका श्रेय प्रायः सर्वथा रसायनज्ञों को ही है। कार्बनीकरण (कार्बोनाइज़िंग) तथा उत्पन्न गैस की बनावट एवं उसकी मात्रा पर कठोर नियंत्रण द्वारा वांछित संघटकों को सुरक्षित रखकर शेष के विच्छेदन से तैयार गैस की श्रेणी और प्राप्ति बढ़ायी

जाती है। क्षेप्य गैसों के विश्लेषण से रिटॉर्ट से अनुचित च्याव अर्थात् हानि का पता लगता है तथा उसका निवारण किया जाता है। कोल गैस का शोधन इस उद्योग में रसायनज्ञों के साहाय्य का बड़ा उत्तम उदाहरण है।

रिटॉर्टों से निकली कोल गैस में २% हाइड्रोजन सल्फाइड होता है, जो अति विषालु गैस होने के साथ सड़े अण्डे की तरह बदबू करता है। कोल गैस के हाइड्रोजन सल्फाइड के इन दुर्गुणों का अनुभव तभी होता है जब वह कहीं से निकलने लगती है। लेकिन कोल गैस के दहन में हाइड्रोजन सल्फाइड भी जलकर गंधक डाइऑक्साइड और गंधकाम्ल का रूप ले लेता है, और जब चारों ओर की हवा में ये पदार्थ अधिक मात्रा में फैलते हैं तो श्वासरोध होने लगता है। इसके अतिरिक्त घर की साज-सज्जा एवं वस्त्रों पर गंधकाम्ल जमने से उनका संक्षारण (कोरोज़न) भी होने लगता है। इन कारणों से गृहकार्यों के लिए गैस प्रयुक्त होने के पूर्व उसमें से हाइड्रोजन सल्फाइड को निकालना अत्यावश्यक हो गया। कारखानों में हाइड्रोजन सल्फाइड का कुछ भाग अमोनियाई द्रव में संघनित हो जाता है किन्तु उसका अधिक अंश बच जाता है जिसके निरसन के लिए अन्य रासायनिक उपचारों की सहायता लेनी पड़ती है। इस उद्योग के प्रारम्भिक काल में गैस को भींगे चूने के मिश्रण में प्रवेश कराया जाता था, जिससे गैस में से तो हाइड्रोजन सल्फाइड अवश्य निकल जाता था लेकिन एक दुर्गन्धयुक्त, निरर्थक अर्ध-द्रव पदार्थ, जिसे "ब्लू बिवी" कहते हैं, बच रहता। इस पदार्थ का कारखाने के कर्मियों एवं उसके समीप रहनेवाले जन-समुदाय के स्वास्थ्य पर बड़ा घोर दुष्प्रभाव पड़ने लगा। इसको बाहर फेंकने से वायुमण्डल कलुषित होता तथा नदी में बहाने से प्रणाल एवं स्वयं नदी दूषित हो जाती थी। इसलिए भींगे चूने के स्थान पर सूखा चूना प्रयुक्त होने लगा, लेकिन फिर भी गैस-लाइम का दुर्गन्धयुक्त तथा उपयोगरहित अवशिष्ट बचने लगा। इससे भी कारखाने और उसके चारो ओर का वातावरण दूषित होने लगा, यह अवशिष्ट इतना घृणास्पद होता था कि इसे सड़क पर ले चलना भी अपराध माना जाने लगा।

कोल गैस शोधन की कोई कम हानिकर रीति खोज निकालने का भार भी रसायनज्ञों पर ही पड़ा। १८४९ में शोधक के रूप में हाइड्रेयित लौह ऑक्साइड का प्रयोग होने लगा। इसकी प्रयुक्ति से शोधनविधा में विशेष उन्नति हुई, क्योंकि यह नया पदार्थ एक बार प्रयुक्त अर्थात् परिदूषित हो जाने के बाद हवा में खुला रखने से पुनर्जनित हो जाता था, यानी वह ठोस गंधक और हाइड्रेयित ऑक्साइड का एक मिश्रण बन जाता, और हाइड्रोजन सल्फाइड अवशोषण की उसकी क्षमता प्रायः मूल ऑक्साइड के ही समान हो जाती थी। इस प्रकार यह हाइड्रेयित ऑक्साइड अनेक बार प्रयुक्त

हो सकता था, लेकिन अन्ततोगत्वा उसमें गंधक की मात्रा इतनी अधिक हो जाती कि उसे बदल देना पड़ता।

काम आया हुआ हाइड्रेयित लौह ऑक्साइड बहुत नागवार भी नहीं होता था तथा इसका हटाना गैसनिर्माताओं के लिए कोई समस्या न थी, उलटे यह एक लाभप्रद पदार्थ हो गया जिससे अच्छा खासा दाम वसूल होने लगा, क्योंकि उसमें से गंधकाम्ल बनाने के लिए पर्याप्त गंधक प्राप्त होता था। इस प्रकार गैस-शोधन की विधा इस उद्योग के लिए कोई रुकावट की बात न रह गयी; फलतः बिना किसी प्रकार के झगड़े के इसका स्वाभाविक प्रसार होने लगा।

वैज्ञानिकतया नियंत्रित होने पर यह विधा इतनी उत्तम सिद्ध हुई कि आज लगभग १०० वर्ष के बाद भी यह व्यापक रूप से प्रचलित है, यद्यपि हाल में द्रव अवशोषकों द्वारा संशोधन की अधिक सरल लेकिन कम कुशल रीति चलायी गयी है। ऑक्साइड वाली शोधनरीति से शोधित गैस में हाइड्रोजन सल्फाइड की मात्रा साधारणतया प्रति दो करोड़ भागों में एक भाग के अनुपात से भी कम होती है।

कोल गैस में हाइड्रोजन सल्फाइड के अतिरिक्त भी कार्बन डाइ सल्फाइड सदृश गंधक के कुछ अन्य यौगिक विद्यमान होते हैं, यद्यपि हाइड्रोजन सल्फाइड की अपेक्षा इनकी मात्रा बहुत कम होती है और शायद प्रारम्भिक दिनों में और भी कम होती थी। जब गैस में हाइड्रोजन सल्फाइड की उपस्थिति पर वैधानिक प्रतिबन्ध लगा तब गंधक के ये यौगिक भी उसमें शामिल कर लिये गये। उस समय कार्बन डाइसल्फाइड को निकालने की कोई रीति ज्ञात न थी लेकिन लगभग १० वर्ष बाद डब्लू० ऑडलिंग ने एक रीति का प्रवर्तन किया। इसमें ऐसे चूना-शोधकों के प्रयोग का उल्लेख किया गया था जिनके जरिये हाइड्रोजन सल्फाइड के अवशोषण से बने कैल्सियम सल्फाइड द्वारा कार्बन डाइसल्फाइड का अवशोषण होता था। लन्दन की गैस कम्पनियों ने इस रीति को अपनाया लेकिन इसमें चूनाशोधन के अनुत्रास (नूइसेन्स) के साथ कार्बन डाइसल्फाइड निरसनविधा की अनिश्चितता और शामिल हो गयी। १९०५ में पार्लिमेण्ट ने एक ओर हाइड्रोजन सल्फाइड के अतिरिक्त अन्य गंधकयौगिकों के हानिकारक प्रभावों और दूसरी ओर उपर्युक्त विधा के क्रियाकरण और समीपस्थ ज़िलों के जन-स्वास्थ्य पर उसके दुष्प्रभावों के बारे में विचार किया और अन्त में कोल गैस में अन्य गंधकयौगिकों की उपस्थिति पर से प्रतिबन्ध हटा लिया।

किन्तु इस उद्योग में कार्यरत रसायनज्ञों ने अन्य गंधकयौगिकों के निरसन की समस्या को छोड़ा नहीं वरन् तत्संवन्धी अनुसन्धान बराबर जारी रखा। लगभग ३० वर्ष हुए, कार्पेण्टर और इवान्स के प्रयोगों के बाद 'सार्उथ मिट्रोपॉलिटन गैस कम्पनी'

ने एक विधा प्रचलित की, जिसमें गैस को ४५०° से० ताप पर रखे गये एक निकेल उत्प्रेरक (कैटेलिस्ट) के ऊपर से पार कराया जाता है। इस उपचार से कार्बन डाइ-सल्फाइड का अपचयन होकर हाइड्रोजन सल्फाइड बन जाता और कार्बन निकेल उत्प्रेरक के ऊपर ही जमा हो जाता है। हाइड्रोजन सल्फाइड को तो ऑक्साइड शोधकों की सहायता से निरसित किया जाता है तथा उत्प्रेरक पर जमे कार्बन को समय समय पर हवा की उपस्थिति में जलाकर उत्प्रेरक को पुनर्जीवित कर लिया जाता है। इस विधा से गंधकयौगिकों का लगभग ८० % भाग निरसित हो जाता है। 'साउथ मिट्रोपॉलिटन गैस कम्पनी' यद्यपि अब भी इस विधा का सफल प्रयोग करती है, फिर भी यह व्यापक रूप से स्वीकार नहीं की गयी।

पिछले कुछ सालों में आर० एच० ग्रिफिथ ने एक प्रक्रिया निकाली है जिसमें उत्प्रेरक तो निकेल ही होता है लेकिन क्रियाकरण का ताप केवल १८०° से० के समीप होता है। इस विधा में कार्बन डाइसल्फाइड के ऑक्सीकरण से कार्बन डाइऑक्साइड और गंधक डाइऑक्साइड बन जाते हैं, और गैस को सोडा के तनु विलयन से धोकर उसमें से गंधक डाइऑक्साइड निकाल दिया जाता है। प्रतिक्रिया के लिए आवश्यक वायु के प्रवेश का नियमन करके ताप का नियंत्रण किया जाता है तथा अतिरिक्त ऑक्सीजन का जल बना दिया जाता है। इस उपचार के बाद गैस में उसकी मूल गंधक मात्रा का केवल लघ्वंश मात्र बच जाता है।

डब्लू० के० हचिन्सन ने इसी समस्या को दूसरी तरह से हल करने का प्रयत्न किया है। उनकी विधा में गैस को तेल से धोकर उसमें से गंधकयौगिक निकाले जाते हैं। तेलपरिचालन (सरकुलेशन) की गति बढ़ाने से अधिकांश कार्बन डाइ-सल्फाइड बेन्ज़ॉल में विलीन होकर निकल जाता है, साथ ही ऊष्माविनिमय (हीट एक्सचेन्ज) का उत्तम प्रबन्ध होने से शक्ति भी अधिक नहीं लगती।

ये दोनों विधाएँ (प्रक्रियाएँ) 'गैस लाइट ऐण्ड कोक कम्पनी' द्वारा काफी बड़े पैमाने पर क्रियान्वित की जा रही हैं। वर्तमान समय में नगरों में उपलब्ध गैस एक परम स्वच्छ ईंधन मानी जाती है, क्योंकि उसके शोधन का विशेष ध्यान रखा जाता है। इसी कारण से इसका उपयोग भी विविध क्षेत्रों एवं प्रयोजनों के लिए किया जाने लगा है, जो अन्यथा संभव न होता। गंधकयौगिकों के निरसन से यह अब इतनी निरापद हो गयी है कि इसका प्रयोग बहुत से आधुनिक उपकरणों में भी किया जाता है।

नैप्थैलीन भी गैस-शोधन की एक ऐसी समस्या रही है, जिसका समाधान करके भी रसायनज्ञों ने इस उद्योग की बड़ी सेवा की है। समस्याविशेष का कोई हल नहीं

बल्कि इसके कारण संयंत्र के दूसरे भागों में उत्पन्न अप्रत्याशित कठिनाइयों को दूर करने का प्रयत्न किया गया।

रिटॉर्ट गृह में जितने ही ऊँचे ताप का प्रयोग किया गया, प्रनाडों (मेन्स) और शोधन संयंत्र में ठोस नैप्थैलीन जम जाने से उतना ही कष्ट उत्पन्न होने लगा। नैप्थैलीन एक केलासीय ठोस हाइड्रोकार्बन है जो वाष्पशील होने के कारण रिटॉर्टों के ऊँचे ताप पर उड़कर गैस के साथ चला जाता है, लेकिन रिटॉर्टों से निकलकर गैस ज्यों ही ठंडी होती है त्यों ही यह प्रनाडों एवं संघनकों (कॉण्डेन्सर) में संघनित होकर जम जाता है। यह पदार्थ इतना हलका-फुलका होता है कि इसकी थोड़ी मात्रा भी बहुत थोड़े ही समय में प्रनाडों को बन्द कर देती है। ऐसी परिस्थिति में गैस का सतत प्रवाह अत्यन्त कठिन हो जाता है।

परिवर्त्य संघनकों (रिवर्सिब्ल कॉण्डेन्सर) की चतुर युक्ति लगाकर कारपेण्टर ने प्रनाडों को साफ रखने तथा गैस उत्पादन विधा को निरन्तर जारी रखने में काफी सफलता प्राप्त की। इस विधा में पूर्वसंघनित टार को ऐसा परिचालित किया जाता है कि वह प्रनाडों में जमे नैप्थैलीन को विलीन करके उन्हें बराबर साफ रखता है। आगे चलकर वितरणक्षेत्रों के प्रनाडों में गैस और भी ठंडी हो जाती तथा संकरे होने के कारण उन प्रनाडों के बन्द हो जाने की बड़ी संभावना रहती है। इस कारण गैस-प्रदाय में बड़ी अनियमितता होती और कभी कभी एकदम रुकावट हो जाती। इससे उपभोक्ताओं को स्वाभाविक रोष एवं खीझ होती थी और गैसकम्पनी को प्रनाडों की सफाई में पर्याप्त कठिनाई होती और खर्च पड़ता। इस कठिनाई के निवारणार्थ गैस को कारखाने में ही थोड़े तेल से धो लिया जाने लगा। इससे गैस में नैप्थैलीन की मात्रा इतनी कम हो जाती कि न केवल उसका जमना बन्द हो गया वरन् जमी हुई नैप्थैलीन फिर से गैस में अवशोषित हो जाने लगी।

गैस सफाई की उपर्युक्त विधा कुछ दिन तो ठीक से चलती रही लेकिन थोड़े समय के बाद धारकों (होल्डर्स) से निकली गैस में हाइड्रोजन सल्फाइड का दूषण होने लगा, जिसका कारण पहले समझ में न आया। बड़ी खोज-बीन के बाद यह मालूम हुआ कि धारकों में पड़े जल में ऐसे जीवाणु होते हैं जो जल में से सल्फेट लेकर उसका हाइड्रोजन सल्फाइड बना देते हैं, जो गैस में मिलकर उसे दूषित कर देता है। पहले जब गैस में नैप्थैलीन मिली रहती थी तो उससे या तो जीवाणुओं का सर्वथा हनन हो जाता था अथवा उनकी वृद्धि एवं क्रियाशक्ति अत्यन्त कम हो जाती थी। लेकिन जब गैस नैप्थैलीनरहित हो गयी तो जीवाणुओं को स्वच्छन्द रूप से क्रियाकरण का अवसर मिला और वे हाइड्रोजन सल्फाइड उत्पन्न करके शोधित गैस को पुनः दूषित करने लगे।

जीवाणुओं को अपना काम करते रहने देना ही युक्तिसंगत समझा गया, परन्तु उनकी गति-विधि पर दृष्टि रखने एवं उसका नियंत्रण करने का प्रयत्न किया गया। इसके लिए गैस में लेश मात्र हाइड्रोजन सल्फाइड का भी पता लगाने के लिए बड़ी कोमल विश्लेषण-रीतियाँ निकाली गयीं। गैस में हाइड्रोजन सल्फाइड सांद्रण की घातक सीमा लाँघने के पहले ही धारकोंवाले जल में यशद ऑक्साइड अथवा एसिटेट डाल दिया जाता। इस प्रकार जल में सल्फेट की मात्रा शून्य करा दी गयी और जब पानी में सल्फेट रह ही नहीं गया तो जीवाणुओं के लिए खाद्य ही न रहा और गैस का दूषण भी बन्द हो गया।

प्रायः उपर्युक्त घटना की तरह ही कोल गैस सुखाने की विधाओं के सफल क्रियाकरण से भी ऐसी समस्याएँ उत्पन्न हुईं जिन्हें हल करने में रसायनज्ञों को विशिष्ट बुद्धि एवं प्रतिभा लगानी पड़ी। गैस जब तैयार होती है तब जलवाष्प से संतृप्त होती है और जब वितरण-प्रणाली में ताप-परिवर्तन होता है तब यह जल प्रनाडों एवं उपकरणों में संघनित हो जाता है। इससे न केवल गैसप्रदाय में विघ्न पड़ता बल्कि लोहे का संक्षारण भी होता था, जिससे नाडों तथा अन्य उपकरणों का उपयोग-काल अति अल्प हो जाने से कम्पनियों के खर्चे में काफी वृद्धि हो गयी। फलस्वरूप गैस में जलवाष्प की मात्रा इतनी कम कर दी जाने लगी कि वह किसी भी अवस्था में संघनित न होने पाये। इसके लिए कैल्सियम क्लोराइड के सांद्रित विलयन जैसे कुछ शोषकों द्वारा गैस के उद्धावन (स्क्रबिंग) की प्रथा चालू की गयी। इससे प्रदायों की निरन्तरता में उन्नति हुई एवं खर्चे में भी ऐसी कमी हुई कि उपर्युक्त उपचार तथा उसका खर्च लाभप्रद ही सिद्ध हुआ। लेकिन जब प्रनाडों में पानी जमना बन्द होने से गैस का अवरोध कम हुआ तब से एक दूसरी कठिनाई का अनुभव होने लगा। कुछ क्षेत्रों में उपकरणों के पाइलट जेटों, छोटे वाल्वों तथा गवर्नरों में और गैस-कारखाने के गवर्नरों में कुछ गोंद जैसा पदार्थ जमने लगा। इस कठिनाई का कारण ढूँढ़ना तथा उसका स्पष्टीकरण एक प्रबल समस्या हो गयी, विशेष कर इसलिए कि गैस में बाधक पदार्थों की मात्रा अत्यन्त सूक्ष्म थी। यह पता लगाया गया कि गैस के प्रति दस लाख घनफुट में केवल ५० ग्रेन गोंद रहने से भी कठिनाई उत्पन्न हो जाती है। अन्वेषण से यह भी पता चला कि इस प्रकार का गोंदीय पदार्थ नाइट्रिक ऑक्साइड, ऑक्सीजन और कुछ असंतृप्त हाइड्रो कार्बनों की अति लघु मात्राओं की पारस्परिक क्रिया से उत्पन्न होता है। गैस में नाइट्रिक ऑक्साइड की मात्रा अत्यन्त कम होती है, अन्य दो प्रतिकारकों (रिऐक्टेण्ट्स) की मात्रा अपेक्षाकृत अधिक होती है। इसलिए विश्लेषण की कुछ ऐसी विशिष्ट रीतियाँ विकसित करने की आवश्यकता हुई जिनसे गोंद और नाइट्रिक ऑक्सा-

इड की सूक्ष्मतम मात्राओं का आगणन किया जा सके; क्योंकि गैस के प्रति दो करोड़ भाग में इनका एक भाग भी विद्यमान रहने से कठिनाई हो सकती है।

गोंद बनने की प्रतिक्रिया बड़ी मन्द गति से चलती है और इसका निर्माण अधिकांशतः उस कालावधि में होता है जब गैस धारकों में संगृहीत रहती है। उत्पन्न गोंद के कण इतने सूक्ष्म होते हैं कि उनके बैठने की भी संभावना नहीं होती। अतः जब संग्रहण के पहले गैस सुखा ली गयी होती है तो धारकों से निकलने पर उसके साथ गोंद भी चलती है और उपयोगक्षेत्रों में उपकरणों की पतली नालियों एवं छोटे छिद्रों में जमा होकर अवरोध उत्पन्न कर देती है। लेकिन अगर गैस को धारकों में प्रवेश करने के पहले सुखाया न जाय तो वह जलवाष्प से संतृप्त अथवा प्रायः संतृप्त होती है, फलतः संघनन धारकों के अन्दर होता है और संभवतः गोंद के कणों पर ही जल-बिन्दु बनते हैं। इस प्रकार जल के साथ नीचे बैठने से गैस में गोंद की मात्रा कम हो जाती है और जब वह सजल धारकों से निकलकर वितरणार्थ नाडकों में चलती है तो गोंद रहित होती है और उसके जमने के कारण होनेवाली रुकावटें नहीं होने पातीं। इसलिए संतृप्त गैस को ही धारकों में संग्रहण करना तथा वितरण के पूर्व ही उसे सुखाना लाभप्रद सिद्ध हुआ। इससे सूखी गैस के लाभों के साथ साथ उपकरणों में गोंद जमने की कठिनाई भी दूर हो गयी।

गैस निर्माण के प्रारम्भिक दशकों में प्रायः इसका एक मात्र उपयोग रोशनी करने के लिए ही होता था और इस काम के लिए उच्च दीप्ति (लुमिनॉसिटी) की गैस की आवश्यकता होती थी। गत शताब्दी के उत्तरार्ध में जब विद्युत्प्रकाश का प्रचलन हुआ तो ऐसा मालूम हुआ कि गैस का उपयोग और उसका उद्योग एकदम समाप्त हो जायगा, लेकिन दो महत्त्वपूर्ण रासायनिक आविष्कारों ने उसकी रक्षा की। प्रथम आविष्कार बुन्सन द्वारा "बुन्सन ज्वालक" (बर्नर) का था। बुन्सन के एक सहायक ने अदीप्त (नॉन-लुमिनस) गैसज्वाला (फ्लेम) की ओर उनका ध्यान आकृष्ट किया, जिसे देखकर उन्होंने ऐसी युक्ति निकाली जिसमें दहन के पूर्व गैस में थोड़ी वायु मिल जाती और वह अदीप्त एवं धूमरहित ज्वाला से जल उठती। तापन के लिए यह ज्वाला परम उपयुक्त सिद्ध हुई। ३५ वर्ष बाद हाइडलवर्ग की उसी प्रयोगशाला में डा० ऑर वान वेल्सबाख़ ने, विरल मृदा (रेयर अर्थ) का अनुशीलन करते समय, एक गैस-दीपावार (मेण्टल) विकसित किया, जिससे वह गैस से तापदीप्त (इन्कैण्डिसेन्ट) प्रकाश उत्पन्न करने में सफल हुए। बुन्सन-ज्वाला द्वारा ऊष्मसह (रिफ़ैक्टरी) पदार्थों के तापन से उत्पन्न तापदीप्ति (इन्कैण्डिसेन्स) का रोशनी के लिए प्रयोग करने का पहले भी प्रयत्न किया गया था, लेकिन इसमें दो कठिनाइयों का अनुभव हुआ

था। एक तो तप्त माध्यम का उपयोगी काल बहुत कम होता था, दूसरे दीप्ति बहुत न्यून होती थी। वेल्सबाख़ के प्रारम्भिक दीपावार भी कुछ बहुत अच्छे नहीं थे किन्तु कालान्तर में उनकी उत्तमता बढ़ी और १८९२ के लगभग ९९% थोरिया और १% सीरिया का एक संतोषजनक योग तैयार किया गया, जिससे उच्च दीप्ति प्राप्त होने लगी और साथ ही वह टिकाऊ भी थी। दीपावारों का यह निबन्ध प्रायः आज तक अपरिवर्तित है। तापदीप्त प्रकाश से उत्तम रोशनी मिलने के कारण विद्युत-प्रकाश के प्रचलन के बावजूद भी इस काम के लिए गैस की खपत जारी रही। इसके अतिरिक्त बुन्सन-सिद्धान्त के प्रयोग से खाना पकाने अथवा गरम करने की अन्य विधाओं में गैस की प्रयुक्ति बढ़ गयी। आगे चलकर गैसप्रदाय का इंधनभार (फुएल लोड) इतना बढ़ गया कि उसका प्रकाशभार अपेक्षाकृत नगण्य हो गया, क्योंकि यह प्रायः स्थिर रह गया जब कि इंधनभार में सदा वृद्धि होती गयी। फलतः कार्बनी-करण विधा में विकास करके गैस की ऊष्माक्षमता में विशेष उन्नति की गयी।

इस दिशा में अनुगामी विकासों का मुख्य ध्येय गैस की उपयोगिता को अधिका-धिक कुशल बनाने का रहा है। उदाहरणार्थ गैस-कूकरों के ज्वालकों तथा अन्य भागों की बनावट में उन्नति करके इंधन-मितव्यय में विशेष कुशलता प्राप्त की गयी। गैस-अग्नि में विकीर्ण ऊष्मा (रैडियेण्ट हीट) के उत्सर्जन (एमिशन) के उच्च अनु-पात के साथ साथ संवातन (वेण्टिलेटिंग) क्षमता बढ़ायी गयी है और अनुसन्धानों द्वारा यह सिद्ध किया गया कि इस प्रकार के गैसदहन से कोई हानिकारक पदार्थ उत्पन्न होकर वायुमण्डल में नहीं फैलता। शीत उत्प्रेरक के आविष्कार से गैसतापन की बची कमी भी पूरी हो गयी और अब उसे जलाने के लिए अलग से कोई युक्ति लगाने की आवश्यकता नहीं पड़ती, अर्थात् आधुनिक गैस-अग्नि भी विद्युततापकों की भाँति स्विच की सहायता से ही जलायी-बुझायी जा सकती है।

प्रारम्भिक काल में रिटार्ट से निकली गैस के ठंडी होने पर जो टार प्रनाडों एवं संघनकों में जमा हो जाती थी, वह एक क्षेप्य पदार्थ मानी जाती थी और उसका हटाना फेंकना भी एक समस्या थी। किन्तु आज स्थिति बहुत भिन्न है क्योंकि अब वही अवां-छित पदार्थ रासायनिक उद्योग की प्रायः सभी शाखाओं के लिए एक महत्त्वपूर्ण कच्चा माल बन गया है। गत एक पीढ़ी में कार्बनिक रसायन-उद्योग का जो विस्तृत प्रसार हुआ है उसमें कोलतार-संघटकों का विदोहन (एक्सप्लॉयटेशन) एक मुख्य बात रही है। कोलतार के आसवन से अनेक प्राथमिक पदार्थ उत्पन्न होते हैं जिनमें से प्रत्येक का अपना अपना विशेष महत्त्व होता है। ये ही पदार्थ अनेक द्वितीयक उत्पत्तियों के निर्माण में प्रारम्भिक पदार्थ का भी काम देते हैं। बेन्ज़ॉल इनमें से सबसे अधिक

वाष्पशील पदार्थ है, जो एक बड़ा मूल्यवान् मोटर-इंधन है क्योंकि इसके मिलाने से मिश्रणों में 'ऐण्टीनॉक' गुण आ जाता है। पिच कोलतार-आसवन का अन्तिम अवशिष्ट है, जिसका प्रयोग कोल-ब्रिकेट्स बनाने में किया जाता है और क्रियोज़ोट का उपयोग डीज़ेल इञ्जनों के इंधन के रूप में होता है लेकिन इसका अधिक महत्त्वपूर्ण उपयोग लकड़ी के परिरक्षण का है, क्योंकि इसके लगाने से लकड़ी के शहतीरों, रेलवे के स्लीपरों, टेलीग्राफ के खम्भों इत्यादि का उपयोगी जीवन बहुत बढ़ जाता है।

कोलतार का सर्वाधिक भाग सड़क बनाने के काम में आता है। इस काम के लिए पहले पहल जब तार का प्रयोग किया गया तब उसकी कोटि बड़ी उत्तम एवं संतोषजनक न थी। तार-लगी सड़कों के बगल से बहनेवाली नालियों के द्वारा जलधारों का दूषण होने लगा, जिसके कारण मछलियाँ मरने लगीं और मत्स्योद्योग को हानि होने लगी। किन्तु इस काम में प्रयुक्त होनेवाले तार की श्रेणी तथा उसके निबन्ध पर कड़ा रासायनिक नियंत्रण करके उपर्युक्त कठिनाइयों का निवारण किया गया और आज की कोलतार की सड़कें सभी प्रकार से संतोषजनक होती हैं।

कोलतार-आसवन के अन्य उत्पादन रंगलेप, वार्निश एवं रबरनिर्माण में विलायकों के रूप में प्रयुक्त होते हैं। इनका प्रयोग अपक्षालक (डिटरजेण्ट्स) तथा विस्नेहन (डिग्रीज़िंग) निबन्धों[1] में भी होता है।

कोलतार के प्राथमिक प्रभागों से निर्मित अथवा संश्लिष्ट द्वितीयक उत्पत्तियों की विस्तृत चर्चा करना तो अनावश्यक जान पड़ता है, क्योंकि उनमें से प्रत्येक वर्ग ऐसे विशिष्ट रासायनिक उद्योगों के आधार हैं, जिनका विकास रासायनिक अनुसन्धान के ही व्यावहारिक प्रयोग का प्रत्यक्ष फल है। जैसे रंजक पदार्थों के उद्योग को ही लीजिए। इसका आज हमारे दैनिक जीवन के प्रायः सभी पहलुओं से घनिष्ठ संबन्ध है; यह सम्पूर्णतया कोलतार-उत्पत्तियों पर ही आधारित है। सुगन्धित पदार्थ, खाद्य पदार्थ, इसेन्स, औषध तथा प्रतिपूयिक (ऐण्टीसेप्टिक) सभी इसी कोलतार के, रासायनिक चमत्कार के फल हैं; और यही कोलतार एक समय निरर्थक मानकर फेंक दिया जाता था। रबर-त्वरक (ऐक्सीलरेटर), विशिष्ट विलायक, अपक्षालक (डिटरजेण्ट्स) एवं शुष्क धावनकर्ता, संश्लिष्ट टैनीन तथा फोटोग्राफी की रासायनिक सामग्रियाँ इसी से प्राप्त की जाती हैं। यह सूची तो वैसे भी सर्वथा अपूर्ण है

[1] Compositions

किन्तु उद्योगों के सुसंगठित अनुसन्धानों के फलस्वरूप ऐसे पदार्थों की संख्या दिन प्रति दिन बढ़ती ही जा रही है।

विस्फोटकों के निर्माण के मुख्य कच्चे पदार्थों के लिए भी टोलुइन और फिनॉल जैसे उन रासायनिक यौगिकों पर निर्भर रहना पड़ता है, जो कोलतार-आसवन तथा कोल-गैसधावन से प्राप्त होते हैं।

कोलतार रसायन की बहुफलदायिनी रीतियों की थोड़ी चर्चा के बाद रासायनिक संश्लेषण के उन नवीन विकासों का उल्लेख भी आवश्यक है, जिनका प्रादुर्भाव पिछले दो दशकों में हुआ है और जिनके फलस्वरूप अनेक नये-नये एवं उपयोगी रासायनिक उत्पादन प्रस्तुत किये जा सके हैं। इनके निर्माण में बड़े सरल यौगिकों को लेकर उनके छोटे-छोटे अणुओं के संघनन तथा पुरुभाजन से नवीन प्लास्टिकों तथा संश्लिष्ट रबर की जटिल श्रृंखलाएँ एवं जाल तैयार कर लिये जाते हैं। और इन सरल पदार्थों के लिए भी कोयले का ही आश्रय ग्रहण करना पड़ा है। लेविन्स्टीन का कथन है (Chem. and Ind., १९४४, P. २२५) कि प्लास्टिक उद्योग के लिए कच्चे मालों का लगभग ७० % भाग कोयले से प्राप्त होता है।

संश्लिष्ट रेज़ीनों के निर्माण के लिए कोल गैस से इथीलीन, बेन्ज़ीन और अमोनिया, कोक ऑवेन गैस तथा वाटर गैस से हाइड्रोजन, कोक से कैल्सियम कार्बाइड के द्वारा एसिटिलीन और टार से फिनाल इत्यादि सभी चीज़ें इंग्लैण्ड में तैयार कर ली जाती हैं, यद्यपि वहाँ खनिज तेलों का अभाव है। उसी प्रकार संश्लिष्ट रबर बनाने के लिए बूटाडीन भी बेन्ज़ीन से तैयार की जाती है। एसिटिलीन, नियोप्रेन, स्टायरीन तथा रबर संश्लेषण के लिए आवश्यक अन्य यौगिक भी कोयले से व्युत्पन्न किये जा सकते हैं।

गत कुछ वर्षों में सीधे कोयले से द्रव इंधनों को तैयार करने में भी विशेष प्रगति हुई है। यह बड़ी जटिल रासायनिक समस्या है किन्तु विपुल धन और शक्ति लगाकर किये गये अनुसन्धानों के फलस्वरूप आखिर यह समस्या भी हल कर ली गयी। यद्यपि आर्थिक दृष्टि से यह प्राकृतिक खनिज तेलों का मुकावला नहीं कर सकता-क्योंकि कोयले से मोटर स्पिरिट बनाने का खर्चा आयातित पेट्रोलियम स्पिरिट के दाम का तीन गुना पड़ता है। किन्तु राष्ट्रीय सुरक्षा एवं अपने को आत्मनिर्भर बनाने के प्रश्न ने इस प्रत्यक्ष आर्थिक हानि को गौण बना दिया तथा यूरोपीय राष्ट्रों को इस बात के लिए प्रेरित किया कि वे इस साधन को अपनाकर वायु, जल तथा स्थल के सभी परिवहन क्षेत्रों में पेट्रोलियम के आयात से अपने को मुक्त कर लें। इस प्रकार की सबसे बड़ी आवश्यकता जर्मनी में हुई, क्योंकि ब्रिटिश नौसेना के घेरे के कारण

विदेशों से तेल की उसकी उपलब्धि एकदम बन्द हो गयी, जब कि उसके पास और कोई प्राकृतिक स्रोत भी न था। इस स्थिति के परिणामस्वरूप इस समस्या का अधिकांश प्रारम्भिक कार्य जर्मनी में ही हुआ।

इंग्लैण्ड में उच्च और निम्न ताप कार्बनीकरण के उत्पादनों से उसके तेलप्रदाय में विशेष वृद्धि हुई। कोल गैस तथा कोक ऑवेन उद्योगों से प्राप्त अपरिष्कृत बेन्ज़ॉल से प्रति वर्ष लगभग पाँच करोड़ गैलन मोटरस्पिरिट बनने लगी है, यह राशि सम्पूर्ण खपत की लगभग ४% है। निम्न ताप कार्बनीकरण से प्राप्त कुल स्पिरिट लगभग १० लाख गैलन ही होती है।

यदि कोयले को सीधे तेल के रूप में परिवर्तित करना हो तो उसकी बनावट की हाइड्रोजनमात्रा बढ़ाना ही मुख्य बात है। इसके लिए जर्मनी में १९१३ में 'बर्जियस विधा' के नाम से जो विधा विकसित हुई थी उसमें हाइड्रोजनन की यह क्रिया एक उत्प्रेरक की उपस्थिति में उच्च दाब और ताप से पूरी की जाती है। उस समय से जर्मनी में भूरे कोयले और भूरे कोलतार के हाइड्रोजनन पर बड़ा काम किया गया है; तथा इंग्लैण्ड में 'इम्पीरियल केमिकल इण्डस्ट्रीज़' ने बिलिंघम में एक संयंत्र लगाकर बिटुमिनी कोयले एवं क्रियोज़ोट से प्रति वर्ष १५०,००० गैलन पेट्रोल तैयार करना प्रारम्भ किया।

इस विधा के लिए आवश्यक हाइड्रोजन स्वयं कोयले का एक उत्पादन है और कोक पर भाप की क्रिया से उत्पन्न की गयी वाटर गैस से प्राप्त होता है। वाटर गैस में मुख्यतः हाइड्रोजन और कार्बन मॉनोऑक्साइड होता है, और भाप के साथ इसको एक तप्त उत्प्रेरक के ऊपर से पार कराने से कार्बन डाइऑक्साइड तथा थोड़ा और हाइड्रोजन बन जाता है। इस मिश्रित गैस को संपीडित करके जल से धोया जाता है जिससे कार्बन डाइऑक्साइड निकल जाय और शेष हाइड्रोजन को और संपीडित करके उस पर २५० वायुमण्डल का दाब डाल दिया जाता है। इस विधा के लिए कोयले को पहले साफ कर लेना चाहिए जिससे उसकी भस्म-मात्रा यथासंभव कम हो जाय। तत्पश्चात् इसे पीस और बारीक चूर्ण बनाकर गुरु तेल के साथ उसका एक लेप तैयार कर लिया जाता है। इस लेप में उत्प्रेरक मिला कर उसे तप्त किया जाता और एक विशाल प्रतिक्रियापात्र में पम्प कर दिया जाता है। इस पात्र में संपीडित हाइड्रोजन रहता है और ४५०° से० ताप पर प्रतिक्रिया होती है जिसके फलस्वरूप गुरु तेल उत्पन्न होता है। अवशिष्ट भस्म तथा कुछ कार्बनीय पदार्थों में से गुरु तेल को निकालकर उसे जला दिया जाता है। गुरु तेल के द्वितीय हाइड्रोजनन से अपेक्षाकृत अधिक वाष्पशील तेल बनता है जिसे 'मध्य तेल' अर्थात् 'मिडिल ऑयल' कहते हैं। इस तेल

की वाष्प बनाकर अन्तिम बार हाइड्रोजन से उपचारित करने से पेट्रोल तैयार होता है। एक टन पेट्रोल तैयार करने के लिए लगभग डेढ़ टन कोयले का हाइड्रोजनन करना पड़ता है तथा हाइड्रोजन, भाप एवं शक्तिसंचार के लिए दहन किये गये कोयले को मिलाकर कुल ४–५ टन कोयला खर्च होता है।

कोयले से तेल तैयार करने की एक दूसरी प्रक्रिया है जिसे 'फिशर-ट्रॉप्श संश्लेषण' कहते हैं। इसका क्रियाकरण साधारण ताप पर होता है तथा बर्जियस विधा के समान यह खर्चीली एवं अधिक तूलवाली भी नहीं है, अतः अपेक्षाकृत अधिक सरलता से प्रयुक्त हो सकती है। इसका एक लाभ यह भी है कि इसमें निम्न श्रेणीवाले ईंधन भी इस्तेमाल किये जा सकते हैं क्योंकि इसकी प्रथम अवस्था में ईंधन पर वाटर गैस की प्रतिक्रिया से हाइड्रोजन और कार्बन मॉनोऑक्साइड का मिश्रण तैयार होता है। वाटर गैस में से गंधक यौगिकों के निरसन के लिए एक उत्प्रेरक विधा काम में लायी जाती है तथा उसके एक भाग का अधिक भाप से उपचार करके उसमें हाइड्रोजन और कार्बन मॉनोऑक्साइड का २ : १ अनुपात कर दिया जाता है, क्योंकि 'संश्लेषण गैस' के लिए यही अनुपात उपयुक्त होता है। वायुमण्डलिक अथवा उससे तनिक ऊँचे दाब और २००° से० ताप पर इन मिश्रित गैसों को एक विशेष उत्प्रेरक के ऊपर से पार कराया जाता है। इस उपचार से हाइड्रोकार्बन वाष्प और भाप का एक मिश्रण उत्पन्न होता है। वाष्पों के संघनन एवं उद्धावन से उनका द्रवण हो जाता है और अवशेष गैस को या तो उत्प्रेरक पात्र में लौटा दिया जाता है या ईंधन के रूप में प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार से तैयार किये गये तेल के शोधन के लिए भी प्राकृतिक पेट्रोलियम शोधन की रीतियाँ ही इस्तेमाल की जाती हैं।

उपर्युक्त विधा की रूपरेखा वैसे तो काफी सरल है लेकिन उसके सफल क्रियाकरण में बड़ी कठिनाइयाँ भी हैं। एक ऐसे उत्प्रेरक की आवश्यकता हुई जो गैसों के रूपान्तरण के लिए काफी सक्रिय एवं गतिक होने के साथ दीर्घकाल तक उपयोगी भी हो। गैसों में विद्यमान गंधक से उत्प्रेरक बहुत शीघ्र नष्ट हो जाता था, इसलिए ऐसी रीति निकालनी पड़ी जिससे साधारण ऑक्साइड शोधकों की सहायता से हाइड्रोजन सल्फाइड के निस्सारण के बाद उसमें से कार्बनिक गंधक यौगिकों को पूरी तरह से निकाला जा सके। इन कठिनाइयों का भी निवारण किया गया और महायुद्ध के कुछ ही पूर्व फिशर-ट्रॉप्श विधा से जर्मनी में प्रति वर्ष सात करोड़ गैलन पेट्रोल तैयार किया जाने लगा। आवश्यकता पड़ने पर उत्पादन की गति और भी बढ़ायी जा सकती थी।

रसायनज्ञों के सहयोग से कोयला और उसके उत्पादनों के विदोहन[1] के अनेक रूप हो गये हैं। कोक की सक्रियता एवं उसके कुशल उपयोगसंबन्धी कार्य, निम्न ताप कार्बनीकरण का विकास, तथा स्वयं कोयले की बनावट संबन्धी कार्य इनके कुछ उदाहरण हैं। उपर्युक्त वर्णन से यह स्पष्ट है कि कोयले पर आधारित विशाल औद्योगिक भवन के निर्माण में रसायनविज्ञान का महान् योगदान है।

ग्रंथसूची

BONE W. A. AND HIMUS G. W. : *Coal, its Constitution and Uses.* Longmans. Green & Co., Ltd.

BRAME, J. S. S., AND KING, J. G. : *Fuel, Solid, Liquid and Gaseous.* Edward Arnold & Co.

BUNBURY, H. M., AND DAVIDSON, A. : *Industrial Applications of Coal Tar Products.* Ernest Benn, Ltd.

GRIFITH, R. H. : *The Manufacture of Gas : Water Gas.* Ernest Benn, Ltd.

MEADE, A. : *New Modern Gas Works Practice.* Ernest Benn, Ltd.

PORTER, H. C. : *Coal Carbonisation.* Reinhold Publishing Co.

WARNES, A. R. : *Coal Tar Distillation.* Ernest Benn, Ltd.

अन्य गैसें

ए० ए० एल्ड्रिज, बी० एस-सी० (लन्दन), ए० के० सी०,
एफ० आर० आई० सी०

गैस, द्रव्य का सबसे सरल रूप है और गैसों के विशुद्ध वैज्ञानिक अनुशीलन से उन सार-भूत सिद्धान्तों को समझने में असीम सहायता मिली है, जिन पर आज के वैज्ञानिक उद्योगों की समस्त रचना आधारित है।

'गैस' शब्द से हमारे मन में दो प्रक्रियाओं (फंकशन) का भान होता है—एक

[1] Exploitation

तो उसके दहन से प्राप्त सुखद गर्मी और सुन्दर प्रकाश का, और दूसरे मृत्यु और नाश का। किन्तु प्रस्तुत प्रसंग में इन दोनों में से किसी की भी चर्चा नहीं की जायगी। कोल गैस, जिसका वर्णन 'कोयला' शीर्षक लेख में किया जा चुका है, केवल एक पदार्थ नहीं वरन् अनेक गैसीय पदार्थों का मिश्रण है, जिसकी बनावट उसकी उत्पादनरीति के अनुसार भिन्न-भिन्न होती है। गैसीय पदार्थों में "सैनिक गैसों" का भी उल्लेख न किया जायगा क्योंकि उनमें से बहुत सी तो गैस कही ही नहीं जा सकतीं तथा उन गैसों का भी, जिनका कोई औद्योगिक अथवा अन्य उपयोग नहीं होता, ज़िक्र करना निरर्थक है। यहाँ उन विशुद्ध गैसीय तत्त्वों एवं यौगिकों का उल्लेख किया गया है जिनका औद्योगिक प्रविधियों के विकास में विशिष्ट योगदान है।

'गैस' शब्द का प्रयोग वान हेल्माण्ट (१५७७—१६४४) नामक एक फ्लेमिश रसायनज्ञ ने किया था, संभवतः उन्होंने इसको ग्रीक शब्द 'केयास' से व्युत्पन्न किया था, यद्यपि कुछ लोग इसका सम्बन्ध जर्मन शब्द 'जीस्ट' से जोड़ते हैं। इस शब्द की व्युत्पत्ति चाहे जो भी हो लेकिन इसका मतलब उन पदार्थों से था जिन्हें न तो किसी पात्र में बन्द किया जा सकता था और न द्रष्टव्य बनाया जा सकता था। वान हेल्माण्ट ने अपनी इस परिभाषा में वायुमण्डलिक हवा एवं सरलता से संघनन योग्य वाष्पों की गणना नहीं की। इस विभेदकरण का विशेष महत्त्व था, क्योंकि पूर्वगामी कार्य-कर्ताओं ने गैसों में विविधता का अनुभव नहीं किया था, फलतः सभी हवाओं को समान प्रकृति की मानते थे। जब विधिवत् प्रयोगों और उनके तर्कयुक्त परिणाम में समन्वय किया जाने लगा तभी गैसों के उन विभिन्न गुणों का ज्ञान हुआ जिनका उद्योगों की अनेकानेक शाखाओं में व्यवहार किया गया।

गैसों का एकैकशः वर्णन करने के पहले उनके सामान्य गुणों की विवेचना कर लेनी चाहिए, क्योंकि किसी भी गैस के बनाने, उन्मुक्त करने, घुलाने, बोतलों में बन्द करने, बेचने अथवा उसे घर या कारखाने में किसी प्रयोजन के लिए इस्तेमाल करने में इन गुणों का सदा ध्यान रखना आवश्यक है। भौतिकतया गैस, व्य का सरलतम रूप है, अतः इसके आचरण के नियम अर्थात् 'गैस नियम' सांद्रों एवं द्रवों के नियमों से कम जटिल होते हैं। दाब और ताप के प्रति गैसों के आचरण को सुतथ्य गणितीय ढंग से अभिव्यक्त किया जा सका है। कोई गैस आर्द्र होने की तुलना में, शुष्कावस्था में कितना स्थान घेरेगी, तथा संपीडित अथवा प्रस्तृत दशा में उसका क्या आयतन होगा, तथा तप्त या शीत होने पर किस प्रकार आचरण करेगी, इन सबकी गणना करना काफी सरल काम है। यद्यपि इन नियमों के प्रवर्तकों के नाम इनके साथ ही हमारे मन में आ जाते हैं, लेकिन जब हम गैस बनाने अथवा उसके उपयोग की बात

सोचते हैं तब उनका ध्यान नहीं करते और न उनकी सेवाओं के महत्त्व को ही पूरी तरह समझते हैं। गैसों का उपयोग केवल उस मोटर इञ्जीनियर तक ही सीमित नहीं, जो उच्च दाब पर किसी बन्द स्थान में उत्पन्न गैसों से महत्तम कार्य कर लेना चाहता है, और न ही वह केवल विमानों और वायुयानों को बनाने या चलाने में उपयोगी है वरन् उस ऋतुवैज्ञानिक का भी उससे सम्बन्ध होता है, जो वायु की गति, उसके ताप एवं आर्द्रता का अनुशीलन करता रहता है। वस्तुतः मानवकल्याण के लिए तथा मनुष्य की सुख-सुविधा बढ़ाने के निमित्त किसी भौतिक तथा रासायनिक कार्य में संलग्न कार्यकर्ताओं को गैसों का उपयोग करना पड़ता है।

गैस के ताप, दाब तथा उसके आयतन-सम्बन्धी नियम के प्रवर्तक रॉबर्ट बॉयल (१६२७—१६९१) थे। यह कॉर्क के प्रथम अर्ल के सातवें पुत्र थे। उनके नियम के अनुसार एक नियत ताप पर किसी गैस की स्थिर मात्रा का आयतन उस पर पड़े दाब का प्रतिलोमानुपाती (इन्वर्सली प्रपोर्शनल) होता है। रॉबर्ट बॉयल ने सैद्धान्तिक विचार-विमर्श एवं पदार्थों की परीक्षा तथा उनके आचरणसंबन्धी प्रयोगात्मक कार्यों के बीच उचित सम्बन्ध स्थापित करने पर बड़ा ज़ोर दिया। इसका वैज्ञानिक ज्ञानवर्धन पर इतना प्रभाव पड़ा कि उन्हें "आधुनिक रसायन का जनक" कहा जाने लगा। बॉयल नियम को बीजतः $p\,v = k$ के समीकरण से अभिव्यक्त किया जाता है, जिसमें नियतांक k का मान गैस की राशि, उसके ताप एवं p और v के मापन की इकाइयों पर निर्भर है। अनेक गैसों पर यथार्थ प्रयोग करके इस सरल नियम की सत्यता की जाँच करने पर यह पता चला कि यद्यपि यह मोटे तौर पर तो ठीक है, लेकिन अनेक दशाओं में गैसों का आचरण इस नियम से काफी विचलित हो जाता है। यदि दाब निम्न तथा गैस का ताप उसके द्रवणताप से काफी ऊँचा हो तो उसके गणित एवं अवलोकित आचरण का भेद प्रायः नगण्य होता है, लेकिन जब गैस अपेक्षाकृत बहुत शीत और अति संपीडित होती है तो उसके यथार्थ एवं गणित आचरण में बड़ा विभेद होता है। इसके प्रत्यक्षतः दो कारण हैं, एक तो गैस के अणु स्वयं कुछ स्थान घेरते हैं और दूसरे वे क्षीणतः एक दूसरे को आकृष्ट करते हैं। यह बॉयल-नियम का प्रतिवाद नहीं बल्कि उसकी सार्थकता सिद्ध करता है कि इन बाधक बातों का शोधन कर देने के बाद यह नियम ताप और दाब की लम्बी सीमा के अन्दर गैसों और द्रवों पर अच्छी तरह लागू होता है। उपर्युक्त शोधन को नियम-आबद्ध करने का श्रेय वान डेर वाल (१८३७–१९२३) नामक एक डच भौतिकीविद को है। 'The Sceptical Chymist' (१६६१) नामक उनके विख्यात ग्रन्थ का उल्लेख किये बिना बॉयल का वर्णन पूरा नहीं हो सकता, उसमें उन्होंने 'तत्त्व' की लगभग वही परिभाषा लिखी है जो वर्तमान

समय में मान्य है। यह स्पष्ट करना भी आवश्यक है कि मैरियट ने, जिसका नाम कभी-कभी "p v = k" की अभिव्यक्ति के साथ जोड़ा जाता है, काफी बाद में इसका ज़िक्र किया।

गरम या ठंढी की जाने पर सभी गैसें सामान्य सीमा तक फैलती अथवा आकुंचित होती हैं। जे० ए० सी० चार्ल्स (१७४६—१८२३) नामक एक फ्रांसीसी भौतिकीविद ने उष्मीय परिवर्तनों से गैसों के आचरण-भेद के सम्बन्ध में एक नियम का प्रवर्तन किया था। उनका कथन है कि नियत दाब पर किसी गैस की स्थिर मात्रा का आयतन उसके 'परम' ताप (ऐब्सोल्यूट टेम्परेचर) का अनुपाती होता है। 'परम ताप'-२७३° से० को शून्य मानकर सेण्टीग्रेड डिग्री में मापा गया ताप होता है। औद्योगिक व्यवहार की साधारण बातों में प्रयुक्त होनेवाले अन्य गैसीय नियमों के सम्बन्ध में अपने 'परमाणु सिद्धान्त' के लिए सुविख्यात जॉन डाल्टन (१७६६—१८४४) तथा विलियम हेनरी (१७७४—१८३६) के नाम भी उल्लेखनीय हैं। हेनरी ने यह बताया कि जब कोई गैस किसी द्रव में विलीन होती है तो अवशोषित गैस की मात्रा द्रव के ऊपर पड़ रहे दाब की अनुपाती होती है। और डाल्टन ने यह दिखाया कि किसी गैसीय मिश्रण का दाब एकैकशः उसके संघटक गैसों के आंशिक (पार्शल) दाब के सरल योग के बराबर होता है; आंशिक दाब का अर्थ उस दाब से है जो एक गैस अकेली उतने ही स्थान में डालती है। प्रस्तुत विषय के इस छोटे वृत्तांत में भी इटालियन भौतिकीविद अमीडियो ऐवोगाड्रो (१७७६—१८५६) की दूरदर्शी परिकल्पना (हाइपोथिसिस) तथा उनके देशवासी स्टैन्सिलाओ कैनिज़ारो (१८२६—१९१०) द्वारा उसकी प्रयुक्ति को श्रद्धाञ्जलि अर्पित करना परमावश्यक है। इस परिकल्पना से रासायनिक परमाणु-भारों की सारी प्रणाली तथा गैसों और उनकी प्रतिक्रियाओं के मात्रात्मक अध्ययन के महत्त्वपूर्ण आगणन बड़े सरल हो गये।

अब तक गैसों के उन सारभूत गुणों की समीक्षा की गयी है जो सभी गैसों में सामान्य हैं तथा जो उनकी रासायनिक प्रकृति एवं उनके निबन्ध (कंपोजीशन) के पदार्थ से प्रभावित नहीं होते। इन गुणों का उल्लेख विशेष रूप से इसलिए किया गया है कि गैसों का काम करनेवाले उद्योगपतियों के लिए गैसीय मात्राओं को जानने के हेतु इनका ज्ञान बड़ा आवश्यक होता है। किन्तु उनके लिए यह जानना भी अनिवार्य है कि किन-किन परिस्थितियों में गैस की बनावट में परिवर्तन हो सकता है। ये परिवर्तन अकेली गैस में भी होते हैं तथा उसके अन्य पदार्थ के सम्पर्क में आने पर भी। जैसे वैज्ञानिक इतिहास के एक काल (ऐलकेमिस्टों के काल) में विज्ञान का एकमात्र ध्येय पारस पत्थर ढूँढ़ निकालना था जिससे सभी निम्न धातुओं से सोना

बनाया जा सके और दूसरे काल में रसायनज्ञ लोग 'अमृत' की खोज में लगे हुए थे, उसी प्रकार बॉयल के समय से "न्युमैटिक रसायन" के युग का प्रारम्भ हुआ। उसी समय से गैसों का गहन रासायनिक अनुशीलन तथा उनके दहन और उस पर वायुमण्डल के प्रभाव की परीक्षा प्रारम्भ हुई। इसी में ज़ोसेफ प्रिस्ले (१७७३—१८०४) द्वारा ऑक्सीजन का आविष्कार, एल० ए० लवायज़ियर (१७४३—१७९४) द्वारा वायुमण्डल के योगदान का स्पष्टीकरण तथा रॉबर्ट हूक (१६३५—१७०३), जॉन मेयो (१६४३—१६७९), रेवेरेण्ड स्टिफेन हेल्स (१६७७—१७६१), हेनरी कैवेण्डिश (१७३१—१८१०), सी० डब्लू० शीले (१७४२—१७८६) एवं मानव-जाति के कल्याण के लिए वैज्ञानिक अनुशीलन में संलग्न अन्य कार्यकर्ताओं के अनुसन्धान शामिल हैं। यद्यपि वर्तमान समय में यह भी प्रत्यक्ष हो गया है कि जैसे अन्य उत्तम एवं लाभकारी कार्यकलापों का दुरुपयोग हुआ है उसी प्रकार दुष्टों द्वारा विज्ञान का भी निकृष्ट कार्यों में दुरुपयोग किया गया है। लेकिन एक संतुलित मन से विचार करने पर यह भी स्पष्ट हो जाता है कि वैज्ञानिक प्रवृत्ति ने आज की मानव सभ्यता पर, प्रत्यक्षतः उसके पदार्थवादी पक्ष तथा परोक्षतः उसके अनेक कल्पनातीत पहलुओं पर जो अनुकूल प्रभाव डाला है, उसकी तुलना में उसका दुष्प्रयोग प्रायः नगण्य है। इस कथन की सत्यता सुज्ञात गैसों तथा उनके लाभों की समीक्षा करने से सिद्ध हो जायगी।

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम दशक तक वायु के अन्य संघटक गैसों का आविष्कार नहीं हुआ था, किन्तु उसी कालावधि में लार्ड रैले और सर विलियम रैमज़े ने विविध स्रोतों से प्राप्त नाइट्रोजन का घनत्व निकालने के फलस्वरूप आर्गन (विदाउट एनर्जी अर्थात् ऊर्जा रहित) का एकलन किया। तत्पश्चात् मॉरिस ट्रैवर्स के सहयोग से रैमज़े ने निम्नलिखित रासायनिकतः निष्क्रिय गैसों का आविष्कार किया— नियॉन (न्यू अर्थात् नया), हीलियम (सन अर्थात् सूर्य), क्रिप्टॉन (हिडेन अर्थात् गुप्त), तथा ज़ेनन (स्ट्रेन्जर अर्थात् अपरिचित)।

हीलियम—इसका प्रथम आविष्कार सूर्य से हुआ, यद्यपि वाणिज्यिक रूप से यह नैचुरल गैस से प्राप्त किया जाता है। संयुक्त राज्य अमेरिका में यह वायुयानों की स्फीति (इन्फ्लेशन) के लिए इस्तेमाल किया जाता है। इस काम के लिए हाइड्रोजन की अपेक्षा इसका सबसे बड़ा लाभ यह है कि यह अज्वलनशील होता है। इसका दूसरा उपयोग वातिबुदबुद रोग (कैसन डिज़ीज) की चिकित्सा में किया जाता है। हीलियम-ऑक्सीजन का मिश्रण वायु की अपेक्षा रक्त में कम घुलनशील होता है, इसके प्रयोग से उक्त रोग का घातक प्रभाव कम हो जाता है।

आर्गन—आर्गन द्रव-वायु से प्राप्त किया जाता है। न्यून दाब पर इस गैस से भरे विद्युत् दीपों के फिलामेण्ट निर्वात द्वीपों की अपेक्षा बिना काला पड़े उच्च ताप तक गरम किये जा सकते हैं। आर्गन के इसी गुण के फलस्वरूप "हाफ वाट" दीप बनाये जा सके हैं।

नियॉन—रासायनिकतः सर्वथा निष्क्रिय एवं स्थायी होते हुए भी नियॉन दीप्त विज्ञापन (लुमिनस ऐडवर्टाइज़मेण्ट) का प्रतीक बन गया है, क्योंकि समस्त गैसों में से यह सर्वाधिक सरलता से विद्युत प्रतिबल (स्ट्रेस) का प्रतिचार (रिस्पॉण्ड) करता है और एक चालन (कॉण्डक्टिंग) एवं दीप्त काय (लूमिनस बॉडी) बन जाता है।

हाइड्रोजन—जल से हाइड्रोजन बनाने की अनेक रीतियाँ हैं, लेकिन उनसे प्राप्त गैस की शुद्धता भिन्न-भिन्न होती है। इसलिए रीति-विशेष के चुनाव में अभिप्रेत प्रयोजन में हाइड्रोजन की आवश्यक शुद्धता का ध्यान रखना पड़ता है। यदि जे० ए० सी० चार्ल्स ने बैलूनों के लिए इस गैस का उपयोग न किया होता और फ्रिज़ हाबर (१८६८—१९३४) ने हाइड्रोजन और नाइट्रोजन के संश्लेषण से अमोनिया बनाने का आविष्कार न किया होता तो कदाचित् हाइड्रोजन की वर्तमान समय में इतनी बड़ी माँग न हुई होती। बैलूनों तथा वायुयानों के काम के लिए हाइड्रोजन तप्त लाल लोहे पर भाप की अथवा क्षेप्य धातुओं पर तनु अम्ल की क्रिया से तैयार कर लिया जाता है क्योंकि इसके लिए बहुत शुद्ध गैस की आवश्यकता नहीं होती। कभी-कभी इस काम के लिए हाइड्रोलिथ (कैल्सियम हाइड्राइड) पर जल की क्रिया अथवा फेरोसिलिकॉन पर गरम दह सोडा विलयन की क्रिया से भी हाइड्रोजन बनाना अधिक सुविधाजनक होता है। १ घन मीटर हवा का भार १·२९ किलो होता है, किन्तु १ घन मीटर हाइड्रोजन का भार केवल ०·०९ किलो होता है, इस प्रकार हाइड्रोजन से भरे १ घन फुट वरिमा (स्पेस[1]) की उड़ान शक्ति १·२ किलो होगी। हीलियम यद्यपि हाइड्रोजन से चार गुना भारी होता है, लेकिन उसमें हाइड्रोजन की ९/१० उड़ान शक्ति होती है और साथ ही उसमें आग लगने का ख़तरा भी नहीं होता। इसीलिए हाइड्रोजन के स्थान पर वायुयानों में हीलियम का प्रयोग होने लगा है। हाबर विधा से अमोनिया संश्लेषण के लिए हाइड्रोजन जल अथवा लवण-जल के विद्युदांशन[2] से अथवा वाटर-गैस से या जीवाणुओं की सहायता से प्राप्त किया जाता है। हाइड्रोजन बनाने की दूसरी विधा में, जो हाबर के सम्बन्धी, कार्ल बॉश के नाम से प्रसिद्ध है, भाप के साथ हवा

[1] Space दिक् या देश, अन्तरिक्ष [2] Electrolysis

मिला करके उसको दहकते कोक के ऊपर पार कराया जाता है, जिससे हाइड्रोजन, नाइट्रोजन और कार्बन मॉनोआक्साइड का एक मिश्रण प्राप्त होता है। कार्बन मॉनो-आक्साइड उत्प्रेरक आक्सीकरण से विलेय कार्बन डाइआक्साइड बनाकर उक्त मिश्रण में से उसका निरसन किया जाता है। हाइड्रोजन चाहे जिस तरीके से बनाया जाय, लेकिन उसमें ऐसी अशुद्धियाँ बिलकुल नहीं होनी चाहिए, जो उत्प्रेरक अथवा त्वरक की क्रिया को अवरुद्ध करें।

वर्तमान समय में हाइड्रोजन का प्रयोग केवल नाइट्रोजन से अमोनिया बनाने के ही लिए नहीं वरन् अनेक प्रकार की हाइड्रोजनन विधाओं के लिए किया जाता है। कुछ वनस्पति द्रव तेलों को सूक्ष्मतः चूर्णित निकेल की उपस्थिति में हाइड्रोजनित करके ठोस वसा तैयार की जाने लगी है; इसका प्रयोग साबुन बनाने के लिए तथा मक्खन प्रतिस्थापक तैयार करने में किया जाता है। जब किसी उपयुक्त उत्प्रेरक की सहायता से पेट्रोलियम तथा कोयले का हाइड्रोजनन किया जाता है तो उससे प्राप्त आसुत द्रव में लघु तेल की अधिकांश मात्रा होती है। कार्बन मॉनोआक्साइड के साथ हाइड्रोजन के संश्लेषण से मिथिल ऐलकोहल बनाया जाने लगा है; पहले यह ऐलकोहल काष्ठ के भंजक आसवन (डिस्ट्रक्टिव डिस्टिलेशन) से ही प्राप्त होता था। इन विशाल उद्योगों का विकास एवं वर्धन उन प्रयोगों के ही फल हैं जो प्रायः छोटी-छोटी प्रयोग-शालाओं में धैर्यपूर्वक बहुत समय तक बारंबार किये गये हैं।

जब हाइड्रोजन की उपस्थिति में दो टंग्सटन विद्युदग्रों (एलेक्ट्रोड) के बीच विद्युत् चाप (आर्क) जलता है तो हाइड्रोजन के कुछ अणुओं के खण्डन से उसके पर-माणु बन जाते हैं। इस तथ्य का भी लाभ उठाकर हाइड्रोजन का एक और उत्तम प्रयोग किया गया है, अर्थात् अगर उपर्युक्त चाप के आरपार हाइड्रोजन की एक प्रधार (जेट) फूँकी जाय तो ऐसी प्रचण्ड ज्वाला उत्पन्न होती है जिससे टंग्सटन तथा अन्य उष्मसह (रिफ्रैक्टरी) धातुओं का बिना तल ऑक्सीकरण के ही द्रावण किया जा सकता है। हाइड्रोजन परमाणुओं के योग से अणु बनने से ही इतना प्रचण्ड ताप उत्पन्न होता है। इस युक्ति से बनाये गये उपकरण को 'परमाणु हाइड्रोजन फुँकनी" (एटामिक हाइ-ड्रोजन ब्लोपाइप) कहते हैं।

ऑक्सीजन—आगे चलकर 'ऑक्सीजन' के नाम से संबोधित होनेवाली गैस के निर्माण की सर्वप्रथम घोषणा करने का श्रेय जोसेफ प्रीस्ले को है, जो उस समय (१७७४) लॉर्ड शेल्बर्न (कालान्तर में मार्क्विस ऑफ लैन्सडाउन) के साहित्यिक सहयोगी थे। प्रीले ने इस गैस को "डिफ्लॉजिस्टिकेटेड एयर" की संज्ञा प्रदान की थी। इससे उक्त आविष्कर्ता द्वारा कल्पित उस 'दहन-सिद्धान्त' की विभ्रान्ति भासित

होती है, जो आगे चलकर उन्हीं के अवलोकनों की सहायता से लवायजियर द्वारा मिथ्या सिद्ध किया गया। अब यह सर्वविदित है कि शीले ने इस गैस को प्रीस्ले से तीन वर्ष पूर्व बना लिया था और उसे "फायर एअर" अर्थात् अग्नि वायु का नाम दिया था, किन्तु इसकी घोषणा बाद में की गयी।

आजकल ऑक्सीजन एक वाणिज्यिक वस्तु है जो काले सिलिण्डरों में संपीडित रहती है। एक समय इसका निर्माण ब्रिन की रासायनिक विधा से किया जाता था। इस विधा में दाब के परिवर्तन से तप्त बेरियम ऑक्साइड द्वारा वायुमण्डलिक हवा में से आक्सीजन का अवशोषण कराया और फिर उससे उसे मुक्त करा लिया जाता था। किन्तु आजकल यह द्रव वायु के प्रभाजिक उद्वाष्पन (फ्रैक्शनल इवेपोरेशन) से प्राप्त किया जाता है। जब संपीडित गैसों को एक स्रुति (जेट) के द्वारा नियंत्रित दशा में छोड़ा जाता है तो वे ठंडी हो जाती हैं क्योंकि ऊर्जा (एनर्जी) उन अणुओं के पृथक्करण में लग जाती है, जो संपीडित अवस्था में एक दूसरे को आकृष्ट किये रहते हैं। यह शीतल प्रभाव धीरे-धीरे पद प्रति पद उत्पन्न किया जाता है और अन्त में गैस का तरलन हो जाता है। द्रव वायु के औद्योगिक निर्माण की लिण्डे-हैम्पसन विधा गैसों के उपर्युक्त आचरण पर ही आधारित है। नाइट्रोजन का तरलन ऑक्सीजन की अपेक्षा अधिक कठिन है, फलतः द्रव वायु में से उबल कर वह शीघ्रता से उड़ भी जाता है और ऑक्सीजन एक नीले द्रव के रूप में शेष रह जाता है। कभी-कभी द्रव ऑक्सीजन को कार्बन और तेल से मिला कर उसे विनाशकारी विस्फोटक के रूप में प्रयुक्त किया जाता है। यद्यपि इसकी अधिकांश खपत श्वसन की सहायता के लिए चिकित्सीय प्रयोजनार्थ अथवा ऊँची उड़ानों के लिए होती है। इनके अतिरिक्त इसकी आवश्यकता आक्सी-एसिटिलीन ज्वाला के लिए होती है, जिसका ताप २,५००° से० होता है और जो धातुओं के संधान (वेल्डिंग) के लिए प्रयुक्त होती है। ऑक्सीजन की प्रबल प्रधार (जेट) के साथ यह ज्वाला इस्पात के पट्टों को काटने के काम में भी आती है। ऑक्सी-कोल गैस तथा ऑक्सी-हाइड्रोजन धमनाड (ब्लो पाइप) भी बहुधा इस्तेमाल किये जाते हैं।

ओज़ोन—जब ऑक्सीजन को ऐसे स्थान से पारित किया जाता है जिसमें से होकर मूक विद्युत् विसर्जन (साइलेण्ट एलेक्ट्रिक डिस्चार्ज) पार कर रहा हो, तो उसमें से कुछ गैस ऐसा रूप धारण कर लेती है, जिसमें एक विचित्र गन्ध होती है और जिसमें सुस्पष्ट भौतिक एवं रासायनिक गुण आ जाते हैं। वस्तुतः यह ऑक्सीजन का ही एक अपररूप (एलोट्रॉपी) है, जिसे 'ओज़ोन' कहते हैं। यह ओज़ोनित ऑक्सीजन एक बड़ा सक्रिय ऑक्सीकर्ता है, जिसका प्रयोग कागज की लुगदी, हाथी-

दाँत और आटे के विरंजन तथा जल-प्रदायों के जीवाणुहनन (स्टेरीलाइज़ेशन) के लिए होता है। इसका उपयोग भूमिस्थ रेलवे प्रणाली के संवातन (वेण्टीलेशन) के लिए भी किया जाता है। लवंग तेल से वैनिलीन बनाने के लिए भी ओज़ोन का प्रयोग होता है। वैनिलीन वैनिला का एक सुगन्धयुक्त बहुमूल्य संघटक है, जिसकी अपेक्षा लवंग तेल काफी सस्ता होता है। अलसी के तेल से लिनोलियम बनाना आक्सीकरण विधा का ही रूप है और इसके लिए भी ओज़ोन काफी प्रभावी सिद्ध हुआ है।

क्लोरीन—ब्लीचिंग पाउडर की गंध से परिचित कोई भी व्यक्ति क्लोरीन की गन्ध पहचान सकता है। यह एक पीत-हरित गैस होती है और बुझाये चूने पर इसी की क्रिया के फलस्वरूप 'ब्लीचिंग पाउडर' अथवा 'क्लोराइड ऑफ लाइम' बनता है। क्लोरीन स्वयं क्षार-निर्माण में लवण-जल के विद्युदांशन (एलेक्ट्रालिसिस) अथवा हाइड्रोक्लोरिक अम्ल के रासायनिक ऑक्सीकरण से उत्पन्न होती है। यह एक बड़ा सक्रिय विरंजनकारक है, लेकिन अगर कपड़ों को इसके सम्पर्क में अधिक समय तक छोड़ दिया जाय तो उनका नाश भी हो जाता है, इसीलिए इसकी अधिक मात्रा को सोडियम थायोसल्फेट (फोटोग्राफरों का 'हाइपो') जैसे 'प्रति क्लोर' के प्रयोग से निरसित कर दिया जाता है। कागज-निर्माण में पौधों के रेशों के पृथक्करण के लिए भी क्लोरीन का उपयोग किया जाता है। रोगाणुनाशन के लिए तो यह गैस काफी प्रसिद्ध है। आजकल पेय जल के क्लोरीनीकरण से सभी परिचित हैं, एतदर्थ या तो उसमें ब्लीचिंग पाउडर डाल दिया जाता है अथवा संपीडित क्लोरीन भरे सिलिण्डरों में से शुद्ध गैस की उपयुक्त मात्रा जल में निरन्तर मिलायी जाती है। क्लोरीन के औद्योगिक उपयोग के दो और उदाहरण भी हैं, एक कार्बोनिल क्लोराइड अर्थात् 'फॉस्जीन' जो रंजक पदार्थों एवं सूक्ष्म रसद्रव्यों के निर्माण में अन्तःस्थ का काम करता है और दूसरा सल्फर क्लोराइड जो रबर के वल्कनीकरण के लिए प्रयुक्त होता है। क्षेप्य टिन पट्टों की कलई उतारने के लिए भी क्लोरीन इस्तेमाल की जाती है। इस विधा में टिन के वाष्पशील यौगिक का आसवन होता है। प्रमीलक (नारकोटिक) क्लोरल तथा निश्चेतक (ऐनेस्थेटिक) क्लोरोफार्म भी इसी के उत्पादन हैं, चिकित्सा में जिनका अत्यधिक महत्त्व है।

हाइड्रोजन क्लोराइड—नमक-जैसा कोई क्लोराइड जब सांद्रित सल्फ्यूरिक अम्ल के साथ तप्त किया जाता है तब धूमायमान अम्ल गैस के रूप में हाइड्रोजन क्लोराइड निकलता है। इसके जलीय विलयन को धातुओं को साफ करने के लि इस्तेमाल किया जाता है। परन्तु मुख्यतः यह गैस क्लोरीन के स्रोत के रूप में महत्त्वपूर्ण मानी जाती है।

हाइड्रोजन फ़्लुओराइड—फ्लुओस्पार से प्राप्त होता है, यह भी एक अम्ल गैस है। काँच एवं बालू-जैसे सिलिकामय पदार्थों पर आक्रमण करना इसका विशेष गुण है। इसीलिए काँच के निक्षारण[1] तथा धातु की ढली वस्तुओं पर से बालू हटाने के लिए इसका प्रयोग किया जाता है। इसके जलीय विलयन को मोम, सीस अथवा रबर की बोतलों में रखना पड़ता है।

अमोनिया—कृषि बड़ा पुराना और महत्त्वपूर्ण उद्योग है, जिसमें गैस कारखानों, कोक भट्ठियों तथा नाइट्रोजन स्थिरीकरण की हाबर विधा इत्यादि में उत्पन्न अमोनियम सल्फेट की भारी खपत होती है। नाइट्रोजन के स्थिरीकरण से प्राप्त अमोनिया का प्लैटिनम की उपस्थिति में वायु से ऑक्सीकरण करके नाइट्रोजन डाइऑक्साइड बनता है जिसे पानी में विलीन करने से नाइट्रिक अम्ल तैयार हो जाता है। नाइट्रिक अम्ल का उपयोग रंजक, भेषज एवं विस्फोटक बनाने में बहुतायत से होता है। सारभूत रस द्रव्य, सल्फ्यूरिक अम्ल के निर्माण में भी पुराने नाइटर पात्रों के उत्पादनों के स्थान पर अब इन्हीं नाइट्रस गैसों का प्रयोग होने लगा है। प्रशीतन (रेफ्रिजरेटिंग) संयंत्रों में अमोनिया का काफी इस्तेमाल होता है। संपीडन द्वारा इस गैस का बड़ी सरलता से तरलन हो जाता है, और द्रव अमोनिया को निम्न दाब पर विस्तारोद्वाष्पित[2] करने से ताप एकदम कम हो जाता है। अमोनिया, हाइड्रोजन और नाइट्रोजन दोनों का बड़ा सस्ता और परिवहन योग्य स्रोत है, उपर्युक्त गैसें अमोनिया का क्रमशः उत्प्रेरक विच्छेदन अथवा नियंत्रित दहन करके प्राप्त की जा सकती हैं। जलप्रदायों में क्लोरीन के साथ अमोनिया का भी प्रयोग किया जाता है, इससे जल का दुस्स्वाद ठीक हो जाता है। रबर के वल्कनीकरण में अमोनिया एक त्वरक के रूप में भी प्रयुक्त होता है।

नाइट्रिक ऑक्साइड—सल्फ्यूरिक अम्ल बनाने की सीसकक्ष विधा (लेड चेम्बर प्रॉसेस) में नाइट्रिक ऑक्साइड का मुख्य औद्योगिक उपयोग होता है। यह एक रंगहीन गैस है, किन्तु इसके दैहिक (फ़िज़ियालोजिकल) गुणों का पता नहीं है क्योंकि वायु से सम्पर्क होने पर इसका ऑक्सीजन से तुरन्त संयोजन हो जाता है और एक विषाक्त, भूरी गैस, नाइट्रोजन टेट्राक्साइड अथवा नाइट्रोजन डाइक्साइड उत्पन्न हो जाती है। दूसरी ओर अपनी इसी प्रतिक्रिया के कारण सल्फर डाइऑक्साइड और ऑक्सीजन के बीच यह एक उत्प्रेरक का काम करके सल्फूरिक अम्ल तैयार करने में

[1] Etching [2] Exaporating

बड़ा महत्त्वपूर्ण कार्यभाग पूरा करता है। यद्यपि इस विधा की उत्प्रेरक क्रिया का पूर्ण स्पष्टीकरण हुआ नहीं माना जाता, फिर भी इससे नाइट्रिक आक्साइड की उपयोगिता में कोई अन्तर नहीं पड़ता। अकेले ग्रेट ब्रिटेन में प्रतिवर्ष दस लाख टन सल्फ्यूरिक अम्ल तैयार होता है, जिसमें से लगभग तीन-चौथाई नाइट्रिक ऑक्साइड—नाइट्रोजन पराक्साइड, प्रतिक्रिया के ही आधार पर बनता है।

नाइट्रस ऑक्साइड—इस गैस का औद्योगिक योगदान प्रायः नगण्य है, किन्तु दन्त-चिकित्सा में दुखते दाँत को बिना पीड़ा के उखाड़ने में एक निश्चेतक के रूप में इसके उपयोग की उपेक्षा भी नहीं की जा सकती। प्रसव वेदना के शमन में नाइट्रिक ऑक्साइड का एक वेदनाहर[1] के रूप में अच्छा स्थान है। इस प्रकार औद्योगिक मानव-शक्ति में इसका परोक्ष योगदान तो माना ही जाना चाहिए।

सल्फर डाइऑक्साइड—रोगाणु-नाशन के लिए जब गंधक जलाया जाता है तो उत्पन्न धूम में मुख्यतः सल्फर डाइऑक्साइड होता है, जो एक तीखी गंधवाली तथा श्वासरोधी गैस है। श्लेष्म झिल्ली (म्यूकस मेम्ब्रेन) पर भी इस गैस की विचित्र संतापक (इरीटेटिंग) क्रिया होती है। धातुकर्मिक क्रियाओं में यशद ब्लेण्डे-जैसे सल्फाइड अयस्कों (ओर्स) के भूँजने (रोस्टिंग) से भी यह गैस उत्पन्न होती है, लौह माक्षिक[2] तो इसका प्रधान स्रोत ही है। इसके ऑक्सीकरण से सल्फ्यूरिक अम्ल उत्पन्न किया जाता है और इस काम के लिए इसकी खास आवश्यकता होती है। सल्फ्यूरिक अम्ल उत्पादन की एक विधा (प्रक्रिया) का उल्लेख किया जा चुका है, जिसमें नाइ-ट्रिक ऑक्साइड का प्रयोग होता है, दूसरी विधा में सल्फर डाइऑक्साइड और ऑक्सी-जन को तप्त प्लैटिनम अथवा वैनेडियम सिलिकेट के ऊपर से पार कराने से सल्फर ट्राइऑक्साइड उत्पन्न होता है जिसे सल्फ्यूरिक अम्ल में विलीन करने से 'ओलियम' कहलानेवाला धूमायमान (फ्यूमिंग) सल्फ्यूरिक अम्ल प्राप्त होता है। क्लोरीन से नष्ट होनेवाली वस्तुओं के लिए सल्फर डाइऑक्साइड विरंजक का भी काम करता है, साथ ही एक प्रति-क्लोर[3] के रूप में विरंजित वस्त्रों में से अतिरिक्त क्लोरीन का निर-सन भी करता है। जैम, सूखे फल, चटनी, बिअर, शराब इत्यादि के परीक्षण के लिए भी सल्फर डाइऑक्साइड का प्रयोग किया जाता है; लेकिन इंग्लैण्ड में इसके प्रयोग करने के विशिष्ट नियम हैं जिनके अनुसार किसी खाद्य पदार्थ में इसका अनु-पात एक सीमा से अधिक नहीं हो सकता। अमोनिया की भाँति इस गैस का भी

[1] Analgesic [2] Ironpyrites [3] Antichlor

तरलन सरलता से हो जाता है तथा विस्तारोद्वाष्पन में पर्याप्त उष्मा का अवशोषण करके यह प्रशीतन प्रभाव उत्पन्न करती है। रेजीनों और मोमों के विलायक के रूप में भी यह द्रव उपयोगी होता है।

कार्बन मॉनोऑक्साइड—प्रोड्यूसर गैस तथा वाटर गैस-जैसे गैसीय ईंधनों में कार्बन मॉनोऑक्साइड प्रमुख संघटक होता है। तापदीप्त कोक के ऊपर वायु संचारित करके प्रोड्यूसर गैस तैयार की जाती है, जिसमें कार्बन मॉनोऑक्साइड और नाइट्रोजन मिश्रित होते हैं। और वाटर गैस बनाने के लिए श्वेत-तप्त कोक पर से भाप पार करायी जाती है, इसमें कार्बन मॉनोऑक्साइड और हाइड्रोजन का मिश्रण होता है। पहली विधा में उष्मा का विकास तथा दूसरी में उष्मा का तनिक अवशोषण होता है, अतः अक्सर इन दोनों विधाओं को एक साथ चलाकर सेमी-वाटर गैस तैयार की जाने लगी है। वाटर गैस के संघटकों का उष्मीय मान (कैलॉरिफिक वैल्यू) बहुत अधिक होता है, जिससे वे उत्तम ईंधन का काम देते हैं, लेकिन इसके अलावा किसी उत्प्रेरक की उपस्थिति में उच्च दाब से उनकी प्रतिक्रिया कराकर मिथिल ऐलकोहाल (मिथेनॉल) उत्पन्न किया जाता है। मिथेनॉल उड-स्पिरिट का मुख्य संघटक होता था। ऐलकोहाल में इसी को डाल कर उसे अपेय बनाया जाता है, इसीलिए उसे "मिथिलीयित स्पिरिट" कहते हैं। अनेक कार्बनिक रसद्रव्यों के निर्माण में भी मिथिल ऐलकोहाल का महत्त्वपूर्ण प्रयोग होता है। दह सोडा विलयन पर उच्च दाब में कार्बन मॉनोऑक्साइड की प्रतिक्रिया से सोडियम फार्मेट उत्पन्न होता है। यह लवण कार्बनिक तथा अकार्बनिक रसायन के बीच की सुन्दर कड़ी है। निकेल के धातुकर्म में भी कार्बन मॉनोऑक्साइड का विशिष्ट उपयोग होता है। अपरिष्कृत धातु को इस गैस के साथ जब जल के क्वथनांक के नीचे गरम किया जाता है तो वह गैस के साथ संयुक्त होकर एक विषाक्त वाष्प के रूप में कार्बोनिल क्लोराइड बन जाता है, जिसका आसवन कर लिया जाता है। इस पदार्थ को उच्च ताप पर पुनः गरम करने से कार्बन मॉनोऑक्साइड तथा विशुद्ध निकेल प्राप्त होता है।

कार्बन डाइआक्साइड—यह गैस पत्थर का चूना जलाने से बनती है, वायु के आधिक्य में कोक को जलाने से भी यह उत्पन्न की जाती है। यवासवनियों (ब्रूअरीज़) की किण्वन विधा में भी कार्बन डाइऑक्साइड गैस प्रचुर मात्रा में उत्पन्न होती है और वहाँ तो केवल उसे एकत्र करने मात्र का ही प्रश्न होता है। यह गैस दाब में विशेष रूप से जल-विलेय है तथा संपीडन से इसका तरलन भी सरलता से होता है। इसके शोधन में इन्हीं गुणों का लाभ उठाया जाता है। सिलिण्डरों में से छोड़े जाने पर द्रव गैस बड़ी शीघ्रता से उद्वाष्पित होती है जिससे उसका अतिशीतन (सूपर

कूलिंग) होने से उसका एक भाग जमकर हिम बन जाता है; इसे "सूखी बर्फ़" अथवा "ड्रिकोल्ड" कहते हैं और प्रशीतन (रेफ्रिजरेशन) कार्यों के लिए इसका बड़ा व्यापक प्रयोग होता है। खाद्य पदार्थों का सड़ना या ख़राब होना भी इससे रुक जाता है, क्योंकि इसके प्रयोग से एक तो पदार्थों का ताप बहुत कम हो जाता है दूसरे उनके चारों ओर कार्बन डाइऑक्साइड का ऐसा वातावरण बन जाता है जिसमें जीवाणुओं का वर्धन संभव नहीं होता। इस "सूखी बर्फ़" (ड्राई आइस) के आविष्कार का श्रेय टामस ऐण्ड्रूज़ (१८१३—१८८५) नामक एक आयरिश सज्जन को है, जिन्होंने तीनों अवस्थाओं (ठोस, द्रव और गैस) में कार्बन डाइऑक्साइड के गुणों का विशेष अध्ययन करके इस चमत्कार को मूर्त किया। "ड्रिकोल्ड" (सूखी बर्फ़) के प्रयोग ने नाशवान् खाद्य पदार्थों के संग्रहण एवं परिवहन में सचमुच एक क्रान्ति उत्पन्न कर दी। और इसी क्रान्ति का परिणाम है कि दिसम्बर के महीने में भी लोगों को ताज़ी-ताज़ी स्ट्राबेरी मिल सकती है। वातित पेयों के बनाने में भी कार्बन डाइऑस्काइड का काफी प्रयोग होता है तथा ह्वाइट लेड बनाने में भी। कुछ प्रकार के दमकलों की कार्यक्षमता इसी गैस पर निर्भर होती है क्योंकि कार्बन डाइऑक्साइड से आग बड़ी जल्दी बुझ जाती है।

मिथेन—मिथेन को 'मार्श गैस' अथवा 'फायर डैम्प' भी कहते हैं। यह नेचुरल गैस का मुख्य संघटक है, जिसके दहन से शक्ति प्राप्त होती है। आँतों में सेलुलोज़ीय पदार्थों के जीवाणविक किण्वन से यह हाइड्रोकार्बन उत्पन्न होता है। इस प्राकृतिक प्रतिक्रिया से लाभ उठा करके आजकल रासायनिकतः मिथेन का उत्पादन किया जाता है।

इथिलीन—ऐलकोहॉल के विजलीयन (डिहाड्रेशन) से इथिलीन बनती है। अर्ध परिपक्व फलों के रंग बढ़ाने के लिए इस गैस का प्रयोग होता है, किन्तु इसके साथ क्लोरीन और ब्रोमीन के संयोजन से प्राप्त द्रवों का अधिक महत्त्वपूर्ण उपयोग है। इथिलीन डाइक्लोराइड का इस्तेमाल शुष्क धावन (ड्राइ क्लीनिंग) के लिए भी किया जाता है। जल के साथ गरम करने पर इससे ग्लाइकोल उत्पन्न होता है जो एक 'प्रति-हिम'[1] है। अभिहनन (नॉक) को दबाने के लिए पेट्रोल में प्रायः मिलायी जानेवाली "इथिल फ्लुइड" का मुख्य संघटक इथिलीन डाइब्रोमाइड होता है।

एसेटिलीन—चालीस वर्ष पूर्व एसेटिलीन का रोशनी करने के लिए बहुत प्रयोग

[1] Antifreee

होता था, किन्तु आजकल इसका मुख्य उपयोग ऑक्सी-एसेटिलीन ज्वाला में होता है जिससे धातुओं को काटने और जोड़ने का काम सरलता से किया जाता है। इसके अतिरिक्त अनेक कार्बनिक यौगिकों—मुख्यतः एसेटिक अम्ल और एसिटोन के निर्माण में एसिटिलीन प्रारम्भिक पदार्थ होता है। एसिटेट रेशम तथा एसिटेट फिल्म उद्योगों में एसेटिक अम्ल की काफी खपत होती है। एसिटोन एक उत्तम विलायक भी है।

हाइड्रोजन सायनाइड तथा इथिलीन ऑक्साइड—ये दोनों बड़ी विषाक्त गैसें हैं, जिनका खाद्य पदार्थों एवं तम्बाकू के संग्रहण के लिए धूमक (फ्यूमिगैण्ट्स) के रूप में व्यापक प्रयोग होता है। आधुनिक जीवन में खाद्य पदार्थों का यातायात बड़ी दूर-दूर तक होता है और उन्हें बड़े लम्बे समय तक संगृहीत करना पड़ता है। इनमें अनाज, सुखाये फल, तम्बाकू के साथ-साथ 'मन्ना' अर्थात् क्षीरी (एक प्रकार के पौधों का मीठा उत्स्वेद) जैसी वस्तु भी होती है जिसे यदि दिन भर भी यों ही रख दिया जाय तो शाम तक उसमें कीड़े पड़ जायँ और दुर्गन्धि आने लगे। धन-धान्य की हानि करने में मृगों, पतंगों, शलभों और कीड़े-मकोड़ों का बड़ा हाथ होता है। हाल में रसायनज्ञों और जैविकीविदों ने परस्पर सहयोग से धूमकों के प्रति इन कीड़ों की आग्राहिता (ससेप्टिबिलिटी) का अध्ययन किया, और इनके नाशनार्थ प्रस्तुत गैसें सर्वोत्तम प्रभावी सिद्ध हुईं। लेकिन इस अभियान में गैसों का चुनाव बड़ी महत्त्वपूर्ण बात है क्योंकि एक ओर उन्हें कीड़ों के प्रति प्रभावी रूप से विषालु होना चाहिए और दूसरी ओर वस्तुओं और पदार्थों पर कोई अवांछित प्रभाव न उत्पन्न करना चाहिए। एतदर्थ इन गैसों के विसरण (डिफ्यूज़न) प्रवेशन, ज्वलनशीलता, उत्पादन, बानगी-करण तथा विश्लेषण सम्बन्धी अन्वेषण करना आवश्यक था। हाइड्रोजन सायनाइड यद्यपि कीड़ों को मारने के लिए अत्यन्त प्रभावी है और तदर्थ उसका व्यापक प्रयोग भी होता है, लेकिन उसका इस्तेमाल करना बड़ा भयानक है क्योंकि वह मानव जाति के लिए भी बड़ी विषाक्त गैस है। इथिलीन ऑक्साइड कीड़ों मकोड़ों के लिए विषालु होते हुए भी मनुष्यों के लिए कम विषाक्त है, लेकिन ज्वलनशीलता उसकी बड़ी कमी है। इसी प्रकार कार्बन डाइ सल्फाइड वाष्प भी इस प्रयोजन के लिए काफी इस्तेमाल होता है, लेकिन यह भी बड़े भयंकर रूप से ज्वलनशील है। इथिलीन क्लोराइड और कार्बन टेट्राक्लोराइड यद्यपि सफलतापूर्वक प्रयुक्त होते हैं, लेकिन सामान्य प्रयोग के लिए बड़े मँहगे होते हैं।

रासायनिक पदार्थों के व्यावहारिक प्रयोग में रसायनज्ञों के बहुमुखी कार्यकलाप हैं। ऐसे पदार्थों को बनाकर पहले बहुत काल तक उनके गुणों का अध्ययन किया

जाता है और अन्त में जब किसी विशिष्ट औद्योगिक प्रयोग के लिए उनकी प्रस्तावना होती है तो उनके संबन्धित गुणों एवं प्रतिक्रियाओं की पुनःपरीक्षा करने के लिए रसायनज्ञों की आवश्यकता पड़ती है। विभ्रमों के विलोपन, विधाओं की सुतथ्यता एवं संयंत्रों और प्रविधियों सम्बन्धी समस्याओं को हल करना ही कदाचित् इस प्रकार के पुनरवलोकन का अभिप्राय होता है। रसायनज्ञों को निर्माण की मूल विधाओं में कभी कभी आमूल परिवर्तन करना पड़ता है जिससे अधिक शुद्ध एवं सस्ते पदार्थ उत्पन्न किये जा सकें; इसके अलावा निर्माण की विविध क्रियाओं के सतत नियंत्रण के लिए उनकी निरन्तर आवश्यकता होती है। उन्हें परिस्थितियों के अनुकूल विश्लेषण की रीतियाँ भी निकालनी पड़ती हैं।

प्रस्तुत लेख में मानव की व्यापक और बहुगुणी सेवा में लगनेवाली गैसों का वर्णन किया गया है। इनके विकास एवं उत्पादन में रसायनविज्ञान ने जो योगदान किया है वह भी स्पष्ट है। इस विज्ञान के अनुशीलन से उद्योगों को नये-नये गुणों और नयी-नयी उपयोगितावाली वस्तुएँ निरन्तर प्राप्त होती रहती हैं। इतना ही नहीं, प्रत्येक पद पर उनके प्रभावी प्रयोग का दिग्दर्शन कराना तथा उसकी प्रतिभूति प्रदान करना भी रसायन-विज्ञान का ही काम है।

ग्रंथ-सूची

HOWE, H. E.: *Chemistry in Industry.* Chemical Foundation Inc.

MELLORE, J. W.: *A Comprehensive Treatise on Inorganic and Theoretical Chemistry. Longmans, Green & Co., Ltd.*

MORGAN, SIR G. T., AND PRATT, D. D.: *British Chemical Industry.* Edward Arnold & Co.

PARTINGTON, J. R.: *A Short History of Chemistry.* Macmillan & Co., Ltd.

PARTINGTON, J. R., AND PARKER, L. H.: *The Nitrogen Industry.* Constable & Co., Ltd.

TEED, P. L.: *The Chemistry and Manufacture of Hydrogen.* Edward Arnold & Co.

Text Book of Inorganic Chemistry. Edited by J. N. Friend. Charles Griffin & Co., Ltd.

खनिज तेल

पेट्रोलियम, शेल तेल, स्नेहक

ए० ई० डन्स्टन, डी० एस-सी० (लन्दन), एफ० आर० आई० सी०

प्रस्तुत ग्रन्थ में उद्योगों में रसायनज्ञों के कार्यभाग का ही विशिष्ट उल्लेख है, अतः तेल की खोज में भौमिकीय (जियोलॉजिकल) एवं भूभौतिकीय (जियोफिज़िकल) रीतियों, तेलोत्पादन के लिए कूपों की खोदाई और उनमें से तेल निकालने एवं लम्बे-लम्बे पाइपों द्वारा अपरिष्कृत तेल को परिष्करणियों (रिफाइनरी) तक ले जाने का विशेष वर्णन करने की आवश्यकता नहीं है। किन्तु यह बताना आवश्यक है कि इन सब कार्यों में रसायनज्ञों का भी उतना ही महत्त्व है जितना इस्पात एवं मिश्रधातुओं की योगरचना के लिए किसी धातुकर्मज्ञ का अथवा कूपदाब (वेल प्रेशर) को सहन करने योग्य व्यध-पंक (ड्रिलिंग मड) के उत्पादन तथा कूपों को साफ करके उसके तल पर स्तर चढ़ाने के लिए कलिल-वैज्ञानिक का। इसके अतिरिक्त तेल क्षेत्रों एवं परिष्करणियों के कर्मियों की स्वास्थ्य-रक्षा का भी काफी भार रसायनज्ञों के ऊपर होता है क्योंकि जल-शोधन एवं खाद्य-विश्लेषण का उत्तरदायित्व उन्हीं के ऊपर होता है और इस अर्थ में वह चिकित्सकों के दाहिने हाथ माने जाते हैं।

१९३८ तक के प्राप्त प्रामाणिक आँकड़ों से ज्ञात होता है कि संसार का कुल पेट्रोलियम उत्पादन २७ करोड़ टन था। उसके मुख्य-मुख्य स्रोत निम्नलिखित हैं—

यू० एस० ए०	..	..	१६४,०००,००० टन
यू० एस० एस० आर०	..	..	२९,०००,००० टन
वेनेज़ुएला	..	..	२८,०००,००० टन
ईरान	..	..	१०,०००,००० टन
डच ईस्ट इण्डीज़	..	..	७,०००,००० टन

तेल की इस बड़ी राशि के साथ-साथ ३,५००,०००,०००,००० घनफुट गैस (निम्न पाराफिन हाइड्रो कार्बन) भी लगी हुई हैं। गैस की इस विशाल मात्रा में से १९३८ में केवल संयुक्त राज्य अमेरिका में ही १५०,०००,००० गैलन तरलित ब्युटेन और प्रोपेन का विक्रय हुआ था। खनिज तेलों की आनुषंगिक गैसें इस प्रकार हैं—मीथेन (CH_4), ईथेन (C_2H_8), प्रोपेन (C_3H_8) तथा नार्मल एवं आइसो ब्यूटेन (C_4H_{10})। इनके साथ-साथ न्यून मात्रा में पेन्टेन (C_5H_{12}) तथा हेक्ज़ेन (C_6H_{14})* भी होते हैं। तेल से गैस अलग करने के लिए उच्च दाब

पृथक्कारक (सेपरेटर्स) प्रयोग किये जाते हैं, इस अवस्था में प्रायः मीथेन और ईथेन अलग होते हैं। इसके बाद तेल को वायुमण्डलिक दाब पर लाया जाता है और फिर धीरे-धीरे निम्न दाब पृथक्कारकों में, जिससे उसमें विलीन शेष गैसें भी अलग कर ली जाती हैं।

निम्न दाब पर पृथक की गयी गैसों में पेण्टेनों और हेक्ज़ेनों-जैसे तरलेय पदार्थ होते हैं, जिन्हें फिर से पेट्रोल में मिलाया जा सकता है। ये हाइड्रोकार्बन वाष्प गैसों में से विलायक तेलों में अवशोषण द्वारा उसी प्रकार विपाटित[1] कर लिये जाते हैं, जैसे कोल गैस में से बेंज़ॉल। गैस पृथक्करण के बाद विगैसित (डिगैस्ड) तेल को पम्प करके परिष्करणियों में पहुँचाया जाता है।

विभिन्न उत्पादन-केन्द्रों से प्राप्त अपरिष्कृत तेल में हाइड्रोकार्बनों का अनुपात भिन्न-भिन्न होता है, और कभी कभी उनकी (हाइड्रोकार्बनों की) प्रकृति में भी थोड़ा अन्तर होता है। ईरानी तेल यद्यपि मुख्यतः पाराफीनिक प्रकार का होता है, फिर भी उसमें ऐरोमैटिक एवं संतृप्त चक्रिक[2] (साइक्लिक) हाइड्रोकार्बन भी होते हैं। कैलिफोर्निया से प्राप्त अपरिष्कृत तेल नैफ्थीनिक अर्थात् संतृप्त चक्रिक प्रकार का होता है। बोर्नियो के कुछ तेल निश्चित रूप से ऐरोमैटिक होते हैं, तथा मध्य अमेरिका, बेनेजुएला और मेक्सिको के तेलों में काफ़ी ऐस्फाल्ट मिला होता है। सभी अपरिष्कृत तेलों में हाइड्रोकार्बनों के अतिरिक्त गंधक जैसे अन्य पदार्थ भी होते हैं। गंधक बहुधा समस्त प्रकार के तेलों में लेश मात्र से लेकर ६% तक विद्यमान रहता है। कैलिफोर्नियाई तथा रूसी तेलों में तथाकथित नैफ्थीनिक अम्ल के रूप में ऑक्सीजन और पिरिडीन और क्वीनोलीन पीठों के रूप में नाइट्रोजन होते हैं। इनके प्रज्वलन (इग्नीशन) से भस्म भी प्राप्त होता है जिसमें निकेल, बनेडियम, लोहा, सिलिका तथा अन्य अकार्बनिक पदार्थ होते हैं।

स्थूल रूप से सभी पेट्रोलियम भूगर्भ से ही प्राप्त होते हैं। भौमिकीय विज्ञान की यह मान्यता है कि पेट्रोलियम जीवाणुओं द्वारा चिरकाल से हो रहे भूगर्भ के कार्बनिक अवशिष्टों के अपह्रास (डिग्रैडेशन) का फल है।

पहले मीथेन, ईथेन, प्रोपेन, ब्यूटेन तथा थोड़े-से पेण्टेनों-जैसे अपरिष्कृत तेलों से संलग्न संतृप्त गैसों की उपयोगिता का वर्णन करने में सुविधा होगी।

वस्तुस्थिति यह है कि ये वस्तुएँ प्रायः निष्क्रिय होती हैं, किन्तु इन पर दो प्रकार

[1] Stripped [2] Saturated cyclic

के परिवर्तनों का प्रभाव पड़ता है, जिनका आजकल वाणिज्यिक उपयोग किया जाता है। प्रथम तो ताप का परिवर्तन, जिसे उष्मांशन[1] कहा जा सकता है, इससे इनके विदरण (क्रैकिंग) से हाइड्रोकार्बन बनते हैं; ये मुख्यत: ऐरोमैटिक प्रकृति के होते हैं।

विहाइड्रोजनीकरण दूसरे प्रकार की प्रतिक्रिया है, जिसके महत्त्व का वर्णन आगे किया जायगा। उदाहरणार्थ ब्यूटेन के विहाइड्रोजनीकरण से ब्यूटीन उत्पन्न होते हैं, जो अधिक प्रतिक्रियाशील होने के कारण उच्च आक्टेन मोटर ईंधनों के उत्पादन में अन्तस्थ का काम करते हैं। पहले तो इन ईंधनों का स्पष्टीकरण आवश्यक है। पेट्रोल अथवा स्फुल्लिग प्रज्वलन (स्पार्क इग्नीशन) इंजनों के प्रचलन के बाद इंजीनियरों ने इंजन के प्रथम गति-दाता (मूवर) में बराबर ऐसा विकास किया है जिससे उच्च एवं उच्चतर उष्मीय क्षमता प्राप्त हुई है। किन्तु इस उच्च उष्मीय क्षमता के साथ अधिक प्रभावी ईंधनों की भी आवश्यकता हुई। इंजीनियरों ने संपीडन अनुपात को ३ से बढ़ाकर ६ या ७ कर दिया जिसका परिणाम यह हुआ कि निम्न अनुपात पर ठीक काम करनेवाले ईंधनों में उच्च अनुपात पर अभिहनन (नॉक) तथा प्रस्फोटन (डिटोनेशन) होने लगा। अत: रसायनज्ञों को इंजीनियरों की प्रगति के साथ चलकर उच्च मान वाले ईंधनों का विकास करना पड़ा। इनके ऑक्टेन मान का निश्चयन उनके परीक्षण का वर्तमान और कदाचित् स्थायी साधन है। अब यह निश्चय किया जाता है कि नार्मल-हेप्टेन और आइसो-ऑक्टेन के मिश्रण में नार्मल-हेप्टेन की कौन-सी प्रतिशत मात्रा रहने से वह परीक्षण स्पिरिट की बराबरी कर सकता है। कुछ वर्ष पूर्व ४० प्र० श० आइसो-ऑक्टेन से यह कार्य हो जाता था, किन्तु आज ८० प्र० श० और कल शायद १०० प्र० श० की आवश्यकता होगी। उड्डयन प्रयोजनों के लिए तो १५०% की भी बात चल रही है। निष्पादन के इस स्तर तक पहुँचने के लिए पेट्रोलियम रसायनज्ञों ने सभी प्रकार की युक्तियाँ लगायीं लेकिन अपरिष्कृत तेलों से सीधे-सीधे प्राप्त की गयीं गैसें केवल कुछ ही हद तक इसकी पूर्ति कर पायीं और सम्प्रति विदरण (क्रैकिंग) विधा में उत्पन्न गैसें अधिक महत्त्वपूर्ण सिद्ध हो रही हैं।

अब परिष्करणियों में आये अपरिष्कृत तेल की बात लीजिए। वायुमण्डलिक दाब पर और उच्च शून्यक में भी प्रभाजन आसवन द्वारा इसके खण्डन से वाणिज्यिक उपयोगवाले उत्पादन प्राप्त होते हैं; निम्न क्वथनांक के क्रम से ये मोटर

[1] Pirolysis

स्पिरिट इस प्रकार हैं—विलायक तथा श्वेत स्पिरिट, केरोसीन, प्रकाश स्तम्भों के लिए तेल, गैस तेल, डीज़ल तेल, स्नेहकों के लिए भारी आसुत, मोम और अन्त में पिच अवशिष्ट।

अपरिष्कृत तेल के उपर्युक्त प्रभाग यद्यपि क्वथनांक सीमाओं के अनुसार सुस्पष्टतया विभिन्न होते हैं, फिर भी उनके परिष्करण की आवश्यकता होती है। उदाहरणार्थ उनमें गंधक के यौगिकों तथा अन्य सक्रिय व्युत्पत्तियों (डेरीवेटिव्स) जैसे बहुत-से नाशक पदार्थ होते हैं, जिनके कारण उनमें बदरंग आ जाता है और जो उसके सामान्य अस्थायित्व के कारण बन जाते हैं। इसके अलावा उनमें केरोसीन सदृश अवांछित हाइड्रोकार्बन भी हो सकते हैं, जिनकी वजह से उनके जलने से धुँआ उत्पन्न होता है। परिष्करण की रीतियाँ रासायनिक एवं भौतिक दोनों प्रकार की होती हैं। मोटर स्पिरिटों की थायोव्युत्पत्तियों[1] के आक्सीकरण के लिए क्षारीय हाइपोक्लोराइट अथवा सोडियम प्लम्बाइट अथवा क्युप्रिक क्लोराइड अथवा कोई प्रभावी आक्सीकारक प्रयोग किया जा सकता है। केवल ऐरोमैटिक अथवा असंतृप्त हाइड्रो कार्बनों को निकालने के लिए चुनावशील विलायकों का प्रयोग करना पड़ता है। 'एडेलिन्यु रीति' में केरोसीन इसी विधा से निकाली जाती है, इसके लिए विलायक के रूप में द्रव सल्फर डाइऑक्साइड का प्रयोग किया जाता है। स्नेहक (लुब्रिकेटिंग) तेलों में से ऐसे विलेय एवं अस्थायी संघटकों को निकालने के लिए क्लोरेक्स, फरफूरल, नाइट्रोबेंज़ीन, फिनॉल, बेंज़ीन तथा सल्फर डाइऑक्साइड का इस्तेमाल किया जाता है। फलस्वरूप रासायनिकतः स्थायी स्नेहक प्राप्त होता है, किन्तु यह संयोग की बात है कि इससे वे ही ध्रुवीय वस्तुएँ निकल जाती हैं जो तेल को स्नेहन-शक्ति यानी स्नेहकता अथवा स्निग्धता प्रदान करती हैं। यह बात दरअसल इतनी विचित्र है कि सचमुच उन स्नेहकों में कुछ अन्य ध्रुवीय संघटक डालने पड़ते हैं, जिनमें उच्च कार्यक्षमता की आवश्यकता होती है।

मोटर स्पिरिट की ऐसी माँग की पूर्ति करने के लिए अपरिष्कृत तेल की विपुल राशि के आसवन की आवश्यकता पड़ती है, जिसके परिणामस्वरूप केरोसीन, गैस तेल तथा अन्य व्युत्पत्तियों की अत्यधिक मात्रा उत्पन्न हो जाती है। पेट्रोलियम इतिहास के प्रारम्भिक काल से ही विदरण (क्रैकिंग) की विधा (प्रक्रिया) प्रयुक्त होने लगी थी जिससे भारी अवशिष्टों तथा आसुतों जैसे सस्ते एवं अनावश्यकतः अधिक पदार्थों का

[1] Thio-derivatives

जाती है और पिच अवशिष्ट बच रहता है। इसका प्रयोग सड़क बनाने के लिए अथवा तलों पर छिड़कने के लिए पायस बनाने के निमित्त किया जाता है।

लघु एवं गुरु मशीन तेल, आन्तर-दहन (इण्टरनल कम्बस्चन) इंजनों तथा भाप-सिलिण्डरों वाले स्नेहक और लघु तकुआ तेल, स्नेहक तेल प्रभागों के उपयुक्त उदाहरण हैं। इन प्रभागों का परिष्करण परम्परागत अम्ल और सोडा उपचार से, विलायक निस्सारण (सॉलवेण्ट एक्सट्रैक्शन) से तथा बाक्साइट जैसे खनिज जेल[1] द्वारा पार-च्यवन (परकोलेशन) से किया जाता है, किन्तु यदि ठोस पाराफीन मौजूद हों तो पहले उन्हें निकालना आवश्यक है। कुछ प्रकार के मोम तो आसुत को दाब-छन्ने (फिल्टर प्रेस) से छानने पर निकल जाते हैं, लेकिन सूक्ष्म केलासीय रचनावाले मोम, जिन्हें अनाकार मोम भी कहते हैं, तनूकृत एवं अभिशीत (चिल्ड) विलयन का अपकेन्द्रण करके निकाले जाते हैं। अन्य दशाओं में उन्हें ऐसे विलायकों के साथ मिलाकर, जिनमें तेल विलेय हो लेकिन मोम अविलेय, मोम का अवक्षेपण कर दिया जाता है। वाणिज्य में मोमों का उनके द्रवणांक के आधार पर श्रेणीकरण किया जाता है। उच्चतम द्रवणांक वाले मोम से मोमबत्ती बनती है एवं निम्न द्रवणांक वाला मोम जलसह कागज बनाने तथा दियासलाई के सिरे पर लगाने के काम आता है।

अगले पृष्ठ की सारणी में यद्यपि उत्तम कार्यक्षमता वाले ईंधनों के उत्पादन में हाइड्रो-कार्बन गैसों की उपयोगिता पर अधिक ज़ोर दिया गया है, किन्तु यह स्पष्ट है कि यथार्थतया इन प्रारम्भिक पदार्थों पर आधारित एक नवीन संश्लेषण-रसायन का विकास हो रहा है। इनमें से कुछ संश्लिष्ट उत्पादनों का उल्लेख किया जा सकता है। वे इस प्रकार हैं—प्रतिहिम (ऐण्टी फ्रीज़) के रूप में इथिलीन ग्लाइकोल, विलायकों के रूप में ग्लाइकोल व्युत्पत्तियाँ, प्लास्टिकों की सम्पूर्ण श्रेणी, टी० एन० टी० जैसे विस्फोटक, ब्यूटाडीन एवं स्टायरीन अथवा आइसोब्युटिलीन और तनिक ब्यूटा-डीन से संश्लिष्ट रबर, उसी प्रकार की उच्च श्यानतावाले अन्य पॉलीमर जो स्नेहन के लिए प्रयुक्त होते हैं, पाराफीनों के ऊष्मांशन अथवा नार्मल-हेप्टेन जैसी वस्तुओं के चक्रीकरण (साइक्लाइज़ेशन) एवं विहाइड्रोजनीकरण से बनी ऐरोमैटिक हाइड्रो-कार्बनों की सुज्ञात व्युत्पत्तियाँ।

शेल तेल—कुछ शेलों (एक प्रकार के पत्थर) के आसवन से एक प्रकार का खनिज तेल प्राप्त होता है जिसे द्वितीयक मूलवाला पेट्रोलियम कहा जा सकता है।

[1] Mineral gel

कूपों से निकला अपरिष्कृत तेल
गैसरहित स्थायीकृत अपरिष्कृत तेल
गैसीय पाराफीन (C_1 से C_4)
आसुतों की सम्पूर्ण श्रेणी—पेट्रोल, ह्वाइट स्पिरिट, केरोसीन, स्नेहक तेलों के लिए मोम-आसुत तथा पिच अवशिष्ट
ऊष्मांशन (पाइरोलिसिस)
ऐरोमैटिक हाइड्रोकार्बन
आइसो-ब्यूटेन विहाईड्रोजनीकरण द्वारा प्रतिक्रियाशील ओलीफीनों के ऐल्किलीकरण के लिए
चुने हुए आसुतों का विदरण और रिफार्मिंग
विदीर्ण स्पिरिट
पाराफीन तथा ओलीन हाइड्रोकार्बन (C_1 से C_4)
C_3 और C_4 प्रभाग
फास्फोरिक अम्ल एवं फास्फेट उत्प्रेरकों के ऊपर उत्प्रेरक पुरुभाजन
शीत सल्फूरिक अम्ल द्वारा पुरुभाजन
आइसो-ब्यूटेन द्वारा उपचारित (ऐल्किलीकरण विधा)
डाइ आइसो-ब्यूटेन
उच्च ऑक्टेन स्पिरिट
चुना हुआ C_8 प्रभाग
हाइड्रोजनीकरण
आइसो-ऑक्टेन
आँइसो-औक्टेन (२.२.४. ट्राई-मिथिल पेन्टेन)
हाइड्रोजनीकरण
मिश्रित आइसो-ऑक्टेन

जेम्स यंग और उनके सहयोगियों के तत्संबन्धी कार्यों से ही पेट्रोलियम के वाणिज्यिक उपयोग का आधार बना। क्योंकि आसवन, उत्पत्तियों का परिष्करण, दबाकर मोम का अलग करना, स्वेदन (स्वेटिंग) और चारकोल जैसे अवशोषक द्वारा पारच्यवन (पर्कोलेशन) से अपरिष्कृत मोम का परिष्करण इत्यादि सभी रीतियाँ 'मिड्लोथियन' में शेल-उद्योग में विकसित हुई थीं और आगे चलकर वे पेट्रोलियम उद्योग में काम आयीं। 'पाराफीन तेल' अर्थात् 'केरोसीन' स्काटलैण्ड का प्रथम प्राविधिक पदार्थ था। उसके बाद रिटार्ट गैसों में से अमोनियम सल्फेट के रूप में अमोनिया अलग किया गया, जो बहुत समय तक, या यों कहिए कि संश्लिष्ट अमोनिया के वन जाने तक, एक बहुत बड़ा उत्पादन था। तीस वर्ष से ऊपर हुए कि रिटार्ट गैसों से निकली मोटरस्पिरिट का प्रचलन हुआ। प्रायः उसी समय डीज़ल तेल का पूर्वाभास मिला और ईंधनतेल का उत्पादन मूर्त किया जा सका। इन सभी विकासनों में स्काटिश शेल तेल ने, जो इन उत्पादनों का मुख्य स्रोत था, इसमें बहुत महत्त्वपूर्ण भाग पूरा किया।

संसार में मुख्यतः संयुक्त राज्य अमेरिका, कनाडा और आस्ट्रेलिया में तेलयुक्त शेलों की विशाल राशि उपलब्ध है, और उस समय ये तरल ईंधन के अन्तिम स्रोत बनेंगे जब अपरिष्कृत पेट्रोलियम की उपलब्धि समाप्त हो जायगी।

गत वर्षों में शेल तेल के उत्पादन एवं उपचार की प्रौद्योगिकी (टेक्नॉलोजी) में उन्नति करके उसे आधुनिक रूप प्रदान किया गया है। यह परिवर्तन मुख्यतः पेट्रोलियम के प्रादुर्भाव से हुआ है और अब उच्च प्रभागों का विदरण (क्रैकिंग) करके गैसोलीन बनाना सामान्य प्रथा हो गयी है, इसके उपरान्त आसुत[1] वस्तुएँ भी तेल-परिष्करणियों में उत्पन्न तेलों के समान होने लगी हैं।

शेल उद्योग में रिटार्ट विधा के बाद वीत-अवशिष्ट (स्पेण्ट रेसिड्यू) के उपयोग की सबसे बड़ी समस्या है। अभी हाल में स्काटलैण्ड में बालू-चून ईंट बनाना प्रारम्भ हुआ है, जिसमें चूर्णित अवशिष्ट को चूने के साथ मिलाकर लेप (पेस्ट) बनाया जाता है जिसे साँचों में ढालकर उच्च-दाब भाप से पकाया जाता है। इससे बड़ी उत्तम ईंटें तैयार होती हैं।

[1] Distillates

ग्रंथसूची

DUNSTAN, A. E. : *Chemistry and the Petroleum Industry.* The Royal Institute of Chemistry.

DUNSTAN, A. E. (MANAGING EDITOR) : *The Science of Petroleum.* 4 Vols. Oxford University Press.

EGLOFF AND OTHERS : *Catalysis.* Reinhold Publishing Co.

Reactions of Pure Hydrocarbons. Reinhold Publishing Co.

ELLIS, C. : *Chemistry of Petroleum.* Reinhold Publishing Co.

INSTITUTE OF PETROLEUM : *Symposium on Cannel Oils and Shales.*

NASH, A. W. AND BOWEN A. R. : *Lubricants.* Chapman & Hall, Ltd.

NASH, A. W., AND HOWES, D. A. : *Motor Fuels.* Chapman & Hall, Ltd.

अध्याय १५

भारी रसद्रव्य

स्टैनले रॉब्सन, एम० एस-सी०, डी० आई० सी०,
एफ० आर० आई० सी०

विशाल परिमाण में उत्पन्न होनेवाले रसद्रव्यों को 'भारी रसद्रव्य' कहते हैं। ऐसे रसद्रव्य मुख्यतः अन्य चीजों के उत्पादन में कच्चे माल का काम करते हैं और इनमें से कुछ ही ऐसे होते हैं जिनकी खपत, सो भी केवल अंशतः, सामान्य लोगों के सीधे प्रयोग के लिए होती है। सल्फ्यूरिक अम्ल इसका एक उदाहरण है जिससे प्रायः सभी लोग परिचित होंगे, क्योंकि संचायकों (ऐक्युमुलेटर) में विद्युदंश्य (एले-क्ट्रोलाइट) के रूप में इसका बड़ा प्रयोग होता है, किन्तु इसके समस्त उत्पादन की तुलना में यह खपत अत्यन्त लघु है। सोडियम कार्बोनेट अर्थात् धावन (वाशिंग) सोडा दूसरा उदाहरण है, घरेलू कामों के लिए जिसकी खपत होती है, लेकिन कुल उत्पादन का अत्यल्प अंश इस काम में आता है। सल्फ्यूरिक अम्ल और सोडा के प्रति वर्ष क्रमशः लगभग ११,०००,००० टन और ५,०००,००० टन का उत्पादन होता है जो विविध एवं विस्तृत रासायनिक वस्तुओं के निर्माण में लगता है। इन वस्तुओं की प्रकृति भी भिन्न होती है, एक ओर कृत्रिम उर्वरक तो दूसरी ओर कृत्रिम रेशम। मुख्य-मुख्य भारी रसद्रव्यों की सबसे बड़ी उपयोगिता यह होती है कि वे अन्य पदार्थों के संग प्रतिक्रियाशील होते हैं, इस प्रकार वे रासायनिक ऊर्जा के भण्डारस्वरूप होते हैं, जिसे विविध रासायनिक परिवर्तनों के लिए प्रयोग किया जा सकता है। ऐसी प्रतिक्रियाशील वस्तुएँ साधारणतया भूमितल पर नहीं पायी जातीं, क्योंकि युग युगों तक हवा और पानी के ऋतुक्षरण[1] के कारण उनकी क्रियाशीलता समाप्त हो चुकी होती है; इसलिए भारी रसद्रव्यों का निर्माण परमावश्यक होता है। नाइटर तथा गंधक इस बात के अपवाद हैं, किन्तु ये द्रव्य विशिष्ट जलवायु एवं भौमिकीय परिस्थितियों

[1] Weathering action

के कारण उत्पन्न एवं प्राप्य होते हैं। सर्वाधिक प्रतिक्रियाशील रसद्रव्यों के चार वर्ग होते हैं—अम्ल, क्षार, ऑक्सीकारक तथा अपचायक। अम्ल और क्षार के परस्पर संयोजन से उदासीन लवण उत्पन्न होते हैं, सोडियम क्लोराइड अर्थात् सामान्य नमक इसका उत्तम उदाहरण है।

सल्फ्यूरिक अम्ल—सबसे अधिक सस्ता होने के कारण रासायनिक परिवर्तनों को संचारित करने के लिए सल्फ्यूरिक अम्ल का प्रयोग किया जाता है। इस अम्ल का निर्माण प्रारम्भिक रासायनिक उद्योग में प्रथम कार्य था और आज भी उसकी बड़ी आधारभूत शाखा है। एक समय था जब किसी देश की समृद्धि उसके सल्फ्यूरिक अम्ल के उत्पादन से आँकी जाती थी। यद्यपि आज यह बात उतनी सही नहीं है क्योंकि अब रासायनिक उद्योग की कितनी ही अन्य वस्तुएँ हैं जिनसे देश की सम्पदा का आभास प्राप्त होता है, फिर भी आधुनिकतम उद्योगों में सल्फ्यूरिक अम्ल का प्रयोग बड़ी विशाल मात्रा में होता है, गो कि वर्तमान समय में अनेक अम्ल विधाओं में इस अम्ल का प्रयोग नहीं होता। उदाहरणार्थ पहले लिब्लांक विधा से क्षार बनाने के लिए सल्फ्यूरिक अम्ल की भारी खपत होती थी लेकिन अब इसके लिए वह विधा ही नहीं प्रयुक्त होती। सल्फ्यूरिक अम्ल से सोडियम नाइट्रेट का विच्छेदन करके नाइ-ट्रिक अम्ल बनाने की रीति का प्रतिस्थापन भी इसका दूसरा उदाहरण है। अब उत्प्रेरक की सहायता से अमोनिया का ऑक्सीकरण करके नाइट्रिक अम्ल बनाया जाता है। पहले अमोनिया और सल्फ्यूरिक अम्ल का संयोजन ही अमोनियम सल्फेट बनाने की एकमात्र विधा थी, लेकिन आजकल यह अमोनियम कार्बोनेट और ऐन-हाइड्राइट के द्वि-विच्छेदन से बनने लगा है। पहले सांद्रित फास्फैटिक उर्वरकों का उत्पादन सल्फ्यूरिक अम्ल द्वारा शैल-फास्फेटों का विच्छेदन करके किया जाता था, किन्तु गत कुछ वर्षों के अन्दर यह पदार्थ शैल-फास्फेट एवं बालू के बीच ऊष्मीय प्रति-क्रिया संचारित करके उत्पन्न किया जाने लगा है।

इस तरह सल्फ्यूरिक अम्ल की खपत में भारी अन्तर पड़ गया है लेकिन इसके उत्पादन में बराबर वृद्धि होती जा रही है। १९२३ में इसका उत्पादन ५,०००,००० टन था जो बढ़कर अब ११,०००,००० टन हो गया है।

इस उत्पादन-वृद्धि का मुख्य कारण यह है कि वर्तमान समय में सल्फ्यूरिक अम्ल के अनेक नये-नये उपयोगों का विकास हो गया है, जैसे कृत्रिम रेशम के विशाल एवं महत्त्वपूर्ण उद्योग में तथा जर्मनी के कृत्रिम ऊन-निर्माण में इस अम्ल की विशेष माँग होने लगी। इनके अतिरिक्त सल्फ्यूरिक अम्ल के अन्य कितने ही विविध एवं बहुमुखी उपयोगों का प्रादुर्भाव हुआ है। तेलशोधन, धातुस्तारों का तलधावन अथवा अम्ल

मार्जन[1], विस्फोटकों एवं रंजकों तथा अन्य कितनी ही ऐसी वस्तुओं का निर्माण इत्यादि इसके उत्तम उदाहरण हैं।

सल्फ्यूरिक अम्ल का निर्माण रसायनज्ञों के लिए ऐतिहासिक महत्त्व की बात है, जिसमें न केवल सल्फ्यूरिक अम्ल का ही वर्णन है बल्कि समस्त रासायनिक प्रक्रिया के उत्थान का कई शताब्दियों का पूरा इतिहास निहित है।

पन्द्रहवीं शताब्दी के अल-केमिस्टों ने सल्फ्यूरिक अम्ल का आविष्कार किया था और १७७० के पहले यह दो रीतियों से बनाया जाता था—(१) केलासित लौह सल्फेट के आसवन से; और (२) परिच्छादक[2] (बेल-जार) के अन्दर जल की उपस्थिति में गंधक के दहन से।

पन्द्रहवीं शताब्दी में बासिल वैलेन्टाइन ने उपर्युक्त दोनों विधाओं का प्रयोग किया था। इनमें से प्रथम विधा तो अभी हाल तक प्रचलित थी और उस समय तो धूमायमान सल्फ्यूरिक अम्ल बनाने की एकमात्र रीति वही थी। दूसरी रीति वर्तमान सीसवेश्म (लेड चेम्बर) विधा की पूर्वगामिनी बन गयी।

दूसरी विधा का विकास मुख्यतः फ्रांसीसी एवं अंग्रेज रसायनज्ञों ने किया और अनेक वर्षों तक वह सल्फ्यूरिक अम्ल बनाने की मुख्य विधा रही। पहले इस विधा से सल्फ्यूरिक अम्ल का निर्माण काच के पात्रों तक ही सीमित था, किन्तु लगभग अठारहवीं शताब्दी के मध्य में लेफेवर और लेमरी ने सल्फ्यूरिक अम्ल बनाने के लिए गंधक और नाइटर के मिश्रण का प्रयोग किया, जिससे पहले की तुलना में अत्यधिक प्राप्ति हुई। १७७० में बर्मिघम के रोबक ने उसी विधा का बड़े परिमाण में प्रयोग किया। इसके लिए उन्होंने सीसे के बक्स इस्तेमाल किये, जिनकी तह में १–२ इंच गहरा पानी भरा रहता तथा तश्तरियों में भरकर गंधक और नाइटर उसी बक्स के अन्दर रख दिये जाते थे। किन्तु तत्कालीन क्रिया सविराम होती थी और अब पद-प्रतिपद गंधक को अलग जलाकर तथा वेश्म में भाप छोड़कर विधा को अविराम बना दिया गया है। विधा के इस विकास में अनेक रसायनज्ञों ने योगदान किया, फिर भी यह विधा बड़ी असुविधाजनक रही होगी, क्योंकि प्रतिक्रियाओं के दौरान में उत्पन्न नाइट्रोजन के ऑक्साइडों को अधिकांशतः यों ही हवा में छोड़ दिया जाता था। लेकिन गे लुसक ने इसमें विशेष उन्नति की; उन्होंने वेश्म में से निकलनेवाली गैसों को कोक रे भरे एक सीसे अथवा पत्थर के स्तम्भ में से पार कराया, जो स्तम्भ के नीचे टपक

[1] Pickling [2] Bell jar

रहे सल्फ्यूरिक अम्ल द्वारा अवशोषित हो जाती थीं, और इस प्रकार हवा में उड़ जाने से बचा ली जातीं।

ग्लोवर ने इस कार्य का और विकास किया। उन्होंने प्रतिक्रियाओं के चक्र को पूरा कर दिया और सल्फ्यूरिक दाहकों से निकली तप्त गैस का उपयोग करके गेलुसक-स्तम्भ के प्रबल सल्फ्यूरिक अम्ल में से नाइट्रोजन ऑक्साइडों को निकालकर पुनः प्रयुक्त किया। इस प्रकार सारी क्रिया चक्रिक[1] हो गयी। यद्यपि सल्फ्यूरिक अम्ल वेश्म में होने वाली क्रियाएँ बड़ी जटिल हैं, फिर भी यहाँ उनकी संक्षिप्त एवं सरल चर्चा की जा रही है। गंधक को वायु की उपस्थिति में जलाकर सुपरिचित तीखी गंधवाली सल्फर डाइ ऑक्साइड गैस तैयार की जाती है। इस सल्फर डाइ ऑक्साइड की जब प्रचुर ऑक्सीजन वाले नाइट्रस धूमों के साथ प्रतिक्रिया होती है तो उसका ऑक्सीकरण होने से सल्फर ट्राइ ऑक्साइड बन जाता है। और यही सल्फर ट्राइ ऑक्साइड जल से मिलकर सल्फ्यूरिक अम्ल बन जाता है। नाइट्रस धूमों से जब ऑक्सीजन निकलकर सल्फर डाइ ऑक्साइड से मिल जाता है तो उसका नाइट्रिक ऑक्साइड बन जाता है; यह एक रंगहीन गैस होती है जिसमें वायुमण्डलिक ऑक्सीजन से मिलकर पुनः नाइ-ट्रस धूम बन जाने की प्रबल क्षमता होती है, और वह सल्फर डाइ ऑक्साइड के ऑक्सीकरण के लिए फिर तैयार हो जाती है। इन सारी प्रतिक्रियाओं का अन्तिम परिणाम यह होता है कि नाइट्रस धूमों के द्वारा वायुमण्डलिक ऑक्सीजन लेकर ही सल्फर डाइ ऑक्साइड के आक्सीकरण से सल्फर ट्राई ऑक्साइड उत्पन्न होता है, तथा नाइट्रस धूम अपरिवर्तित रूप में जैसे के तैसे बने रह जाते हैं। लेकिन विचित्रता यह है कि उनकी अनुपस्थिति में सल्फर डाइ ऑक्साइड वायुमण्डलिक ऑक्सीजन का साधारण परिस्थितियों में कदापि उपयोग नहीं कर सकता। ऐसी वस्तुओं को, जो स्वयं स्थायी रूप से परिवर्तित न होकर किन्हीं रासायनिक प्रतिक्रियाओं को संचारित करती हैं, रासायनिक शब्दावली में 'उत्प्रेरक' अर्थात् 'कैटेलिस्ट' कहते हैं, और रासा-यनिक उद्योगों में ऐसी वस्तुओं का बड़ा व्यापक प्रयोग होता है।

उपर्युक्त रासायनिक विधा के विभिन्न पद बहुत ही अन्तरग्रस्त हैं और तत्संबन्धी पाश्चात्य साहित्य में अनेक विचित्र एवं संशयात्मक सिद्धान्त तथा स्पष्टीकरण भरे पड़े हैं। इसकी प्रतिक्रियाओं एवं अन्तःस्थ यौगिकों के ठीक-ठीक क्रम एवं बनावट के बारे में आज तक भी सभी रसायनज्ञ एकमत नहीं हो सके हैं। आज की इतनी अधिक

[1] Cyclic.

क्रियाकुशल रीतियाँ काफी समय बीतने पर प्रतिष्ठित हुई हैं, यद्यपि यह भी सत्य है कि गत कुछ ही वर्षों में बड़ी जल्दी-जल्दी जटिल विधाएँ भी पूरी तरह से विकसित हुई हैं। पहले की तुलना में आज रसायनविज्ञान के संसाधन असीम हैं और गत थोड़े समय में ज्ञान का एक बड़ा विस्तृत भण्डार संचित हो गया है। गैसीय उत्प्रेरक की सहायता से सल्फर डाइ ऑक्साइड का रूपान्तरण और उससे सल्फ्यूरिक अम्ल बनाने का अन्तरग्रस्त विषय पुरानी पीढ़ी के रसायनज्ञों के लिए काफी जटिल एवं कष्टसाध्य था क्योंकि उस समय उनके साधन बड़े सीमित थे। किन्तु आज हमारे वर्तमान ज्ञान एवं साजसज्जा के बावजूद भी सल्फ्यूरिक अम्ल का निर्माण कुछ कम जटिल नहीं है और सच तो यह है कि आज के रसायनज्ञों एवं प्रौद्योगिकीविदों की शिक्षा में यह विधा एक कठिन परीक्षा तथा प्रशिक्षा और अनुभव प्राप्त करने के लिए उत्तम पृष्ठभूमि है।

प्रथम परिच्छादक (बेलजार) तथा सीसबाक्स की तुलना में आजकल के सल्फ्यूरिक अम्ल-वेश्मों की धारिता अत्यन्त विशाल होती है। प्रतिक्रिया में उत्पन्न उष्मा के निरसन का भी आजकल उत्तम प्रबन्ध रहता है। एक ओर कुछ रसायनज्ञ ५०—२०० फुट लम्बे, २०—४० फुट चौड़े और ४०—७० फुट ऊँचे वेश्मों को पसन्द करते हैं तो दूसरी ओर प्रचण्ड प्रतिक्रियाओं से सीस की रक्षा के लिए जल से शीतित शंकु रूप (कॉनिकल) स्तम्भों को माननेवाले लोग हैं; और दोनों वर्ग अपने-अपने ढंग को उत्तम बताते हैं। इनके अतिरिक्त अब तो यांत्रिक आर्द्रक (ह्यूमिडीफायर) एवं द्रवविक्षेपक (डिस्पर्सर) के उपयोग से प्रतिक्रिया की गति में वृद्धि तथा सीसवेश्मों के क्षरण की बचत हो गयी है।

संस्पर्शविधा के मुकाबले में वेश्मविधा को त्याज्य मानना आज का एक रिवाज सा हो गया है, लेकिन इसमें अब भी संदेह है कि क्या यह पुरानी विधा सर्वथा अमान्य है? इस विधा के पक्ष में यह बड़ी उल्लेखनीय बात है कि गंधक के दहन और नाइ-ट्रोजन ऑक्साइडों से निकले तीखे धूम एवं उससे उत्पन्न संक्षारक वस्तुओं के बावजूद भी सीसवेश्म-विधा में प्रयुक्त संयंत्र स्वच्छ एवं सुस्वास्थ्य होता है; इसमें काम करने-वाले लोगों ने बड़े लम्बे तथा सुखद कार्यकारी जीवन व्यतीत किये हैं।

किन्तु सीसवेश्म-विधा के अनेक वर्षों तक निर्बाध प्रचलन के साथ-साथ इंग्लैण्ड में लगभग १०० वर्ष हुए सल्फ्यूरिक अम्ल निर्माण की एक सर्वथा भिन्न रीति का बीजा-रोपण हुआ। सर हम्फरी डेवी ने गैसीय प्रतिक्रियाओं के प्रवर्धन के लिए धातु तलों का प्रयोग किया, और उनके इस काम से उपर्युक्त नयी रीति के विकास में बड़ी प्रेरणा मिली जान पड़ती है। इस आविष्कार का उपयोग में ही सल्फ्यूरिक अम्ल बनाने की संस्पर्शविधा (कॉनटैक्ट प्रॉसेस) एवं वेश्म विधा का मूल अन्तर निहित है। संस्पर्शविधा

में वायु के ऑक्सीजन का गंधक-ज्वालकों से प्राप्त सल्फर डाइ ऑक्साइड से संयोजन कराया जाता है जिसमें अलग से किसी गैसीय उत्प्रेरक की आवश्यकता नहीं पड़ती। वायु से सल्फर डाइ ऑक्साइड तक ऑक्सीजन का सीधा संक्रमण विशुद्ध रासायनिक विचार से अति सरल है और इसमें वेश्मविधा की एवं उसके अन्त:स्थों की जटिलता नहीं है और न उनके स्पष्टीकरण की ही विशेष आवश्यकता है। सांद्र उत्प्रेरक की सहायता से यह प्रतिक्रिया कम से कम रासायनिकतया अनाश्रित रूप से संचारित होती है और जैसा ऊपर कहा गया है, प्रत्यक्ष रूप से बड़ी सरल है। गत शताब्दी के पूर्वार्ध में ठोस उत्प्रेरकों से संचारित प्रतिक्रियाओं के संबन्ध में काफी उत्सुकता हो चली थी। यह देखा गया कि अति सूक्ष्म कणोंवाली प्लैटिनम-धूलि अथवा प्लैटिनम-काजल (ब्लैक) की अल्प मात्रा की उपस्थिति में यदि ऑक्सीजन और हाइड्रोजन रखे जायँ तो साधारण ताप पर भी उन दोनों के संयोजन से पानी बन जाता है। डोबरीनर ने यह भी दिखाया था कि केवल प्लैटिनम-काजल का एक टुकड़ा डालने मात्र से कोल गैस प्रज्वलित की जा सकती थी। डेवी और फैरेडे के कार्य रसायनज्ञों को सर्वत्र प्रेरित कर रहे थे और १८३१ में पेरेग्रिन फिलिप्स नामक ब्रिस्टल के एक चुक्र (विनिगर) निर्माता ने इसी प्रविधि से ऑक्सीजन और सल्फर डाइ ऑक्साइड के संयोजन की भी बात सोची और इसके लिए उनको पेटेण्ट भी मिल गया। इस पेटेण्ट को पढ़ने से पता चलता है कि फिलिप्स ने इस विधा के लिए कुछ अन्वेषणकार्य भी किये थे। किन्तु दुर्भाग्यवश उनके कार्यकलापों का कोई संलेख प्राप्य नहीं है। यह बहुत संभव है कि बेचारे धनाभाव के कारण अपने आविष्कार को व्यावहारिक रूप न दे सके हों। जो कुछ भी हो उनके द्वारा प्रारम्भ किये गये कार्य को यथार्थ रूप से मूर्त होने में अनेक वर्ष लग गये। इंग्लैण्ड में रुडॉल्फ मेसेल एवं डब्लू० स्क्वायर ने भी इस संबन्ध में कुछ प्रारम्भिक काम किये थे, लेकिन गत शताव्दी के अन्तिम वर्षों के पूर्व तक इसमें कुछ विशेष प्रगति नहीं हुई। इस समय तक कृत्रिम रंजकों का निर्माण एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात हो गयी थी। इस दिशा का प्रारम्भिक कार्य यद्यपि इंग्लैण्ड में ही शुरू किया गया था लेकिन श्रेय जर्मनी के उन परिश्रमी रसायनज्ञों को मिला जिन्होंने अपने प्रचुर आर्थिक संसाधनों की सहायता से कृत्रिम रंजकों के निर्माण में यथार्थ विजय पायी थी। इन नवीन रंजकों के निर्माण के लिए धूमायमान सल्फ्यूरिक अम्ल, जिसे 'ओलियम' भी कहते हैं, बड़ी आवश्यक वस्तु थी। इस शब्द की थोड़ी व्याख्या करनी चाहिए। यह तो स्पष्ट है कि सल्फ्यूरिक अम्ल मूलत: सल्फर ट्राइ ऑक्साइड एवं जल के संयोजन से उत्पन्न होता है जिसमें सल्फर ट्राइ ऑक्साइड ही सार तत्त्व है; धूमायमान सल्फ्यूरिक अम्ल सचमुच अति सांद्रित सल्फ्यूरिक अम्ल ही है जिसमें सल्फर

ट्राई ऑक्साइड की अतिरिक्त मात्रा अवशोषित होकर सल्फ्यूरिक अम्ल में विलीन रहती है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि धूमायमान अम्ल बनाने के लिए सल्फ्यूरिक अम्ल में अजलीय SO_3 मिलाया जाना चाहिए। अनेक प्रत्यक्ष कारणों से यह संयोजन सीसवेश्म में नहीं संभव है अतः दोनों विधाओं की इञ्जीनियरी प्ररचना (डिज़ाइन) में काफी भेद होता है।

पेरेग्रिन फिलिप्स द्वारा निर्धारित इस विधा के विभिन्न पद इस प्रकार हैं—गंधक के दहन से सल्फर डाइ ऑक्साइड की उत्पत्ति, सूक्ष्मतः चूर्णित प्लैटिनमसहित इस्पात-वेश्म में सल्फर डाइ ऑक्साइड और ऑक्सीजन का संयोजन तथा इस प्रकार उत्पन्न SO_3 का जल से संयोजन। यही सरल विधा आज के आधुनिकतम संस्पर्शसंयंत्रों में प्रयुक्त होती है, हाँ इसके विस्तृत वर्णन में कुछ अन्तर अवश्य आ गया है तथा कुछ निश्चित पूर्वोपाय अपनाये गये हैं। फिलिप्स के सुझाव के अनुसार इस विधा का विकास बहुत पहले हुआ होता तथा ठोस उत्प्रेरकों की सक्रियता में लोगों की रुचि भी और अधिक बढ़ी होती, लेकिन १८३९ में सिलीसियाई गंधक का निर्यात बन्द हो गया फलतः सल्फ्यूरिक अम्ल निर्माताओं को गंधक के अन्य स्रोत खोजने पड़े। लौह माक्षिक ही उसके लिए प्राप्य हुआ और जर्मन रसायनज्ञों ने इसे इस्तेमाल करना शुरू कर दिया; किन्तु माक्षिक की अशुद्धियों के कारण, जो उससे उत्पन्न सल्फर डाई ऑक्साइड में भी चली जाती थीं, बड़ी कठिनाई हुई और विधाएँ अत्यन्त जटिल हो गयीं। इस प्रकार संस्पर्शविधा के प्रारम्भिक विकास में बड़ा गतिरोध हो गया। ज्वालकों से ऐसी गैस ही प्राप्त करना एक प्रबल समस्या हो गयी जिसमें लेश मात्र से अधिक अशुद्धियाँ न हों। क्नीश (Kniesch) के तत्त्वावधान में 'बैडिशे ऐनिलीन ऐण्ड सोडा फैब्रिक' द्वारा लडविग् शाफेन में किये गये अनुसन्धानकार्य सब प्रकार से बड़े महत्त्वपूर्ण एवं सफल रहे और एतदर्थ क्नीश का नाम वैज्ञानिक इतिहास के सल्फ्यूरिक अम्ल अध्याय में चिरस्थायी हो गया। इन अनुसन्धानों की सफलता का प्रमुख कारण यह था कि एक परम प्रतिभावान् अन्वेषक के दिग्दर्शन में सर्वथा वैज्ञानिक ढंग से समस्या का अनुशीलन किया गया था और दूसरी बात यह थी कि इन प्रयत्नों के पीछे कार्यकर्ताओं का दृढ़ संकल्प एवं असीम आर्थिक संसाधन भी थे। इस विधा को सफल बनाने में उस समय दस लाख पौण्ड (स्टर्लिंग) लगाये गये थे, जो उस समय तक किसी वैज्ञानिक योजना में व्यय की गयी सबसे बड़ी धनराशि थी। क्नीश की समस्याओं और उनके समाधान का संक्षिप्त विवरण निम्नलिखित है—

(१) गैस में यांत्रिकतया चली जानेवाली धूलि का निरसन।

(२) संस्पर्श उत्प्रेरक की सक्रियता घटने की विकट समस्या का समाधान। इसे संस्पर्श विषायण कहा जा सकता है। क्नीश की परम सफलताओं में इस बात का पता लगाना भी था कि गैस में यदि सूक्ष्मतम लेश से अधिक आर्सनिक की मात्रा हुई तो वह उत्प्रेरक की सक्रियता नष्ट करने के लिए पर्याप्त थी।

(३) सल्फर डाइ ऑक्साइड और ऑक्सीजन के संयोजन की प्रतिक्रिया ऊष्मा-क्षेपक[1] होने के कारण ऊँचे तापों पर सल्फर ट्राइ ऑक्साइड की संभाव्य प्राप्ति में विशेष कमी हो जाती थी। ऊष्मीय परिस्थितियों के अध्ययन से यह पता लगा कि SO_3 की अनुकूलतम प्राप्ति ताप की बड़ी अल्प सीमा के अन्दर ही संभव थी और परिवर्तक (कान्वर्टर) के अन्दर तापसीमा का ऐसा नियमन किया जा सकता था कि अतितापन न हो सके। लेकिन परिवर्तक से निकली तप्त गैसों का उपयोग अन्दर प्रवेश करनेवाली शीत गैसों को गरम करने में किया जा सकता था और इस प्रकार किसी अन्य तापन माध्यम की आवश्यकता न हो।

(४) क्नीश ने यह भी देखा कि सल्फर ट्राइ ऑक्साइड का पूर्ण अवशोषण सल्फ्यूरिक अम्ल की उच्च सांद्रता की बड़ी संकुचित सीमा के भीतर ही संभाव्य था।

१८९७ के एक पेटेण्ट में यह सम्पूर्ण विधा वर्णित है, और आज वह पेटेण्ट रसायन-शास्त्र का एक महत्त्वपूर्ण अंग माना जाता है। यह विधा उन वर्तमान भौति-रासायनिक विधाओं में से सर्वप्रथम है जो आगे चलकर आजकल की सुपरिचित अधिकांश विशुद्ध रासायनिक विधाओं को संभवतः प्रतिस्थापित करे।

प्लैटिनम के स्थान पर वैनेडियम ऑक्साइड जैसे सरलता से निष्क्रिय न होनेवाले उत्प्रेरकों का प्रतिस्थापन, गैसों को साफ करने के लिए विद्युत् स्थैनिक[2] (एलेक्ट्रोस्टैटिक) साधनों का प्रयोग तथा सम्पूर्ण विधा के लिए आवश्यक विद्युत्-ऊर्जा में कमी करना इत्यादि इसकी हाल की उन्नतियाँ हैं। जब कच्चे माल के लिए गंधक का प्रयोग होता है तो वायु एवं गंधक के पूर्व-शोषण (प्री ड्राइंग) से विधा प्रायः उतनी ही सरल हो जाती है जितनी एक शताब्दी पूर्व प्रस्तावित फिलिप्स की मूल विधा थी।

गंधक के व्यापार-निषेध (एम्बार्गो) ने अम्लनिर्माण में रसायनज्ञों की अन्वेषण-

[1] Exothermic [2] Electrostatic

कारी प्रतिभा को प्रेरित करने के अलावा माक्षिक ज्वालक से प्राप्त लौह्-ऑक्साइड अवशिष्टों में से नॉन-फेरस धातुओं को निकालने की कई विधाओं का प्रजनन भी किया। इस अवशिष्ट में औसतन ३% ताँबा और स्वर्ण एवं रजत की भी लघु मात्रा होती है। १८६५ तक ये अवशेष बेकार समझकर फेंक दिये जाते थे, किन्तु उसी साल हेण्डर्सन ने एक ऐसी रीति निकाली जिससे अवशेष को सामान्य लवण के साथ भूँज कर और भुने हुए मिश्रण का जल से धाव-वेचन[1] (लिक्जिवियेशन) करके प्राप्त विलयन में से क्षेप्य लौह की सहायता से ताम्र का अवक्षेपण (प्रेसिपिटेशन) कर लिया जाता था। १८७० में क्लाडेट ने अवशेषों में से स्वर्ण और रजत निकालने की रीति मालूम की। हेण्डर्सन की विधा में धाववेचन के बाद प्राप्त विलयन में स्वर्ण और रजत क्लोराइड भी सामान्य लवण की अधिकता के कारण विलीन रहते थे। क्लाडेट की रीति में इस विलयन में यशद आयोडाइड डालकर स्वर्ण और रजत का अवक्षेपण कर लिया जाता है और बाद में अवक्षेपित आयोडाइडों को हाइड्रोक्लोरिक अम्ल की उपस्थिति में धातवीय यशद द्वारा अपचयित किया जाता है। इस प्रकार विज्ञान के अनुग्रह से सल्फ्यूरिक अम्ल बनानेवालों की आय बढ़ गयी फलतः अम्ल का दाम भी घट गया। सबसे बड़ा लाभ तो यह हुआ कि अत्यन्त बहुमूल्य वस्तुएँ, जो बेकार समझी जाती थीं, प्राप्त होने लगीं और उपयोगी सिद्ध हुईं।

क्षार उद्योग---क्षार उद्योग का इतिहास तो राजनीतिक इतिहास के साथ मिला हुआ है। अठारहवीं शताब्दी में फ्रान्स यूरोप का प्रमुख राष्ट्र था और वहाँ क्षार की काफी बड़ी खपत होती थी, जो दक्षिणी स्पेन से आता था, और वहाँ यह वनस्पतियों से बनाया जाता था। किन्तु सप्तवर्षीय युद्ध में फ्रान्स को क्षार की अपनी आवश्यकता पूर्ति के लिए अन्य साधन ढूँढ़ने पड़े। १७७५ में 'फ्रेन्च अकेडमी ऑफ साइन्स' ने सोडा बनाने की एक व्यावहारिक विधा का आविष्कार करने के लिए २,४०० लीवरों के पुरस्कार की घोषणा की, जो किसी को दिया न जा सका। कुछ वर्ष बाद ड्यूक ऑफ ऑर्लियन्स के अपोथिकरी, लिब्लांक ने एक विधा निकाली और सेण्ट डेनिस पर एक कारखाना भी खोला, यह विधा 'लिब्लांक विधा' के नाम से प्रचलित हुई। १७९१ में लिब्लांक को उनकी विधा के लिए एक पेटेण्ट दिया गया, जिसमें उस विधा की मुख्य-मुख्य विशेषताओं का वर्णन है। उल्लेखनीय तथ्य यह है कि इस पेटेण्ट में लिखी बातें आज की तथाकथित विकसित विधा से बहुत अधिक भिन्न नहीं हैं। उप-

[1] Lixiviation

युक्त कारखाना १७९३ तक सफलतापूर्वक काम एवं उन्नति करता रहा, लेकिन उसी वर्ष फ्रान्सीसी क्रान्तिकारियों ने ड्यूक ऑफ ऑर्लियन्स को मार डाला तथा कारखाने को ज़ब्त करके उसकी आम बिक्री कर दी। फ्रान्सीसियों के बहुत समय तक निरन्तर अलग हो जाने के कारण उन्हें अपने ही प्राकृतिक पदार्थों पर आश्रित रहना पड़ा। 'कॉमिटी ऑफ सैफ्टी' ने लिब्लांक के पेटेण्ट को निष्प्रभावी कर दिया और राज्य के हित में अपनी विधा का रहस्योद्घाटन करने के लिए उसे बाध्य किया। बेचारे लिब्लांक का इस प्रकार दुःखद विनाश हो गया, उसको अपने कारखाने एवं विधा के बदले जो मुआवज़ा मिला वह केवल एक मज़ाक था। अकेडमी का पूर्व-घोषित पुरस्कार भी उसको न मिला। १८०६ में उसने दरिद्रता और निराशा में अपने ही हाथों अपना प्राण गवाँया। ८० वर्ष बाद पेरिस के 'कॉज़र्वेटॉयर ऑफ आर्टस' में उसकी स्मृति में उसकी एक प्रतिमा स्थापित की गयी। इन व्यवहारों का फल यह हुआ कि फ्रान्स में सोडा उद्योग कभी न पनपा और वहाँ लिब्लांक के महत्त्वपूर्ण आविष्कार से वर्षों तक कोई लाभ न उठाया जा सका। १८१४ में लिब्लांक विधा इंग्लैण्ड में चालू की गयी और १८२३ में लिवरपूल के पास जेम्स मसप्राट नामक एक आयरिशमैन ने एक बड़ा कारखाना खोला। मसप्राट ने ही उसके पहले साल में एक सल्फ्यूरिक अम्ल का संयंत्र भी चलाया था। उस समय से इंग्लैण्ड में सोडा उद्योग उत्तरोत्तर उन्नति करता गया जब कि फ्रान्स में वह प्रायः उपेक्षित ही रहा।

लिब्लांक विधा में सामान्य लवण के विच्छेदन के लिए सल्फ्यूरिक अम्ल का प्रयोग होता है और प्राप्त सल्फेट को चाक और थोड़े कोयले के साथ एक प्रतिक्षेपी (रिवर्बेरेटरी) भट्ठी में तप्त किया जाता है; और फिर शीत अथवा गुनगुने जल से उसका धाववेचन (लिक्ज़िवियेशन) किया जाता है। इस प्रकार प्राप्त विलयन को उद्वाष्पित करके सुखाया जाता और ठोस अवशेष को बुरादे के साथ एक भट्ठी में निस्तप्त (कैल्साइन) किया जाता है। इससे सोडा ऐश अर्थात् अपरिष्कृत सोडियम कार्बोनेट प्राप्त होता है, जिसे तप्त जल में विलीन करके केलासन द्वारा शुद्ध सोडियम कार्बोनेट तैयार किया जाता है। यदि सोडा ऐश के विलयन को चूने से उपचारित किया जाय तो दह सोडा (कॉस्टिक सोडा) बन जायगा। लवण, कोयला, चाक तथा सल्फ्यूरिक अम्ल इस विधा की आवश्यक वस्तुएँ हैं। इनमें से प्रथम तीन की प्रचुर मात्रा तो प्रकृत्या प्राप्त होती है, रही बात सल्फ्यूरिक अम्ल की, सो सोडा उद्योग के समारम्भ से पहले यह अम्ल काफी महँगा था और सरलता से सुलभ न था। इसका मुख्य कारण यह था कि इसकी खपत ही इतनी कम थी कि बड़े परिमाण पर इसे बनाने की कोई आवश्यकता ही नहीं पड़ी। यह तो लिब्लांक विधा में सल्फ्यूरिक अम्ल की आवश्यकता

पूरी करने के लिए इस अम्ल की विपुल राशि उत्पन्न करनी पड़ी। यद्यपि कालान्तर में लिब्लांक विधा के स्थान पर सॉलवे की विधा प्रचलित हो गयी लेकिन हमें यह न भूलना चाहिए कि सल्फ्यूरिक अम्ल का उत्पादन बढ़ाने और उसे एक सस्ती उत्पत्ति के रूप में प्रस्तुत कराने का प्रथम श्रेय लिब्लांक की विधा को ही है, और इसी सल्फ्यूरिक अम्ल से आजकल सहस्रों अन्य वस्तुएँ सुलभ हो गयी हैं।

किसी चीज़ को बेकार न जाने देना वर्तमान प्रौद्योगिकीविदों का एक बड़ा भारी ध्येय होता है। किसी उत्पादन का दाम अधिकांशतः उसके कच्चे माल एवं उसके उपजातों के उत्तम उपयोग पर निर्भर होता है। क्षार उद्योग में इसके अनेक उदाहरण हैं। लिब्लांक विधा में प्रतिक्षेपी (रिवर्बरेटरी) भट्ठी से प्राप्त उत्पत्ति के धाववेचन (लिक्ज़िवियेशन) के बाद बचे ठोस को क्षारक्षेप्य (ऐलकली वेस्ट) कहते हैं इसमें ३०% कैल्सियम सल्फाइड होता था, जिसमें मूल सल्फ्यूरिक अम्ल का गंधक विद्यमान होता था। पहले यह पदार्थ न केवल एकदम बेकार माना जाता था बल्कि महान् अनुत्रास का साधन था क्योंकि यों ही खुला छोड़ देने से इसमें से दुर्गन्धयुक्त सल्फ्यूरेटेड हाइड्रोजन संचारित होता था। यह रसायनज्ञों के सामने एक समस्या थी और आख़िरकार उन्होंने इस क्षेप्य पदार्थ में से गंधक निकाल लेने की युक्ति ढूँढ़ निकाली। बहुत सी रीतियाँ प्रयुक्त हुई लेकिन उनमें से चान्स-क्लास की रीति सफल हुई। इस विधा में क्षारक्षेप्य का जल के साथ लेप बनाकर उस पर कार्बन डाइ ऑक्साइड की प्रतिक्रिया करायी जाती, यह (CO_2) पत्थरचूना जलाकर अथवा भट्ठी-गैस से प्राप्त किया जाता था। उन्मुक्त सल्फ्यूरेटेड हाइड्रोजन को तप्त फेरिक ऑक्साइड की उपस्थिति में वायु की नियमित मात्रा के साथ सावधानी से जलाकर प्रायः शुद्ध गंधक प्राप्त कर लिया जाता है।

लिब्लांक विधा में केवल क्षारक्षेप्य (ऐलकली वेस्ट) ही एक अवांछित उपपदार्थ नहीं था। विधा के प्रथम चरण में ही सल्फ्यूरिक अम्ल द्वारा लवण के उपचार से हाइड्रोक्लोरिक अम्ल विमोचित होता था, प्रारम्भिक दिनों में इसका कोई उपयोग ज्ञात न होने के कारण उसे एक गैस के रूप में हवा में छोड़ दिया जाता था। इसका फल यह हुआ कि कारखाने के चारो ओर मीलों तक धातु के बने बरतनों का तीव्र संक्षारण तथा फसल और वनस्पतियों का विनाश होने लगा, जो वहाँ के निवासियों और कारखाने के मालिकों के बीच संघर्ष और मुकदमेबाजी का कारण बना। गैस का अवशोषण ही प्रत्यक्ष उपाय था। इसके लिए अनेक बड़े-बड़े कारखानों में गॉसेज द्वारा १८३६ में आविष्कृत कोकभरे धावक लगाये गये। १८६३ में प्रथम क्षार-अधिनियम (ऐलकली ऐक्ट) पारित हुआ, जिसके अनुसार कारखानों में निकलनेवाली

हाइड्रोक्लोरिक अम्ल गैस का कम से कम ९५% अवशोषित करना अनिवार्य हो गया। यह नियम अनुगामी विधान से और भी कठोर बन गया। उस समय इंग्लैण्ड में प्रति सप्ताह ३,००० टन हाइड्रोक्लोरिक गैस उत्पन्न हो रही थी। इस आँकड़े से समस्या की विकटता का अनुमान लगाया जा सकता है। निर्माताओं ने जब इस गैस के अवशोषण के लिए प्रबन्ध किया और तदर्थ धन व्यय करने लगे तो उन्हें अपनी इस लागत सम्पत्ति के बदले कुछ प्राप्त करने की चिन्ता हुई। हाइड्रोक्लोरिक अम्ल से स्वतंत्र क्लोरीन विमुक्त करना ही उन्हें एकमात्र उपाय सूझ पड़ा, क्लोरीन गैस एक शक्तिशाली विरंजक जो था।

हाइड्रोक्लोरिक अम्ल से क्लोरीन प्राप्त करने की सर्वप्रथम रीति में मैंगनीज़ डाइऑक्साइड का प्रयोग किया गया। मैंगनीज़ डाइऑक्साइड खनिज पाइरोलुसाइट के रूप में पाया जाता है। इस प्रतिक्रिया में मैंगनीज़ क्लोराइड बनता था, जो प्रारम्भ में व्यर्थ समझ कर फेंक दिया जाता था। विज्ञान ने निर्माताओं की पुनः सहायता की और वेल्डन के आविष्कार से इस क्षेप्य मैंगनीज़ क्लोराइड विलयन पर चूने और वायु की क्रिया से मैंगनीज डाइऑक्साइड का पुनर्जनन किया जाने लगा जो क्लोरीन उत्पादन विधा में ही मूल खनिज मैंगनीज़ डाइआक्साइड की भाँति इस्तेमाल किया जाने लगा। इस प्रकार इस विधा में मैंगनीज़ डाइऑक्साइड केवल एक कारक की भाँति प्रयुक्त होता एवं उसकी एक ही राशि बारंबार इस्तेमाल की जा सकती थी। यथार्थ प्रतिकर्मक तो वायुमण्डलिक ऑक्सीजन ही होता था। आगे चलकर डीकन ने वायुमण्डलिक ऑक्सीजन के अनाश्रित प्रयुक्ति की एक नयी रीति निकाली। उन्होंने अनुभव किया कि यदि हाइड्रोक्लोरिक अम्ल गैस और वायु के मिश्रण को ताम्र लवणों से व्याप्त तप्त ईंटों पर से पार कराया जाय तो क्लोरीन गैस और जल उत्पन्न हो जाता है, ताम्र लवण केवल उत्प्रेरक का काम करते हैं। इन रीतियों से बनी क्लोरीन गैस को बुझाये चूने से संयुक्त करके ब्लीचिंग पाउडर तैयार किया जाने लगा, जिसका प्रयोग मुख्यतः कपास एवं क़ागज बनाने की लगदी के विरंजनार्थ होता था।

सोडा बनाने के लिए लिब्लांक विधा का आविष्कार रासायनिक प्रतिभा का एक बड़ा उत्तम दृष्टान्त था, और पहले व्यर्थ एवं कष्टप्रद समझे जानेवाले उप-जातों से अन्य उपयोगी वस्तुएँ बना लेना भावी रासायनिक उद्योग के विकास का आधार बन गया। रसायन की औद्योगिक प्रतिक्रियाओं के संचारण के लिए ठोस उत्प्रेरकों का व्यापक प्रयोग सर्वप्रथम क्षार उद्योग में लगे रसायनज्ञों की ही देन थी। सल्फ्यूरिक अम्ल का महत्त्व एवं उसकी अधिकाधिक माँग केवल क्षार उद्योग में उसकी प्रयुक्ति

के कारण बढ़ी। किन्तु उप-जातों की अनेकता के कारण इस विधा का ऊपरी व्यय इतना बढ़ गया कि सोडा एवं ब्लीचिंग पाउडर की सुसंतुलित माँग पर ही उसकी समस्त आर्थिक व्यवस्था आधारित हो सकी। किन्तु वस्तुस्थिति यह थी कि सोडा की माँग ब्लीचिंग पाउडर की अपेक्षा कहीं अधिक थी, अतः सोडा उत्पन्न करने की कोई ऐसी विधा निकालने की आवश्यकता हुई जिसमें कोई उप-जात न हों। इसी प्रयत्न के परिणामस्वरूप अमोनिया-सोडा विधा का जन्म हुआ।

सोडियम कार्बोनेट बनाने की इस विधा में सोडियम, नमक (सोडियम क्लोराइड) एवं कार्बोनेट, कैल्सियम कार्बोनेट से प्राप्त होता है। सोडियम क्लोराइड एवं कैल्सियम कार्बोनेट की परस्पर प्रतिक्रिया से सोडियम कार्बोनेट और कैल्सियम क्लोराइड बन जाना बड़ी सरल बात-सी लगती है, किन्तु इस प्रतिक्रिया के साथ-साथ मुक्त ऊर्जा की भी वृद्धि होने से यह स्वतः अग्रसर नहीं होती। इसलिए कुछ ऐसी प्रतिक्रियाओं का सम्मिश्रण करना पड़ा, जिनके परिणामस्वरूप उपर्युक्त प्रतिक्रिया संचरित हो सके एवं जिसमें चून-पत्थर के विच्छेदनार्थ आवश्यक ताप के रूप में ऊर्जा का प्रयोग हो सके। यही 'अमोनिया-सोडा' अर्थात् 'साल्वे विधा' के रूप में विकसित हुआ। इस विधा में सामान्य लवण के अमोनियाई विलयन में कार्बन डाइ ऑक्साइड की क्रिया से सोडियम बाइ कार्बोनेट उत्पन्न किया जाता है। सोडियम बाइ कार्बोनेट का केलासन हो जाता है तथा अमोनियम क्लोराइड विलयन में रह जाता है। इस विलयन में चूना डालकर तप्त करने से पुनः प्राप्त अमोनिया फिर से इस्तेमाल किया जा सकता है। कारखाने में ही चूने को जला करके कार्बन डाइ ऑक्साइड बनाया जाता और शेष आवश्यकता सोडियम बाइ कार्बोनेट को ऋजु कार्बोनेट बनाने में निकली गैस से पूरी होती है। लवण विलयन सीधे लवण-जल गर्तों में से पम्प किया जाता है।

१८३८ में डायर और हेमिंग द्वारा पेटेण्ट करायी गयी विधा की रासायनिक प्रतिक्रियाएं यद्यपि सरल थीं, लेकिन उनके क्रियाकरण में महती यांत्रिक कठिनाइयाँ उत्पन्न हुईं। १८५५ में श्लोएसिंग और रोलैण्ड ने इस विधा का बड़े पैमाने पर प्रयोग करने का प्रथम प्रयास किया तथा पेरिस के निकट एक कारखाना स्थापित किया। किन्तु दो साल के बाद भी कठिनाइयाँ ज्यों की त्यों रहीं, अतः यह योजना त्याग दी गयी। १८६३ में सॉल्वे ने ब्रुसेल्स के निकट एक निर्माणी स्थापित की; पेटेण्ट तो वे दो वर्ष पूर्व ही ले चुके थे। अपने धैर्य एवं पुरुषार्थ से वे काफी सफल हुए और १८७२ में नैन्सी के पास उन्होंने एक और बड़ा कारखाना खोला। इसके दो वर्ष बाद लडविग मॉण्ड ने साल्वे पेटेण्ट के ही अन्तर्गत इस विधा को इंग्लैण्ड में चालू किया। उन्होंने

अपने सहभागी जॉन ब्रूनर को मिला कर 'ब्रूनर, मॉण्ड ऐण्ड कम्पनी' के नाम से एक संस्थान प्रारम्भ किया और एक संयंत्र लगाया जिसमें नॉर्विच के प्राकृतिक लवण-जल का प्रयोग किया जाने लगा। १८९० तक सॉल्वे विधा से सोडियम कार्बोनेट का उत्पादन पुरानी लिब्लांक्ल विधा की अपेक्षा अधिक होने लगा। इस नयी विधा के कई निर्विवाद लाभ भी हैं। प्राकृतिक लवण-जल के प्रयोग का लाभ पुरानी विधा में न था। सॉल्वे विधा बड़ी स्वच्छ है एवं इससे प्राप्त पदार्थ भी अधिक शुद्ध होता है। फिर भी बहुत दिनों तक दोनों विधाएं प्रयुक्त होती रहीं। अन्य उद्योगों की आवश्यकता भर क्लोरीन उत्पन्न करने तक लिब्लांक विधा से सोडा बनता और शेष सॉल्वे की अमोनिया-सोडा विधा से।

काच और साबुन के दो ऐसे उद्योग हैं जिनमें सोडा की सर्वाधिक खपत होती है। वस्त्रोद्योग एवं रसद्रव्य निर्माण में भी इसकी विपुल मात्राएँ प्रयुक्त होती हैं। स्वच्छ-कारक के रूप में भी सोडा केलासों का अच्छा उपयोग होता है। लुगदी एवं कागज उद्योग में, जल के मृदुकरण के लिए, पेट्रोलियम के परिष्करणार्थ तथा अनेक धातु-कर्म विधाओं में द्रावक[1] के रूप में भी सोडा का प्रयोग होता है। अभी हाल में परि-ष्कृत पिग लोहे एवं इस्पात के ढले हुए परिवर्तकों (कॉन्वर्टर) के निर्माण में सोडा का इस्तेमाल किया जाने लगा है, इससे उनमें गंधक की मात्रा कम हो जाती है। सोडि-यम कार्बोनेट विलयन को चूने से उपचारित करने पर दह-सोडा तैयार हो जाता है। पहले समस्त और अब भी अधिकांश दह-सोडा इसी विधा से बनाया जाता है। सोडि-यम कार्बोनेट के शीत विलयन में कार्बन डाइ ऑक्साइड पार कराने से सोडियम बाइ कार्बोनेट बन जाता है, 'बेकिंग पाउडर' का महत्त्वपूर्ण संघटक होने के अलावा इसका औषधीय प्रयोग भी होता है। जलीय विलयन से केलासित करके संशोधित सोडियम कार्बोनेट भी भैषजिक कामों के लिए प्रयुक्त होता है।

लवण-जल (ब्राइन) अर्थात् सोडियम क्लोराइड के जलीय विलयन का जब विद्युदांशन (एलेक्ट्रोलिसिस) किया जाता है तो धनाग्र (ऐनोड) पर क्लोरीन का उद्विकास होने लगता है और दूसरी ओर ऋणाग्र पर हाइड्रोजन और जलीय विलयन में दह सोडा बन जाता है। यद्यपि इस विद्युदांशन (एलेक्ट्रोलिसिस) की प्रकृति का अनुशीलन लगभग १०० वर्ष पूर्व किया गया था, किन्तु इसका वाणिज्यिक विदोहन तो तब तक संभव न हो सका जब तक सस्ती बिजली न प्राप्य हुई। इस प्रकार की

[1] Flux

विद्युदांशिक रीतियों से अन्य रासायनिक पदार्थ भी बड़ी सीधी रीति से बनाये जा सकते हैं। इस विधा के लिए सोडियम क्लोराइड सदृश अप्रतिक्रियाशील यौगिक आवश्यक कच्चे पदार्थ का काम करते हैं और ऊर्जा तो सीधे विद्युत ऊर्जा के रूप में ही प्राप्त होती है। यद्यपि लवण-जल के विद्युदांशन का सिद्धान्त तो बहुत सरल है, लेकिन इसे वाणिज्यिक रूप से सफल बनाने के लिए रसायनज्ञों एवं प्रौद्योगिकीविदों को संयंत्र प्ररचना (प्लाण्ड डिज़ाइन) तथा वास्तविक क्रियाकरण की अनेक कठिनाइयों का निराकरण करना पड़ा। एक प्रकार के आधुनिक सेल[1] में धनाग्र[2] कार्बन के तथा ऋणाग्र[3] पारद के बने होते हैं। इस सेल में ऋणाग्र पर सोडियम विमुक्त होकर पारद के संग संरसीकृत (अमलगमेट) हो जाता है। सोडियम का यह संरस[4] (अमल्गम) बह कर दूसरे कक्ष में चला जाता है जहाँ वह जल की एक धार से विच्छेदित हो जाता है, इसी के फलस्वरूप दह-सोडा और हाइड्रोजन तैयार हो जाता है तथा पारद फिर से इस्तेमाल करने के लिए शेष बच रहता है।

लवण-जल के विद्युदांशन से दह-सोडा के उत्पादन के कारण सोडियम कार्बोनेट को चूने से उपचारित करके उसे उत्पन्न करने की पुरानी रीति पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा और वह पूर्ववत चलती रही। इन दोनों विधाओं के सह-अस्तित्व के स्थूल आर्थिक कारण प्रायः वही रहे जो सोडा बनाने की सॉल्वे तथा लिब्लांक विधाओं के साथ-साथ चलने के थे। हाँ, यह बात विद्युदांशिक विधाओं के परिपूर्ण होने के पहले की है। विद्युदांशन से दह-सोडा का उत्पादन तभी तक लाभप्रद हो सकता है जब तक उसकी उप-जात वस्तु क्लोरीन की खपत हो सके। जब क्लोरीन की औद्योगिक माँग की पूर्ति हो जाती है तब सोडियम कार्बोनेट से ही अतिरिक्त दह-सोडा तैयार किया जाता है।

दह-सोडा का सबसे अधिक उपयोग साबुन और कृत्रिम रेशम बनाने में होता है। साबुन बनाने के लिए पशु अथवा वनस्पति वसा का दह-सोडा के साथ पाचन किया जाता है। इस प्रतिक्रिया से साबुन और ग्लिसरीन दो चीज़ें तैयार होती हैं। ग्लिसरीन तो मुख्यतः नाइट्रोग्लिसरीन बनाने में लगती है, जिससे डायनामाइट बनता है। और दह-सोडा विलयन में काष्ठ की लुगदी को विलीन करना कृत्रिम रेशम उत्पादन का प्रथम चरण है। सूती वस्त्रों के मर्सरीकरण में तथा कोलतार रंजकों के निर्माण के विविध पदों पर दह-सोडा की आवश्यकता होती है। रसद्रव्यों के निर्माण, पेट्रो-

[1] Cell कोशिका　[2] Anode　[3] Cathode　[4] Amalgam

लियम के परिष्करण, कागज के उत्पादन एवं रबर के उपादेयकरण (रिक्लेमिंग) जैसी अनेक विधाओं में इसका प्रयोग होता है।

क्लोरीन का मुख्य औद्योगिक उपयोग ब्लीचिंग पाउडर बनाने में होता है। विशेष प्रयोजनों के लिए अन्य विरंजनकारकों के निर्माण में भी इसकी खपत होती है। जैसे दह-सोडा के शीत विलयन में क्लोरीन पार कराने से सोडियम हाइपो क्लोराइड बन जाता है, जिसे कृत्रिम रेशम निर्माण में प्रयुक्त होनेवाले कच्चे मालों के विरंजनार्थ प्रयोग किया जाता है। यह सोडियम हाइपो क्लोराइड कृत्रिम इण्डिगो निर्माण के एक पद में प्रयुक्त होता है। लवण-जल के विद्युदांशन की दो उत्पत्तियों—हाइड्रोजन एवं क्लोरीन के पुनः संयोजन से उत्तम शुद्धतावाले हाइड्रोक्लोरिक अम्ल का उत्पादन भी इसका अच्छा उदाहरण है। फॉस्जीन तथा मस्टर्ड गैस जैसी विषाक्त गैसों का निर्माण (जिसमें क्लोरीन लगती है) तथा उनका प्रयोग तो रसायन-विज्ञान के उन दुरुपयोगों में से है जिन्हें सब लोग भलीभाँति जानते हैं। क्लोरीनीकृत बेन्ज़ीनों सदृश ंजक उद्योग के अन्तःस्थों के निर्माण में भी क्लोरीन बहुतायत से प्रयुक्त होती है। क्लोरीन गैस और गंधक के अनाश्रित संयोजन से सल्फर क्लोराइड बन जाता है, जो रबर उद्योग में उत्तम विलायक का काम देता है। इसके अतिरिक्त स्वयं रबर का भी क्लोरीनीकरण किया जाता है क्योंकि क्लोरीनीकृत रबर विशेष रूप से अम्ल और क्षारसह और अप्रज्वलनशील होता है।

सोडियम क्लोराइड तथा अन्य किसी पदार्थ के विद्युदांशन में उसके ताप, विलयन के सांद्रण एवं विद्युत् धारा के सामर्थ्य-जैसी परिस्थितियों में यदि अन्तर किया जाय तो उत्पत्तियों की प्रकृति में भी परिवर्तन उत्पन्न किया जा सकता है। ताप के नियमन, विलयन के विचालन, हाइड्रोक्लोरिक अम्ल की नियमित मात्रा सावधानी से डालने तथा थोड़ा डाइक्रोमेट डाल देने से क्लोरीन का उद्विकासन (इवोल्यूशन) कम हो जाता है और सोडियम क्लोरेट उत्पन्न होता है, जो एक शक्तिशाली ऑक्सीकर्ता है। ऐसी ही परिस्थिति में पोटासियम क्लोराइड के विद्युदांशन से पोटासियम क्लोरेट बनता है। ये दोनों लवण दियासलाई तथा विस्फोटकों के निर्माण में इस्तेमाल होते हैं। सोडियम क्लोरेट निरौनामारक (वीड किलर) के रूप में भी प्रयुक्त होता है। सोडियम क्लोरेट के प्रबल विलयन का न्यून ताप पर विद्युदांशन करने से सोडियम परक्लोरेट तैयार होता है, जो और भी उच्च ऑक्सीकृत यौगिक है। यह भी विस्फोटक उद्योग में प्रयुक्त होता है।

नाइट्रोजन के यौगिक—महत्त्वपूर्ण भारी रसद्रव्यों के उत्पादन में कच्चे माल की तरह नाइट्रोजन का प्रयोग इसी शताब्दी की देन है। वायुमण्डल का चार-पाँचवाँ

भाग नाइट्रोजन गैस है, जो रासायनिकतः बड़ा ही निष्क्रिय पदार्थ है और इसमें साधारणतया अधिकांश पदार्थों से संयोजन अथवा प्रतिक्रिया करने की तनिक भी प्रवृत्ति नहीं होती। इसका यह तात्पर्य नहीं कि नाइट्रोजन के यौगिक विरले अथवा महत्त्वहीन होते हैं, वस्तुस्थिति इसके प्रायः बिलकुल विपरीत है, क्योंकि नाइट्रोजन के यौगिक तो जीवित प्राणियों के सबसे अधिक ज़रूरी संघटक होते हैं। लेगुमिनस जाति की वनस्पतियों में वायुमण्डलिक नाइट्रोजन से उसके यौगिक बनाने की विशेष क्षमता होती है और इस प्रकार ये वनस्पतियाँ पशु-जगत् के लिए आवश्यक संयुक्त नाइट्रोजन उपलब्ध करती रहती हैं।

भारी रसद्रव्य उद्योग में नाइट्रोजन के वे यौगिक महत्त्वपूर्ण माने जाते हैं जो इसके और ऑक्सीजन तथा हाइड्रोजन के संयोजन से बनते हैं। अमोनिया नाइट्रोजन और हाइड्रोजन का यौगिक है। १९०८ तक इसका एकमात्र वाणिज्यिक स्रोत कोयला-आसवन था, जिसके एक उप-जात के रूप में यह प्राप्त होता था। उसी समय हाबर नामक एक जर्मन रसायनज्ञ के कार्यों के परिणामस्वरूप नाइट्रोजन और हाइड्रोजन के सीधे संयोजन से अमोनिया तैयार करने के लिए उसका प्रयोगात्मक निर्माण शुरू किया गया।

हाबर ने वैज्ञानिक प्रयोगों तथा उनके निष्कर्षों से यह दिखा दिया था कि प्रति वर्ग इंच पर ३००० पौण्ड के दाब और ५००° से० ताप पर एक उपयुक्त उत्प्रेरक की उपस्थिति में नाइट्रोजन और हाइड्रोजन का सीधा संयोजन संभव है। अनुगामी प्रयोगों के फलस्वरूप उपयुक्त एवं कार्यक्षम उत्प्रेरक का भी आविष्कार हो सका। चुम्बकीय लौह ऑक्साइड के अपचयन (रिडक्शन) से उत्पन्न लौह इसका एक उदाहरण है। उत्प्रेरकों की कार्यक्षमता केवल उनकी रासायनिक प्रकृति पर ही निर्भर नहीं होती बल्कि अधिक महत्त्व उनकी भौतिक अवस्था एवं उनके बनाने की रीति का होता है। १९१३ में अमोनिया उत्पादन की यह रीति जर्मनी में पूर्णरूपेण विकसित हो चुकी थी और उत्पादन भी पूरे परिमाण में हो रहा था। जर्मनी के लिए १९१४—१९१८ के युद्धकालीन वर्षों में यह बड़ा ही महत्त्वपूर्ण था। इंग्लैण्ड में तो इस विधा का वाणिज्यिक क्रियाकरण केवल प्रथम युद्ध के बाद संभव हुआ।

सामान्य परिस्थिति में जब अमोनिया को जलाया जाता है तो हाइड्रोजन के आक्सीकरण से जल बन जाता है जब कि नाइट्रोजन अपनी स्वतंत्रावस्था में विमुक्त हो जाता है। लेकिन अगर तप्त प्लैटिनम उत्प्रेरक के ऊपर से अमोनिया और ऑक्सीजन के एक मिश्रण को पार कराया जाय तो हाइड्रोजन और नाइट्रोजन दोनों का आक्सीकरण हो जाता है। इस प्रकार उत्पन्न नाइट्रिक ऑक्साइड को साधारण ताप

एवं हवा और जल की उपस्थिति में नाइट्रिक अम्ल के रूप में परिवर्तित किया जाता है। इस विशुद्ध वैज्ञानिक संश्लेषण के बिना जर्मनी प्रथम महायुद्ध में चार वर्षों तक कदापि नहीं टिक सकता था।

वनस्पति एवं पशु-जीवन के लिए नाइट्रोजन एक अनिवार्य तत्त्व है; और जीवित प्राणियों के लाभार्थ इसके मिट्टी में वितरण, विविध रूपान्तरण और पुनः वायुमण्डल में लौटने का जो चक्र चलता रहता है, वह प्रकृति की सुन्दर व्यवस्था का एक आश्चर्य-जनक दृष्टान्त है। मनुष्यों के बहुजनन एवं शहरों में एकत्र विशाल जनसंख्या तथा अवशिष्ट पदार्थों के विसर्जन के तरीकों के कारण इस प्राकृतिक संतुलन में बाधा पड़ी है। १८९८ में सर विलियम कुक्स ने 'ब्रिटिश असोसियेशन' में भाषण करते हुए वैज्ञानिक जगत् के सम्मुख यह तथ्य प्रगट किया था कि यदि वनस्पतियों के द्वारा परि-पाचन (असीमिलेशन) योग्य किसी रूप में वायुमण्डलिक नाइट्रोजन का स्थिरीकरण न किया जा सका या जनसंख्या की वृद्धि न रोकी जा सकी तो मानव मात्र के सामने न केवल खाद्याभाव की समस्या उत्पन्न होगी वरन् वे सचमुच भुखमरी के शिकार हो जायेंगे।

यद्यपि चीली की खानों में क्षार नाइट्रेट के रूप में परिपाच्य (असीमिलेब्ल) नाइट्रोजन का बड़ा भण्डार है तथा संसार के कुछ अन्य भागों में भी अपेक्षाकृत नाइ-ट्रोजन की कम मात्रावाले पक्षि-खाद (बर्ड मैन्योर) की बड़ी-बड़ी खानें हैं; फिर भी सारे संसार की आवश्यकता के सामने उनकी समस्त मात्रा नितान्त अपर्याप्त है। यों कोयले की आसवन विधाओं से प्राप्त होनेवाले नाइट्रोजन की मात्रा भी वैसे काफी बड़ी होती है, लेकिन प्राप्य पूरक नाइट्रोजन की कुल मात्रा सर्वथा अपूर्ण है।

उपर्युक्त तथ्यों से यह वर्षों पहले ही स्पष्ट हो गया था कि धरती माता से एक दाने के स्थान पर दो दाना प्राप्त कर सकना ही मनुष्य के सामने सबसे बड़ा रासा-यनिक काम था।

वायुमण्डल में तत्त्वीय रूप में विद्यमान नाइट्रोजन ही हमारे लिए उसका सबसे बड़ा स्रोत है। अनुमान है कि प्रति एकड़ भूमि के लिए वायुमण्डल में १४८,००० टन नाइट्रोजन है और यह कल्पनातीत है कि नाइट्रोजन का यह असीम भण्डार शीघ्र समाप्त हो जायगा, और फिर यह बहुमूल्य तत्त्व धरती तल के किसी भाग में वायु-मण्डल से प्राप्त किया जा सकता है। वायुमण्डल से नाइट्रोजन को परिपाच्य (एसि-मिलेब्ल) रूप में प्राप्त करके प्रकृति के इस महान् स्रोत का विदोहन रसायन-विज्ञान के सम्मुख एक चुनौती बन गया। रसायनज्ञों द्वारा की गयी मानव मात्र की समस्त सेवाओं में शायद ही कोई इसका मुकाबला कर सके और फिर वायुमण्डलिक नाइ-

ट्रोजन के सुसाध्य हो जाने पर तो अनेक उद्योग खड़े हुए हैं तथा हो सकते हैं। इस कार्य की सफलता के बीज तो अपनी प्रयोगशालाओं के कोने में बैठे प्रयोग कर रहे रसायनज्ञों के कामों अथवा सम्मेलनों में सहयोगियों के वार्तालाप अथवा विचार-विमर्श में ही छिपा हुआ था और अनेक वर्षों तक प्रगट न हो सका। १५० वर्ष से अधिक हुए प्रिस्ले ने यह बताया था कि जब जल के ऊपर सीमित ऑक्सीजन और हवा के मिश्रण में विद्युत् स्फुल्लिग प्रवेश कराया जाता है तो उसका आयतन कम हो जाता है तथा जल में अम्लता आ जाती है। कैवेण्डिश ने इस प्रयोग को फिर से किया तथा एक क्षारीय विलयन के ऊपर नाइट्रोजन के ऑक्साइड प्राप्त किये; उन्होंने यह दर्शाया कि यदि स्फुल्लिगन (स्पार्किंग) को जारी रखा जाय तो गैसों की सारी मात्रा अवशोषित हो जाती है। हम्फरी डेवी ने एक दूसरा प्रयोग किया और यह प्रदर्शित किया कि यदि विद्युत् धारा द्वारा तप्त एक तार के ऊपर से हवा को पार कराया जाय तो नाइट्रिक ऑक्साइड बन जाता है। शीले ने नाइट्रोजन स्थिरीकरण की एक तीसरी रीति का प्रवर्तन किया। उनके आविष्कार के अनुसार नाइट्रोजन वातावरण में सोडियम कार्बोनेट और कार्बन के मिश्रण को तप्त करने से ऐलकली सायनाइड बन जाता है।

१८८४ में रैमज़े और यंग ने यह अनुभव किया कि जब अमोनिया को लाल तप्त नली में से पार कराया जाता है तो लेशमात्र अमोनिया सदा अविच्छेदित रह जाता है। इसी प्रकार डेविले ने भी यह देखा कि स्फुल्लिग प्रवेश कराने से भी अमोनिया का पूर्ण विच्छेदन नहीं होता। इन दोनों अनुभवों के आधार पर रैमज़े और यंग ने यह बताया कि अविच्छेदित अमोनिया का कारण नाइट्रोजन और हाइड्रोजन का पुनः संयुक्त होना हो सकता है यद्यपि इस परिवर्ती (रिवर्सिब्ल) प्रतिक्रिया की सीमा अत्यन्त लघु क्यों न हो। विभिन्न वैज्ञानिकों के इन्हीं अनुभवों से वायुमण्डल से नाइट्रोजन के स्थिरीकरण की औद्योगिक रीतियों का प्रवर्तन हुआ और इसके लिए उनके नाम वैज्ञानिक इतिहास में चिरस्मरणीय रहेंगे।

१८४२ में फ्रान्स में पोसोज़ और बॉरज़ियर ने वायुमण्डलिक नाइट्रोजन के स्थिरीकरण का प्रथम वाणिज्यिक प्रयास किया, किन्तु वह सफल न हो सका। उन्होंने पोटासियम सायनाइड बनाने के लिए कार्बन और पोटासियम कार्बोनेट के मिश्रण में नाइट्रोजन प्रवेश कराया था। अनुगामी वर्ष में इन दोनों फ्रान्सीसी रसायनज्ञों ने न्यूटन नामक एक अंग्रेज रसायनज्ञ से मिलकर न्युकास्ल-ऑन-टाइन में एक उदग्र भट्ठी (शाफ्ट फर्नेस) लगायी जिसमें उपर्युक्त रीति से ही प्रति दिन लगभग एक टन के हिसाब से पोटासियम सायनाइड कई वर्ष तक उत्पन्न होता रहा। किन्तु यह योजना भी आर्थिक दृष्टि से सफल न हो सकी। यद्यपि समय-समय पर इस रीति में परिवर्तन,

संशोधन किया गया फिर भी इसे कभी सफल न बनाया जा सका। इस असफल प्रयास का यद्यपि कोई कृषि-ध्येय न था, लेकिन नाइट्रोजन स्थिरीकरण की तीन बड़ी औद्योगिक रीतियों में से एक के आविष्कार की ओर इसने अवश्य इंगित किया।

इस विधा का अनुशीलन करते समय कारो और फ्रैंक ने यह ठीक अनुमान किया कि क्षारीय मृदा सायनाइडों के उत्पादन में संवादी कार्बाइड का बनना अन्तःस्थ पद था। उन्होंने यह भी देखा कि कैल्सियम लवण बनाते समय प्रतिक्रिया सायनाइड बनने तक ही सीमित नहीं रहती बल्कि नाइट्रोजन की और मात्रा अवशोषित होने से कैल्सियम सायनामाइड ($CaCN_2$) बन जाता है। इन अवलोकनों एवं अनुभवों पर आधारित नाइट्रोजन स्थिरीकरण की प्रथम महत्त्वपूर्ण योजना का विकास किया गया। इस विधा के विभिन्न पदों का पृथक्करण बड़ा प्रभावी सिद्ध हुआ, अतः प्रथम चरण में केवल कार्बन द्वारा चूने के अपचयन से स्वतंत्र रूप से कैल्सियम कार्बाइड तैयार होने लगा। इसी के साथ-साथ वायु में से नाइट्रोजन और ऑक्सीजन का पृथक्करण कर लिया जाता है, तथा अन्तिम पद में कैल्सियम कार्बाइड द्वारा शुद्ध नाइट्रोजन का अवशोषण कराके कैल्सियम सायनाइड तैयार किया जाता है। प्रथम प्रतिक्रिया विद्युत् भट्ठी में करायी जाती तथा उसमें बड़ी ऊर्जा लगती थी। इसलिए सस्ती ऊर्जा की आवश्यकता हुई और कारखाने को ऐसे स्थान पर बनाना पड़ा जहाँ हाइड्रो एलेक्ट्रिक शक्ति सुलभ थी। वायु से नाइट्रोजन प्राप्त करने के लिए तरलन एवं आसवन विधाओं का आश्रय लेना पड़ा। प्रथमतः यह बड़ी महँगी विधा जान पड़ी, विशेषतः इसलिए कि कम से कम ९९·८% शुद्धता की गैस आवश्यक थी। किन्तु अन्त में वस्तुस्थिति सर्वथा ऐसी न रही क्योंकि इस क्रिया में प्रयुक्त उष्मा तथा ऊर्जा की पुनराप्ति (रीकु-परेटिंग) की रीतियाँ निकाली गयीं और इञ्जीनियरी के समुन्नत साज-सामान की सहायता से कैल्सियम सायनाइड उत्पादन के संकलित मूल्य की तुलना में केवल नाइ-ट्रोजन का मूल्य प्रायः नगण्य-सा हो गया।

कैल्सियम कार्बाइड के नाइट्रीकरण के लिए उसके सूक्ष्म चूर्ण के साथ तनिक दाब पर नाइट्रोजन का संस्पर्श कराया जाता। शुद्ध कैल्सियम कार्बाइड की अपेक्षा वाणिज्यिक कार्बाइड अधिक प्रतिक्रियाशील होता है, लेकिन इसके साथ एवं १,१००° से० के उच्च ताप पर भी उपर्युक्त प्रतिक्रिया बड़ी मन्द गति से अग्रसर होती थी। किन्तु उत्प्रेरक की सहायता से इसकी गति बड़ी त्वरित हो जाती है। इसके लिए कैल्सियम फ़्लुओराइड उपयुक्त उत्प्रेरक है। इसकी सहायता से १,०००° से० से भी कम ताप पर २१–२३% नाइट्रोजन मात्रावाली उत्पत्ति धूसर-काल ठोस पिण्ड के रूप में प्राप्त हो जाती है।

यह अपरिष्कृत सायनाइड एक उर्वरक के रूप में प्रयुक्त होता है और यही इसका मुख्य महत्त्व भी है। फ्रैंक ने १९०१ में ही इसके उपयोग का उल्लेख किया था। कैल्सियम सायनाइड में १-२% कैल्सियम कार्बाइड भी होता है, जो आर्द्र करने पर एसिटिलीन गैस के रूप में उन्मुक्त हो जाता है। इसलिए सायनाइड को पीसकर उस पर पानी छिड़कने से अवशिष्ट कार्बाइड तथा स्वतंत्र-चूना नष्ट हो जाते हैं। इसके बाद इसका रवा बना लेने से इसका इस्तेमाल करना सरल एवं सुरुचिपूर्ण हो जाता है।

रासायनिक विधाओं की सहायता से वायुमण्डल के नाइट्रोजन को ऐसे रूप में आबद्ध किया जा सका है जिससे वह बड़े परिमाण में वनस्पतियों के लिये सुलभ हो जाय। चीली की नाइटर खानों की तुलना में कैल्सियम सायनाइड के उत्पादन से कृषि की कुछ कम सहायता नहीं हुई है। इसकी उत्पादन विधा में मुख्यतः विद्युत शक्ति, कोक और कोयले का खर्च है। लगभग ९०% शक्ति तो केवल कैल्सियम कार्बाइड बनाने में लग जाती है तथा सायनाइड के रूप में स्थिरीकृत एक टन नाइ-ट्रोजन की उत्पत्ति में लगभग डेढ़ टन कोयला खर्च होता है।

एक निपीडतापक यानी आटोक्लेव में सायनामाइड के जल तथा भाप उपचार की अपेक्षाकृत सरल क्रिया से अमोनिया उत्पन्न करना संभव है, प्रयुक्त जल में तनिक दह-सोडा डाल दिया जाता है। १९०४ में फ्रैंक ने जलांशन[1] की इस रीति का पेटेण्ट कराया था। १९१४ वाले महायुद्ध में जर्मनी ने इस प्रकार से अमोनिया प्राप्त करके नाइट्रिक अम्ल के संश्लेषण से बड़ा लाभ उठाया था। इसका उल्लेख आगे किया जायगा।

वायुमण्डलिक नाइट्रोजन के स्थिरीकरण की एक दूसरी विधा का विकास कुछ समय पहले हुआ था, यद्यपि वह उतना विस्तृत न था। यह रीति नाइट्रोजन को सीधे वायुमण्डलिक ऑक्सीजन से संयोजन की थी। प्रारम्भ में ही उन विद्युत विधाओं को भी प्रेरित करने का प्रयास किया गया था, जो आकाश में विद्युत संचार होने से प्रतिपन्न होती थीं और जिनके फलस्वरूप नाइट्रोजन एक बार फिर मिट्टी में पहुँच कर वनस्पतियों का परिपोषण करता।

प्रिस्ले और कैवेण्डिश के प्रारम्भिक प्रयोगों का उल्लेख पहले ही किया जा चुका है। ये विचार चलते रहे और १८५९ में लेसेपरे ने हवा और नाइट्रोजन के मिश्रण

[1] Method of hydrolysis

में विद्युत स्फुलिंग का विसर्जन (डिस्चार्ज) करके नाइट्रिक अम्ल बनाने का प्रस्ताव किया। इसके कुछ बाद ही सीमेन्स और हाल्स्के ने मूक विद्युत विसर्जन से ऑक्सीजन और नाइट्रोजन का संयोजन प्रदर्शित किया। १८९२ में क्रुक्स ने विद्युत चाप के उच्च ताप का उपयोग करनेवाली एक अधिक संतोषजनक रीति का प्रतिपादन किया।

लेकिन उपर्युक्त वैज्ञानिक अवलोकनों और औद्योगिक विधाओं के रूप में उनके मूर्त होने में काफी समय बीत गया, क्योंकि उनके अधिक विकास के लिए उच्च ताप और दाब पर गैसों की साम्यावस्था (इक्विलिब्रियम) का पूरा अध्ययन आवश्यक था। इस प्रकार के प्रारम्भिक भौति-रासायनिक कार्यों में नर्नस्ट के काम का उल्लेख आवश्यक है। उन्होंने अपने प्रयोगों द्वारा यह सिद्ध किया कि विभिन्न ताप पर ऑक्सीजन-नाइट्रोजन मिश्रणों से उत्पन्न होनेवाले नाइट्रिक ऑक्साइड की मात्रा का ठीक-ठीक आगणन संभव है। उन्होंने ही दिखाया कि यदि १,५३८° से० पर ०·३६% नाइट्रिक ऑक्साइड उत्पन्न होता है तो २,४०२° से० पर उसकी उत्पत्ति बढ़कर २·२४% हो जाती है तथा अन्य तापों पर भी उसकी उत्पत्ति की गणना की जा सकती है। इससे यह स्पष्ट हो गया कि इस प्रकार नाइट्रिक ऑक्साइड तैयार करने में अत्यन्त ऊँचे ताप की आवश्यकता होगी। संयोगवश उसके संघटक तत्त्वों की उपस्थिति में नाइट्रिक ऑक्साइड की साम्यावस्था स्थापित होने में काफी समय लगता है, अतः उलटी प्रतिक्रिया अर्थात् नाइट्रिक आक्साइड का विच्छेदन प्रारम्भ होने के पहले ही उसे सहसा अभिशीतित करके पृथक् कर लिया जा सकता है। इस प्रकार सीधे हवा में से ही नाइट्रोजन को स्थिर करने की लाभप्रद रीतियाँ विकसित की जा सकीं। १९०२ में 'ऐटमास्फेरिक प्रॉडक्ट्स कम्पनी' के नाम से अमेरिका के संयुक्त राज्य में एक संस्था स्थापित हुई, जिसमें सी० एस० ब्रैडले और आर० लवज्वाय नामक दो अमेरिकियों द्वारा पेटेण्ट प्राप्त विधा प्रयुक्त होने लगी। विद्युत चाप में वायु प्रवेश करा कर नाइट्रिक आक्साइड उत्पन्न करना उनकी रीति का प्रथम पद था। तत्पश्चात् गैसों को अभिशीतित करके उनका और ऑक्सीकरण एवं जल में अवशोषण कराया जाता। इससे लगभग ३५% सांद्रणवाला नाइट्रिक अम्ल तैयार हो जाता था। किन्तु यह विधा भी आर्थिक दृष्टि से सफल न हो सकी। प्रायः उसी समय नार्वे में बर्कलैण्ड और आइड द्वारा उसी प्रकार की एक दूसरी विधा का विकास हुआ, जो काफी सफल सिद्ध हुई। पहले १९०३ में उनका काम ३ अश्व-शक्तिवाली एक छोटी-सी भट्ठी से प्रारम्भ हुआ, जो उसी वर्ष के अक्तूबर मास में इतना बढ़ गया कि १५० अश्व-शक्तिवाला एक छोटा औद्योगिक संयंत्र लगाना पड़ा और एक वर्ष

बाद उनके संयंत्र में १,००० अश्व-शक्ति लगने लगी। आखिरकार बर्कलैण्ड और आइड ने 'नार्वेजियन हाइड्रो-एलेक्ट्रिक नाइट्रोजन कम्पनी' के लिए एक अति विशाल संयंत्र लगाया, जिसके द्वारा वायुमण्डलिक नाइट्रोजन को व्यापक वाणिज्यिक परिमाण में स्थिर करने की समस्या हल हो गयी। काफी बड़ा एवं विशिष्ट आकारवाला विद्युत् चाप उत्पन्न करना ही बर्कलैण्ड और आइड विधा की सफलता का मूल आधार था। इसकी प्राप्ति के लिए एक ऐसे चुम्बकीय क्षेत्र का प्रयोग किया गया जो प्रत्यावर्ती धारा चाप (ए० सी० आर्क) को व्याकृष्ट (डिस्टार्ट) करके उसे ज्वाला के बिम्ब का आकार प्रदान कर सके। इसी बिम्ब में से वायु को अति शीघ्रता से पार कराया जाता। चुम्बकीय क्षेत्र द्वारा चाप का अर्धगोलाकार रूप में प्रसरण होता, पहले एक दिशा में और फिर प्रत्यावर्ती धारा (आल्टर्नेटिंग करेंट) से उसकी उल्टी दिशा में, और इस तरह बड़ा विद्युत् चाप बन जाता। विद्युत् इन्जीनियरी के आविष्कार से औद्योगिक सफलता का यह एक बड़ा उत्तम दृष्टान्त है। भट्ठी एक ऐसे गोल बेलनाकार इस्पात के आधान में बन्द रहती जिसकी भीतरी ओर अग्नि-ईंटों का अस्तर लगा रहता था। ६ फुट व्यासवाला एवं ६ इंच गहरा स्थान छूटा रहता है जिसमें विद्युत् चाप की क्रिया होती है। चाप के उच्च ताप पर गैसों का संयोजन होता है और तब लगभग १०००° से० ताप पर नाइट्रिक आक्साइड सहित गैसों को एक वाष्पित्र (बायलर) में प्रवेश कराया जाता है, जिसमें भाप बनती होती है, वहाँ से उसे अलूमिनियम की नालियों के बने एक शीतन-प्रणाली में भेजा जाता, जिसके ऊपर से शीत जल प्रवाहित होता रहता है। इस प्रकार स्थिरीकृत नाइट्रोजन का और ऑक्सीकरण करके उसे नाइट्रोजन डाइऑक्साइड के रूप में परिवर्तित कर दिया जाता है। यह क्रिया अम्लसह पत्थरों के अस्तर लगे स्तम्भों में पूर्ण होती है जहाँ लगभग ३०% नाइट्रिक अम्ल तैयार हो जाता है।

नाइट्रिक अम्ल का चूनपत्थर से उदासीनीकरण करके कैल्सियम नाइट्रेट का विलयन बनाया जाता जिसे शून्यक में उद्वाष्पित करके ठंढा किया जाता और तब लवण विशेष का केलासन होता। एक किलोवाट घण्टा शक्ति लगाकर २·२ घन फुट वायु से लगभग ७० ग्राम नाइट्रिक अम्ल उत्पन्न होता है तथा नाइट्रिक ऑक्साइड का सांद्रण लगभग १·२% (आयतन) होता है। बर्कलैण्ड-आइड विधा का संशोधन करके वायुमण्डलिक ऑक्सीजन और नाइट्रोजन के अनाश्रित स्थिरीकरण की अन्य रीतियाँ भी निकाली गयीं, लेकिन मूल रीति ही अब भी सर्वोत्तम मानी जाती है। यह विधा एक समय बड़े आर्थिक महत्त्व की थी, लेकिन आगे चलकर अन्य दो रीतियों ने उसे यदि पूरी तरह नहीं तो अधिकांशतः विस्थापित कर दिया।

नाइट्रोजन स्थिरीकरण की सायनामाइड एवं चाप रीतियों में सबसे बड़ा अवगुण अथवा कठिनाई यह है कि उनमें विपुल विद्युत् ऊर्जा लगती है। सायनामाइड एवं चाप रीतियों में एक टन नाइट्रोजन को स्थिर करने में क्रमशः १२,००० और ६०,००० किलोवाट घण्टा शक्ति खर्च होती है। इसी कारण से नाइट्रोजन और हाइड्रोजन के अनाश्रित संयोजन से अमोनिया बनाने की ओर लोगों का अधिक ध्यान आकृष्ट हुआ, क्योंकि संभवतः यह विधा बहुत कम खर्च में क्रियान्वित हो सकती थी। १८८४ में रैमज़े और यंग ने जो निष्कर्ष निकाले थे उन्हीं के आधार पर १९१३ में हाबर-बॉश के संयंत्र सफलतापूर्वक कार्य करने लगे और उनमें केवल ३००० किलोवाट घण्टा शक्ति की न्यून खपत संभव हुई।

प्रथम महायुद्ध में जर्मनी के लिए नाइट्रोजन स्थिरीकरण की बात परम महत्त्व की थी, क्योंकि उस समय स्थिरीकृत नाइट्रोजन की उसकी उपलब्धि सारे संसार भर से वन्द हो गयी थी। यद्यपि सायनामाइड विधा उसके लिए संश्लिष्ट अमोनिया का तत्कालीन एक बड़ा स्रोत थी, किन्तु इसमें अत्यधिक शक्ति लगती थी, इसलिए कम शक्ति लगानेवाली हाबर-बॉश विधा को बड़ी प्रचण्ड गति से चलाने की कोशिश हो रही थी। सही बात तो यह है कि नाइट्रोजन स्थिरीकरण की इस विधा की सफलता के बिना तथा ओस्टवाल्ड द्वारा विकासित अमोनिया के ऑक्सीकरण से नाइट्रिक अम्ल बनाने की रीति के बिना जर्मनी इतने समय तक कदापि युद्ध जारी नहीं रख सकता था। हाबर-बॉश संश्लेषण विधा आधुनिक औद्योगिक प्रविधि का एक परम उत्कृष्ट उदाहरण है। विभिन्न ताप एवं दाब पर नाइट्रोजन, हाइड्रोजन और अमोनिया की साम्यावस्था संबन्धी आधारभूत अन्वेषणों के बिना यह प्रविधि सफल न हुई होती। इस प्रकार का सर्वप्रथम काम हाबर और ऊर्ड्ट ने १९०४ में किया। इनकी गणनाओं से नर्नस्ट का ध्यान भी आकृष्ट हुआ, जिन्होंने अपने उष्मा प्रमेय (हीट थ्योरम) की और सुतथ्य गणनाएँ कीं। १९०४ और १९०८ के बीच में किये गये गैसीय साम्यावस्था तथा उत्प्रेरकों के प्रभावों संबन्धी कार्यों के फलस्वरूप ही यह सैद्धान्तिक परिकल्पना एक औद्योगिक प्रविधि के रूप में मूर्त हो सकी। उसी समय से 'बैडिशे ऐनिलीन उण्ड सोडा फैब्रिक' नामक जर्मनी की विशाल संस्था ने इस विधा के विकासन के लिए अपनी सारी प्राविधिक प्रतिभा एवं आर्थिक शक्ति लगा दी। १९१० में प्रथम प्रयोगात्मक संस्था स्थापित हो चुकी थी तथा उसके अनुगामी वर्ष में ओपाऊ में प्रतिवर्ष ७,००० टन नाइट्रोजन के स्थिरीकरण की क्षमतावाले वाणिज्यिक संस्थान का निर्माण प्रारम्भ हो गया, जिसे १९१३ में क्रियान्वित किया गया तथा कुछ ही महीनों के बाद उसका विस्तार भी करना पड़ा। युद्ध-काल में तो इसकी क्षमता

६०,००० टन नाइट्रोजन प्रति वर्ष हो गयी थी तथा बाद में बढ़ कर १२०,००० टन हो गयी। १९२८ में ल्युना में एक महा विशाल संयंत्र लगाया गया, जिसका उत्पादन ४००,००० टन प्रति वर्ष था। युद्धकाल एवं उसके बाद थोड़े ही समय के अन्दर स्थिरीकृत नाइट्रोजन का संकलित उत्पादन चीली नाइट्रेट उद्योग के समस्त निर्यात से भी बढ़ गया। इस विधाविशेष से स्थिरीकृत वायुमण्डलिक नाइट्रोजन का वर्तमान कुल उत्पादन बताना तो संभव नहीं है, लेकिन १९२८ में ही अनुमानतः इसकी राशि १,०३६,००० टन प्रतिवर्ष हो गयी थी। अन्य संस्पर्धी विधाओं का भी संसार के देशों में विकास हुआ तथा द्वितीय महायुद्ध में इनमें विशेष वृद्धि एवं उन्नति हुई है।

किसी उत्प्रेरक के ऊपर दाब एवं संयत ताप पर नाइट्रोजन और हाइड्रोजन का संयोजन ही अन्य सभी संस्पर्धी विधाओं का सामांन्य आधार है। किन्तु इञ्जीनियरी संबन्धी ब्योरों में काफी अन्तर होता है। इनमें से मूल हाबर-बॉश विधा तथा संसार की बड़ी-बड़ी रासायनिक कम्पनियों द्वारा प्रस्तुत उसके संशोधन, 'क्लाड', 'कास्ले', 'नाइट्रोजन इञ्जीनियरिंग', 'फौज़र तथा मॉण्टसेनिस' विधाएँ अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। इन विधाओं के परिवर्तकों (कॉन्वर्टर) की रचना एवं क्रियाकारी ताप तथा दाब संबन्धी ब्योरों में अन्तर होता है। 'हाबर-बॉश' विधा का क्रियाकरण २०० वायुमण्डल दाब तथा ५००°—६००° से० ताप पर होता है, जब कि 'क्लाड' विधा का ९०० वायुमण्डल दाब और ५००°—६००° से० ताप पर। किन्तु कहा जाता है कि 'मॉण्टसेनिस' विधा केवल १०० वायुमण्डल दाब तथा ४००° से० ताप पर ही क्रियान्वित होती है।

इतने अधिक ऊँचे दाब और ताप पर गैसों के क्रियाकरण तथा नियंत्रण का सफल नियोजन वर्तमान इञ्जीनियरी की सचमुच परम सफलता माननी चाहिए।

अमोनिया के संश्लेषण के लिए नाइट्रोजन और हाइड्रोजन की आवश्यकता होती है। वायु से नाइट्रोजन पृथक्करण के लिए वायु का आंशिक तरलन और फिर प्रभाजन आसवन आवश्यक होता है। सायनामाइड विधा में प्रयुक्त होनेवाला नाइट्रोजन इसी रीति से प्राप्त किया जाता है। जहाँ हाइड्रोजन बहुत सस्ता होता है वहाँ इसे हवा में जला करके हाइड्रोजन-नाइट्रोजन का उपयुक्त मिश्रण उत्पन्न कर लिया जाता है। 'क्लाड', 'फौज़र' तथा 'कास्ले' संयंत्रों में यह रीति प्रयुक्त होती है। अधिकांशतः नाइट्रोजन प्राप्त करने के लिए वायु को तप्त कोक के ऊपर पार करा कर उसमें से ऑक्सीजन निकाल दिया जाता है। हाइड्रोजन प्राप्त करने के कई तरीके हैं। जहाँ विद्युत् शक्ति बड़ी सस्ती होती है वहाँ तो जल के विद्युदांशिक विच्छे-

दन से हाइड्रोजन उत्पन्न किया जाता है। किन्तु अन्य अवस्थाओं में कोक ऑवेन गैसों के आंशिक तरलन, अवशोषण तथा आसवन से यह गैस उत्पन्न की जाती है। हाइ-ड्रोजन की सर्वाधिक मात्रा कोक से तथाकथित वाटर गैस विधा के द्वारा प्राप्त की जाती है। हाबर-बॉश विधा में कोयले से बनी प्रोड्यूसर गैस को, जिसमें ६३% नाइट्रोजन होता है, वाटर गैस के साथ मिला कर ३ : १ अनुपात में हाइड्रोजन-नाइ-ट्रोजन मिश्रण तैयार किया जाता है। इसके लिए भाप की आवश्यक मात्रा के साथ इसे एक उत्प्रेरक के ऊपर से पार कराके इसमें कार्बन मॉनोआक्साइड को हाइड्रोजन से विस्थापित कराया जाता है। वाटर गैस के दो तीन आयतनों के लिए प्रोड्यूसर गैस के एक या दो आयतन आवश्यक होते हैं। मिश्रित गैस में ३५–४०% कार्बन मॉनोऑक्साइड, ३३–३६% हाइड्रोजन तथा २२–२३% नाइट्रोजन होता है। इनके अतिरिक्त थोड़ा-सा कार्बन डाइ ऑक्साइड और मीथेन इत्यादि भी होते हैं। इसके लिए वाटर गैस बनाने में ताप दीप्त कोक के ऊपर से भाप पार करायी जाती है, जिससे ५०% हाइड्रोजन, ४३% कार्बन मॉनो-ऑक्साइड, ५% कार्बन डाइ ऑक्साइड और २% नाइट्रोजन का एक मिश्रण उत्पन्न होता है। इस मिश्रित गैस में से कार्बन मॉनोऑक्साइड निकालने के लिए इसे भाप के साथ लौह ऑक्साइड उत्प्रेरक के ऊपर पार करा दिया जाता है। इस क्रिया से कार्बन मॉनो ऑक्साइड का कार्बन डाइऑक्साइड बन जाता है, किन्तु साथ ही प्रयुक्त भाप की तुल्य राशि के बराबर हाइड्रोजन उत्पन्न हो जाता है। कार्बन डाइ ऑक्साइड के निरसनार्थ मिश्रित गैस का २५ वायुमण्डल दाब में जल से उद्धावन (स्क्रबिंग) किया जाता है। इतने दाब पर कार्बन डाइ ऑक्साइड जल में विलीन हो जाता है। अवशिष्ट गैस में मुख्यतः हाइड्रोजन और नाइट्रोजन बच जाता है और उनका अनुपात अमोनिया संश्लेषण के उपयुक्त होता है। अपरिवर्तित कार्बन मॉनोऑक्साइड, हाइड्रोजन सल्फाइड तथा आर्गन सदृश अशुद्धियों को भी दाब धावन एवं अवशोषण रीतियों से निरसित कर दिया जाता है। शोधन की ये रीतियाँ आवश्यक किन्तु द्वितीयक[1] क्रियाएँ हैं, अतः यहाँ इनका कोई विस्तृत विवरण नहीं दिया जा रहा है। इनका उल्लेख केवल सम्पूर्ण विधा की परम जटिलता दर्शाने के लिए किया गया है।

जब ५०% हाइड्रोजन मात्रावाली कोक ऑवेन गैस से हाइड्रोजन प्राप्त किया जाता है तब शोधन के लिए उसका तरलन, एवं प्रभाजन-उद्वाष्पन[2] तथा विविध

[1] Secondary [2] Fractional evaporation

रसद्रव्यों द्वारा उसके बाह्य संघटकों का अवशोषण किया जाता है। किन्तु जब विद्युदांशिक हाइड्रोजन का प्रयोग किया जाता है तो उसके शोधन की विशेष आवश्यकता नहीं होती, लेकिन यह तो तभी संभव होता है जब सस्ती विद्युत् शक्ति सरलता से उपलब्ध हो। यही कारण है कि संश्लिष्ट अमोनिया के संसार के कुल उत्पादन का अत्यल्प अंश विद्युदांशिक हाइड्रोजन से बनाया जाता है।

समुचित रूप से शोधित गैसों को उष्मीयतः नियंत्रित परिवर्तकों में उच्च दाब पर उत्प्रेरकों के ऊपर से पार कराया जाता है। इन पात्रों की प्ररचना थोड़ी जटिल होती है क्योंकि उनमें विशेष दाब और ताप प्रयुक्त होते हैं। इनके प्ररचन एवं बनाने में साधारण इञ्जीनियरी बुद्धि की आवश्यकता होती है और इसी बनावट की भिन्नता के कारण ही विविध विधाओं में भेद होता है। परिवर्तक के उष्मा विनिमयक भाग से निकलनेवाली गैस में प्रयुक्त दाब के अनुसार ५% से २५% अथवा ४०% तक अमोनिया होता है और प्रतिकारी गैसों के पुनः परिचालन से हाइड्रोजन और नाइट्रोजन का कुल परिवर्तन सैद्धान्तिक गणना का लगभग ८०% होता है।

परिवर्तकों से निकलने वाली अमोनिया को निष्क्रिय गैसों से पृथक् करने के लिए या तो जल अवशोषण रीति अपनायी जाती है अथवा प्रशीतन रीति। जल अवशोषण रीति प्रायः हाबर-बॉश विधावाले ५—१०% अमोनिया के लिए प्रयुक्त होती है और १०% अमोनिया के लिए प्रशीतन रीति।

जब अमोनिया जलीय विलयन के रूप में एकत्र किया जाता है तो आवश्यकता होने पर तुरन्त आसवन करके उसे अजलीय अमोनिया के रूप में परिवर्तित कर लिया जाता है। किन्तु अधिकांश अमोनिया को अमोनियम सल्फेट, अमोनियम फास्फेट अथवा नाइट्रो चाक-जैसे नाइट्रोजनीय उर्वरकों के रूप में परिवर्तित किया जाता है, इसके लिए या तो अमोनिया को सल्फ्यूरिक अम्ल या फास्फोरिक अम्ल में अवशोषित किया जाता है अथवा द्विगुन विच्छेदन क्रिया अपनायी जाती है। संश्लिष्ट अमोनिया का प्लैटिनम जाली उत्प्रेरक के ऊपर हवा की उपस्थिति में दहन और उसका ऑक्सीकरण करके उसे नाइट्रिक अम्ल में रूपान्तरित कर दिया जाता है। विस्फोटक संश्लिष्ट रंजक एवं अमोनियम नाइट्रेट उर्वरक बनाने में नाइट्रिक अम्ल का बड़ा व्यापक प्रयोग होता है। जब एक बार नाइट्रोजन अमोनिया अथवा नाइट्रिक अम्ल के रूप में स्थिरीकृत हो जाता है तो प्राथमिक प्रक्रिया प्रायः सम्पूर्ण हो जाती है और उसके बाद उनके उपयोग के अनेक रूप एवं संभावनाएँ हो जाती हैं। संश्लिष्ट अमोनिया के उत्पादन में जो एक नयी प्रविधि विकसित हुई है वह अब अनेक उच्च दाब प्रतिक्रियाओं के लिए काम में लायी जाने लगी है। वस्तुस्थिति तो यह है कि वह एक

नये एवं अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रासायनिक उद्योग का ऐसा आधार बन गयी है जिससे उच्च आधुनिक भौतिक विज्ञान तथा इन्जीनियरी शास्त्र का भी अत्यन्त घनिष्ठ संबन्ध हो गया है।

ग्रंथ-सूची

ANASTASI, A. : *Nicolas Leblanc : Sa Vie et ses Travaux.* Librarie Hachette et Cie.

DE WOLF, R., AND LARISON, E. L. : *American Sulphuric Acid Practice in U. S. A.* McGraw Hill Book Co., Inc.

DONNAN, F. G. : *Ludwig Mond, F. R. S.,* 1839-1909. Royal Institute.

DOSSIE, R. : *The Elaboratory Laid Open.* J. Nourse.

FAIRLIE, A. M. : *Sulphuric Acid Manufacture.* Reinhold Publishing Co.

HOU, TE-PANG : *Manufacture of Soda.* Reinhold Publishing Co.

LEBLANC, NICHOLAS : *Memoires sur la Fabrication du Sel Ammoniac et de la Soude.*

LUNGE, G. : *Sulphuric Acid and Alkali.* Gurney & Jackson.

RODWELL, G. F. : *Birth of Chemistry,* Macmillan & Co.

SECHL, E. R. : *New Improvement in the Art of Making the True Volatile Spirit of Sulphur.*

WELLS, A. E., AND FOGG, D. E. : *Manufacture of Sulfuric Acid in U. S. A.* U. S. Bureau of Mines.

अध्याय १६

खनिज द्रव्य

खनिज द्रव्य और धातुएँ; ऊष्मसह पदार्थ

खनिज द्रव्य और धातुएँ

ब्रिनमोर जोन्स, डी० एस-सी० (वेल्स), एफ० आर० आई० सी०

पिछले पचीस वर्षों में व्यावहारिक विज्ञान के क्षेत्र में अपूर्व विकास एवं परिस्थितियों में महान् परिवर्तन हुए हैं, हो रहे हैं। इन बदलती हुई परिस्थितियों के लिए नयी नयी वस्तुओं एवं नये नये पदार्थों की निरन्तर माँग बढ़ती जा रही है। बड़े बड़े पुल बनाने के लिए, जहाज़-निर्माण एवं समुद्र इञ्जीनियरी के लिए, रेलवे तथा मोटर गाड़ियों (आटोमोबाइल) के निर्माण और वाययुान उद्योग के लिए अब ऐसे पदार्थों की आवश्यकता पड़ने लगी है, जिनके गुणों को पहले के गुणों से कहीं उत्कृष्ट होने की ज़रूरत है। इञ्जीनियरी मशीनों के प्ररचयिताओं (डिज़ाइनर) की कार्यकुशलता में निरन्तर वृद्धि हुई है, जिसके फलस्वरूप उन्होंने मशीनों की प्रति इकाई भार स्थितिज शक्ति बहुत बढ़ा दी है। और इन बढ़े हुए भारों को सँभालने के लिए अधिक सामर्थ्यवाली धातु एवं मिश्र धातु तैयार करने का उत्तरदायित्त्व धातुकर्मज्ञों के ऊपर आ पड़ा है। इंजीनियरी की प्रगति ने उन अवस्थाओं की सीमा भी बढ़ा दी जिनका सामना विविध द्रव्यों को करना पड़ता था। एक ओर तो प्रतिबल (स्ट्रेस) बढ़ गया और दूसरी ओर स्थान की बचत करने के लिए भार को घटाने की आवश्यकता पड़ने लगी। इसलिए नये एवं अधिक विश्वसनीय लोहस और अलोहस (फेरस ऐण्ड नॉन-फेरस) दोनों धातुओं तथा मिश्रधातुओं के उत्पादन एवं उपयोग की आवश्यकता पड़ी। इसके लिए द्रव्यों के चुनाव में और अधिक कठोर परीक्षण और निरीक्षण की जरूरत हुई। आधुनिक मिश्रधातुओं के आविष्कार में अंग्रेज़ वैज्ञानिकों ने बड़े मार्गदर्शी अनुदान नयी किये हैं। मिश्रधातुओं के विकास में भी उनके मशीनीकरण की कठिनाइयों, तथा उनकी बढ़ी हुई कठोरता, सामर्थ्य एवं सुदृढ़ता और वर्तमान उत्पादन की आशु गति के कारण अनेक समस्याएँ उत्पन्न हुई

हैं। इन्हीं के फलस्वरूप नवीन कर्तन पदार्थों (कटिंग मैटीरियल्स) की उत्पत्ति हुई। मोरचा, उष्मा तथा अम्लों के विनाशकारी दुष्प्रभावों के प्रति विशिष्ट अवरोधी गुणों वाली मिश्रधातुओं का आविष्कार करना पड़ा। धातुओं का संक्षारण सभी उद्योगों, विशेषकर धातु-कर्मज्ञों के लिए बड़े कष्ट और खर्च का विषय रहा है। इस कष्ट को कम करने के लिए संक्षारण-रोधी मिश्रधातु बनाने में महान् अनुसंधान-कार्य करना पड़ा और उसी के परिणामस्वरूप संक्षारण प्रक्रिया का स्पष्टीकरण हो पाया है। अतिपाती (अर्जेण्ट) आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए कुछ ऐसी नयी मिश्रधातुओं का आविष्कार हुआ जिनके कारण वैज्ञानिकों एवं प्रौद्योगिकीविदों के धातुगुण संबन्धी विचारों में बड़ा परिवर्तन हो गया।

संसार की वर्तमान प्रगति पर धातुओं का ऐसा प्रमुख प्रभाव पड़ा है कि आज-कल राष्ट्रों की समृद्धि उनके धातुनिर्माण एवं प्रयोग से आँकी जाने लगी है। आज की सभ्यता में उद्योगों के लिए धातुओं एवं मिश्रधातुओं की अत्यधिक माँग है। और अन्य विशाल उद्योगों के साथ आबद्ध होने के कारण कुछ ही लोग धातुकर्म उद्योगों की यथार्थ महत्ता का अनुमान कर पाते हैं। खनिज संसाधन (रिसोर्स) ही शक्ति के बड़े एवं समृद्धिशाली संसाधन माने जाते हैं। इसीलिए प्रागैतिहासिक काल से खानों एवं खनिज संग्रहों के लिए निरन्तर लड़ाइयाँ लड़ी जाती रहीं। कोलम्बस द्वारा अमेरिका की खोज से वहाँ की अतुल खनिज सम्पत्ति स्पेनिश राष्ट्र के कब्ज़े में आ गयी और लगभग १०० वर्ष तक स्पेन की महत्ता और उसकी समृद्धि इन्हीं धातुओं एवं खनिजों पर आधारित रही। इंग्लैण्ड के शीर्ष संसाधनों एवं निर्माण-क्षमता की सर्वोच्चता का मुख्य कारण भी कोयले और लौह अयस्क की उसकी महती उपलब्धियाँ रही हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका भी ताँबा, सीस, यशद, अलूमिनियम और इस्पात का सबसे बड़ा उत्पादक है, और उसकी आर्थिक सर्वोच्चता भी उसके खनिज संसाधनों एवं धातुकर्म उद्योगों के कारण है।

यदि यह कहा जाय कि इस्पात और अलूमिनियम संसार की सभ्यता के दो सबसे बड़े कारक हैं और रहे हैं, तो कुछ लोग इस कथन से कदाचित् सहमत न हों। लेकिन अगर केवल इस्पात को, जो लोहा और कार्बन की एक मिश्रधातु है, हटा दिया जाय तो हमारे सामने रेल, जहाज़, मशीन और पुल रहित एक संसार उपस्थित हो जायगा तथा हम अनेक ऐसी वस्तुओं से वंचित हो जाँयगे, जो हमारे दैनिक जीवन के लिए आवश्यक हैं। किन्तु यदि हम धातुकर्म-विज्ञान के दूसरे पक्ष का निरीक्षण करें तो मानवीय प्रवृत्तियाँ स्पष्ट रूप से पराजित हुई दिखाई पड़ेंगी। आखिर इसी वैज्ञानिक प्रविधि से अलूमिनियम और मैग्नीसियम के हलकी मिश्रधातु का प्रयोग

करके वे वायुयान भी बनाये जाते हैं, जो मनुष्य के सामूहिक विनाश के लिए विध्वंसकारी बम फेंकते हैं। युद्ध के टैंक जो मनुष्यों को धरती पर पीसते चलते हैं; उड्डयी विस्फोट, राकेट, समुद्री बन्दूकों से दागे जाने वाले प्रक्षेपी अस्त्र इत्यादि, सभी इसी विज्ञान की देन हैं जिनसे मानव-मात्र का ऐसा विनाश होता, अथवा किया जाता है जो पहले कभी संभव न था। और इन सब भयंकर शस्त्रास्त्रों का प्रमुख कारक इस्पात ही तो है।

अयस्क सांद्रण (ओर कॉन्सेन्ट्रेशन) की विधाओं एवं धातुओं के निर्माण में हुए चमत्कारी विकासों का यथार्थ चित्र तो तभी हमारे सामने आयेगा जब हम उसकी तुलना प्रारम्भिक परिस्थितियों से करें। धातुओं के संक्षिप्त ऐतिहासिक विवरण से यह स्पष्ट होगा कि वर्तमान उद्योग के विकास में विज्ञान ने कितना और कैसा योगदान किया है।

इतिहास—पृथ्वी की भूपर्पटी[1] में केवल तीन ऐसी धातुएँ (अलूमिनियम, लोहा और मेंग्नीसियम) अधिक अनुपात में विद्यमान हैं, जिनका आजकल प्राविधिक महत्त्व है। संयोगवश इन धातुओं का भूपर्पटी में एकरूप वितरण नहीं है, अन्यथा अयस्क सांद्रण की आधुनिकतम रीतियों के बावजूद भी सामान्यतः प्रयुक्त होने वाली धातुएँ बहुत ही बिरली होतीं। भौमिकीय वितरण एवं युग-युगों में शैलपर्पटी की ऊपरी सतह की पुनर्रचना के कारण ही धातुएँ कुछ क्षेत्र में भारी मात्राओं में सांद्रित हो सकीं, और इन्हीं सांद्रणों का विदोहन करके मनुष्य लाभान्वित हुआ है। अपनी प्रारम्भिक अवस्था में पृथ्वी एक पिघले हुए गोले के समान थी, जिसमें सभी तत्त्व मिश्रित थे, किन्तु जैसे जैसे यह ठंढी होने लगी इसके संघटकों का विभिन्न स्तरों में पृथक्करण होने लगा, फलतः सिलिकेट और सल्फाइड ऊपरी सतह में रह गये और धातुएँ पृथ्वी के अन्दर केन्द्र की ओर सांद्रित हो गयीं। यही विभेदकरण धातुकर्म प्रद्रावण (स्मेल्टिंग) क्रिया का बड़ा महत्त्वपूर्ण रूप है। पृथ्वी के और ठंढी होने पर सिलिकेटों और सल्फाइडों का और भी अलगाव हुआ तथा अधिकांश धातुएँ सल्फाइड से पृथक्कृत हो गयीं। आगे चल कर ऋतु-प्रभाव से तथा जल के आन्तर प्रवाह के कारण धातुओं का और सांद्रण हुआ, तथा खनिज एवं अयस्क कहे जाने वाले धातुयुक्त पदार्थों की खानें बन गयीं। खनिजों के ऐसे मिश्रण को अयस्क कहते हैं जिनसे धातुओं को निकाल कर वाणिज्यिक लाभ उठाया जाता है।

[1] Crust

पृथ्वी की शैलपर्पटी की औसत घनता २·५ और २·७ के बीच में है, जब कि समस्त पृथ्वी की है लगभग ५·५। इसका अर्थ यह है कि पृथ्वी के अन्दर भारी धातु भरी होगी जो सम्प्रति अनभिगम्य (इन्ऐक्सेसेब्ल) है। अन्तर भाग की गणित घनता लगभग ७·८ होगी; प्रायः यही धात्वीय उल्काश्मों (मिटियोराइट) की घनता होती है, जो ग्रहों के विघटित भाग होते हैं। ३१८ उल्काश्मों के रासायनिक विश्लेषण से पता लगा है कि उनमें औसतन लगभग ९०·८% लोहा, ८·५% निकेल, और ०·६% कोबल्ट होता है। यह अनुमान लगाया जाता है कि पृथ्वी के आन्तरक (कोर) का भी प्रायः यही निबन्ध होगा। "बोगुस्लुव्ला" उल्काश्म संसार का सबसे बड़ा लौह उल्काश्म है जिसे गिरते हुए लोगों ने आँखों देखा। यह अक्तूबर १९१६ में रूस के पूर्वी क्षेत्र के किसी स्थान पर गिरा था। इसके दो भाग हैं—एक ४३९ पौण्ड का और दूसरा १२१ पौण्ड का।

बहुत कम धातुएँ प्राकृतिक दशा में पायी जाती हैं; जो थोड़ी हैं उनमें सोना, प्लैटिनम, और पारा अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। कुछ क्षेत्रों में ताँबा और चाँदी भी इस दशा में मिलती है। इन धातुओं में से कुछ ऐसी हैं जिन्हें मनुष्य ने सबसे पहले प्रयोग करना प्रारम्भ किया था। स्वर्ण, रजत, ताम्र और लौह सदृश धातुओं का बाइबिल में भी वर्णन है। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि ईसा युग के पहले भी प्रद्रावण की अशोधित विधाओं से अयस्कों से उनकी धातुओं का निस्सारण होता था। ५,००० वर्ष पूर्व धातुओं के प्रयोग का प्रमाण मिलता है। उस समय लोग उनसे आभूषण, उपकरण एवं हथियार बनाया करते थे। धातुज्ञान का मूल स्रोत सुदूर पूर्व ही जान पड़ता है। कहा जाता है कि १००० ईसा पूर्व के पहले फोनीसियन लोग वर्तमानकालीन जिब्राल्टर के जलडमरूमध्य के बीच समुद्री यात्रा किया करते थे और उन्होंने स्पेन में एक नगर का उद्घाटन भी किया था जिसे वर्तमान समय में "कैडिज़" कहते हैं। इन लोगों ने स्पेन में स्वर्ण, रजत, ताम्र, और सीस की बड़ी बड़ी खानें खोज निकाली थीं। युग युगों से सभी देशों में सांस्कृतिक केन्द्रों से अग्रणी लोग सम्पत्ति की खोज में सदा नये नये प्रदेशों में जाते रहे हैं। ऐसा अनुमान है कि प्राचीन धातुकर्मज्ञ वंग अयस्क की खोज किया करते थे जिसे अपेक्षाकृत अधिक सुलभ ताम्र अयस्क में मिला कर कांसा (ब्रॉन्ज़) बनाते थे। यह ऐतिहासिक तथ्य है कि कार्नवेल स्थित वंग अयस्क की खानों की सूचना पाकर ही जूलियस सीज़र ने ब्रिटेन का प्रथम अभियान किया था और तभी से उस अर्ध-बर्बर प्रदेश में तत्कालीन सभ्यता का अभ्युदय हुआ। अयस्कों के प्रद्रावण की कला लोगों को लोहे के आविष्कार के बहुत पहले ही ज्ञात थी। तापन की प्राचीन रीतियों द्वारा अयस्कों का अपचयन करके ताँबा और काँसा प्राप्त किया जाता था।

कांस्य युग के बाद हथियार और अन्य उपकरण बनाने के लिए लोहे की मिश्रधातुओं का प्रयोग होने लगा। लौह, ताम्र, वंग, और सीस के ऑक्साइड अयस्कों को चारकोल के साथ तप्त तथा अपचयित करके संवादी धातुएँ बनायी जाती थीं। प्राचीन काल में लौह अयस्कों को अपचयित करके धातु का लेपी पुञ्ज (पेस्टी मास) बनाने से घन संधान (हैमर वेल्डिंग) के बड़े बड़े पुञ्जों का उत्पादन संभव हुआ। इस प्राचीनकालिक लौह पुञ्ज को चारकोल के साथ तप्त करने से यह देखा गया कि लौह द्वारा कार्बन के अवशोषण से लोहे का इस्पात बन गया। इसी अशोधित विधा से प्रख्यात डैमेस्कीन तलवारें बनायी गयी थीं। यह इस्पात खरीदा तो दमिश्क में गया था लेकिन इसका निर्माण प्राचीन नगर के पूर्ववर्ती देशों में हुआ था। आगे चलकर जब यह पता लगा कि इस्पात को लाल गरम करके ठंढे जल में अभिशीतित करने से वह अत्यन्त कठोर हो जाता है, तो असंख्य प्रयोजनों में उसका प्रयोग होने लगा। ४०० ईसा पूर्व सिकन्दर महान् के समय भी इस्पात की वस्तुएँ बड़ी कुशलता से बनायी जाती थीं। उस समय सभी प्रकार के अस्त्र-शस्त्र एवं कवच इत्यादि तथा कृषि के उपकरण और उस्तरे इस्तेमाल होते थे। यद्यपि मनुष्य स्वर्ण, रजत, सीस, वंग, लोहा इस्पात, ताम्र, कांसा तथा पारद का प्रयोग प्रागैतिहासिक काल से करता आ रहा है, किन्तु वर्तमान समय में प्रयुक्त होनेवाली चार धातुएँ—जशद, अलूमिनियम, मैग्नीसियम, तथा निकेल—उस समय ज्ञात न थीं और न उन बहुसंख्यक लघु धातुओं का ही पता था, जो आधुनिक जगत् की जटिल माँगों को पूरा कर रही हैं। ये धातुएँ पहले ऐसे यौगिकों के रूप में विद्यमान थीं, जिन्हें प्राचीन लोग विच्छेदित नहीं कर पाये थे।

जैसा पहले भी संकेत किया जा चुका है, वर्तमान सभ्यता लोहे के ऊपर ही आधारित है। एक चीनी कहावत है कि "जो संसार के लोहे का मालिक है वही संसार का मालिक है अर्थात् संसार में उसी का साम्राज्य होगा।" अनेक ज्ञात धातुओं की प्रयुक्त कुल राशि का ९९·५% अंश सात धातुओं क है, और इनमें से केवल लोहे की राशि लगभग ९३% है। इससे स्पष्ट है कि समस्त धातुओं में लोहा और उसकी मिश्रधातुओं का सर्वाधिक प्रयोग होता है तथा स्वर्ण की सारी राशि से भी अधिक उनका व्यावहारिक महत्त्व है। सोने की अधिकांश राशि संचित होती है तथा आभूषण एवं सिक्के बनाने के अतिरिक्त उसका प्रयोग अत्यल्प है। अब तो सिक्कों के रूप में भी सोना नहीं दिखाई पड़ता। दूसरी ओर लोहा और इस्पात का आजकल जीवन के सभी क्षेत्रों एवं सभी अवस्थाओं में परम महत्त्व है। अलौहस धातुओं के आधुनिक महत्त्वपूर्ण विकास के बावजूद भी लोहे का महत्त्व सबसे अधिक है। इन सब बातों से यह उक्ति चरितार्थ होती है—

है रानी के ही योग्य स्वर्ण, चाँदी बाँदी के लिए बनी।
ताँबे से ही होता निहाल वह शिल्पकार चातुर्य-धनी।।
हैं तीनों ही सर्वथा योग्य, अपने अपने पद पर महान।
पर लोहा तो इन सबका है शिरमौर और सुख का निधान।।

सुदृढ़, तन्य (डक्टाइल) एवं सबल होने के कारण १८५७ तक निर्माण-कार्यों के लिए मुख्यतः पिटवाँ लोहा ही प्रयुक्त होता था। यह रेल, पुल, जहाज़ और उनके पट्ट, वाष्पित्र (ब्वायलर), स्तार इत्यादि बनाने के काम आता था। उस समय इस्पात, मुख्यतः उच्च-कार्बन मात्रावाला इस्पात सीमेण्टीकरण विधा से तैयार किया जाता था। एतदर्थ पिटवाँ लोहे को बन्द आधानों में चारकोल के साथ उच्च ताप तक तप्त किया जाता था। इस इस्पात में धातुमल (स्लैग) की मात्रा अधिक होने के कारण यह एक सम श्रेणी का नहीं होता था जिसके कारण विशेष प्रयोजनों में प्रयुक्त नहीं हो सकता था। १७४२ में शेफील्ड के बेंजामिन हण्ट्समैन नामक एक घड़ीसाज़ ने, जिसका इस्पात-निर्माण से कोई संबन्ध न था, अपनी कमानियों की श्रेणी से असंतुष्ट होकर द्रव्य को एक उष्मसह मूषा (क्रुसिब्ल) में गलाया और उससे उसका कष्ट दूर हो गया। यह मूषा विधा लघु पैमाने पर सर्वोत्तम श्रेणी के इस्पात बनाने के लिए अब भी प्रयुक्त होती है। द्रावित धातु को ढालकर एक पिण्डक (इन्गॉट) बनाया जाता और उसका तापकुट्टन (फोर्ज़िग) अथवा बेल्लन (रोलिंग) करके उसे वांछित आकार का बना लिया जाता। इस उन्नत पदार्थ को अनेक वर्षों तक 'ढलवाँ इस्पात' के नाम से जाना जाता रहा।

आज का प्रायः समस्त इस्पात द्रव्यों को मूषा, विद्युत भट्ठी, खुली चुल्ली भट्ठी तथा बेसेमर परिवर्तक (कॉन्वर्टर) में गला करके तैयार किया जाता है। पुरानी रीतियों की इससे कोई तुलना ही नहीं की जा सकती; क्योंकि आजकल इस्पात के विशाल कारखानों से प्रति वर्ष लाखों टन इस्पात उत्पन्न हो रहा है।

गत वर्षों में कुछ अन्य धातुओं का महत्त्व इस्पात से अधिक बढ़ गया है और उनका उत्पादन भी अधिक होने लगा है, क्योंकि संक्षारण-रोध, गलाई-ढलाई की सरलता, लघु घनत्व इत्यादि गुण उनमें इस्पात की अपेक्षा अधिक उत्तम होते हैं। इसी संदर्भ में ताम्र, निकेल, यशद, सीस, अलूमिनियम तथा मैग्नीसियम की मिश्रधातुओं का विकास धातुओं के आर्थिक इतिहास में सर्वाधिक उल्लेखनीय है।

खनिजों और अयस्कों जैसे कच्चे माल के उपचार की समुन्नत प्रविधि के बिना धातुओं का वर्तमान उत्पादन संभव ही नहीं हो सकता। यद्यपि संसार में कोई भी एक ऐसा राष्ट्र नहीं जो सभी प्रकार के वाणिज्यिक खनिजों की प्रचुर मात्रा से सम्पन्न हो,

किन्तु ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल में अनेक महत्त्वपूर्ण खनिजों की पर्याप्त मात्रा उपलब्ध है और इस माने में यह संसार की किसी राजनीतिक इकाई से अधिक आत्मनिर्भर है। किसी अयस्क की धातुमात्रा निस्सारित धातु के अनुसार भिन्न भिन्न होती है। साधारण समय में एक औसत लौह अयस्क में कम से कम ५०% लोहा होता है। ३० से ४० प्रतिशत लोहावाले अयस्कों की भी बहुत बड़ी बड़ी खानें संसार के विविध भागों में विद्यमान हैं। उच्च श्रेणी की खानों के समाप्त हो जाने पर लोहे और इस्पात के मूल्य में वृद्धि अथवा अन्य आर्थिक परिवर्तन आवश्यक अथवा संभव होंगे। दूसरी धातुओं के अयस्कों की धातुमात्रा काफी कम होती है, जैसे ३० प्रतिशत अलूमिनियम, १० प्र० श० यशद, २ प्र० श० ताम्र, ३ प्र० श० निकेल, १·५ प्र० श० टिन, ०·०२ प्र० श० रजत तथा ०·०००२ प्र० श० स्वर्ण।

अयस्क सांद्रण—लौह अयस्क में लोहे की मात्रा अधिक होने के कारण उसे सीधे धम भट्ठी[1] में डालकर तथा प्रद्रावित करके पिग लोहा बनाया जाता है। यही पिग लोहा ढलवाँ लोहे और इस्पात के निर्माण में कच्चा माल होता है। अयस्क प्रसाधन (ड्रेसिंग) से लौह अयस्क का सांद्रण सर्वदा लाभदायक नहीं होता यद्यपि उसके कुछ लाभ अवश्य हैं। कुछ अयस्कों का उपचार निस्तापन (कैल्साइनिंग), ऋतु-क्रिया (वेदरिंग) अथवा चुम्बकीय पृथक्करण (विशेष कर मैग्नेटाइट के लिए) के द्वारा किया जाता है। सूक्ष्म अयस्कों के उपचारार्थ संपुंजन (सिण्टरिंग), ग्रन्थामयकरण (नोड्यूलाइज़िंग) अथवा ब्रिकेटीकरण विधाओं का उपयोग किया जाता है। इन क्रियाओं से अयस्क का अभिपिण्डन (ऐग्लोमरेशन) होकर ताप से उनके बड़े बड़े पिण्ड बन जाते हैं। इस उपचार से द्रव्यों का प्रभरण (चार्जिंग) एवं प्रद्रावण (स्मेल्टिंग) सरल हो जाता है तथा भट्ठी के अन्दर की परिस्थितियाँ एकसम हो जाती हैं। आधुनिक समय के विपुल उत्पादनार्थ भट्ठियों की ये बातें विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। बहुत सी धातुओं के अयस्कों का धातुकर्म उपचार करने के पहले उनके प्रसाधनोपचार (ड्रेसिंग ट्रीटमेन्ट) द्वारा मूल्यवान् खनिज को व्यर्थ विधातुओं से अलग करना बहुत आवश्यक है। अयस्क सांद्रण के दो बड़े भारी लाभ होते हैं, एक तो निरर्थक विधातु को अलग कर देने से उनके यातायात का खर्च कम हो जाता है, दूसरे विधातु रहित अयस्क को गलाने में ईंधन भी कम लगता है। खानों से प्राप्त अयस्क को उपयुक्त मशीन में कूटकर तोड़ा जाता है और विधातुओं को चलते हुए पट्टों पर से चुन लिया

[1] Blast furnace

जाता है। मूल्यवान् खनिज एवं विधातुओं के आपेक्षिक गुरुत्व की विभिन्नता पर आधारित गुरुत्व पृथक्करण (ग्रैविटी सेपरेशन) सांद्रण की एक मुख्य विधा है। इसके लिए अयस्क को काफी बारीक कूट लिया जाता है और तब उसे पानी के साथ मिलाकर उपयुक्त उपकरणों में डाल दिया जाता है, जिसमें भारी कण, जिन्हें सांद्रित (कॉन्सेन्ट्रेट) कहते हैं, समुच्छिष्ट (टेलिंग्स) कहे जानेवाले हलके कणों से अलग हो जाते हैं।

अयस्क प्लवन—अयस्क सांद्रण की सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण रीति तल-तनाव के सिद्धान्त पर आधारित 'प्लवन विधा' (फ्लोटेशन प्रॉसेस) है। विभिन्न खनिज पदार्थों के प्रति द्रवों में भिन्न-भिन्न आसंजन शक्ति (ऐडहेसि :) होती है और यह तथ्य ही अयस्क पृथक्करण की इस विधा का मूल आधार है। विविध धात्त्वीय सल्फाइडों और तेल के बीच का तल-तनाव स्फटिक (क्वार्ट्ज़) और कैल्साइट जैसी विधातुओं और उसी माध्यम अर्थात् तेल के बीच के तल-तनाव से कहीं अधिक होता है। मूल 'ऐलमोर विधा' में सल्फाइड और विधातुओं की लेपी को तेल और जल में मिलाकर विक्षोभित किया जाता था। इसके बाद मिश्रण को कुछ समय तक छोड़ देने से सल्फाइड सहित तेल पानी के ऊपर प्लावित हो जाता था। प्लवन की परिस्थितियों में अदल-बदल करके विविध अयस्क-खनिजों का बड़ा स्वच्छ पृथक्करण किया जा सकता है और इस प्रकार मिश्रित अयस्कों का क्रियाकरण आर्थिकतः संभव हो सका। विधातु से पृथक होकर फेन के रूप में जल-तल के ऊपर खनिजों के प्लवन की यह नयी विधा पुरानी विधा से एकदम उल्टी है, क्योंकि इसमें भारी कण ऊपर प्लवित होते हैं जब कि पहले वे नीचे बैठ जाते थे। अधिकांश प्लवन रीतियों में तेल-जल का मिश्रण इस्तेमाल किया जाता है। इसके अतिरिक्त अन्य नियंत्रक प्रतिकर्मक भी डाले जाते हैं। कुछ ऐसे प्रतिकर्मक भी प्रयुक्त होते हैं जो किसी जटिल अयस्क में विधातु के पृथक्करण के अलावा दो अथवा अधिक खनिजों को भी एक दूसरे से अलग अलग कर देते हैं। इस विधा को चुनावशील (सेलेक्टिव) अथवा 'अवकल प्लवन' (डिफरेन्शल फ्लोटेशन) कहते हैं। इससे लोहा, सीस, यशद और ताँबा वाले जटिल अयस्कों के उपचार से संबन्धित समस्याओं के हल में बड़ी सहायता मिली है। सांद्रण विधा की उत्पत्तियों के धातुकर्म-उपचार में प्लवन रीति के कारण आमूल परिवर्तन हो गये हैं। ऑक्साइड अयस्कों का उपचार बहुधा इस रीति से नहीं किया जाता। यशद अयस्कों के प्रसाधन (ड्रेसिंग) के लिए 'गुरुत्व' एवं 'प्लवन' दोनों रीतियाँ प्रयुक्त होती हैं।

जल-धातुकर्मिकी (हाइड्रो-मेटलर्जी) में अयस्कों के 'उद्विलयन' (लीचिंग) जैसी आर्द्र विधाओं का वर्णन है, इसमें अयस्कों को तनु सल्फ्यूरिक अम्ल जैसे सस्ते

विलायकों द्वारा उपचारित करने से उनकी धातुएँ विलीन हो जाती हैं और फिर उनमें से पुनः धात्वीय दशा में प्राप्त कर ली जाती हैं। इससे सांद्रण का बहुत-सा खर्च बच जाता है। उद्विलयन अर्थात् लीचिंग विधा से अयस्कों की बड़ी बड़ी मात्राओं का उपचार किया जाता है, विशेषकर निम्न श्रेणीवाले अयस्कों के लिए यह विधा अधिक उपयुक्त मानी जाती है। सांद्रण विधा की उत्पत्तियों को "सांद्रित" (कॉन्सेन्ट्रेट) कहते हैं जिनमें अधिकांशतः बहुमूल्य धातु और थोड़ी सी विधातु होती है, और क्षेप्य "समुच्छिष्ट" अर्थात् 'टेलिंग्स' में विधातु की अधिकांश राशि तथा अप्राप्त खनिज की कुछ मात्रा रह जाती है। कभी कभी एक तीसरी राशि भी प्राप्त होती है जिसे "मध्यक" अर्थात् 'मिड्लिंग्स' कहते हैं। इसमें मूल्यवान् खनिज की अधिक मात्रा रह जाती है अतः इसे फेंका नहीं जा सकता बल्कि इसका पुनः सांद्रण किया जाता है। विधातुओं का पूर्ण पृथक्करण नहीं हो पाता, किन्तु उन्नत रीतियों के द्वारा समुच्छिष्टों (टेलिंग्स) में होनेवाली खनिजों की हानि अवश्य कम की जा सकी है। वर्षों पूर्व जो टेलिंग्स व्यर्थ समझ कर छोड़ दी गयी थीं, उनके ढेर के ढेर का फिर से सांद्रण करके उनमें से बहुमूल्य धातु निकाली जा सकी हैं। यह वर्तमान अयस्क-प्रसाधक की बुद्धि और चतुराई का उत्तम दृष्टान्त है।

धातुओं और मिश्रधातुओं की रचना—शेफील्डके डाक्टर एच० सी० सॉर्बी ने १८६४ में धात्विकी (मेटैलोग्राफी) विज्ञान का प्रारम्भ किया था और आज धातुओं का सूक्ष्मदर्शी परीक्षण संसार की समस्त धातुकर्मिकी प्रयोगशालाओं में दैनिक प्रयोग हो गया है। गत कुछ वर्षों में अनुशीलन की नवीन भौतिक रीतियों के आविष्कार से धात्विकी अनुसन्धान में व्यापक रूपान्तरण हो गया है। एक्स-किरणों की सहायता से केलास रचना का निर्धारण इनमें से प्रमुख परिवर्तन है। इससे धातुओं एवं मिश्रधातुओं की रचना संबन्धी विचारों में एक नया दृष्टिकोण उत्पन्न हो गया है। सूक्ष्मदर्शी में देखने से पता लगता है कि धातुएँ भी केलास कणों (क्रिस्टल ग्रेन्स) के समुदाय की ही बनी हैं। किसी विशुद्ध धातु में सभी कण एक ही जैसे होते हैं क्योंकि वे एक ही प्रकार के परमाणुओं के एक ही ढंग से निपूरित (पैक्ड) होने से बने होते हैं। किन्तु कुछ मिश्रधातुओं में विभिन्न प्रकार के केलास होते हैं। धातुओं और मिश्रधातुओं में अधात्वीय चीज़ों की काफी मात्रा होती है, जिनमें से कुछ का उनके गुणों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है और कुछ का बड़ा अनुकूल। कुछ विशेष तरंग-दैर्घ्य (वेव लेंग्थ) वाले प्रकाश की सहायता से सूक्ष्मदर्शी में धातु-रचना देखी जा सकती है। किन्तु इस रीति से सूक्ष्मदर्शी के द्वारा तरंग-दैर्घ्य के आयाम (डाइमेन्शन) के बराबर अथवा उससे छोटे किसी भाग का स्पष्ट देशन नहीं होता। इसके लिए तो एक्स-

किरणों का प्रयोग करना पड़ता है। १८९५ में रंतजन ने इन किरणों का आविष्कार किया था लेकिन उस समय उसकी प्रकृति अज्ञात होने के कारण उसे एक्स-किरण के नाम से संबोधित किया गया। किन्तु उसके थोड़े समय बाद उसकी प्रकृति स्पष्ट हो गयी और साधारण प्रकाश से उसका विशेषीकरण भी किया जा सका। १९१२ में प्रोफेसर वान लौ द्वारा किये गये गणितीय विश्लेषण के फलस्वरूप एक्स-किरणों का रहस्योद्घाटन हुआ। वान लौ ने यह कहा था कि अगर एक्स-किरणों की प्रकृति साधारण प्रकाश जैसी है और केवल उनका तरंग-दैर्घ्य छोटा है तो उनका भी तटनमन (डिफ्रैक्शन) संभव है बशर्ते एक अति सूक्ष्म तटनमन झर्झरी (डिफ्रैक्शन ग्रेटिंग) तैयार की जा सके। उन्होंने यह भी सुझाव दिया कि चूंकि एक केलास की नियमित रचना होती है और साथ ही साथ उसके संघटक परमाणुओं के बीच में दूरी भी होती है, इसलिए उसके द्वारा यह क्रिया उत्तम ढंग से की जा सकती है। सर विलियम ब्रैग, उनके सुपुत्र सर लारेन्स ब्रैग और अन्य कार्यकर्ताओं ने इसी दिशा में बड़ा काम किया और एक विद्युत्-चुम्बकीय घटना के रूप में एक्स-किरणों का असंदिग्ध स्पष्टीकरण किया गया। धातुओं पर एक्स-किरणों के टकराने से उनके प्रकीर्णन (स्कैटरिंग) का निरीक्षण करने से धातुओं के अन्तरस्थित परमाणुओं की स्थिति का ज्ञान प्राप्त करना संभव है। धातुओं के अन्दर परमाणुओं का एक दिक् प्रजाल (स्पेस लैटिस) होता है और विभिन्न धातुओं में इस दिक् प्रजाल का विन्यास भिन्न-भिन्न होता है। किन्तु इन प्रजालों के प्रकार भी बहुत ही सीमित हैं। धातु केलासों में रचना इकाइयों (स्ट्रक्चरल यूनिट) का बड़ा नियमित विन्यास (अरेंजमेण्ट) होता है। ये इकाइयाँ परमाणुओं अथवा उनके समूहों की होती हैं, जो परम सुनिश्चित शैली से विन्यस्त अर्थात् क्रमबद्ध होते हैं। इसी विन्यास की तीनों दिशाओं में बारंबार पुनरावृत्ति होती है। अतः यह कहना यथार्थ है कि रचना-इकाइयों का नियमित विन्यास ही एक केलास का रूप धारण कर लेता है। अधिकांश धातुओं का केलासन निम्नलिखित तीन सरल प्रजालों की शैली से होता है—(१) मुख-केन्द्रित घन (फेस सेन्टर्ड क्युबिक), (२) काय-केन्द्रित (बॉडी सेन्टर्ड) घन, तथा (३) निकट निपूरित षड्भुजीय (क्लोज़ पैक्ड हेक्ज़ागोनल)। प्रथम वर्ग में ताम्र, अलूमिनियम, रजत, स्वर्ण, निकेल और गामा-लौह सदृश अधिक तन्य धातुएँ होती हैं, तथा दूसरे वर्ग में अल्फ़ा-लौह क्रोमियम, टंग्स्टन, मॉलिब्डनम इत्यादि जैसी भंगुर धातुएँ होती हैं। यशद, कैडमियम, मैग्नीसियम और बेरीलियम के केलास तीसरे वर्ग के होते हैं। पदार्थों के एक्स-किरण विश्लेषण से केलास के परिमाण, केलास इकाइयों के अनुस्थापन (ओरियेण्टेशन) की रीति, केलास प्रजाल (क्रिस्टल लैटिस) पर विजातीय द्रव्यों के प्रभाव और शीत-

रूपण (कोल्ड वर्क) तथा तापशीतन (ऐनीलिंग) के प्रभाव का विविध ज्ञान प्राप्त होता है। वेल्लन (रोलिंग) जैसे शीतरूपण (कोल्ड वर्क) से केलास इकाइयों के अधिमान्य विन्यास (प्रिफरेन्शल अरेंजमेण्ट) के कारण केलासों का अनुस्थापन हो जाता है। तापशीतन में ताप के प्रभाव से केलास इकाइयों का पुनर्विन्यास हो जाता है, इससे उनका मृदुलन एवं सायाम (इक्वी-एक्स्ड) रचना हो जाती है। केलासों के एक्स-किरण विश्लेषण से पुनर्केलासन, काल-कठोरभवन (एज हार्डेनिंग), निर्वाप-कठोरभवन (क्वेंच हार्डेनिंग) इत्यादि घटनाओं के अध्ययन में विशेष सहायता मिलती है। यह मिश्रधातु संहितों में कला साम्यावस्था (फेज़ इक्वीलिब्रियम) के निर्धारण की भी बड़ी आशु और यथार्थ रीति है। स्वर्ण-ताम्र मिश्रधातु जैसी कुछ मिश्रधातुओं में होनेवाले परिवर्तनों ने धातुकर्मज्ञों को काफी परीशान कर रखा था, किन्तु अब यह स्पष्ट हो गया है कि यह परिवर्तन अक्रमबद्ध विन्यास से एक प्रजाल के अन्दर क्रमबद्ध विन्यास का है जिसमें अन्य लक्षण अपरिवर्तित रहते हैं। इन अनुसन्धानों का बड़ा व्यापक महत्त्व है और इनसे मिश्रधातु संबन्धी अनेक विधाओं पर प्रकाश पड़ा है जिससे उनके प्राविधिक गुणों की बड़ी उन्नति की जा सकी है।

रेडियोग्राफी की सहायता से संधानों (वेल्ड्स) और ढली वस्तुओं में शून्य स्थानों एवं धम छिद्रों (ब्लास्ट होल्स) के परीक्षण में एक्स-किरणों का प्रयोग उसका दूसरा लाभ है। इस रीति में धातु न्यादर्श में से होकर एक्स-किरणावली पार कराने से एक छायाचित्र बन जाता है। एक्स-किरणों की उत्पत्ति के लिए प्रयुक्त वोल्टता जितनी ऊँची होगी उतनी ही उन किरणों में प्रवेशी शक्ति अधिक होगी। आदर्श परिस्थितियों में ये किरणें धातुओं के अन्दर ५ इंच तक प्रवेश कर जाती हैं।

एलेक्ट्रान तटनमन (डिफ्रैक्शन) द्वारा धातु-तलों की रचना के परीक्षण से उनमें महत्त्वपूर्ण विकास हुआ है। इनसे गैल्वनीकरण तथा संक्षारित तलों इत्यादि जैसे विद्युत्-रोपित (एलेक्ट्रो डिपॉज़िटेड) एवं तप्त निमज्जित (हॉट डिप्ड) आवरणों की प्रकृति के बारे में भी काफी ज्ञान प्राप्त हुआ है। जब एलेक्ट्रानों का एक दण्ड (बीम) किसी तल से टकराता है अथवा किसी पतले स्तर में से गुजरता है तो तटनमन (डिफ्रैक्शन) होता है और द्रव्य विशेष के परमाणुओं के नाभिकों द्वारा एलेक्ट्रानों का प्रकीर्णन (स्कैटरिंग) हो जाता है। इस बात में एक्स-किरण तटनमन से एलेक्ट्रान तटनमन भिन्न होता है क्योंकि एलेक्ट्रान दण्ड तो किसी तल के अन्दर मिलीमीटर के लध्वंश से अधिक प्रवेश नहीं कर सकता जब कि अपने अधिक तरंग-दैर्घ्य के कारण एक्स-किरणें अपेक्षाकृत अधिक अन्दर तक प्रवेश कर सकती हैं। जब रासायनिक संयोजन, उत्प्रेरण (कैटेलिसिस) तथा अन्य इसी प्रकार की घटनाओं को तल घटना

(सर्फेस फिनामिना) के रूप में देखा जाय तो तल-विश्लेषण का प्राथमिक महत्त्व तुरन्त समझ में आ जायगा। आज के एलेक्ट्रान सूक्ष्मदर्शी के आविष्कार से रचनाओं का १०,००० गुने से अधिक आवर्धन (मैग्नीफिकेशन) प्राप्त करना संभव हो गया है।

लोहा और इस्पात—इस्पात, विकार्बनीकृत लोहा (इन्गाट आयरन), पिटवाँ लोहा तथा ढलवाँ लोहा इत्यादि पिग लोहे से बनाये जाते हैं। पिग लोहा लौह अयस्कों को धम भट्ठी में प्रद्रावित करके तैयार किया जाता है। एक शताब्दी पूर्व इस प्रकार का प्रद्रावण बड़े लघु पैमाने पर प्रारम्भ किया गया था। किन्तु आज की धम भट्ठी एक अति विशालकाय यंत्र है जिसकी साजसज्जा सचमुच भयंकर परिमाणवाली होती है। लौह अयस्क से सीधे इस्पात उत्पन्न करने का भी प्रयत्न किया गया था किन्तु वह आर्थिक दृष्टि से सफल नहीं हुआ। फिर भी अभी उस दिशा में काम करने की बड़ी संभावनाएँ हैं। धम भट्ठी में प्रद्रावण (स्मेल्टिंग) के लिए ईंधन, अयस्क और द्रावक (फ्लक्स) का प्रभरण (चार्जिंग) भट्ठी के सिरे पर से किया जाता है और उसके पेंदे से तप्त वायु धौंकी जाती है। वायु से कोक ईंधन का दहन होता है जिससे रासायनिक प्रतिक्रियाओं तथा उत्पत्तियों के द्रवण के लिए पर्याप्त उष्मा प्राप्त होती है। इन्हीं प्रतिक्रियाओं में उत्पन्न गैसों से अयस्क का अपचयन[1] होकर धातु बन जाती है, जो गैस-धातु प्रतिक्रिया की सहायता से कार्बन की पर्याप्त मात्रा अवशोषित कर लेती है। इसी के साथ-साथ चून पत्थर वाला द्रावक अयस्क की अशुद्धियों को गला कर धातुमल (स्लैग) के रूप में परिणत कर देता है। प्रतिक्रियाओं में उत्पन्न गैसें तो भट्ठी के सिरे से बाहर निकल जाती हैं किन्तु तरल उत्पादन अर्थात् पिग लोहा और धातुमल नीचे चुल्ली में एकत्र हो जाते हैं और उसमें से वे टैप द्वारा चुआ लिये जाते हैं। इस विधा के दोनों उपजात, धम भट्ठी धातुमल और गैस, काफी मूल्यवान् होते हैं और अच्छे पैमाने पर उनका उपयोग होता है।

अयस्कों को यंत्रों में कूट और चाल कर उनके श्रेणीकरण का प्रबन्ध होता है। आवश्यक परिमाण के कणों को अलग कर लिया जाता है तथा अति सूक्ष्म कणों को भट्ठी में डालने के पहले अभिपिण्डित (ऐग्लोमरेट) कर दिया जाता है। इस प्रकार के सज्जीकरण (साइज़िंग), और सूक्ष्म पदार्थों के निरसन तथा विद्युत नियंत्रण से यांत्रिक प्रभरण[2] की उन्नत रीतियों से पिग लोहे का उत्पादन बढ़ाने और कोक की खपत कम करने की दिशा में विशेष प्रगति हुई है।

[1] Reduction [2] Mechanical charging

सूक्ष्म अयस्क, सांद्रित, वाहिनी धूलि (फ्लू डस्ट), मिल की शल्कें (स्केल) तथा माक्षिक अवशिष्टों जैसे द्रव्यों के संपुंजन (सिन्टरिंग) से काफी संतोषजनक पदार्थ प्राप्त हो जाता है। और आजकल लौह धम भट्ठियों के प्रभरण में कुछ प्रतिशत संपुंज मिलाने की प्रथा चल पड़ी है। संपुंजन संयंत्र में अयस्क को आर्द्रता की एक नियमित मात्रा तथा ६—८% कोक समीर (ब्रीज) के साथ मिलाने से प्राप्त मिश्रण को प्रज्वलित (इग्नाइट) कर दिया जाता है, और संयंत्र के नीचे लगे पंखों से हवा खींच कर द्रव्य को संपुंजित किया जाता है। ड्वाइट-लायड, ग्रीनवाल्ट तथा ए० आई० डी० प्रणालियों में संपुंजन विधा का प्रचलन है। ब्रिकेटिंग तथा ग्रन्थामय-करण (नोड्यूलाइज़िंग) अभिपिण्डन की अन्य रीतियाँ हैं।

पिग लोहा के उत्पादन में इंग्लैण्ड अग्रणी रहा। १७३५ में डार्बी ने कोलब्रुक डेल, ऑपशायर में प्रथम बार कोक इंधन लगाकर अयस्कों का सफल प्रद्रावण किया था। १८२८ में नीलसन ने तप्त वायु भ्राष्ट्र (हॉट एयर ब्लास्ट) का आविष्कार किया था, जिसका प्रयोग १८३० में क्लाइड के लोहे के कारखाने में किया गया। १८५० में पैरी ने 'एब वेल' में धम भट्ठियों के सिरे से द्रव्यों के प्रभरण के लिए घण्ट एवं शंकु (बेल एण्ड कोन) युक्ति निकाली थी। और १८५७ में मिडिल्सबरो के काउपर ने तप्त धम स्टोव का सर्वप्रथम प्रयोग किया था। लौह-प्रद्रावण की प्रगति के ये युगान्तर चिह्न हैं, क्योंकि कालान्तर में इन्हीं आविष्कृतियों में परिवर्तन संशोधन करके सारे संसार की आधुनिक भट्ठियां बनायी गयी हैं।

जैसे जैसे भट्ठियों के आकार में वृद्धि होती गयी वैसे वैसे प्रभरण के लिए द्रव्यों की विशाल राशि को उसके सिरे पर पहुँचाना बड़ी गहन समस्या होती गयी, जिसे हल करने के लिए आधुनिक भट्ठियों के यांत्रिक प्रभरण की 'डब्ल स्किप ह्वायस्ट' रीति निकाली गयी, जिसका नियंत्रण विद्युत् द्वारा होता है। आज की इस रीति और कुछ वर्ष पुरानी भाप ह्वायस्ट रीति में कोई सादृश्य नहीं है। माल उठाने की ५५० फुट प्रति मिनट चाल तथा स्किप कारों की २०० घन फुट धारिता तो आधुनिक भट्ठियों के लिए अनिवार्य मानी जाती है। इसके लिए विशालकाय चालन (ड्राइविंग) मोटरों और बड़ी मजबूत बनावट की आवश्यकता होती है। स्किप को भट्ठी के सिरे तक बड़ी शीघ्रता से उठाया जाता है और वहाँ वह स्वतः रुकती और खाली हो जाती है और नीचे आकर पुनर्भरण के लिए रुक जाती है। भट्ठियों का अयस्क की उपलब्धि के अनुसार यथासंभव पूर्ण प्रभरण किया जाता है, क्योंकि इससे उत्पादन स्तर ऊँचा रहता है और ऊपरी व्यय में काफी कमी हो जाती है। आजकल भट्ठी बुझाने के लिए 'डैब्ल बेल' और 'हापर' का

प्रयोग किया जाता है क्योंकि इससे अगली बार प्रभरण के समय गैसों की हानि नहीं होने पाती। आधुनिक भट्ठियों में स्वतः-चालित घूर्णन वितरक शीर्ष (रोटेटिंग डिस्ट्रीब्यूटर टाप) लगा रहता है; मैक्की अथवा ब्राउन डिस्ट्रीब्यूटर इसके उदाहरण हैं। स्किप में से प्रभार इन्हीं वितरकों में आता है जो पूर्व निश्चित कोण पर घूम कर उसका एकसम वितरण करता है। धातुओं को साँचों में ढालने की गति में भी वृद्धि और खर्च में कमी की गयी है। इसके लिए ब्रैसर्ट तथा उहलिंग मशीनों जैसी पिग लौह ढलाई की मशीनें इस्तेमाल की जाने लगी हैं। इन मशीनों की प्रयुक्ति से सुन्दर और स्वच्छ ढलाई होने लगी है क्योंकि इससे द्रव्यों में समायी हुई बालू निकल जाती है तथा उनकी बनावट एकरूप हो जाती है। भट्ठी गैस की सफाई भी सभी कारखानों में एक बहुत बड़ा काम होता है क्योंकि इसी की सफलता पर सम्पूर्ण संयंत्र की आर्थिक व्यवस्था निर्भर होती है। गैस में से धूलि साफ करने के लिए आर्द्र रीतियाँ प्रयुक्त होती हैं। इनके लिए धावन स्तम्भों अथवा वियोजकों (डिसइण्टिग्रेटर) का प्रयोग किया जाता है। शुष्क रीति में थैला छनाई (बैग फिल्ट्रेशन) अथवा विद्युत स्थैतिक अवक्षेपण (एलेक्ट्रोस्टैटिक प्रेसिपिटेशन) अथवा इन दोनों की मिली-जुली विधा का प्रयोग किया जाता है। विद्युत स्थैतिक अवक्षेपण के संबन्ध में सर ऑलिवर लाज ने इंग्लैण्ड में तथा कॉट्रेल ने संयुक्त राज्य अमेरिका में बड़ा काम किया, जिसके फलस्वरूप गैस स्वच्छीकरण में विशेष उन्नति हुई और आजकल तो धम भट्ठी गैस के अतिरिक्त अनेक अन्य उद्योगों में गैसों में से धूलि और धुआँ साफ करने के लिए 'लॉज-कॉट्रेल विधा' एक बड़ी सफल एवं प्रतिष्ठित विधा के रूप में अपनायी जाती है। इस विधा का सिद्धान्त यह है कि धूलि भरी गैस को जब ऐसे नलों की एक श्रेणी से पार कराया जाता है, जिसमें अति उच्च वोल्टता (५०,००० वोल्ट) पर चार्ज किये धातु विद्युदग्र आलम्बित रहते हैं, तो विसर्जन (डिस्चार्ज) और संग्राही विद्युदग्र (रिसीविंग एलेक्ट्रोड) के बीच अत्यन्त उच्च विभव भेद (पोटेन्शियल डिफरेन्स) उत्पन्न हो जाता है और दोनों विद्युदग्रों के बीच का स्थान गैसीय आयनों से परिपूर्ण हो जाता है, धूलि कण विद्युत स्थैतिकतः आविष्ट (चार्ज्ड) हो जाते हैं तथा बाह्य नली की ओर चालित होते हैं, उनकी चाल बल की प्रचण्डता (इन्टेन्सिटी ऑफ फोर्स) एवं गैस की वेग पर निर्भर होती है। धूलि रैपर गियर द्वारा निरसित हो कर अवक्षेपकों (प्रेसिपिटेटर्स) के निचले भाग में लगे अधोवापों (हॉपर्स) में एकत्र हो जाती है। ०·१ μ (माइक्रॉन) परिमाण से निम्न सूक्ष्मता वाले धूलि कणों को सूक्ष्मदर्शी में देखने पर उनमें स्पष्ट रूप से ब्राउनियन चाल दिखाई पड़ती है, इनका निरसन केवल बड़े संयंत्र में ही

संभव होता है। आधुनिक गैस सफाई संयंत्रों की सहायता से गैसों में धूलि की प्रति घन मीटर ५—१० ग्राम मात्रा घटा कर ०·००२५ ग्राम तक कर दी जा सकती है। इससे तप्त धम स्टोव इत्यादि का क्रियाकरण अधिक एकसम हो जाता है तथा Na_2O तथा K_2O सदृश क्षारों के द्वारा अग्नि-ईंटों के अस्तर का द्रावण नहीं हो पाता।

एकान्तर चिति (चेकर वर्क) की प्ररचना में संशोधन करके तप्त धम स्टोव की कार्यक्षमता उन्नत की गयी है, इससे उसकी उष्मा सामर्थ्य भी बढ़ गयी। ब्रैसर्ट तथा अन्य उच्च सामर्थ्यवाले स्टोवों के द्वारा गैसों में बड़ा प्रक्षुब्ध प्रवाह (टर्बुलेण्ट फ्लो) आ जाता है; क्योंकि मुख्य चिति (चेक वर्क) में विशिष्ट आकार की पूरक ईंटें लगाने से ईट की झंझरीदार दीवार की झंझरियों का आयाम क्रमशः स्टोव के नीचे की ओर कम होता जाता है, इसी से स्टोव के ठंढे भाग में गैसों का वेग प्रबल हो जाता है। स्टोव ज्वालकों में दहनार्थ हवा के स्वतः नियमन का प्रबन्ध होता है जिससे उसकी कार्य-क्षमता अधिकतम हो जाती है। जर्मनी में तप्त धम स्टोवों के स्थान पर धातु के बने पुनर्जनित्रों (रीजनरेटर) के उपयोग करने के प्रयत्न एवं परीक्षण किये गये हैं। यदि परीक्षणों से उनका प्रयोग लाभदायक सिद्ध हुआ तो स्वतःचालित इस्पात-नली तापकों के लिए बहुत कम स्थान लगेगा तथा उनका क्रियाकरण (आपरेशन) भी सरल होगा।

धम भट्ठी गैस का उष्मीय मान (कैलारिफिक वैल्यू) प्रति घन फुट लगभग १०० बी० टी० यू० (ब्रिटश थर्मल यूनिट) होता है। अतः यह कोक चूल्हों में अग्नि-प्रज्वलन तथा भाप उत्पन्न करने के लिए उत्तम ईंधन का काम करती है। यह दर्वियों (लैडल) को तप्त करने तथा मिल भट्ठियों एवं उष्मोपचार भट्ठियों के लिए भी काम में आती है; और विशेषकर जब प्रतिघन फुट लगभग ५७० बी० टी० यू० वाली कोक ऑवेन गैस के साथ मिला दी जाती है तो यह इस्पात बनानेवाली बड़ी बड़ी खुली चुल्ली भट्ठियों को तप्त करने के लिए भी इस्तेमाल की जाती है। कनाडा, संयुक्त राज्य अमेरिका और भारत इत्यादि की अपेक्षा ग्रेट ब्रिटेन में प्रति भट्ठी पिग लोहे का उत्पादन कम है। इसका मुख्य कारण यह है इंग्लैण्ड के इस काम में अगुआ होने से वहाँ पर अब भी प्रारम्भिक छोटी छोटी भट्ठियाँ काम में आ रही हैं, जब कि वहाँ के कार्यों एवं अनुभवों से लाभ उठाकर अन्य स्थानों में बड़ी बड़ी एवं उन्नत भट्ठियाँ बना ली गयी हैं; दूसरा कारण वहाँ का निम्न श्रेणी अयस्क भी है, गो कि प्राप्य होने पर उनके साथ आयातित उच्च श्रेणी अयस्क भी मिलाये जाते हैं। अन्य देशों की विशाल भट्ठियाँ लगभग १०० फुट ऊँची होती हैं और प्रतिदिन १००० टन पिग लोहा गलाती हैं।

एक समय था जब धम भट्ठियों के धातुमल व्यर्थ समझे जाते थे, किन्तु अब वे सड़क बनाने में टार खण्डाश्म (मैकाडम) के लिए प्रयुक्त होने लगे हैं, रेलों के बीच के रोड़े भी आजकल इसी के होते हैं तथा धातुमल ऊन (स्लैग ऊल) के निर्माण में इनका प्रयोग होता है। धातुमल ऊन उष्मा एवं ध्वनि पृथक्कारक की तरह इस्तेमाल किया जाता है। अन्य देशों में जहाँ कच्चे माल मँहगे पड़ते हैं वहाँ पोर्टलैण्ड सीमेण्ट के स्थान पर यह हाइड्रालिक सीमेण्ट के लिए काम आता है, तथा धातुमल ईंटें, और चूर्णक खाद भी इसका बनता है। कंकरीट के एक संघटक के रूप में भी इसका इस्तेमाल होता है।

"हेमैटाइट" पिग लोहे की एक श्रेणी है जिसकी गंधक और फास्फोरस मात्राएँ कम होती हैं। यह इस्पात-निर्माण की अम्ल विधा के उपयुक्त होता है। दूसरी श्रेणी को "फौण्ड्री" कहते हैं, जो ढलवाँ लोहे के लिए विशेष रूप से काम आती है; और तीसरी श्रेणी "बेसिक" होती है जो इस्पात बनाने की पैठिक विधा में काम आती है। कोक ईंधन से तापित कुपोला भट्ठी में अथवा चूर्णित ईंधन या तेल से तापित घूर्णन भट्ठी में पिग लोहे की विशेष श्रेणी को गला करके ढलवाँ लोहा बनाया जाता है। भट्ठी में पठिक उष्मसह पदार्थों का अस्तर लगा कर पैठिक कुपोला में उन्नति की गयी है, जिससे द्रावित लोहे में फास्फोरस और गंधक की मात्राएँ कम की जा सकी हैं। कठोर श्वेत ढलवाँ लोहे को मृदु एवं यंत्रण योग्य बनाने के लिए उसका तापशीतन (ऐनीलिंग) आवश्यक होता है; इसकी दो विधाएँ हैं—'व्हाइटहार्ट' तथा 'ब्लैकहार्ट'। मृदुकृत ढलवाँ लोहे को 'धातवर्ध्य ढलवां लोहा' (मैलियेब्ल कास्ट आयरन) कहते हैं। बहुत जगह यह मृदु इस्पात के स्थान पर भी प्रयुक्त होता है, विशेषकर जटिल यंत्रों के छोटे छोटे भाग बनाने में। इसका सस्तापन और ढलाई की सरलता इसके विशेष गुण हैं।

इस्पात लोहा-कार्बन की मिश्रधातु है जिसमें कुछ अन्य तत्त्व भी लगे मिले रहते ; इसमें १.५ % से भी कम कार्बन होता है। मिश्रधातु इस्पात में कार्बन के लावा एक या अधिक अन्य तत्त्व भी होते हैं, जिनका अनुपात केवल इतना रखा जाता है जिससे उसके लाभकारी गुण उन्नत हो जायँ। कुछ दशाओं में कार्बन की आवश्यकता नहीं पड़ती, और मृदु इस्पात तथा मिश्रधातु इस्पात में तो केवल ०.०३ % ही कार्बन होता है, किन्तु अधिकांश इस्पातों में वांछित गुण एवं प्रकृति उत्पन्न करने के लिए कार्बन का ही आश्रय लेना पड़ता है। आजकल इस्पातों की असाधारण संख्या प्राप्य है और बहुत से नये नये इस्पात बनते जाते हैं, जिनका अधिकांश श्रेय ब्रिटिश धातुकर्मज्ञों को है।

इस्पात-निर्माण की दो महती रीतियाँ हैं—खुली चुल्ली (ओपेन हार्थ) विधा और बेसेमर विधा। संसार का अधिकांश इस्पात इन्हीं रीतियों से तैयार किया जाता है। इन दोनों विधाओं में सिलिकान, कार्बन इत्यादि संघटक तत्वों का ऑक्सीकरण करके पिग लोहे का परिष्करण किया जाता है। दोनों विधाओं में से प्रत्येक में दो सुस्पष्ट रीतियाँ होती हैं—अम्ल रीति और पैठिक रीति। अम्ल रीति से उच्च सिलिकॉन तथा निम्न गंधक और फास्फोरस मात्रावाले पिग लोहे का परिष्करण होता है; भट्ठियों के अस्तर सिलिका के बने होते हैं और जो धातुमल निकलता है उसमें गंधक और फास्फोरस नहीं निरसित होता। पठिक भट्ठियों के अस्तर डोलोमाइट के बने होते हैं तथा धातुमल में चूने की अधिकता होती है। इस धातुमल द्वारा क्रमशः कैल्सियम सल्फाइड और कैल्सियम फास्फेट के रूप में गंधक और फास्फोरस अवशोषित होते हैं। पैठिक भट्ठियों में अधिक अशुद्ध और सस्ते पिग लोहे तथा क्षेप्य इस्पात का परिष्करण होता है। अधिकांश इस्पात पैठिक विधा से ही उत्पन्न होता है। मूषा (क्रुसिब्ल) और विद्युत् विधाओं जैसी अन्य विधाओं में क्षेप्य इस्पात को गलाकर इस्पात बनाया जाता है। पैठिक विद्युत भठिट्यों में उच्च श्रेणी का परिष्करण होता अवश्य है किन्तु प्रारम्भिक द्रव्य अपेक्षाकृत अधिक शुद्ध होते हैं।

सीमेन्स नामक जर्मन इंजीनियर के प्रयास से खुली चुल्ली (ओपेन हार्थ) विधा में बड़ी आश्चर्यजनक उन्नति हुई है। उन्होंने इस्पात की भट्ठियों में उष्मा संरक्षण की पुनर्जनन प्रणाली निकाली। इससे दहन की उत्पत्तियों से ही पुनर्जनित्रों को तप्त कराने के बाद ही उन्हें चिमनी के द्वारा बाहर छोड़ा जाता है। गैसीय ईंधन और समय समय पर प्रवेश करनेवाली वायु को उल्टी दिशा में प्रवाहित करने से वे दहनार्थ चुल्ली में मिथित होने से पहले ही उच्च ताप तक पूर्वतापित हो जाती हैं। इस तरह से धातु द्रव्य भी परिष्करण एवं द्रव इस्पात की ढलाई के लिए आवश्यक ऊँचा ताप प्राप्त कर लेते हैं। जब द्रव्य में के अवांछित तत्त्व ऑक्सीकृत हो जाते हैं अथवा धातुमल में रह जाते हैं तब द्रावित इस्पात को दर्वियों में चुआ लिया जाता है और धातु के विआक्सीकरण के लिए उसमें फेरो-सिलिकान अथवा फेरो-मैंगनीज़ अथवा अन्य मिश्रधातु डाली जाती है। इससे या तो पूर्णतया शान्त (किल्ड) इस्पात प्राप्त किया जा सकता है, अथवा लघु-कार्बन "अर्ध शान्त", "संतुलित" अथवा प्रबुद्बुद (रिमिंग) इस्पात उत्पन्न करने के लिए केवल आंशिक विऑक्सीकरण किया जाता है। ये विविध प्रकार के इस्पात व्यापार के विशेष प्रयोजनों की विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए तैयार किये जाते हैं।

समस्त अम्ल तथा कुछ पैठिक खुली-चुल्ली भट्ठियाँ स्थिर होती हैं, किन्तु आज-

कल ३०० टन की धारितावाली अभिनमन (टिल्टिंग) अर्थात् झुकाई जानेवाली भट्ठियाँ लगी रहती हैं। इन विपुल धारितावाली भट्ठियों के प्रयोग से इस्पात का उत्पादन बहुत अधिक बढ़ गया है। इनमें से भट्ठी झुका करके द्रावित धातु को अनेक दर्वियों में चुआया जाता है। भट्ठियों को झुकाने के लिए उनके दोलकों (रॉकर) में लगे रैम को बिजली से जलाया जाता है। अभिनमन यानी झुकाई जाने वाली भट्ठियों में उत्पादन-गति की वृद्धि एवं मितव्ययिता सदृश अनेक लाभ हैं। धम भट्ठियों में द्रावित लोहे के संग्रहण के लिए एक बड़ी मिश्रक (मिक्सर) भट्ठी की आवश्यकता होती है, इससे लोहे में उष्मा संरक्षित रहती है। चार्ज में सामान्यतः क्षेप्य इस्पात तथा मिश्रक की तप्त धातु होती है, किन्तु यदि क्षेप्य इस्पात का अभाव हो तो आवश्यकता पड़ने पर १००% द्रावित लोहे से ही विधा चलायी जा सकती है। प्राप्त पैठिक धातुमल, जिसकी साइट्रिक अम्ल विलेयता काफी अधिक होती है, अपनी उच्च कैल्सियम फास्फेट मात्रा के कारण कृषि में अच्छे उर्वरक के रूप में विकता है। खुली-चुल्ली भट्ठियों को तप्त करने के लिए प्रोड्यूसर गैस या कोक ऑवेन गैस अथवा कोक ऑवेन गैस और धम भट्ठी गैस का मिश्रण काम में लाया जाता है। धम भट्ठियों एवं कोक ओवेनों से प्राप्त स्वच्छ गैसों को बड़े बड़े गैस-धारकों में संगृहीत करके आवश्यकता पड़ने पर इस्तेमाल किया जाता है। पिछले कुछ वर्षों से ही ईंधन के प्रयोग में मितव्ययिता बर्ती जाने लगी है और इससे लोहे और इस्पात के सस्ते उत्पादन में बहुत बड़ी सहायता मिली है। आधुनिक खुली-चुल्ली भट्ठियों में वैज्ञानिक नियंत्रण के लिए गैस-आदान देशक (गैस-इन्पुट इण्डिकेटर) तथा संलेखित्र (रेकार्डर्स) लगाये गये हैं; प्रत्येक पुनर्जनित्र (रीजेनरेटर) पर चतुर्विन्दु संलेखित्र सहित उत्तापमापी (पाइरोमीटर) लगे रहते हैं तथा वाष्पित्रों इत्यादि के क्षेप्य गैसों का ताप बतानेवाले उत्तापमापी का भी उपबन्ध रहता है। धम भट्ठी संयंत्रों में भी भट्ठी के विविध भागों की गैसों और ताप के संलेखन का प्रबन्ध रहता है। लेकिन इन सबका एक दूरस्थ कमरे से केन्द्रीय नियंत्रण होता है, और गैस धारकों पर प्राप्य गैस की कुल मात्रा के देशक लगे रहते हैं तथा आपाती परिस्थितियों के सूचनार्थ अन्य सूचक भी लगे रहते ह।

इस्पात-निर्माण की बेसमर विधा में द्रावित पिग लोहे में से होकर वायु की एक धारा बहायी जाती है जिससे सिलिकॉन, मैंगनीज़, कार्बन तथा फास्फोरस का इसी क्रम से ऑक्सीकरण हो जाता है और उनके अपने अपने ऑक्साइड बन जाते हैं। इन आशु प्रतिक्रियाओं से उत्पन्न उष्मा धातु को द्रावित रखने के लिए पर्याप्त होती है। इस संदर्भ में यह बताना आवश्यक है कि उपयुक्त तत्त्वों के निकल जाने से लोहे का

द्रवणांक लगभग १२००° से० से चढ़कर १५००° से० हो जाता है। हेनरी बेसमर ने १८५५ में इन तथ्यों का आविष्कार किया था; उन्हीं के नाम पर इस विधा एवं संयंत्र के नाम रखे गये। बेसमर संयंत्र में १००० टन धारितावाला एक मिश्रंक होता है जिसमें धम भट्ठी में तापित धातु रखी जाती है; इसके अतिरिक्त लोहे के परिष्करणार्थ एक परिवर्तक, एक ढलाई कुक्षि (कास्टिंग वे) और ढलाई के बाद पिण्डक (इन्गॉट) को बेलने के लिए एक बेल्लन मिल होती है। आधुनिक खुली-चुल्ली भट्ठियों की अपेक्षा इन परिवर्तकों की धारिता कम होती है, किन्तु लोहे से इस्पात बनाने के लिए केवल २३ मिनट का समय लगता है, इसलिए एक २५ टन वाले परिवर्तक से भी काफी अधिक उत्पादन संभव होता है। भट्ठी की रम्भाकार काया के चारों ओर मजबूत इस्पात का एक पट्टा लगा रहता है, जिसे विवर्तनी वलय (ट्रूनियन रिंग) कहते हैं। इसी वलय में विवर्तनियाँ लगी होती हैं जिनके सहारे पर भट्ठी घूमती है। एक विवर्तनी खोखली होती है और उसका संबन्ध धम इंजन से होता है, साथ ही ऐसा प्रबन्ध होता है कि ९०° कोण पर घूमते हुए परिवर्तक में भी वायु फूँकी जा सकती है। अम्ल बेसमर विधा में परिवर्तक (कान्वर्टर) के अन्दर गैनिस्टर का अस्तर लगा होता है, जिसमें गंधक और फास्फोरस की लघु मात्रा वाले पिग लोहे का क्रियाकरण होता है, क्योंकि इस विधा में उपर्युक्त दोनों अशुद्धियों का निरसन नहीं होता। प्रथम कुछ मिनटों में परिवर्तक के मुँह की ज्वाला बहुत छोटी तथा बहुत तनिक दीप्त होती है किन्तु जब सिलिकान और मैंगनीज़ का पूर्ण आक्सीकरण हो जाता है तब ज्वाला बढ़कर २५ फुट लम्बी एवं अत्यन्त चमकदार हो जाती है, इसका कारण कार्बन का ऑक्सीकरण होता है जिससे CO तथा CO_2 गैसें उत्पन्न होती हैं। हवा फूँकना प्रारम्भ होने के लगभग २३ मिनट बाद ज्वाला सहसा बुझ जाती है, इससे फुँकाई पूर्ण हो जाने का संकेत मिलता है और बर्तन को नीचे की ओर घुमा दिया जाता है, और हवा फूँकना बन्द करके इस्पात को दर्वी में चुआ लिया जाता है। धातु के विऑक्सीकरण के लिए फेरो-मिश्रधातु की आवश्यक मात्रा डाली जाती है। अम्ल बेसमर इस्पात का यंत्रण (मशीनिंग) बड़ी सुचारुता से किया जा सकता है और पेंच बनाने वाले भी खुली-चुल्ली इस्पात की अपेक्षा इसको उत्तम मानते हैं, गोकि दोनों प्रकार के इस्पातों का विश्लेषण-फल सामान्यतः एक ही होता है। हाल में एक नये प्रकार के इस्पात का विकास हुआ है, इसे "लेडलवॉय" कहते हैं। खुली-चुल्ली विधा में पिण्डक ढलाई के समय इस्पात में थोड़ा सा सीस (लेड) डालकर यह मिश्रधातु बनायी जाती है। सीस की मात्रा से इस्पात में आशु-कर्तन (फ्री कटिंग) गुण आ जाता है।

पैठिक बेसमर विधा को 'टामस-गिल्क्राइस्ट पैठिक विधा' तथा यूरोपीय महाद्वीप में 'टामस विधा' भी कहते हैं। इसमें परिवर्तक के अन्दर टारयुक्त डोलोमाइट का अस्तर लगा रहता है जिससे फास्फोरिकीय पिग लोहे का परिष्करण होता है। यह विधा भी सामान्यतः वैसी ही है किन्तु इसमें कार्बन के निरसन के बाद भी वायु फूँकना जारी रखा जाता है जिससे फास्फोरस भी निकल जाय। चूँकि इस विधा में बाद वाली फुंकाई की कार्यपूर्ति का कोई वाहरी संकेत नहीं मिलता, इसलिए समय समय पर द्रावित धातु का नमूना निकाल कर यह देखना पड़ता है कि शीतन एवं छेदन (सेक्शनिंग) के बाद उसमें रेशम जैसा भंग (फ्रैक्चर) कब उत्पन्न होता है। फास्फोरस, चूनेदार धातुमल में कैल्सियम फास्फेट के रूप में स्थिरीकृत हो जाता है। यह पैठिक धातुमल उर्वरक के रूप में बहुत बिकता है। पैठिक बेसमर विधाका आविष्कार सिडनी गिलक्राइस्ट टामस ने किया था। इन्होंने अपने भाई पर्सी कारलायल गिलक्राइस्ट के साथ बेसमर विधा में फास्फोरस निकालने का प्रयोग १८७६ में किया था। प्रारम्भिक प्रयोग तो ब्लैनवॉन के इस्पात कारखाने में किये गये थे और बाद में बाल्कौ वाघन के मिडिल्सबरो स्थित कारखाने में बड़े पैमाने पर प्रयोग किये गये। सर्वप्रथम आधिकारिक फुँकाई १८७९ में की गयी और ज्यों ही इन प्रयत्नों की सफलता लोगों को मालूम हुई, त्यों ही यूरोप के विविध धातुकर्मज्ञों और इस्पात कारखानों के प्रवन्धकों ने सर्वश्री 'बाल्कौ वाघन वर्क्स' से उसकी विधा का क्रियाकरण देखने की अनुमति माँगी। होर्डे वर्क्स के प्रतिनिधि इससे इतने संतुष्ट हुए कि उन्होंने तुरन्त लन्दन जाकर जर्मनी और लुक्ज़मबर्ग में इस विधा की प्रयुक्ति के अधिकार के बारे में टामस से बातचीत शुरू कर दी। होर्डे वर्क्स तथा राइनिशे स्टालवर्क के साथ यह समझौता हुआ कि वे जर्मनी और लुक्ज़मबर्ग में टामस पेटेन्ट के अधिकारों का उपयोग कर सकें। इसके कुछ ही सप्ताह बाद हेर मैसेनेज़ ने आस्ट्रिया और हंगरी में भी टामस पेटन्ट के उपयोग करने का अधिकार प्राप्त किया। १८७९ में होर्डे वर्क्स और राइनिशे स्टालवर्क दोनों कारखानों में सर्वप्रथम पठिक बेसमर विधा का प्रयोग हुआ। १८८१ में यह विधा जर्मनी के १२ कारखानों में क्रियान्वित होने लगी, तथा १८९० में इस विधा से जर्मनी में लगभग १,५००,००० टन इस्पात का उत्पादन होने लगा और १९३५ में बढ़कर यह राशि ७,०००,००० टन हो गयी। १९३५ में ही फ्रान्स में टामस इस्पात का उत्पादन ४,०००,००० टन से अधिक था। इस विधा के प्रचलन से जर्मनी तथा यूरोपीय देशों के फास्फोरिकीय अयस्कों के परिष्करण से इस्पात का निर्माण संभव हो सका।

जब से खुली चुल्ली वाली पैठिक विधा का, विशेषकर विशाल अभिनमन भट्ठियों

सहित विधा का समारम्भ हुआ, तब से प्रायः सभी देशों में बेसमर विधा[1] की जगह इसी को इस्तेमाल करने की प्रवृत्ति रही है। वर्तमान काल में संसार के इस्पात के समस्त उत्पादन का ९०% इन्हीं दोनों पैठिक विधाओं से उत्पन्न होता है।

हाल के वर्षों में 'रोलिंग मिल' प्रथा में बड़े बड़े विकास हुए हैं, आधुनिक पट्टी (स्ट्रिप) मिलों में मृदु इस्पात के बेल्लन (रोलिंग) में तो विशेष उन्नति हुई है। इससे विभिन्न चौड़ाइयों वाली इस्पात की पट्टियों का उत्पादन बहुत बढ़ गया है। आज की प्रति मिनट १,५०० फुट की बेल्लन गति से स्तार वेल्लन (शीट रोलिंग) प्रथा की कोई तुलना ही नहीं की जा सकती।

ढलाई एवं मिश्रधातु इस्पात पिण्डकों (इन्गॉट) के लिए क्षेप्य इस्पात की थोड़ी थोड़ी मात्राओं के द्रावण और परिष्करण के हेतु विद्युत भटिठयों का विकास किया गया है। 'हैरौल्ट भट्ठी' सदृश चाप भट्ठियों में पैठिक अस्तर लगा होता है, तथा वे द्रव्य के ऊपर ऊर्ध्वाकार दिशा में आलम्बित कार्बन विद्युदग्रों द्वारा गरम की जाती हैं। जनित्रों से प्राप्त धारा का परिणामित्रों (ट्रान्सफार्मर) द्वारा अवक्रमण (स्टेप डाउन) करके भट्ठी के लिए यथावश्यकता ८०---११० वोल्टता एवं ४००० ऐम्पियर वाली प्रत्यावर्ती धारा (आल्टरनेटिंग करेण्ट) उत्पन्न कर ली जाती है। इन भट्ठियों में ऑक्सीकारक तथा अपचायक धातुमलों के साथ उच्च श्रेणी का परिष्करण तथा अधात्वीय अशुद्धियों से प्रायः सर्वथा रहित स्वच्छ इस्पात प्राप्त होता है। अभी हाल में विशिष्ट द्रव्यों के गलाने के लिए उच्च आवृत्ति प्रेरण (हाई फ्रिक्वेन्सी इण्डक्शन) भट्ठी काम में आने लगी है। ऐजेक्स-नार्थ्रप उच्च आवृत्ति प्रकार की भट्ठी का विकास मूलतः अनुसन्धान कार्य एवं बहुमूल्य धातुओं को गलाने के लिए किया गया था। धातु उष्मक (बाथ) में स्वयं बिना विद्युदग्रों के ही उष्मा उत्पन्न हो जाती है। २० पौण्ड द्रावण क्षमता वाली एक छोटी स्फुल्लिग-अवकाश (स्पार्क-गैप) भट्ठी प्रायः सभी अनुसन्धानशालाओं में लगी रहती है। पहले पहल इस भट्ठी का क्रियाकरण २०,००० चक्रों से भी अधिक ऊँचे आवर्तत्व (पीरियाडिसिटी) की धारा से होता था, परिपथ (सर्किट) में एक परिणामित्र (ट्रान्सफार्मर) होता है एवं उत्पाद वोल्टता ६,६०० की श्रेणी की होती है। इससे संघनकों के एक समूह का आवेशन[2] हो जाता है, जिनका मर्करी स्फुल्लिग-अवकाश के द्वारा निरावेशन[3] होता, जब कि प्रेरक कुंडल (इण्डक्शन क्वायल) में धारा संचारित करने से उच्च आवृत्तिवाली धारा उत्पन्न

[1] Bessemer Process [2] Charging [3] Discharging

हो जाती है। आजकल विशेष इस्पातों को गलाने के लिए कारखानों में ५ टन की उच्च आवृत्ति भट्ठी साधारणतया प्रयुक्त होने लगी है। बड़ी बड़ी भट्ठियों के लिए २०,००० चक्रों की श्रेणी की आवृत्तियाँ न तो आवश्यक थीं न वांछनीय बल्कि १००० से २,२५० तक चक्रों पर काम करनेवाले जनित्र काफी सुविधाजनक एवं कम खर्चीले सिद्ध ए। इन साधनों से क्रियान्वित होने वाली इस्पात गलाने की भट्ठियाँ वर्षों से बिना किसी यांत्रिक अथवा विद्युत् कठिनाई के बराबर काम कर रही हैं। भट्ठी की वनावट आश्चर्यजनक रूप से सरल है। इसमें एक उष्मसह पात्र होता है जिसके चारों ओर सर्पिल कुण्डल (स्पाइरल क्वायल) लपेटा रहता है, और बीच के संकरे स्थान में ज़िर्कोनाइट सदृश कोई उष्मा-पृथक्कारी (हीट इन्सुलेटर) भरा रहता है। लगभग ६०° से० पर कुंडल और प्रायः १,६५०° से० पर द्रावित धातु के बीच की दूरी केवल २—३ इंच होती है। जटिल मिश्रधातु इस्पात, उच्च गति इस्पात तथा संक्षारण-रोधी इस्पात की ढलाई की श्रेणी में निश्चित उन्नति हुई है। टंग्स्टन कार्बाइड जैसे पदार्थों की ढलाई असाधारण उच्च आवृत्तिवाली छोटी भट्ठियों में २,०००° से० ताप के ऊपर की जाती है। विद्युत् के प्रयोग से द्रव्यों का बड़ा शीघ्र एवं नियमित तापन होता है, भट्ठी के वायुमण्डल में किसी प्रकार का दूषण नहीं होता तथा यथावश्यकता ऑक्सीकरण, उदासीन एवं अपचयन की परिस्थिति उत्पन्न की जा सकती है। इस भट्ठी का एक और विशेष लाभ यह है कि इसमें बड़ी मात्रा में मूषा श्रेणी (क्रुसिब्ल क्वालिटी) का इस्पात उत्पन्न करने के लिए अधि-उष्मा (सूपर हीट) प्राप्त की जाती है।

मिश्रधातु इस्पात—मिश्रधातु इस्पातों के तैयार हो जाने से विद्युत, निर्माण, कठोरकरण (हार्डेनिंग) एवं कटाई प्रयोजनों के लिए औद्योगिक क्षेत्रों में एक क्रान्ति सी पैदा हो गयी है। मुशेट का स्व-कठोरकरण उपकरण इस्पात ऐसा प्रथम उपयोगी मिश्रधातु इस्पात था जिसका १८६८ में पेटेन्ट कराया गया था; इसके कठोरकरण के लिए इसको पानी में नहीं बुझाना पड़ता था। १८८३ में क्रोमियम इस्पात तथा हैडफील्ड का मैंगनीज़ इस्पात—दो और मिश्रधातु इस्पातों का आविष्कार हुआ। उसी शताब्दी के अन्त में निकेल इस्पातों का भी आविष्कार हुआ। आधुनिक उच्च गति इस्पातों के गुण कार्बन उपकरण इस्पात (कार्बन टूल स्टील) के गुणों से सर्वथा भिन्न होते हैं; उनमें १४ से १८% तक टंग्स्टन, ३ से ५% तक क्रोमियम, २ से ६% तक कोबल्ट, ०·५ से २% वैनडियम, और सब मिलाकर ३०% तक मिश्रधातुकारक तत्त्व होते हैं। उनके उष्मोपचार में १,३००° से० से ठंढा करने के लिए तेल अथवा वायु के झोंके का प्रयोग किया जाता है, तथा संस्करण (टेम्परिंग) ५५०°—६००°

से० पर किया जाता है। इनके बने उपकरण न केवल लाल ताप पर काम कर सकते हैं वरन इन उच्च तापों पर उत्तम कटाई करते हैं। अब तो इनकी सहायता से कटाई की गति में १,००० फुट प्रति मिनट तक वृद्धि की जा सकी है; किन्तु इसके उपकरणों का शिरोपण (टिपिंग) करना पड़ता है; उदाहरण के लिए कार्बन इस्पात का टंग्स्टन कार्बाइड से शिरोपण किया जाता है। टेन्टैलम, मॉलिब्डनम इत्यादि जैसी दूसरी धातुओं के कार्बाइड भी इस काम के लिए इस्तेमाल किये जाते हैं। शिरोपण के लिए उपकरण के शिरों का पित्तलन (ब्रेज़िंग) अथवा संधान (वेल्डिंग) किया जाता है। सादे टंग्स्टन इस्पातों का अधिकतर प्रयोग स्थायी चुम्बकों के लिए किया जाता है। अभी हाल में और भी ऊँचे चुम्बकीय गुणोंवाले इस्पातों का आविष्कार किया गया है। कोबल्ट-क्रोमियम और निकेल-क्रोमियम इस्पात इनके उत्तम उदाहरण हैं।

स्वर्ण एवं रजत अयस्कों की ढलाई के साँचों, गुटिकाधार (बाल बेयरिंग), रेती तथा 'स्टेनलेस' और मोर्चा रहित (रस्टलेस) इस्पातों के बनाने में क्रोमियम इस्पातों का प्रयोग होता है। स्टेनलेस या रस्टलेस इस्पात में १२ से १८% तक क्रोमियम होता है। संक्षारण-रोधी अर्थात् स्टेनलेस इस्पात का आविष्कार शेफील्ड के एच० ब्रियरले ने १९१३ में किया था। इस आविष्कार को यदि इस शताब्दी के महान् आविष्कारों में गिना जाय तो कोई अत्युक्ति न होगी। इस इस्पात में संक्षारण के प्रति महत्तम अवरोध उस दशा में होता है जब वायु अथवा तेल कठोरकरण से कार्बाइडों को विलीन रखा जाय। निकेल डाल करके १८/८ तथा १३/१३ क्रोमियम-निकेल इस्पातों जैसे आस्टेनाइटिक इस्पात बनाने से संक्षारण-रोध की सीमा और बढ़ जाती है। इन मिश्रधातुओं को प्रायः कोई भी रूप प्रदान किया जा सकता है किन्तु उन्हें बुझा कर कठोर नहीं बनाया जा सकता।

निकेल डालने से इस्पात का तनाव-सामर्थ्य तथा कठोरता बढ़ जाती है, और निकेल इस्पातों का निबन्ध क्षेत्र भी अन्य किसी मिश्रधातु इस्पात की अपेक्षा अधिक व्यापक है। निर्माण-इस्पातों में निकेल-क्रोमियम इस्पात सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण होता है। उष्मोपचार के बाद उनमें प्रत्यावर्ती प्रतिबल (आल्टरनेटिंग स्ट्रेस) के विरुद्ध विशेष अवरोधी बल उत्पन्न हो जाता है, इसलिए मशीनों के चलते भागों के लिए ये बड़े उपयोगी होते हैं। उष्मा-रोधी इस्पातों में क्रोमियम और निकेल का अनुपात अधिक होता है, किन्तु उच्च ताप पर महत्तम तनाव बल उत्पन्न करने के लिए टंग्स्टन भी मिलाना पड़ता है।

मिश्रधातु इस्पातों के तल कठोरकरण के लिए नाइट्राइड-कठोरकरण की विधा प्रयुक्त होती है। इसके लिए निम्न ताप पर अमोनिया गैस से इसका उपचार करना

पड़ता है। इस विधा का आविष्कार इसेन के डा० फ्राई ने किया था और इससे तल की जो कठोरता उत्पन्न होती है वह ज्ञात धातुतलों की महत्तम कठोरता से भी अधिक होती है। मैंगनीज़ इस्पात के आविष्कार का श्रेय सर रॉबर्ट हैडफील्ड को है, इसमें १२ से १४% तक मैंगनीज़ और १·२ से १·३% तक कार्बन होता है। नये प्रकार के इस्पातों में यह सबसे अग्रणी है, तथा इसके आविष्कार से विविध क्षेत्रों में बड़ी मितव्ययिता वर्ती जा सकी है। अपघर्षण के प्रति इसमें विशिष्ट अवरोध होता है; इसका मुख्य कारण यह है कि शीतरूपण (कोल्ड वर्क) से इस्पात की रचना बदल कर इसको मार्टेन्साइट का रूप प्रदान कर दिया जाता है। रेतीले पदार्थों के दलनेवाले दलित्रों (क्शर) के जम्भ (जा), तिजोरियाँ, रेलगाड़ी के पहिये, टैंकों की कड़ियाँ और कोक के पट इत्यादि बनाने के लिए इसका प्रयोग होता है।

मिश्रधातु इस्पातों के तनाव-सामर्थ्य को प्रतिवर्ग इंच १०० टन से भी अधिक बढ़ाया जा सकता है तथा उसकी तन्यता में भी पर्याप्त वृद्धि की जा सकती है। इन्हें अचुम्बकीय भी बनाया जा सकता है तथा इनमें प्रति-शल्कन (ऐण्टी-स्कैलिंग) तथा अम्लता-रोधी विशेष गुण भी उत्पन्न किये जा सकते हैं। इसकी प्रसार गति प्रायः एकदम कम कर दी जा सकती है तथा अलूमिनियम की भाँति बढ़ायी भी जा सकती है। चुम्बकीय गुणों का भी संचार किया जा सकता है। इस प्रकार की सफलताओं से इस दिशा में हो रहे आधुनिक विकासों का पूरा आभास मिलता है।

निकेल—पिछले कुछ समय से निकेल और इसकी मिश्रधातुओं के प्रयोग में निरन्तर वृद्धि हो रही है; और यह आधनिक धातुकर्मिकी का बड़ा प्रमुख एवं व्यावहारिक अंग हो गया है। ताम्र, लौह, क्रोमियम और अलूमिनियम जैसी वाणिज्यिक धातुओं के साथ निकेल बड़ी सहजता से मिश्रित हो जाता है तथा उनमें बल एवं संक्षारण-रोध उपयोगी गुणों की वृद्धि करता है, अतएव उसकी व्यावहारिकता बहुत व्यापक रूप से बढ़ गयी है। इसकी प्रमुख उपयोगिता ऐसे इस्पात बनाने में है जिन्हें उच्च ताप उपचारों में इस्तेमाल किया जाता है, जैसे उच्च-गति अन्तर-दहन इंजनों के भाग इत्यादि। इसके अलावा बिजली के यन्त्र, रासायनिक संयंत्र, खाद्य-निर्माण की साज-सज्जा, मुद्रा-निर्माण, बेतार वाले वाल्व बनाने तथा निकेल पट्टण (निकेल प्लेटिंग) में भी निकेल का बड़ा महत्त्व है।

संसार के अधिकांश निकेल की उपलब्धि कनाडा के अयस्कों से होती है; ओण्टारियों के सडबरी ज़िले में इसकी बड़ी बड़ी खानें हैं। निकेल उत्पादन की तीन मुख्य क्रियाएँ हैं—(१) अयस्क का खनन, (२) उसका सांद्रण एवं प्रद्रावण और (३) सांद्रित से शुद्ध धातु का निस्सारण तथा परिष्करण। कनाडा के अयस्कों में सल्फाइड

के रूप में निकेल के साथ ताम्र और लौह भी होते हैं, निकेल की मात्रा लगभग ३% तथा ताम्र की १·५% होती है। सर्वप्रथम अयस्क को धम भट्ठी में प्रद्रावित किया जाता है जिससे ताम्र-निकेल मैटे बन जाय। परिवर्तकों में इस मैटे का बेसमरीकरण करके इसमें से लोहा निकाल दिया जाता है और इस प्रकार शेष मैटे में लगभग ८०% निकेल और ताम्र बच रहता है। इन धातुओं के द्रावित सल्फाइड एवं स्वयं द्रावित धातुएँ भी एक दूसरे के साथ सभी अनुपातों में विलेय होती हैं और इनका प्रद्रावण और परिवर्तन ताम्र धातुकर्मिकी के ही समान होते हैं।

५० वर्ष पूर्व डा० लड्विग मॉण्ड की प्रयोगशाला में एक विचित्र घटना घटी, जिसके फलस्वरूप अयस्क से निकेल प्राप्ति की कार्बोनिल विधा का संयोगवश आविष्कार हुआ था। इसी प्रकार ब्रियरले द्वारा स्टेनलेस स्टील का भी आविष्कार हुआ। घटना इस प्रकार थी, आसवन से अमोनियम क्लोराइड के विच्छेदन की मॉण्ड विधा में प्रयुक्त होने वाले निकेल के वाल्व एक बार चुअने हो गये, डा० कार्ल लैंजर ने जाँच की तो देखा कि उनमें एक काली पर्पटी जम गयी है, जिसमें थोड़ी कार्बन की मात्रा विद्यमान थी। यह कार्बन संयंत्र से प्राप्त अमोनिया को साफ करने के लिए प्रयुक्त कार्बन डाय आक्साइड में विद्यमान कार्बन मानोऑक्साइड से निकला था। इस घटना के अनुशीलन से यह ज्ञात हुआ कि निकेल और कार्बन मॉनोऑक्साइड की प्रतिक्रिया से एक गैसीय यौगिक, $Ni(CO)_4$ उत्पन्न होता है; और यह प्रतिक्रिया साधारण ताप पर ही घटित होती है। इस यौगिक को निकेल कार्बोनिल कहते हैं, जो लगभग १८०° से० ताप पर तप्त किये जाने पर पुनः विच्छेदित होकर अपने संघटक-निकेल एवं कार्बन मॉनोऑक्साइड का रूप धारण कर लेता है। इन प्रतिक्रियाओं के उपयोग से निकेल के परिष्करण की बात स्वयं डा० मॉण्ड को सूझी और उन्हीं ने इसका वाणिज्यिक व्यवहार किया। स्वान्सिया के समीप क्लाइडैक के कारखाने में निकेल परिष्करण की यह विधा ३० वर्ष से भी अधिक समय से प्रयुक्त हो रही है। कनाडा में परिवर्तन विधा से प्राप्त बेसमर मैटे को एक दूसरी प्रद्रावण विधा से उपचारित किया जाता है। इस विधा को 'ऑर्फोर्ड विधा' कहते हैं, इससे अधिकांश ताम्र निकल जाता है और तब उसके बाद उसे क्लाइडैक के कारखाने में भेजा जाता है। ऑर्फोर्ड विधा में मैटे को नाइटर और कोक के साथ कुपोला भट्ठी में तप्त किया जाता है और प्राप्त द्रव्य को, जिसमें ताम्र निकेल और सोडियम के सल्फाइड होते हैं, ढलवाँ लोहे के पात्र में डालकर जमने के लिए छोड़ दिया जाता है। ताम्र सल्फाइड और सोडियम सल्फाइड एक दूसरे में विलेय होते हैं तथा यह विलयन निकेल सल्फाइड से हल्का होने के कारण ऊपर हो जाता है और इस प्रकार दो तहें जम जाती हैं, ऊपरी

तह को 'टॉप्स' तथा निचली तह को 'बॉटम्स' कहते हैं। प्रथम 'बॉटम्स' को पुनः प्रद्रावित करके एक बार फिर द्वितीय 'टॉप्स' और 'बॉटम्स' तहों में अलग अलग किया जाता है। इस द्वितीय 'बॉटम्स' में १·५—२·०% ताम्र तथा ७०–७२% निकेल होता है। इस उत्पादन को निस्तापित (कैल्साइण्ड) करके उसमें से गंधक का थोड़ा और भाग निकालकर तथा उसे पीपों में भरकर परिष्करण के लिए भेज दिया जाता है। परिष्करणी (रिफाइनरी) में पहुँचने पर मैटे को दलकर भूँजा जाता है और उसके बाद सल्फ्यूरिक अम्ल से उद्‌विलीन (लीच) किया जाता है, जिससे उसमें से ताम्र का कुछ अंश और निकल जाता है। तदुपरान्त अवशेष को ऐसे स्तम्भों में से नीचे की ओर गिराया जाता है, जिनमें वाटर गैस अर्थात् हाइड्रोजन और कार्बन मानोऑक्साइड गैसें ऊपर की ओर प्रवाहित की जाती हैं। इस क्रिया से निकेल और ताम्र का अपचयन होता है और वे अपना धात्वीय रूप धारण कर लेते हैं। अपचयित पदार्थ को दूसरे स्तम्भों में ले जाया जाता है जहाँ उस पर ८०° से० के नीचे प्रोड्यूसर गैस की प्रतिक्रिया होती है और निकेल कार्बोनिल $Ni\ (CO)_4$ बन जाता है, जो गैसीय होने के कारण उड़ जाता है। इस वाष्प को एक ऐसे स्तम्भ में भेजा जाता है जिसमें लगभग २००° से० तक तप्त निकेल की गोलियाँ भरी होती हैं, इस स्थान पर निकेल कार्बोनिल विच्छेदित (डीकंपोज) हो जाता है और गोली के ऊपर धात्वीय निकेल की तह जम जाती है। पुनर्जनित कार्बन मॉनोऑक्साइड को पहले स्तम्भों में भेज दिया जाता है। निकेल की गोलिकाओं को बार बार निकेल कार्बोनिल गैस में विगोपित करने से उन पर अनेक एक-केन्द्रीय (कॉन्सेन्ट्रिक) तहें जम जाती हैं और इसी प्रकार निकेल का सहज एकलन अथवा परिष्करण किया जाता है।

मैटे को भूँजने और उद्‌विलीन करने के बाद हाइबिनेट विधा से भी विद्युदांशिक निकेल तैयार किया जाता है। अवशेष को गला कर धनाग्र (ऐनोड) ढाल लिये जाते हैं, जिनका निकेल सल्फेट उष्मक में विद्युदांशन किया जाता है। विद्युदग्रों के बीच में एक सरन्ध्र तनुपट (पोरस डायाफ्राम) डाल दिया जाता है जिससे ऋणाग्रों पर ताम्र पट्टण नहीं हो पाता। धनाग्रांश्य (अनोलाइट) को टैंक में से निरन्तर निकाल कर निकेल गोलिका के ऊपर छोड़ने से ताम्र का अवक्षेपण हो जाता है और ताम्र रहित विलयन को टैंक के ऋणाग्रांश्य विभाग में पुनः प्रवेश कराने से उच्च शुद्धता वाला निकेल ऋणाग्र पर पट्टित हो जाता है।

ताम्र-निकेल और निकेल-ताम्र दोनों मिश्रधातुओं ने इंजीनियरी की प्रगति में विशेष योगदान किया है। समुद्री संघनक नलियों के लिए ७०/३० ताम्र-निकेल मिश्रधातु

का महत्त्वपूर्ण उपयोग होता है, विशेष कर टर्बाइन-चालित उच्चगतिक जहाज़ों में। समुद्री जल से होनेवाले विशेष संक्षारण के प्रतिरोध के लिए यह सर्वोत्तम पदार्थ है, अतः संसार के प्रायः समस्त समुद्री विभागों में इसका प्रयोग किया जाता है। मॉनेल धातु में लगभग ६७% निकेल, ३% ताम्र तथा अन्य कुछ तत्त्व होते हैं, संक्षारण-रोध, उच्च ताप पर भी इसका सामर्थ्य और दृढ़ता, तथा भाप क्रिया के प्रति अवरोध इसके परम लाभकारी गुण हैं। इसमें अलूमिनियम मिलाने से "K" मॉनेल बन जाता है। यह उष्मोपचार सुग्राही मिश्रधातु है तथा संक्षारण-रोधी एवं कठोरतम अवस्थाओं में भी बड़ा टिकाऊ होता है। निकेल-क्रोमियम मिश्रधातुओं की बड़ी व्यापक एवं औद्योगिक उपयोगिता है। विद्युत एवं उष्मा-रोधी प्रयोजनों के लिए ये विशेष लाभ-कर होती हैं। इनमें प्रायः ८०% निकेल और २०% क्रोमियम होता है। 'इन्को-नल' में ८० से ८२% तक निकेल, १२ से १४% तक क्रोमियम तथा शेष लोहा होता है, इसमें उष्मा एवं संक्षारण दोनों के प्रति विशिष्ट अवरोध होता है। "परमैलॉय" तथा "मुमेटल" नामक मिश्रधातुओं में ८०% तक निकेल होता है और इनमें निम्न क्षेत्रों (लो फील्ड्स) के लिए बड़ी उच्च चुम्बकीय पारगम्यता होती है। टेलीग्राफ एवं टेलीफोन इंजीनियरी में इनका विशेष प्रयोग होता है; उदाहरणार्थ टेलीग्राफ के समुद्री तारों (केब्ल) के भरण (लोडिंग) के लिए इनका खास इस्तेमाल होता है। चालक (कॉण्डक्टर) के चारों ओर पट्टी अथवा फीते के रूप में लपेट कर निरन्तर भरण (कॉण्टिन्युअस लोडिंग) से समुद्री तारों द्वारा भेजे गये संवादों का रूप नहीं बिगड़ने पाता, इसके फलस्वरूप संवाद-प्रेषण की गति बहुत तीव्र की जा सकती है। इन मिश्रधातुओं का विशिष्ट टेलीफोनों एवं रेडियो प्रयोजनों में बड़ा विस्तीर्ण प्रयोग होता है जैसे निम्न-आवृत्ति परिणामित्रों (लो फ्रिक्वेन्सी ट्रान्सफॉर्मर) के अन्तर भाग बनाने के लिए।

'इन्वार' एक निकेल-लौह मिश्रधातु है जिसमें लगभग ३६% निकेल होता है। इसका उष्मीय प्रसरण गुणांक (कोएंफिशेन्ट ऑफ थर्मल एक्सपैन्शन) बड़ा लघु होता है और यही इसका विशेष गुण है। इसलिए इसके मापी फीते बनाये जाते हैं। इनके अतिरिक्त उच्च सुतथ्यता वाले उपकरण, क्रोनोमीटर इत्यादि बनाने में भी इसका प्रयोग होता है।

ताम्र—अन्य धातुओं के अयस्कों की अपेक्षा ताम्र अयस्कों के विविध खनिजों की कहीं अधिक संख्या होती है। इसी कारण से ताम्र अयस्क निस्सारण में विविध एवं जटिल क्रियाओं का समावेश होता है। ९५% से अधिक ताम्र उन अयस्कों से प्राप्त किया जाता है जिनमें वह सल्फाइड, ऑक्साइड, कार्बोनेट, सल्फेट

तथा सिलिकेट के रूप में विद्यमान रहता है, इन अयस्कों का महत्त्व भी उपरिलिखित क्रम से है। ताम्र प्राकृतिक दशा में भी मिलता है, जैसे कि संयुक्त राज्य के लेक ज़िलों की खानों से वहाँ से प्राप्त ताम्र को 'लेक कॉपर' कहते हैं। अधिकांश ताम्र अयस्कों में १–२% ताम्र होता है तथा उसके निस्सारण तथा परिष्करण में क्रमशः निम्नलिखित विधाएँ प्रयुक्त होती है—सांद्रण, भूँजना (रोस्टिंग), प्रद्रावण, परिवर्तन (कॉन्वर्टिंग), अग्नि अथवा विद्युदांशिक परिष्करण तथा अन्तिम गलाई और ढलाई।

सांद्रण विधा में प्लवन (फ्लोटेशन) एवं गुरुत्वाकर्षण दोनों रीतियों से निरर्थक विधातु को अलग किया जाता है। सांद्रित को मैक्डूगल भट्ठी में भूँजा जाता है जिससे गंधक जल जाय। तत्पश्चात् प्रतिक्षेपी (रिवर्बरेटरी) भट्ठी में उपयुक्त द्रावकों के साथ अयस्क का प्रदावण किया जाता है। प्रद्रावण की यह रीति लौह अयस्क के प्रद्रावण से भिन्न है क्योंकि इसमें सीधे धातु तैयार होने के बजाय केवल मैटे बनता है। ताम्र के इस मैटे में Cu_2S तथा FeS का अनिश्चित अनुपातवाला मिश्रण होता है और उसमें कुछ अन्य अशुद्धियाँ मुख्यतः सल्फाइड होते हैं। अयस्क में विद्यमान स्वर्ण एवं रजत मैटे में विलीन हो जाते हैं और इस प्रकार ये बहुमूल्य धातुएँ भी सांद्रित हो जाती हैं। मैटे से धातु बनाने के लिए उसे तुरन्त परिवर्तक में ढाल देते हैं तथा परिवर्तन-क्रिया उसी प्रकार चलती है जैसी इस्पात बनाने की बेसमर विधा में। द्रावित मैटे में से हवा फूँकी जाती है, जिससे लौह का ऑक्सीकरण होकर FeO बन जाता है, लौह सिलिकेट धातुमल का रूप धारण करता है। इसी के साथ चूना और अलूमिना भी निकल जाते हैं तथा गंधक SO_2 गैस बन कर उड़ जाता है। इस क्रिया के लिए किसी इंधन की आवश्यकता नहीं होती क्योंकि आक्सीकरण से निकली उष्मा विधा–संचारण के लिये स्वयं काफी होती है। इस्पात की बेसमर विधा की तुलना में यह क्रिया काफी मन्द गति से होती है क्योंकि इसमें ऑक्सीकरण के लिए अपेक्षाकृत बहुत अधिक द्रव्य होता है। १२ टन मैटे के प्रभरण के ऑक्सीकरण में ४ घण्टे लग जाते हैं। इस्पात परिवर्तक से ये परिवर्तक थोड़े भिन्न होते हैं क्योंकि इनमें टायर (twyeres) बगल में लगे रहते हैं, तह में नहीं। इसका विशेष प्रयोजन यह है कि वायु मैटे में ही फूँकी जाय और धात्वीय ताम्र तह में बैठ जाय, जिससे वायु द्वारा उसका आक्सीकरण न होने पावे। इस प्रकार तैयार हुई धातु को "ब्लिस्टर कापर" कहते हैं, जिसमें ९६–९९% ताम्र होता है। इसका परिष्करण बहुधा अग्नि और विद्युदांशिक साधनों से किया जाता है और कभी कभी केवल अग्नि परिष्करण ही किया जाता है। प्रतिक्षेपी भट्ठी में परिष्करण करने से द्राव (मेल्ट) का आक्सी-

करण होता है, जिससे गंधक, यशद, सीस, आर्सेनिक एवं ऐण्टीमनी की अशुद्धियाँ उड़ जाती हैं तथा अन्य तत्त्व धातुमल (स्लैग) में अलग हो जाते हैं। भट्ठी की धारिता २०० से ४०० टन ताम्र की होती है। द्रावित उष्मक (मोल्टेन बाथ) के तल के नीचे से इस्पात के नलों द्वारा वायु प्रवेश करायी जाती है, इस क्रिया को पल्लवन अर्थात् "फ्लैपिंग" कहते हैं। ताम्र अब Cu_2O (लगभग ६%) से संतृप्त हो जाता है; इसके अपचयन के लिए इसका वंशविचालन (पोलिंग) यानी लकड़ी के ताजे हरे डण्डों से विचालन करना पड़ता है। यह बड़ी महत्त्वपूर्ण क्रिया है। वंशविचालन से ऑक्सीजन और हाइड्रोजन की मात्राओं को ऐसा ठीक रखा जाता है कि धातु जमने के समय उसमें केवल इतनी ही गैस पाशित रहे जिससे उसके तल पर गढ़े अथवा निचाव न बनने पावे। इस धातु को ढलाई यंत्रों में ढाल कर धनाग्र बनाये जाते हैं, जिनमें लगभग ९९·३ प्रतिशत ताम्र होता है और तब परिष्करण विद्युदांशिक रीति से पूरा किया जाता है। टंकी में शुद्ध ताम्र स्टारों के बने ऋणाग्र लटका दिये जाते हैं और इनके बीच-बीच में धनाग्र। इसी प्रकार प्रत्येक टंकी में बहुसंख्यक विद्युदग्र लगाये जाते हैं और विद्युदंश्य के स्थान पर अम्लीयित ताम्र सल्फेट। जब विद्युत्धारा प्रवाहित की जाती है तब धनाग्र विलीन होते जाते हैं तथा ऋणाग्रों पर ताम्र जमता जाता है। स्वर्ण, रजत, प्लैटिनम, सेलेनियम तथा टेल्यूरियम विलीन नहीं होते वरन् पंक (स्लाइम) के रूप में नीचे बैठ जाते हैं। इस रीति में प्रा त स्वर्ण एवं रजत का ही इतना मूल्य होता है कि परिष्करण का सारा ख़र्च निकल आता है। ऋणाग्र पट्टों में इतना हाइड्रोजन रहता है कि धातु बड़ी भंगुर (ब्रिट्ल) हो जाती है; इसलिए उन्हें पुनः गला कर तथा ऑक्सीकृत करके उनमें ऑक्सीजन की मात्रा ठीक करने के लिए उन्हें वंशविचालित किया जाता है। वंशविचालन बड़ी सावधानी से करना चाहिए। ढलाई के पूर्व प्रत्येक भट्ठी से प्राप्त बानगी दंडों (सैम्पुल बार) के खण्ड (सेक्शन) काट कर उनकी स्थूलदर्शी (मैक्रोस्कोपिक) तथा सूक्ष्मदर्शी (माइक्रास्कोपिक) परीक्षा की जाती है। द्रावित धातु का वंशविचालन करते समय विधा के नियंत्रण के लिए यह अभी हाल की उन्नत रीति है। विऑक्सीकारक (डिऑ-क्सिडैण्ट) डालकर ऑक्सीजन रहित ताम्र तैयार किया जाता है। हाल में कैल्सियम, लीथियम तथा बेरीलियम विऑक्सीकरण का विकास किया गया है। इनसे धातु की विद्युत् चालकता पर भी कोई प्रभाव नहीं पड़ता। आजकल ऑक्सीजन-रहित उच्च-चालकता ताम्र अर्थात् "ऑक्सीजन-फ्री हाई - काण्डक्टिविटी कापर" (OFHC) के नाम से वाणिज्यिक ताम्र मिलता है। यह विशेष विधा से उत्पन्न एवं बड़ी सावधानी से विऑक्सीकृत किया जाता है तथा इसमें ९९·९८% ताम्र होता है। इसकी

सुघट्यता बड़ी उन्नत होती है, इसलिए शीत-कर्षण एवं रूपण (ड्राइंग ऐण्ड फार्मिंग) के लिए विशेष उपयुक्त होता है।

ताम्र उत्पादन में संयुक्त राज्य अमेरिका सबसे आगे है। उत्पादित ताम्र का ७० प्रतिशत या तो शुद्ध दशा में प्रयुक्त होता है अथवा उसमें किसी तत्त्व की बहुत थोड़ी मात्रा मिली होती है, जिससे उसका विऑक्सीकरण होता है, उसकी सामर्थ्य तथा ऑक्सीकरण-रोध बढ़ता है और साथ ही साथ कुछ प्रकार के संक्षारण के प्रति उसकी रोधिता बनी रहती है। आर्सेनिकयुक्त ताम्र के स्तार छत बनाने, बरसाती जल की नालियाँ तथा नाडक और यवासवन, आसवन, खाद्य पदार्थ, कागज तथा रंगलेप उद्योगों के संयंत्र बनाने के काम में आते हैं।

लोहा-कार्बन मिश्रधातु के बाद संभवतः ताम्र और यशद सर्वाधिक महत्त्व की वाणिज्यिक धातुएँ हैं। सुवर्णरोपण (गिल्डिग) धातु (५–१०%यशद) मुख्यतः आभूषण बनाने में प्रयुक्त होती है। कारतूस पीतल (३०%यशद), साधारण पीतल (ताम्र यशद : २ : १) तथा ६२%ताम्र वाला सामान्य शीत वेल्लित पीतल बहुतायत से प्रयुक्त होते हैं। ६०–६२%ताम्र वाली मुण्ट्ज़ धातु ताप-वेल्लित तथा अधिक सामर्थ्यवाली होती है किन्तु अन्य प्रकार के पीतलों से कम तन्य होती है। पित्तलन टाँका (ब्रेज़िंग सोल्डर), जिसमें ५०% ताम्र होता है, पीतल की चीज़ों के पित्तलन के लिए प्रयुक्त होता है। श्वेत पीतल का प्रयोग छोटी छोटी प्रतिमाओं की ढलाई एवं आलंकारिक कामों के लिए होता है; इसमें ४५ प्रतिशत से कम ताम्र होता है। मैंगनीज़ काँसा एक प्रकार का मैंगनीज़ पीतल है, जिसमें मैंगनीज़ तथा अन्य तत्त्वों के विभिन्न अनुपात होते हैं। मिलाये गये तत्त्व के कारण इसकी कठोरता तथा सामर्थ्य बड़ी ऊँची होती है।

अलूमिनियम पीतल, ताम्र-वंग काँसे तथा गनमेटल भी बड़े व्यापक रूप से प्रयुक्त होते हैं। पीतल की यंत्रण-योग्यता बढ़ाने के लिए उसमें सीस मिलाया जाता है। सीस-काँसे बेयरिंग बनाने के काम आते हैं। वैमानिक एवं डीज़ल इंजनों के भागों पर जो कठिन भार पड़ता है उसे सहन करने के लिए सीस काँसा सर्वोत्तम माना जाता है।

सीस—सीस का केवल एक ही महत्त्वपूर्ण अयस्क है। इसमें सीस सल्फाइड अथवा गैलीना, PbS, होता है और ४–११ प्रतिशत सीस। धातुकर्मिक उपचार के पहले सांद्रण द्वारा इसकी धातु मात्रा ५०–८० प्रतिशत तक बढ़ा दी जाती है। इस अयस्क की समस्त उपलब्धि का चौथाई भाग केवल संयुक्त राज्य से प्राप्त होता है, जो कदाचित् इतने बड़े अंश की पूर्ति करनेवाला अकेला एक देश है। गैलीना

काफी भारी होता है तथा कूट दिये जाने पर शिला भाग से बड़ी सरलता से अलग हो जाता है, अतः आर्द्र गुरुत्वाकर्षण रीतियों से इसका सांद्रण बड़ा सहज है। सांद्रितों का उपचार भट्ठी विधा से किया जाता है। पुरानी फ्लिण्टशायर विधा में प्रद्रावण की क्रिया एक प्रतिक्षेपी भटठी में की जाती है, किन्तु आजकल अधिकतर धम भट्ठी वाली प्रद्रावण विधा प्रयुक्त होती है; कुछ तो इसलिए कि रजत युक्त अयस्कों के उपचारार्थ यह सर्वोपयुक्त है और कुछ इसलिए कि लघु सीस तथा उच्च विशुद्धियों वाले अयस्कों का उपचार भी इस रीति से किया जा सकता है। अयस्कों को भूंज करके उनमें से गंधक निकाला जाता है। आजकल धम भुंजाई (ब्लास्ट रोस्टिंग) के लिए सर्वथा ड्वाइट-लॉयड मशीनें प्रयुक्त होती हैं।

सीस का धम प्रद्रावण बहुत से मानों में लौह और ताम्र प्रद्रावण के बीच का माना जा सकता है। रासायनिक सामर्थ्य में सीस ऑक्साइड लौह और ताम्र ऑक्साइडों के बीच का है, इसलिए आवश्यक अपचायक क्रिया ताम्र से अधिक किन्तु लोहे से कम तीव्र होनी चाहिए। जबकि लौह प्रद्रावण में लोहा धातु के रूप में प्राप्त होता है और ताम्र प्रद्रावण में ताम्र केवल मैटे के रूप में, सीस प्रद्रावण में सामान्यतः धातु एवं मैटे दोनों प्राप्त होते हैं। उत्पन्न मैटे का परिमाण अयस्क में गंधक की मात्रा पर निर्भर होता है और कभी कभी तो कुछ भी मैटे नहीं बनता। प्रद्रावण का मुख्य उत्पादन अपरिष्कृत सीस अथवा सीस कलधौत (लेड बुलियन) होता है। सीस कलधौत में स्वर्ण और रजत भी होते हैं। रजत (०·१५–१·०%), ताम्र, ऐण्टीमनी, आर्सेनिक, वंग, बिसमथ, गंधक तथा यशद इसकी मुख्य अशुद्धियाँ होती हैं।

विद्युदांशिक परिष्करण तथा वि-रजतन (डिसिल्वरिंग) से महत्तम शुद्धता (९९·९९%) वाला सीस प्राप्त होता है, किन्तु यह लाभप्रद तभी होता है जब सस्ती जल-विद्युत शक्ति प्रचुरता से प्राप्य हो। इस विधा को "बेट्स विधा" कहते हैं और यह विद्युदांशिक ताम्र परिष्करण के एकदम समान है। इसका विद्युदांश्य (एलेक्ट्रोलाइट) कुछ असाधारण सा होता है; यह सीस फ्लुओसिलिकेट ($PbSiF_6$) का जलीय विलयन होता है जिसमें ६ प्रतिशत सीस तथा ५–१० प्रतिशत स्वतंत्र हाइड्रो फ्लुओसिलिसिक अम्ल के अलावा प्रति टन ०·५ पौण्ड सरेस मिलाया रहता है; इससे निक्षेप (डिपाजिट) के कण चिकने एवं सूक्ष्म हो जाते हैं। स्वर्ण, रजत तथा बिसमथ धनाग्र पर अविलेय रहकर एक पंक का रूप धारण कर लेते हैं। इसे एकत्र करके इन धातुओं को निकालने का उपचार किया जाता है।

सीस का विरजतन बहुधा 'पार्क्स विधा' से किया जाता है, किन्तु सीस कलधौत में से कुछ अशुद्धियों को निकालकर पहले उसका मृदुकरण कर लिया जाता है। मृदु-

करण के लिए ५०–२५० टन धारितावाली प्रतिक्षेपी भट्ठी में उसे गलाया जाता है और तब उसका ऑक्सीकरण किया जाता है। ताम्र का ऑक्सीकरण उसे भट्ठी में डालने के पहले एक विरजतन केतली में किया जाता है। इसके लिए द्रावित कलधौत को कुछ समय के लिए उसके गलनांक से ऊपर ताप पर रखा जाता है जिससे ताम्र-मल फेन के रूप में उतरा जाता है। इस क्रिया को ताम्र प्रसाधन अर्थात् 'कॉपर ड्रेसिंग' कहते हैं। ताम्र निकालने के लिए थोड़ी सी गंधक भी डाल दी जाती है, जिससे वह ताम्र सल्फाइड के रूप में ऊपर आ जाता है। मृदुकरण के लिए 'हैरिस विधा' भी काम में लायी जाती है, इसमें द्रावित कलधौत का द्रावित दहसोडा और तनिक नाइटर के साथ उपचार किया जाता है। इस उपचार से आर्सेनिक, ऐण्टीमनी तथा वंग का ऑक्सीकरण हो जाता है; ये तत्त्व सोडा में विलीन हो जाते हैं और फिर बाद में उससे निकाल लिये जाते हैं। 'हैरिस विधा' का सबसे बड़ा लाभ यह है कि इसमें समय बहुत कम लगता है अर्थात् २४ घण्टों की जगह केवल ३ घण्टे में ही काम हो जाता है, किन्तु इस विधा में कुछ विशेष कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं।

पार्कस की विरजतन विधा रजत, यशद और सीस की एक त्र्यंगी (टर्नरी) मिश्रधातु बनने पर आधारित है। कलधौत को ६० से १२० टन तक धारितावाली केतली में लगभग १२५° से० यानी उसके गलनांक के ऊपर रखा जाता है और उष्मक में यशद छोड़ा जाता है। यशद के रजत और स्वर्ण तथा कुछ सीस के साथ मिलने से एक मिश्रधातु बनती है जो मलफेन की तरह ऊपर आ जाती है; इसे यशद पर्पटी (ज़िंक क्रस्ट) कहते हैं और यह जैसे जैसे बनती जाती है वैसे वैसे अर्थात् उसी गति से हटायी भी जाती रहती है। लगभग १८ घण्टे में उष्मक रजत-विहीन हो जाता है। अवशेष सीस को, जिसमें लगभग ०·६% यशद विलीन रहता है, एक प्रतिक्षेपी वियशदन भट्ठी में डाल दिया जाता है जहाँ ऑक्सीकरण एवं मंथन से यशद को भी अलग कर दिया जाता है। अभी हाल की एक रीति में यशद को क्लोरीन की सहायता से पृथक किया जाता है, और यशद क्लोराइड एक उपजात के रूप में प्राप्त होता है। यह रीति आजकल बहुत प्रचलित है। परिष्कृत सीस को ढाल कर दंड अथवा पिग् बनाया जाता है और इसी रूप में बिकने के लिए भेजा जाता है।

रजत युक्त यशद पर्पटी को यशद के गलनांक के ऊपर एक रिटॉर्ट में तप्त किया जाता है, जिससे यशद का आसवन होता है और एक समृद्ध रजत-सीस मिश्रधातु शेष बच रहती है। इस मिश्रधातु का उपचार खर्परण '(क्युपेलेशन) विधा से किया जाता है; यह खर्परण परीक्षण विधाओं में प्रयुक्त होनेवाले खर्परण के ही समान होता

है, भेद केवल यह होता है कि यह बड़े परिमाण एवं उच्च ताप पर (१०००° से० अर्थात् मुर्दासंख के गलनांक के ऊपर) क्रियान्वित होता है। ½–१ टन की मात्राओं में मिश्रधातु को गलाकर उसके ऊपर से वायु का झोंका फूँका जाता है जिससे सीस आक्सीकृत होकर मुर्दासंख बन जाता है, जो द्रावित दशा में नीचे बह जाता है और शुद्ध रजत अथवा रजत-स्वर्ण मिश्रधातु बच जाती है।

ढलवाँ सीस के कणों का आकार बड़ा होता है और अगर शीत उपचारित हो तो वायुमण्डलिक ताप पर पुनः केलासित होता है। यह धातु परम क्षीण होती है, फलतः प्रायः इसका विरूपण हो जाता है अथवा स्वयं अपने भार से दब कर भी नीचे से सरकने लगती है। इसकी श्रान्ति सीमा (फैटीग लिमिट) भी बड़ी लघु होती है इसीलिए कम्पन प्रतिबल (वाइब्रेटरी स्ट्रेस) के कारण अन्तर केलासीय (इण्टर क्रिस्टलाइन) विफलता भी बहुत संभव है। सीस का सर्वाधिक प्रयोग संग्रहण बैटरियों में होता है, जिसमें इसका विद्युत्-रासायनिक प्रकार्य (फंक्शन) होता है। इसका दूसरा सबसे बड़ा प्रयोग समुद्री तारों के रक्षणार्थ उनके आवरण के लिए होता है। अन्य धातुओं के मिलाने से सीस कुछ अधिक कठोर हो जाता है अतएव सीस मिश्र धातुओं का भी अच्छा महत्त्व होता है, इनमें साँचा-ढलाई मिश्रधातु, मुद्रा धातु एवं छर्रा धातु का उल्लेख किया जा सकता है। टाँका भी सीस और वंग की मिश्रधातु होती है। इस मिश्रधातु की सब से बड़ी विशेषता यह है कि संपिंडन (सॉलिडिफिकेशन) के समय उसकी लेपी अवस्था बहुत देर तक बनी रहती है। इसी कारण से वह सीस नलों में चिपका रहसकता है और जोड़ जोड़ने के लिए बड़ा उपयुक्त होता है।

यशद—सल्फाइड अयस्क जिसमें यशद ब्लैंड (ZnS) होता है और कैलामीन, जिसमें कार्बोनेट और सिलिकेट होते हैं यशद के दो महत्वपूर्ण अयस्क हैं। इन अयस्कों का सांद्रण भी गुरुत्वाकर्षण एवं प्लवन रीतियों से किया जाता है जिससे ४०–५० प्रतिशत यशद मात्रा वाला सांद्रित प्राप्त होता है। हाल में भिन्नक (डिफरेन्शल) प्लवन रीति का विकास किया गया है, जिसके प्रयोग से सीस और यशद दोनों के जटिल अयस्कों का सफल सांद्रण संभव हो पाया है। इस क्रान्तिकारी परिवर्तन के बिना ब्रिटिश कोलम्बिया की सुल्वियन खानि से प्राप्त अयस्कों से सीस तथा यशद प्राप्त करना संभव न होता, किन्तु आज यह संसार में यशद का सबसे बड़ा स्रोत मानी जाती है।

मिश्रित अयस्क की भुँजाई से उसमें से गंधक निकल जाता है तथा उसका ऑक्सीकरण हो जाता है। धातु प्राप्त करन के लिए आसवन विधा प्रयुक्त होती है। अयस्क

की भुँजाई ड्वाइट-लॉयड मशीनों में काफी देर तक की जाती है। १९३१ से स्फुर-भुँजाई (फ़्लैश रोस्टिंग) बड़ी महत्त्वपूण हो गयी है। इस विधा में अयस्क के कण ऊँचे वेश्म के ऊपर से नीचे की ओर गिराये जाते हैं और गिरते समय वे या तो जल उठते हैं अथवा ऑक्सीकृत हो जाते हैं। इसके लिए अवगुण्ठ भट्ठियों का भी प्रयोग होता है। अयस्क की भुँजाई से निकली सल्फर डाइऑक्साइड गैस को सल्फ्यूरिक अम्ल बनाने के लिए प्रयुक्त किया जाता है। भुँजाई यथासंभव पूर्ण होनी चाहिए, नहीं तो गंधक की शेष मात्रा के कारण यशद भी ZnS के रूप में रह जायगा और धातु की हानि होगी।

दलित अयस्क को बारीक कोयले के साथ मिलाकर अग्नि मिट्टी रिटॉर्टों में तप्त किया जाता है और ताप को धीरे धीरे बढ़ाकर १,२५०° से० तक कर दिया जाता है, विधा के अन्त में तो ताप १,४५०° तक पहुँच जाता है। यशद के क्वथनांक के ऊपर उसका अपचयन होता है और धातु एक वाष्प के रूप में कार्बन मॉनोऑक्साइड के साथ रिटॉर्ट में से निकलती यानी आसुत होती है। ये गैसें सीधे रिटॉर्ट से लगे अग्नि मिट्टी संघनक में चली जाती हैं, जहाँ यशद द्रावित धातु के रूप में संघनित हो जाता है और समय समय पर उसमें से निकाल लिया जाता है। कार्बन मॉनोऑक्साइड निकल कर हवा में जल जाता है। संघनक में एक दीर्घक (प्रोलांग) भी लगा रहता है जिसमें असंघनित यशद धूम एकत्र होता है, इसे 'ब्लू पाउडर' कहते हैं। इसको फिर रिटॉर्ट में भेज दिया जाता है। यशद रिटॉर्ट लगभग ५ फुट लम्बे होते हैं तथा उनका भीतरी व्यास ८–१० इंच होता है और ये विशेष मिट्टी के बने होते हैं; कभी कभी इस मिट्टी में सिलिकॉन कार्बाइड मिला दिया जाता है जिससे उसका सामर्थ्य बढ़ जाता है और वह अधिक टिकाऊ हो जाता है। प्रत्येक रिटॉर्ट में से प्रतिदिन ४५–७५ पौण्ड यशद प्राप्त होता है। यशद का परिष्करण द्राववेचन (लिक्वेशन) रीति से किया जाता है, इसमें द्रावित धातु में सीस और लौह पृथक होकर द्राव (मेल्ट) की तह में बैठ जाते हैं।

छोटे छोटे रिटॉर्टों से थोड़ा थोड़ा यशद प्राप्त करने में काफी असुविधा होती थी तथा धातु की विशाल मात्रा उत्पन्न करना अधिक संभव न था, इसलिए अब ऊर्ध्वाधर रिटॉर्टों से अविराम आसवन रीति का विकास किया गया है, जिससे ४ टन यशद प्रतिदिन प्राप्त किया जा सकता है। समय समय पर रिटॉर्ट के ऊपरी भाग से अयस्क और कोयले का मिश्रण डाला जाता है तथा अवशिष्ट पेंदे में से निरन्तर एक जल-मुद्रा (वाटर सील) में निकलता रहता है। एक झुके हुए संनाल (कॉण्डुइट) के द्वारा क्षैतिज संघनक से जुड़ा रहता है। इससे संघनक में पहुँचने के पहले गैसें काफी

ठंढी हो जाती हैं। संघनक में पहुँच कर वाष्प के धीरे धीरे ठंढा होने से प्रायः पूर्ण संघनन होता है और "ब्लू पाउडर" नहीं बनने पाता। आजकल उच्च शुद्धता वाले यशद की भारी माँग हो गयी है अतः अब इसके उच्च परिष्करण के लिए पुनरासवन किया जाता है।

जल धातुकर्मिक विधा में अयस्क के उद्‌विलयन के बाद उसके विलयन से शुद्ध यशद का विद्युदांशिक रोपण किया जाता है। यह विधा (प्रोसेस) इतनी प्रचलित हो गयी है कि संसार के समस्त उत्पादन का ३५% यशद केवल इसी एक विधा से उत्पन्न किया जाता है। तनु सल्फ्यूरिक अम्ल से उद्‌विलयन (लीचिंग) करने के बाद तथा विद्युदांशन के पहले यशद सल्फेट का सावधानी से शोधन करना पड़ता है। अशुद्धियों को निकालने के लिए या तो चूना छोड़ा जाता है अथवा अन्य किसी तरह विलयन का उदासीनीकरण किया जाता है, फिर अवक्षेप को छान कर अलग कर दिया जाता है तथा छानित विलयन का यशद-धूलि द्वारा उपचार किया जाता है। धात्वीय यशद तो विलीन होने लगता है और विद्युतविभव श्रेणी (ऐलेक्ट्रो पोटेन्शियल सिरीज़) में उससे नीचे वाली धातुओं का अवक्षेपण हो जाता है। इस अवक्षेप को छानकर अलग कर देने के बाद स्वतंत्र अम्ल सहित यशद सल्फेट का शुद्ध विलयन शेष बच जाता है। इसी विलयन को सीस विद्युदग्रों वाले विद्युदांशिक सेलों में डाल कर ९९·९०–९९.९९% शुद्धतावाले यशद का रोपण किया जाता है।

गल जाने पर यशद बड़ा तरल होता है तथा जमने पर बहुत कम आकुंचित होता है। इसलिए ऐसी साँचा ढलाई के लिए यह अति उत्तम धातु है, जिसमें अत्यधिक बारीकियाँ होती हैं। जल-प्रदाय के स्यूम रहित (सीमलेस) नलों को बनाने के लिए भी यह धातु इस्तेमाल की जाती है। यह सीसे की नलियों से सस्ती और हल्की होती है। यशद का सर्वाधिक प्रयोग धातुओं के गैल्वनीकरण में होता है अर्थात् लोहे और इस्पात के ऊपर यशद का आवरण चढ़ा देने से वह संक्षारण से बच जाता है। इसके लिए तप्त निमज्जन (हॉट डिपिंग), विद्युत्-रोपण (एलेक्ट्रो-डिपॉज़िशन) अर्थात् यशद शीकरण (स्प्रेइंग) रीतियाँ प्रयुक्त होती हैं। संक्षारण-रोधी होने के कारण यशद स्तार छत बनाने तथा प्रनालों की नालियाँ बनाने के लिए प्रयुक्त होते हैं। स्वर्ण और रजत निकालने की मुख्य रीति में सायनाइड विलयन में से उन्हें अवक्षेपित करने के लिए भी यशद का प्रयोग किया जाता है।

वंग—वंग (टिन) का उत्पादन मानव इतिहास में अति प्राचीन काल से होता आया है। प्रस्तर युग के अन्त के बाद ही आज से प्रायः ६००० वर्ष पहले इस धातु का प्रयोग प्रारम्भ हो गया था। लगभग ४००० वर्ष पूर्व से कॉर्नवाल की खानों

से यह धातु मिलने लगी थी। फोनीसियनों द्वारा कॉर्नवाल से वंग प्राप्त करने का उल्लेख १५०० ई० पू० से ही मिलता है। वे इससे काँसा बनाते थे जो भूमध्य सागर के किनारें वाले देशों में, जहाँ के लोग समुद्री व्यापार के अगुआ थे, बहुतायत से इस्तेमाल किया जाता था। आजकल तो कॉर्नवाल तथा अन्य यूरोपीय केन्द्रों में इसका उत्पादन संसार के अन्य भागों की अपेक्षा बड़ा कम है। संसार का वार्षिक वंगोत्पादन लगभग १७५,००० टन है। वंग का खनन एवं प्रद्रावण मलय देश का सबसे महत्त्वपूर्ण उद्योग है। वहाँ संसार के समस्त उत्पादन का प्रायः एक-तिहाई भाग उत्पन्न किया जाता है।

प्रारम्भिक काल से अव तक वंग की धातु-कर्म-विधा में कोई क्रान्तिकारी परिवतन नहीं हुआ है। कैसीटराइट (SnO_2) वंग का वाणिज्यिक महत्त्ववाला एक मात्र खनिज पदार्थ है। यह बड़ा भारी होता है अर्थात् इसका आपेक्षिक गुरुत्व ७·० होता है। खान से निकले अयस्क में लगभग १·५% वंग होता है। संदरों (वेन्स) में होने वाले अयस्क को 'भार वंग' (लोड टिन) कहते हैं और जलोढ़ निक्षेपों (ऐलूवियल डिपॉज़िट्स) से निकले कैसीटराइट को 'नदी वंग' (स्ट्रीम टिन) कहते हैं। यह प्रायः गोल गोल पिण्डों में पाया जाता है। नदी वंग अयस्क को कूटने की आवश्यकता नहीं होती, इसे तो केवल जलधारों में धोकर ही इसका उपचार किया जाता है। भारी कैसीटराइट इन जलधारों में ही रह जाते हैं। 'भार वंग' अयस्क को कूटकर गुरुत्वाकर्षण रीति से सांद्रित किया जाता है। एक चुम्बकीय पृथक्कारी की सहायता से लोहा और टंग्स्टन के चुम्बकीय ऑक्साइडों को कैसीटराइट से अलग किया जा सकता है, क्योंकि कैसीटराइट अचुम्बकीय होता है। वंग सांद्रित का प्रद्रावण प्रतिक्षेपी भट्ठियों में किया जाता है और कभी कभी धम भट्ठियों में भी। अयस्क का अपचयन कोयला द्वारा चूना और फ्लुओस्पार जैसे द्रावक डालकर कराया जाता है। वंग का अपचयन सरलता से हो जाता है और धातु तथा धातुमल को अलग अलग चुआ लिया जाता है अथवा कभी कभी एक ही साथ लेकर फिर पृथक किया जाता है। धातु-मल में वंग की पर्याप्त मात्रा रह जाती है अतः उसे पृथक् भट्ठियों में पुनः प्रद्रावित किया जाता है। अपरिष्कृत वंग का परिष्करण द्राववेचन (लिक्वेशन) रीति से किया जाता है, इसके लिए दंडों को ढालुए चूल्हे पर रख कर धीरे धीरे गलाया जाता है। इस परिष्कृत वंग का और शोधन द्रावित उष्मक की अशुद्धियों का ऑक्सीकरण करके किया जाता है। विद्युदांशिक परिष्करण प्रायः बहुत महँगा पड़ता है, यद्यपि इस विधा में प्राप्त क्षेप्य में से भी वंग निकाल लिया जाता है।

बाजारों में वंग सिल अथवा छोटे छोटे डंडों के रूप में बिकता है। इसके क्रय-

विक्रय का मुख्य केन्द्र लन्दन में है तथा "लन्दन मेटल एक्सचेंज" मानक वंग के दाम प्रकाशित किया करता है। 'मानक' वंग में कम से कम ९९·७५% वंग होना चाहिए। यद्यपि महत्त्वपूर्ण औद्योगिक मिश्रधातुओं के आवश्यक संघटक के रूप में वंग का काफी व्यापक प्रयोग होता है, फिर भी इस धातु की ५० प्रतिशत से अधिक खपत शुद्ध दशा अथवा कुछ तत्त्वों की लेश मात्रा की मिलावट के साथ होती है। इसकी कुछ औद्योगिक मिश्रधातुएँ ये हैं---साँचा ढलाई मिश्रधातु, टाँका, तथा श्वेत बेयरिंग मिश्रधातु जिसे "बैबिट धातु" भी कहते हैं, इत्यादि। मृदु इस्पात के आवरणार्थ वंग का मुख्य प्रयोग होता है। मृदु इस्पात अपने भौतिक गुणों के कारण अनेक प्रकार की वस्तुओं के बनाने के लिए बड़ा उत्तम पदार्थ है, और जब तप्त निमज्जन अथवा विद्युत्रोपण विधा से इसके ऊपर वंग का एक पतला स्तर चढ़ा दिया जाता है तो विविध औद्योगिक एवं घरेलू कामों के लिए यह और भी उपयुक्त पदार्थ हो जाता है। आजकल टिन कनस्टरों को कौन नहीं जानता और इनका कितना प्रचलन है, इसे बताने की भी आवश्यकता नहीं, टिन के डब्बे खाद्य पदार्थ भरने के लिए बहुत काम आते हैं। इसका विशेष कारण यह है कि इन पदार्थों में होनेवाले अम्लों का वंग पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। खाद्य पदार्थों एवं तम्बाकू इत्यादि के लपेटने के लिए भी वंग पर्ण (टिन फ्वॉयल) का खूब प्रयोग होता है, यद्यपि हाल में इसके स्थान पर अलूमिनियम पर्ण काफी इस्तेमाल होने लगे हैं।

लघुक मिश्रधातु––लघक मिश्रधातुओं के लिए अलूमिनियम और मैग्नीसियम बड़ी उपयुक्त धातुएँ हैं, क्योंकि इनका आपेक्षिक गुरुत्व कम होता है और मूल्य भी बहुत अधिक नहीं होता। इसके अलावा इनके यांत्रिक गुण भी बड़े उत्तम होते हैं। वायुयान उद्योग में ऐसी मिश्रधातु की प्रबल माँग के कारण इनका बड़ा आशु विकास हुआ है। बेरीलियम विशिष्ट गुणोंवाली एक अन्य धातु है जिसका आपेक्षिक गुरुत्व लगभग मैग्नीसियम के समान होने के साथ साथ प्रत्यास्थता गुणांक (मॉडुलस ऑफ इलैस्टीसिटी) बहुत ऊँचा होता है। परन्तु इसका धातुकर्मिक उपचार बहुत महँगा है, जिसके कारण इसका व्यापक प्रयोग अब तक संभव नहीं हो सका है।

बाक्साइट अशुद्ध जलीयित अलूमिना का खनिज पदार्थ है और इसी से अलूमिनियम प्राप्त होता है। बाक्साइट सबसे अधिक फ्रान्स में उत्पन्न होता है, किन्तु अब समस्त बाक्साइट का लगभग छठवाँ भाग संयुक्त राज्य अमेरिका से प्राप्त होने लगा है। अलूमिनियम के उत्पादन में सबसे पहले बायर विधा से अपरिष्कृत बाक्साइट का शोधन करना पड़ता है। एतदर्थ खनिज को सुखा तथा पीस कर प्रबल दह-सोडा के साथ १६०° से० तथा ४ या ५ वायुमण्डल दाब पर उसका कई घण्टे तक

पाचन किया जाता है, इससे सोडियम अलुमिनेट का विलयन तैयार हो जाता है तथा लोहा और टिटैनियम इत्यादि के ऑक्साइड एक लाल पंक के रूप में अविलेय रह जाते हैं। विलयन को छान लेने के बाद उसके विक्षोभण से हाइड्राक्साइ का अवक्षेपण होने लगता है। इस अवक्षेप को घूर्णन भट्ठों में निस्तापित (कैल्साइण्ड) किया जाता है, जिससे शुद्ध Al_2O_3 प्राप्त होता है। इस ऑक्साइड से धातु तैयार करने के लिए क्रियोलाइट (Na_3AIF_6) के द्रावित उष्मक का, जिसमें अलुमिना विलीन होता है, विद्युदांशन किया जाता है। इस काम के लिए विद्युदांशिक सेल लोहे के बने होते हैं, जिनके पेंदे में कार्बन का एक अस्तर होता है; यही स्तर विधा प्रारम्भ करने के लिए ऋणाग्र का काम करता है, किन्तु ज्यों ही थोड़ा अलुमीनियम उत्पन्न हो जाता है वह स्वयं ही ऋणाग्र का काम करने लगता है। धनाग्र के लिए कार्बन की छड़ें प्रयुक्त होती हैं जो ऊपर से विद्युदंश्य में डूबी हुई धातु के तल तक पहुँच जाती हैं। इस विधा का क्रियाकरण प्रायः १,०००° से० ताप पर होता है और अलूमिनियम टंकी के पेंदे में एक कुण्ड में एकत्र होता रहता है तथा समय समय पर एक टोंटी से निकाल लिया जाता है।

मैग्नीसियम की उत्पादन विधा भी अलूमिनियम की विद्युदांशिक विधा के ही समान होती है। मैग्नेसाइट खनिज कच्चा माल तथा मैग्नीसियम क्लोराइड इस विधा का उपजात होती है। जर्मनी में कार्नालाइट खनिज ($MgCL_2$ KCl. 6 H_2O) प्रयुक्त होता है तथा उससे निकला हुआ मैग्नीसियम क्लोराइट वहाँ के विशाल पोटाश उद्योग में काम आता है। निस्सारण के लिए दो प्रकार की विधाएँ इस्तेमाल की जाती हैं, एक में क्लोराइड और दूसरी में ऑक्साइड का उपचार किया जाता है। ऑक्साइड विधा तो बिलकुल अलूमिनियम निस्सारण विधा के समान होती है। इन दोनों विधाओं में द्रावित उष्मक में विद्युदांशन किया जाता है। मैग्नीसियम धातु विद्युदांश्य से हलकी होती है इसलिए सेल के ऊपर उतरा जाती है, किन्तु इसे वायु तथा धनाग्र पर उत्पन्न किसी गैस से बचाना बहुत आवश्यक है। मैग्नीसियम क्लोराइड के आर्द्रताग्राही (हाइग्रास्कोपिक) होने के कारण इसे आर्द्रता से भी बचाना चाहिए, इसके लिए क्लोराइड विधा में अजल उष्मक अनिवार्य होता है, यह काफी महँगा भी पड़ता है और इसमें कठिनाई भी होती है। मैग्नीसियम क्लोराइड के द्रावित उष्मक में NaCl या KCl होता है तथा कार्बन अथवा ग्रैफाइट के धनाग्र एवं लोहे या इस्पात के ऋणाग्र लगे रहते हैं। विद्युदांशन ७००° से० ताप पर होता है। ऋणाग्र पर मैग्नीसियम उन्मुक्त होता है तथा धनाग्र पर क्लोरीन गैस। ऑक्साइड विधा का क्रियाकरण प्रायः ९५०° से० पर होता है, इसमें मिश्रित फ्लुओराइडों का उष्मक ही

विद्युदांश्य का काम करता है, जिसमें शुद्ध MgO अर्थात् निस्तप्त (कैल्साइण्ड) मैग्नेसाइट डाला जाता है। उष्मक में ऑक्साइड की विलेयता अत्यन्त लघु (प्राय: ०·१%) होती है, किन्तु उसकी अतिरिक्त मात्रा विच्छेदित राशि को बरांबर पूरी करती रहती है। अलूमिनियम विधा के समान इसमें भी ऋणाग्र पर जो ऑक्सीजन गैस उन्मुक्त होती है उसका कार्बन मानोऑक्साइड बन जाता है। उष्मक के ऊपर विद्युदांश्य की एक तह जम जाती है और उसके नीचे द्रावित मैग्नीसियम एकत्र होता रहता है जिसे समय समय पर दर्वी की सहायता से निकाला जाता है।

मैग्नीसियम के उत्पादन के लिए अन्य रीतियाँ भी निकाली गयी हैं, अनाश्रित कार्बन अपचयन एवं आसवन विधा इन्हीं में से एक है। ऐसा माना जाता है कि इस विधा से उत्पन्न मैग्नीसियम विशेष रूप से शुद्ध होता है, तथा जो अशुद्धियाँ रहती भी हैं वे उतनी हानिकर नहीं होतीं जितनी विद्युदांशिक विधा वाले मैग्नीसियम की। इस रीति में मैग्नेसाइट सांद्रितों में ३०% लकड़ी कोयला, कोक अथवा कोयला मिलाकर मिश्रण को प्रतिक्रिया वेश्म में डाल दिया जाता है। यह वेश्म विद्युत् चाप द्वारा २,३००° से० ताप तक तप्त किया रहता है, इस ताप पर अयस्क तो अपचयित तथा धातु उद्वाष्पित हो जाती है। वाष्प को तैल शीकरन से २००° से० तक ठंढा करके मैग्नीसियम का सूक्ष्म चूर्ण प्राप्त किया जाता है, जिसे पहले एक रिटॉर्ट में गरम करके तेल का आसवन कर लिया जाता है और फिर दूसरे रिटॉर्ट में आसवन से शुद्ध धातु प्राप्त की जाती है।

समुद्री जल में भी ०·१४% मैग्नीसियम होता है, अत: इससे भी इस धातु का निकालना और बनाना औद्योगिक महत्त्व की क्रिया हो गयी है। समुद्री जल में चूना अथवा निस्तप्त डोलोमाइट डाल कर मैग्नीसियम हाइड्रॉक्साइड का अवक्षेपण किया जाता है। इस विधा में यद्यपि जल की बहुत बड़ी मात्रा लेकर काम करना पड़ता है, किन्तु और क्रियाकरण कठिन नहीं सरल ही है। pH और ताप का नियंत्रण करने से अवक्षेप जल्द नीचे बैठ जाता है और शीघ्रता एवं सरलता से छाना जा सकता है, कोई अवेध्य तह नहीं बनने पाती। इस अवक्षेप का निस्तापन करके ऑक्साइड बना लिया जाता है अथवा हाइड्रोक्लोरिक अम्ल से उपचार करके क्लोराइड बना कर निस्तप्त किया जाता है। तदुपरान्त बाष्प के रूप में धातु पृथक् की जाती है। फेरो-सिलिकॉन, अलूमिनियम इत्यादि जैसे अपचायक के साथ शुष्क ऑक्साइड को मिला करके उसका अपचयन किया जाता है। चूँकि यह क्रिया वायु की उपस्थिति में नहीं हो सकती, इसलिए एतदर्थ प्राय: निर्वात अवस्था ही आवश्यक होती है।

अलुमिनियम तथा इसकी मिश्रधातुओं का बेल्लन, तथा कुट्टन किया जा सकता

है, और उनसे तार खींचे जा सकते हैं। यह धातु दाब से प्रवाही भी हो जाती है। विमान, मोटरकार तथा घरेलू बर्तन बनाने में इसका अत्यधिक प्रयोग होता है। इसकी कुछ मिश्रधातुओं में हलकेपन के साथ साथ मजबूती का ऐसा गुण होता है जैसा शुद्ध धातु में संभव नहीं होता। उत्तोदन (एक्स्ट्रूज़न), ताप कुट्टन (फोर्जिंग) एवं अन्य प्रकार की संविरचना (फ्रैब्रिकेशन) के लिए इसकी मैग्नीसियम मिश्रधातु के प्रयोग से काफी प्रगति की गयी है। मैग्नीसियम का केलासन षड्भुजीय पद्धति से होता है अतः इसमें सान्द्र विलयन बनाने की क्षमता अलूमिनियम की अपेक्षा कम होती है। युद्ध-काल में दाही बमों (इन्सेण्डियरी बाम्ब) का पिंड (ढाँचा) बनाने में मैग्नीसियम मिश्रधातु का बहुत व्यापक प्रयोग हुआ था। इस धातु की ज्वलन-शीलता (इन्फ्लैमेबिलिटी) के बावजूद भी इसकी मिश्रधातुओं की ढलाई बिना किसी कठिनाई के की जा सकती है, इसके लिए एक उपयुक्त द्रावक तथा सल्फर डाइ ऑक्साइड के वायुमण्डल की आवश्यकता होती है। विमानों के नोदक (प्रोपेलर्स) तथा वायु पेंच (एयर स्क्रू) बनाने के लिए यद्यपि सामान्यतः अलुमिनियम मिश्रधातुओं का प्रयोग होता है, किन्तु अब मैग्नीसियम मिश्रधातुओं का भी विकास किया गया है। इनके प्रयोग से अपकेन्द्र बल के कारण उत्पन्न प्रतिबल (स्ट्रेस) को कम किया जा सकता है, जिससे विमान शीघ्रता से ऊपर उठ सकता है और उड़ान में बड़ी सरलता और शीघ्रता होती है। मैग्नीसियम मिश्रधातुओं का यंत्रण भी बड़ी सरलता से किया जा सकता है जब कि कुछ अलुमिनियम मिश्रधातुओं का यंत्रण काफी कठिन होता है और उनकी कटाई के लिए विशेष उपकरणों की आवश्यकता पड़ती है। किन्तु अब ऐसी अलुमिनियम मिश्रधातुएँ भी बनने लगी हैं जिनका यंत्रण सरलता से किया जा सकता है। भविष्य में हलकी मिश्रधातुओं का महान् विकास होगा, यह निश्चित है।

ग्रंथ-सूची

CARPENTER, SIR H., AND ROBERTSON, J. M. : *Metals*. Oxford University Press.

CLARK, G. L. : *Applied X-Rays*. McGraw Hill Book Co., Inc.

CLEMENTS, F. : *Blast Furnace Practice*, Vols. I-III. Ernest Benn, Ltd.

DESCH, C. H. : *Metallography*. Longmans, Green & Co.

GOWLAND, W. : *Metallurgy of the Non-ferrous Metals*. Charles Griffin & Co., Ltd.

GREAVES, R. H., AND WRIGHTON, H. L. : *Practical Microscopical Metallography*. Chapman & Hall, Ltd.
LIDDELL, D. M. : *Handbook of Non-Ferrous Metallurgy*. McGraw Hill Book Co., Inc.
METALS HANDBOOK, 1939 Ed. American Society for Metals.
ROLLASON, E. C. : *Metallurgy for Engineers*. Edward Arnold & Co.
STOUGHTON, B., AND BUTTS, A. : *Engineering Metallurgy*. McGraw Hill Book Co. Inc.

उष्मसह पदार्थ

वाल्टर जे० रीज़, ओ० बी० ई०, डी० एस-सी० टेक० (शेफील्ड), एफ० आर० आई० सी०

आधुनिक प्रौद्योगिकी में 'उष्म सह पदार्थों' से ऐसे पदार्थों का तात्पर्य है जिनमें उच्च द्रवणांक अर्थात् उष्म सहता के अतिरिक्त गलते हुए अथवा गले हुए काँच तथा धातुमलों की संक्षारण क्रिया जैसी अन्य क्रियाओं का भी सामना करने की क्षमता हो।

उष्मसह पदार्थों का उपयोग उन सभी उद्योगों में होता है जिनमें उष्मा का प्रयोग होता है। चूल्हे तथा गैस एवं विद्युत विकिरकों के तत्त्व बनाने में उनका घरेलू उपयोग भी बड़ा व्यापक है। यदि यह कहा जाय कि उष्मसह पदार्थों के बिना हमारी आज की सभ्यता ही संभव न होती तो कोई अत्युक्ति न होगी, क्योंकि आधुनिक जीवन की अनेक आवश्यक एवं सुविधा की वस्तुएँ तैयार करने में किसी न किसी अवस्था पर इन पदार्थों की आवश्यकता होती है।

उष्मसह पदार्थों को, उनके रासायनिक गुणों के अनुसार तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—अम्ल, पैठिक तथा उदासीन। किन्तु ये पदार्थ प्रायः बहुत शुद्ध नहीं होते अतः उनका सुस्पष्ट वर्गीकरण संभव नहीं है। सिलिका तथा अग्नि मिट्टी अम्ल वर्ग के सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण उष्मसह हैं। सिलिका की ईंटें बनाने के लिए क्वार्टज़ाइट शिला प्रयुक्त होती है, जिसमें ९७% सिलिका होता है परन्तु कुछ विशेष प्रयोजनों के लिए उच्च सिलिका बालू भी इस्तेमाल होती है। केवल रासायनिक विश्लेषण से ही किसी सिलिका शिला की उत्तमता का यथेष्ट देशन नहीं होता, इसके अलावा उसके कणों के परिमाण एवं उसकी दृढ़ता भी बड़ी महत्त्व-

पूर्ण बातें हैं। अग्निमिट्टी के रासायनिक निबन्ध भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं, जिनके कारण उनसे औद्योगिक भट्ठियों की विविध अवस्थाओं एवं आवश्यकताओं के उपयुक्त विभिन्न प्रकार की अग्निईंटें बनायी जा सकती हैं। प्रायः सभी प्रकार की अग्निमिट्टी में १—४ प्रतिशत लोहा ऑक्साइड होता है; (यह कच्ची मिट्टी में माक्षिक, मार्कसाइट, लोह पत्थर इत्यादि सदृश खनिजों के रूप में विद्यमान होता है।) इसलिए इनसे बनी अग्निईंटें बहुत सी भट्ठियों के क्रियाकरण में उत्पन्न अपचायक अथवा धूममय वायुमण्डल के प्रति बड़ी सुग्राही होती हैं। धम भट्ठियों के जैसे कार्बन मॉनो-ऑक्साइड युक्त वायुमण्डल में अग्निईंटों का टिकाऊपन अग्निमिट्टी में विद्यमान लोहे के विशिष्ट रूप पर निर्भर होता है; यदि स्वतंत्र लोहा ऑक्साइड मौजूद हुआ तो इससे कार्बन मॉनोआक्साइड के पृथक हो जाने से ईंटों के अन्दर कार्बन जमा होने लगेगा, जिससे ईंटें विखण्डित हो जायँगी। ऐसी परिस्थितियों में टिकाऊ होने के लिए यह आवश्यक है कि अग्निईटें इस प्रकार जलायी जायँ कि उनका लोहा जटिल सिलिकेट के रूप में संयुक्त रहे।

सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण पैठिक उष्मसह पदार्थ मैग्नेसाइट तथा डोलोमाइट से तैयार किये जाते हैं। किन्तु ब्रिटिश द्वीप समूह में मैग्नेसाइट की प्राकृतिक खानें न होने से अभी हाल में समुद्री जल से मैग्नेसिया निस्सारण की रीति निकाली गयी है। समुद्री जल के साथ चूने अथवा निस्तप्त डोलोमाइट की प्रतिक्रिया के भौति-रासायनिक अनुशीलन के फलस्वरूप यह आविष्कार हुआ है। स्थायी डोलोमाइट ईंटों के उत्पादन में अभी हाल में बड़ी प्रगति हुई है और अब पैठिक इस्पात भट्ठियों में मैग्नेसाइट ईंटों की जगह पर बहुत हद तक यही ईंटें प्रयुक्त होने लगीं हैं।

उदासीन उष्मसह पदार्थों में कार्बन अर्थात् ब्लम्बैगों अथवा ग्रैफाइट तथा क्रोम बड़े महत्व के हैं। क्रोम तथा क्रोम-मैग्नेसाइट ईंट बनाने के लिए विविध क्रोमाइटों की उपयुक्तता का विशेष अनुशीलन किया गया है और इसके फलस्वरूप इन ईंटों की उत्तमता अब बहुत बढ़ गयी है।

कुछ ऐसे भी उष्मसह पदार्थ हैं जो उपर्युक्त वर्गों में नहीं आते किन्तु अपने विशिष्ट भौतिक एवं रासायनिक गुणों के कारण भट्ठियों के बनाने अथवा अन्य कामों में बहुतायत से प्रयुक्त होने लगे हैं। इनमें सिलिमैनाइट, अलूमिना (बाक्साइट सहित), ज़िरकॉन तथा जिरकोनिया, और सिलिकॉन कार्बाइड उल्लेखनीय हैं।

गत कुछ वर्षों में किये गये सैद्धान्तिक अर्थात् आधारभूत अनुसन्धानों के फलस्वरूप अनेक ऐसे "अधि-उष्मसहों" (सूपर-रिफ्रैक्टरीज़) का विकास हुआ है, जो बहुत ऊँचे द्रवण ताप, उत्पादन की वृहत्तर गति एवं अति संक्षारी धातुमलों इत्यादि

बल्कि गलन-परास (मेल्टिंग रेंज) होता है। और ज्यों ही ईंटों का मृदुलन प्रारम्भ होता है भार अथवा दाब संभालने का उनका सामर्थ्य बड़ी शीघ्रता से समाप्त होने लगता है। अधिकांश ईंटों के लिए यह ताप १,१००° से० से अधिक नहीं होता। रासायनिक प्रतिक्रियाओं के अनुशीलन से तप्त करने पर ईंटों के यांत्रिक सामर्थ्य के इस ह्रास के कारण ज्ञात हुए हैं, जिससे न केवल ईंटों की बनावट में उन्नति की जा सकी है वरन् भट्ठियों की प्ररचना (डिज़ाइन) में भी महत्त्वपूर्ण सुधार किये गये हैं। इनसे अन्य अग्नि-मिट्टियों के सूक्ष्म रासायनिक परीक्षण तथा वाणिज्यिक रूप से व्यवहार्य रीतियों के अनुशीलन को भी बड़ी प्रेरणा मिली है और इनमें से अवांछनीय खनिज अशुद्धियों का निरसन संभव हुआ है।

सुघट्य (प्लास्टिक) मिट्टी बनाने में अब विवातन अर्थात् डी-एयरिंग" विधा का प्रयोग किया जाने लगा है। सुघट्य मिट्टी में अवशोषित अथवा अन्तराविष्ट वायु का घर्षण (फ्रिक्शनल) प्रभाव होता है, जिसके कारण उसकी सुघट्यता का पूर्ण विकास नहीं हो पाता। अतः सुघट्य मिट्टी को एक ऐसे वेश्म में होकर पार कराया जाता है जो शून्यक पम्प से जुड़ा होता है, इस प्रकार उसकी अधिकांश अन्तराविष्ट वायु निकल जाती है। ऐसा करने से न केवल सुघट्य मिट्टी की कार्यकारिता बढ़ जाती है वरन् निष्पन्न अग्नि-ईंटों की घनता भी बढ़ जाती है तथा उसकी रन्ध्रिता एवं पारगम्यता कम हो जाती है। घनता बढ़ने तथा रन्ध्रिता और पारगम्यता कम हो जाने से ईंटों का टिकाऊपन बहुत बढ़ जाता है, क्योंकि उनमें उन वाष्पों तथा धातुमलों का प्रवेश अवरुद्ध हो जाता है जो उनके क्षय के विशेष कारण होते हैं।

पुराने समय में उष्मसह ईंटें हाथ से साँचे में ढाली जाती थीं, किन्तु अब यह काम मशीनों द्वारा किया जाता है। मशीनों द्वारा साँचों में प्रायः ५–६ पौण्ड वर्ग इंच दाब पड़ता है। इसका एक प्रमुख लाभ तो यह है कि ईंटें आकार, परिमाण तथा परिरूप में एकसम होती हैं। जब भट्ठियों की दीवालों का विघर्षण (वियर) होने लगता है तो यह देखा गया है कि विघर्षण मुख्यतः ईंटों के जोड़ों में प्रारम्भ होता है। एकसम आकार, परिमाण और परिरूप की ईंटों के प्रयोग से ये जोड़ बहुत ही सन्निकट हो जाते हैं और इसलिए भट्ठियों की आयु बढ़ जाती है।

यद्यपि उष्मसह ईंटों की उष्मा चालकता उतनी अधिक नहीं होती जितनी धातुओं की, फिर भी पर्याप्त होती है जिसके फलस्वरूप भट्ठी की दीवालों और उसकी छतों के द्वारा उसकी उष्मा का काफी ह्रास हो जाता है और उसकी उष्मा कुशलता बहुत कम हो जाती है। इस कठिनाई के निवारण के लिए लघु भारवाली रन्ध्रि अग्नि-ईंटें बनायी जाने लगी हैं, इनकी उष्मा-चालकता साधारण ठोस ईंटों की चाल-

कता का केवल पाँचवाँ भाग होती है। इन पृथक्कारी अग्नि-ईंटों के प्रयोग से भट्ठी के बाहर विकिरण द्वारा उष्मा के ह्रास में बड़ी कमी हो गयी और उसके साथ साथ भट्ठी को किसी निश्चित ताप पर बनाये रखने के लिए ईंधन की खपत में भी। इन ईंटों की लघु उष्मा-धारिता से भट्ठी की कार्य-क्षमता में भी बड़ी महत्त्वपूर्ण उन्नति हो गयी है।

कभी कभी भट्ठी के कुछ भागों को ऐसी ईंटों से बनाना पड़ता है जो उष्मा प्रेषण (ट्रान्समिट) का काम साधारण अग्नि-ईंटों की अपेक्षा अधिक अच्छा कर सकें, और इसके लिए सिलिकॉन कार्बाइड की ईंटें इस्तेमाल की जाती हैं; इनका द्रवणांक २०००° से० से भी ऊँचा होता है तथा इनकी उष्मा चालकता साधारण अग्नि-ईंटों की चालकता की प्रायः दसगुनी होती है।

भट्ठियों के अस्तरों के कुछ भाग की आजकल एकाश्म (मोनोलिथिक) बनावट होती है। यह रोचक विकास भी ऊपर वर्णित अनुसन्धानों का ही फल है। भट्ठी के अस्तर की ऐसी बनावट का सबसे बड़ा लाभ यह है कि इसमें बिलकुल कोई जोड़ नहीं होता।

गत कुछ वर्षों में इस्पात, लोहा तथा अलोहस ढलाईघरों के लिए संश्लिष्ट साँचा-ढलाई बालू के उत्पादन एवं प्रयोग में बड़ी काफी प्रगति हुई है। यह भी रासायनिक अनुसन्धानों का प्रत्यक्ष फल है। संश्लिष्ट बालू तैयार करने से उष्मसहता, बन्ध सामर्थ्य (बॉण्ड स्ट्रेंग्थ) तथा पारगम्यता जैसे उसके गुणों का प्राकृतिक बालू की अपेक्षा कहीं अधिक सुन्दर नियंत्रण किया जा सकता है, तथा फिर से इस्तेमाल करने के लिए बालू को पुनः प्राप्त करनेवाले उपादेयकरण (रिक्लैमेशन) संयंत्रों का क्रियाकरण और अधिक प्रभावी बनाया जा सकता है।

जिन आधारभूत एवं प्रयोगात्मक अनुसन्धानों के कारण उष्मसह पदार्थों की प्रौद्योगिकी में महती प्रगति हुई है, उनका प्रायः सम्पूर्ण श्रेय रसायनज्ञों को ही है। इन अनुसन्धानों के ऊपर लिखित प्रयोगों के अलावा बहुत से अन्य अप्रत्यक्ष एवं बहुमूल्य प्रयोग किये गये हैं। विशेष प्रकार के स्फुल्लिग-निग कायों (स्पार्किंग-प्लग बॉडी) का उत्पादन इन व्यावहारिक प्रयोगों में से सबसे रोचक बात है। आधुनिक बहु-सिलिन्डर वायुयान इंजनों जैसे अन्तर दाही इंजनों के अन्दर की कठिन परिस्थितियों का यह बड़ी सफलता से सहन कर लेता है।

ग्रंथ-सूची

CHESTERS, J. H. : *Steel Plant Refractories.* United Steel Cos. Ltd.

COMBER, A. W. : *Magnesite.* Royal Institute of Chemistry.

KNIBBS, N. V. S. : *Lime and Magnesia.* Ernest Benn, Ltd.

NORTON, F. H. : *Refractories.* McGraw Hill Book Co. Inc.

PARTRIDGE, J. H. : *Refractory Materials.* Royal Society of Arts.

RIES, H. : *Clays, Their Occurrence, Properties and Uses.* John Wiley & Sons.

SEARLE, A. B. : *Refractories for Furnaces, Kilns, Retorts, etc. Refractory Materials, Their Manufacture and Use.* Charles Griffin & Co., Ltd.

SEXTON, A. H. : *Fuel and Refractory Materials.* Blackie & Son, Ltd.

SOSMAN, R. B. : *Properties of Silica.* Reinhold Publishing Co.

WILSON, H. : *Clay Technology.* McGraw Hill Book Co. Inc.

अध्याय १७

भवननिर्माण सामग्री

भवननिर्माण सामग्री; गारा; सिमेण्ट; ऐस्फाल्ट तथा विटुमेन। सिरामिक: मिट्टी के बर्तन, पोर्सिलेन तथा पत्थर के बर्तन; काँच; एनामल

गारा और सिमेण्ट

डी० ईर्विन वाटसन, बी० एस-सी० (लन्दन), ए० आर० आई० सी०

मिट्टी का गारा सबसे साधारण एवं प्राचीनतम सिमेन्टीय सामग्री है जो अब तक इस्तेमाल होती है। मिट्टी को लकड़ी की छड़ियों तथा घास से संबलित (रीइन्फोर्स्ड) करके अफ्रीका निवासी उससे अपने झोपड़े बनाते हैं। चूना, बालू और पानी को अच्छी तरह मिला कर मामूली गारा बनाया जाता है, यद्यपि विज्ञान से यह सिद्ध हो चुका है कि चूना और बालू के बीच कोई रासायनिक प्रतिक्रिया नहीं होती; बालू केवल एक तनुकर्ता का काम करती है। केवल चूने का प्रयोग करने से जो अनावश्यक सिकुड़न होती है वह बालू मिलाने से नहीं होती। गारे में से पानी सूखने से ही वह जम जाता है तथा कैल्सियम कार्बोनेट के केलासों के पारस्परिक गूँथन से कठोर हो जाता है, इससे समस्त सामग्री एक संलागी (कोहेयरेण्ट) पुञ्ज के रूप में बँध उठती है।

उपर्युक्त तथ्यों से ज्ञात होने के पूर्व ही अनुभव द्वारा यह सिद्ध हो चुका था कि अशुद्ध चूने के बजाय शुद्ध चने से अच्छा गारा बनता है। जलप्रेरित गारे (हाइड्रालिक मॉर्टर) तथा सिमेण्ट की संरचना एवं प्रतिक्रिया संबन्धी ज्ञान १८८७ में ली चैटेलियर के अनुसन्धानों के प्रकाशन तक प्रायः अनिश्चित ही रहा, यद्यपि स्मीटन ने १७५६ में हाइड्रालिक मॉर्टर अथवा चूनपत्थर (लाइम स्टोन) की प्रकृति के बारे में कुछ अनुशीलन अवश्य किया था। यह प्रयत्न एडिस्टोन लाइट हाउस की नींव के लिए उपयुक्त सामग्री की खोज के संबन्ध में किया गया था। स्मीटन ने अपने एक रसायनज्ञ मित्र कुकवर्दी से परामर्श किया और उन्होंने उनको चूनपत्थर के विश्लेषण की सलाह

दी। इससे पता लगा कि मिट्टी हाइड्रालिक चूनपत्थर का एक आवश्यक अंग है। उन्होंने यह भी पता लगाया कि चूनपत्थर को भस्म करने से जो चूना तैयार होता है वह जलसंह गारा बनाने के लिए मोटे अर्थात् शुद्ध चूने से अधिक अच्छा होता है।

सीमेण्ट बनाने के लिए चूनपत्थर या खड़िया और मिट्टी के मिश्रण को भट्ठी में उस ताप तक तप्त किया जाता है जब झाँवा बन जाता है। इस प्रकार प्राप्त पदार्थ को बारीक पीसकर चूर्ण बना लिया जाता है। यही बाजारों में सीमेण्ट के रूप में बिकता है। १७९६ में जेम्स पार्कर ने मृन्मय चूनपत्थर (आर्जीलियस लाइम स्टोन) को ही तप्त करके रोमन सीमेण्ट तैयार किया था। इस चूनपत्थर में दोनों आवश्यक संघटक मौजूद थे। मृन्मय चूनपत्थर के स्थान पर मिट्टी और चूने के मिश्रण को तप्त करके रोमन सीमेण्ट की नकल करने के प्रयत्न से पोर्टलैण्ड सीमेण्ट के निर्माण का प्रारम्भ हुआ। इस रीति के कारणों एवं क्रियाओं के बारे में कुछ भी ज्ञात न था और कभी कभी अशम्य (अनस्लेकेब्ल) भाग के रूप में सर्वोत्तम भाग फेंक दिया जाता था। भट्ठी के अन्दर होनेवाली रासायनिक प्रतिक्रियाओं के बारे में कुछ सोचा ही नहीं जाता था, यहाँ तक कि जब वैज्ञानिकों ने अनुसन्धान करके कुछ तथ्य प्रकाशित भी किये तब भी निर्माताओं को उनसे लाभ उठाने में बड़ा समय लगा। अब तो यह सर्व-विदित है कि भट्ठी में चूना और मिट्टी की रासायनिक प्रतिक्रिया के फलस्वरूप कैल्सि-यम सिलिकेट तथा अलुमिनेट बन जाता है। जब सीमेण्ट जल द्वारा उपचारित किया जाता है तब उसका विच्छेदन हो जाता है जिससे शमित अर्थात् बुझाया हुआ चूना तथा सिलिका और अलुमिना से व्युत्पन्न अम्ल तैयार हो जाते हैं। इन पदार्थों की पुनः प्रतिक्रिया होती है और जलीयित सिलिकेटों तथा अलुमिनेटों के गुथे हुए केलास बन जाते हैं, जिससे उसमें बड़ी दृढ़ता आ जाती है और पहले वह जमता और फिर कठोर हो जाता है। ये सभी क्रियाएँ एक ही विधा के विविध क्रम हैं। इस प्रकार रसायनज्ञों के प्रयत्नों से ऐसे तथ्यों का उद्घाटन हुआ जिनसे सीमेण्ट-निर्माताओं को अपने उत्पा-दन की उत्तमता बढ़ाने में प्रचुर सहायता मिली।

किन्तु सीमेण्ट सम्बन्धी रसायन के अध्ययन से उपर्युक्त बातों के अतिरिक्त हमें और भी लाभ हुए। रसायनज्ञों ने यह भी बताया कि सीमेण्ट में मैग्नीसिया की अधि-कता तथा सल्फेटों की अशुद्धता से उसकी जलरोधी शक्ति में भारी कमी हो जाती है; अतः ऐसे पदार्थों का निरसन तथा उन्हें सुनिश्चित सीमाओं के अन्दर ही सीमेण्ट में रहने देना परमावश्यक है। समुद्री जल के सम्पर्क में आनेवाली कंकरीट-नींवों के बनाने के लिए इस्तेमाल होनेवाले सीमेण्ट से या तो एकदम ठोस और अवेध्य पुञ्ज बनना चाहिए या उस पर अवेध्य पत्थर का आवरण लगाना होता है, क्योंकि

समुद्री जल में सल्फेटों और मैग्नीसिया के लवणों की बड़ी अधिकता होती है, इसलिए अगर इस जल का प्रवेश हो जाय तो सीमेण्ट का विच्छेदन होने से इमारत कमजोर हो जाती है तथा उसकी आयु कम हो जाती है।

इससे स्पष्ट है कि ऐसी अशुद्धियों के लिए निश्चित मानक एवं विशिष्टियों के निर्धारण की बड़ी आवश्यकता हुई; क्योंकि इन्हीं के ऊपर बड़े बड़े एवं बहुमूल्य भवनों का स्थायित्व निर्भर करता है। एतदर्थ १९०४ में 'इञ्जीनियरिंग स्टैण्डर्ड्स कमेटी' द्वारा नियुक्त एक उपसमिति ने 'ब्रिटिश स्टैण्डर्ड्स स्पेसिफिकेशन' का सूत्रपात किया। इस उपसमिति में इञ्जीनियर, ठीकेदार, रसायनज्ञ, शिल्पी, निर्माता तथा जन-कार्यों के लिए बड़ी मात्रा में पोर्टलण्ड सीमेण्ट का प्रयोग करनेवाले प्रशासनिक निकायों के प्रतिनिधि सम्मिलित थे। इन विशिष्टियों (स्पेसिफिकेशन) में रासायनिक एवं यान्त्रिक दोनों प्रकार की परीक्षाओं का समावेश है। आगे चलकर इसमें कुछ संशोधन अवश्य हुए किन्तु उत्पादकों एवं उपयोक्ताओं द्वारा स्वीकृत ये वैज्ञानिक स्पेसिफिकेशन मोटे तौर पर आज भी वैसे ही हैं।

१८८७ में ली चैटेलियर के अनुसन्धानों के प्रकाशन के बाद से भवननिर्माण-संबन्धी सामग्रियों तथा समस्याओं के बारे में अन्वेषण के लिए रसायनज्ञ बड़ी तत्-परता एवं सफलतापूर्वक अग्रसर हुए। कभी कभी पोर्टलैण्ड सीमेण्ट से बनी कंकरीट-नींवों को बनाने में बड़ी अप्रत्याशित असफलता हुई। ऐसी असफलताओं के कारणों की खोज करने पर यह ज्ञात हुआ कि उस स्थानविशेष की भूमि के नीचे जल में सल्फेट अधिकता से विद्यमान थे, जिनकी प्रतिक्रिया की वजह से ही सीमेण्ट का विच्छेदन हुआ और नींव को क्षति पहुँची। यह प्रतिक्रिया किन दशाओं में उग्रतर हो जाती है, इसका अध्ययन किया जाने लगा। १९२६ में बीड ने अपने अनुसन्धानों के परिणामों को प्रकाशित किया जिसके फलस्वरूप अलुमिनीय सीमेण्ट का वाणिज्यिक विकास हुआ। खड़िया और बाक्साइट के मिश्रण के द्रावण से यह सीमेण्ट तैयार किया जाता है और इसमें मुख्यतः कैल्सियम अलुमिनेट होता है। इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इस पर सल्फेटों के आक्रमण का कोई प्रभाव नहीं होता तथा यह जल के प्रति इतना क्रियाशील है कि इससे बनी कंकरीट में २४ घण्टे के अन्दर ही प्रचुर दृढ़ता आ जाती है। जमने की प्रतिक्रिया में इतनी ऊष्मा निकलती है कि उसका नियंत्रण बड़ा आवश्यक होता है। पोर्टलैण्ड सीमेण्ट और अलुमिनीय सीमेण्ट को मिलाया नहीं जाता, क्योंकि कुछ अनुपात में इसमें जल डालने से प्रायः यह तुरन्त जम जाता है।

पोर्टलैण्ड सीमेण्ट की संरचना के संबन्ध में और अनुसन्धान किये गये हैं जिनके फलस्वरूप बड़ी शीघ्रता से जमनेवाले पोर्टलैण्ड सीमेण्ट का विकास किया जा सका

है। इनसे भी २४ घण्टे के अन्दर ही बड़ी सुदृढ़ कंकरीट बन जाती है। किन्तु ये सीमेण्ट सल्फेटों द्वारा होनेवाली क्षति को नहीं रोक पाते। लेकिन आशा है कि शीघ्र ही ऐसा पोर्टलैण्ड सीमेण्ट भी तैयार हो जायगा जो इस प्रकार की क्षति का रोधक होगा।

इस दिशा में अनेक और प्रकार के अनुसन्धान हो रहे हैं, जिनके फलस्वरूप न केवल उत्तम और रासायनिक दृष्टि से रोधी सीमेण्ट तैयार किया जा सकेगा, वरन् ऐसे साधनों का अन्वेषण किया जायगा जिनसे धम-भट्ठियों से निकले उन क्षेप्य धातुमलों का लाभकारी उपयोग किया जा सकेगा जो इस्पात-निर्माणियों के आसपास के क्षेत्रों में फेंके जाते और उनको विरूप कर देते हैं।

१९२० में इंग्लैण्ड की सरकार ने 'बिल्डिग रिसर्च बोर्ड' नियुक्त करके भवन निर्माण सबन्धी समस्याओं के वैज्ञानिक हल के महत्त्व को स्वीकार किया। ईस्ट ऐक्टन में १९२१ में अनुसन्धान प्रारम्भ हुआ और उसका ऐसी गति से विकास हुआ कि चांर वर्षों के अन्दर ही उसके लिए वाटफोर्ड में एक बहुत बड़े रिसर्च स्टेशन की स्थापना करनी पड़ी। इस संस्था द्वारा किये गये अनुसन्धानों ने भवन-निर्माण-समस्याओं के प्रति शिल्पियों और इञ्जीनियरों के विचारों में ऐसा परिवर्तन उत्पन्न कर दिया कि अब भवन-निर्माण संबन्धी शायद ही कोई ऐसी योजना हो जो रसायनज्ञों के वैज्ञानिक परामर्श के बिना सम्पन्न की जाती हो। 'बिल्डिग रिसर्च बोर्ड' ने ऐसी स्वतंत्र प्रयोग-शालाओं के सहयोग और सहायता के लिए प्रयत्न किया जहाँ भवननिर्माण-समस्याओं का विशेष अनुशीलन किया जाता है।

जब ऐसी समस्याओं का वैज्ञानिक रीति से अनुसन्धान प्रारम्भ हुआ तो भवन-निर्माणकार्यों में नयी-नयी सामग्रियों के प्रयुक्त किये जाने की संभावना विदित होने लगी तथा इस दिशा में बड़ा काम भी होने लगा। इनके फलस्वरूप कैल्सियम-सिलि-केट की ईंटें, मैग्नेसाइट सीमेण्ट, फेनायित धातुमल (फोम्ड स्लैग) तथा विभाजन ईंट (पार्टीशन ब्रिक्स) एवं प्लास्टर बोर्डों जैसी निर्माणवस्तुओं का प्रचलन हुआ है। रसायनज्ञों की प्रतिभा के परिणामस्वरूप ही सिलिको-फ्लूराइड, केज़ीन विलयनों तथा धातवीय साबुनों सदृश जलसह पदार्थों का आविष्कार हुआ। इस कार्य के लिए कैल्सियम क्लोराइड तथा पोटासियम सिलिकेट के साधारण विलयन भी प्रयुक्त होने लगे हैं।

एक सामान्य रासायनिक प्रतिक्रिया के प्रत्यक्ष प्रयोग का 'जूस्टन सीमेण्टीकरण विधा' बड़ा उत्तम उदाहरण है।

पहले सुरंग बनाने में एक कठिनाई का अनुभव होता था, क्योंकि खुले कंकड़ इतने

असंलागी होते कि कभी कभी सुरंग भयंकर रूप से ढह जाती। किन्तु अब खुले कंकड़ों में कैल्सियम क्लोराइड तथा सोडियम सिलिकेट के विलयनों को दबाव से अन्तः-क्षेपित करके यह कठिनाई दूर की जा सकती है। उपर्युक्त रासायनिक यौगिकों की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप ऐसा श्लेषक (बंधक) चिपकाऊ पदार्थ बन जाता है जो कंकड़ों को बहुत संलागी बना देता है और सुरंग के ढहने का कोई डर नहीं रह जाता।

भवन-निर्माण की कला बड़ी पुरानी है किन्तु बहुत दिनों तक यह केवल अनुभवों पर ही आधारित रही; लेकिन अब इसमें वैज्ञानिक अनुशीलन के इतनी तीव्र गति से प्रवेश करने से सर्वथा लाभ ही नहीं हुआ, वरन् अन्य उद्योगों की भाँति संक्रमण-काल में इसमें भी अनेक ऐसी कठिनाइयाँ उठ खड़ी हुईं, जिनका उस समय कोई प्रश्न ही न था जब भवन-निर्माण के काम में क्षेत्रविशेष में उपलब्ध सामग्रियों का ही प्रयोग होता था तथा वहीं के कारीगर अपने अपने अनुभव से काम लेते थे। रसायनज्ञों को इन कठिनाइयों का भी समाधान करना पड़ा है। इनमें से अधिकांश कठिनाइयों का बड़ा कारण तो आज के भवन निर्माण की द्रुत गति है जो स्वयं वैज्ञानिक अनुसन्धानों की देन है। इनका दूसरा कारण आजकल के परिवहन साधन भी हैं जिनकी सहायता से एक जगह से सामग्रियाँ दूसरे स्थान पर बड़ी सरलता से पहुँचायी जा सकती हैं, जहाँ की परिस्थितियों एवं प्रविधि के अनुकूल वे नहीं होतीं। इन दशाओं में भी वैज्ञानिक अनुशीलन की आवश्यकता हुई, जिससे सामग्रियों के गुण ठीक ठीक जाने जा सकें और उनके सफल प्रयोग की निश्चित परिस्थितियाँ निर्धारित की जायँ। कभी कभी इसमें ऐसी ऐसी जटिल समस्याएँ उठ खड़ी होती हैं जिनके हल में भी अनेक विरोधी सम्मतियाँ उपस्थित की जाती हैं। आज के विस्तृत एवं व्यापक ज्ञान के समय में इस प्रकार की परिस्थितियाँ अस्वाभाविक नहीं वरन् अनिवार्य हैं। भवन-निर्माण की समस्याओं के हल में लगे रसायनज्ञों को अनुभवी लोगों से भी परामर्श करना चाहिए, क्योंकि प्रयोगशाला में सम्पन्न की जानेवाली प्रतिक्रियाओं एवं वास्तविक भवननिर्माण कार्यों के बीच के अन्तर को मिटाने की यही सबसे उत्तम रीति है।

पिछले २० वर्षों में ईंट बनाने की कला ने प्रायः पूर्णरूप से वैज्ञानिक स्वरूप धारण कर लिया है। आधुनिक ईंटों के भट्ठों की कार्यगति और उनकी कार्यक्षमता की तुलना पुराने समय के भट्ठों से करने पर इस क्षेत्र में विज्ञान के चमत्कार का वास्तविक भान होता है। इसमें भी नयी-नयी कठिनाइयों का सामना किये बिना सफलता नहीं मिली है, प्रस्फुटन (एफ्लोरेसेन्स) के कारण ईंटों की विरूपता इसका अच्छा उदाहरण है। इस प्रस्फुटन का कारण खोजने पर ज्ञात हुआ कि यह मैंगनी-

सियम सल्फेट की उपस्थिति से होता है और मिट्टी के मैगनीसियम सिलिकेट एवं ईंधन के सल्फर की पारस्परिक प्रतिक्रिया से बन जाता है। यह कठिनाई भी कोई नयी नहीं है क्योंकि पहले भी कुछ क्षेत्रों से प्राप्त ईंटों के ऊपर श्वेत जमाव से उनकी क्षति का अनुभव किया गया है। इसे 'भित्ति कैंसर' की संज्ञा दी गयी थी। अब इसके वास्तविक कारण जान लेने से इसके निवारण की रीतियाँ भी निकाल ली गयी हैं। इनमें से एक रीति तो यह है कि भट्ठे के ताप को इतना ऊँचा उठा दिया जाय कि मैगनीसियम सल्फेट का विच्छेदन हो जाय। इस प्रकार विज्ञान की सहायता से ऐसे अनेक क्षेत्रों की मिट्टी की ईंटें बनायी जा सकीं जो पहले इस कार्य के लिए सर्वथा अनुपयुक्त मानी जाती थीं। प्रगति तो इतनी हुई है कि अब किसी भी क्षेत्र एवं किसी भी प्रकार की मिट्टी से ईंटें बनायी जा सकती हैं, यद्यपि हर परिस्थिति में यह आर्थिक दृष्टि से सदैव लाभकारी हो ऐसा जरूरी नहीं।

चूना बुझाने की वैज्ञानिक रीतियों का भी ऐसा विकास हुआ है कि अब हर प्रकार के चूने को तैयार जलीयित दशा में प्राप्त करना संभव हो गया है। इससे बेबुझाये चूने के कणों के प्रसरण (एक्सपैन्सन) के कारण उत्पन्न होनेवाली कठिनाई का सरल निवारण हो सका है।

विविध प्रकार के चूने के भौतिक गुणों की जाँच के लिए भी अनेक अनुसन्धान हुए हैं। इनके फलस्वरूप 'ब्रिटिश स्टैण्डर्डस इन्स्टिट्यूशन' ने ऐसी विशिष्टियाँ (स्पेसिफिकेशन) जारी की हैं जिनके अनुसार विविध प्रकार के चूने की न्यूनतम आवश्यकताएँ एवं प्रयोगशालाओं में की जानेवाली जाँच की मानक रीतियाँ निर्धारित की जातीं हैं।

आधुनिक अनुसन्धान एवं विकास की दिशा फर्श बनाने अथवा जोड़ भरने के लिए सीमेण्ट को बिटुमिनी पायस अथवा रबर आक्षीर (लैटेक्स) के साथ प्रयोग करने इत्यादि की ओर मुड़ गयी है। आजकल तो इस काम के लिए प्लास्टिकों की मिलावटों का प्रयोग करने पर भी विशेष ध्यान दिया जा रहा है।

ग्रंथ-सूची

BIED, J. : *Recherches Industrielles sur les Chaux, Cements et Mortiers.* Dunod.

BLOUNT, BERTRAM : *Cement.* Longmans, Green & Co., Ltd.

COMBER, A. W. : *Composition Flooring and Floorlaying.* Charles Griffin & Co., Ltd.

DAVIS, A. C. : *Portland Cement*. Concrete Publications, Ltd.
ECKEL, E. L. : *Cements, Limes and Plasters*. John Wiley & Sons, Inc. and Chapmua & Hall, Ltd.
INSTITUTION OF CIVIL ENGINEERS, COMMITTEE OF : *Reports on Deterioration of Structures*. Department of Scientific and Industrial Research. H. M. Stationery Office.
KLEINLOGEL, A. : *Einflusse auf Beton*. Ernst und Sohn.
KUHL, H. : *Cement Chemistry in Theory and Practice*. Concrete Publications, Ltd.
LEA, F. M. : *Cement and Concrete*. Royal Institute of Chemistry.
LEA, F. M., AND, DESCH, C. H. : *The Chemistry of Cement and Concrete*. Edward Arnold & Co.
Post-War Building Studies, No. 1. H. M. Stationery Office.
SEARLE, A. B. : *Kloes Manual for Masons*. J. & A. Churchill, Ltd.

ऐस्फाल्ट और बिटुमेन

डी० एम० विल्सन, एम० सी०, बी० एस-सी० (लन्दन), ए० आर० आई० सी०

ऐस्फाल्टिक बिटुमेन एक प्राकृतिक पदार्थ है जिसमें उच्च अणु-भार वाले जटिल हाइड्रोकार्बन मिले होते हैं। इसमें अभिपिण्डन अर्थात् जमकर एक पिण्ड बन जाने का विशेष गुण होता है, किन्तु साथ ही यह कार्बन डाइसल्फाइड में काफी मात्रा में विलेय होता है। यह कुछ कच्चे पेट्रोलियम तेलों में होता है और उनमें से आसवन द्वारा हलके प्रभागों (लाइटर फ्रैक्शन्स) को निकालने के बाद प्राप्त किया जाता है।

ऐस्फाल्टिक बिटुमेन एवं किसी प्रकार के खनिज पदार्थ के मिश्रण को 'ऐस्फाल्ट' कहते हैं, और इस रूप में यह संसार के बहुत से भागों में प्रकृत्या पाया जाता है। यूरोप की ऐस्फाल्ट की चट्टानों का व्यापक रूप से अनुशीलन किया गया है। ऐसा अनुमान किया जाता है कि भूमिगत कच्चे पेट्रोलियम तेलाशयों में से तेल पृथ्वी के डोलने से आसपास के स्तरों की सरन्ध्र चट्टानों में प्रवेश कर गया और तेल के हलके प्रभाग कालगत उद्वाष्पन से उड़ गये तथा चट्टानों के रन्ध्रों में ऐस्फाल्टिक बिटुमेन वच गया।

फ्रान्स के एक क्षेत्र में शुद्ध चूनपत्थर में व्याप्त बिटुमेन पाया जाता है। ऐस्फाल्टिक चट्टानों की ऊपरी सतहों का बिटुमेन १००० फुट नीचे की सतहोंवाले बिटु-

मेन की अपेक्षा अत्यधिक कठोर होता है। संभवतः इसका कारण यह है कि नीचे की सतहों से अभी हलके प्रभागों का पूरा उद्‌वाष्पन नहीं हो पाया है। और जैसे जैसे उनका उदवाष्पन होता जाता है बिटुमेन कठोर होता जाता है।

त्रिनिडाड द्वीप के एक क्षेत्र में ऐस्फाल्टिक बिटुमेन में बड़ी बारीक मिट्टी मिली होती है। संभवतः इसका विशाल पैमाने पर उद्‌भव कर्दम-ज्वालामुखी (मड-वाल-कैनो) के साथ साथ विशाल पैमाने पर तेल आश्च्याव (आयल सीपेज) के कारण हुआ।

कच्चे पेट्रोलियम के उद्‌भव के संबन्ध में भी काफी विवाद रहा है, किन्तु अधिकतर मान्य सिद्धान्तों के अनुसार यह समुद्री जीवों एवं समुद्री वनस्पतियों के विच्छेदन से ही बना है। इस सिद्धान्त की पुष्टि इस तथ्य से होती है कि बिटुमेन के भस्मीकरण से प्राप्त भस्म में वैनेडियम, निकेल तथा अन्य ऐसे तत्त्व पाये जाते हैं जो समुद्री घासों के भस्म में होते हैं।

मनुष्य द्वारा ऐस्फाल्ट के प्रयोग की कहानी भी बड़ी पुरानी है। ईसा पूर्व ६०० में ईंटों के जड़ने के लिए जोड़ों के पूरक रूप में तथा भवननिर्माण प्रयोजनों के लिए इसके प्रयोग का उल्लेख मिलता है। पेरू के इंका लोग भी बिटुमिनी कंकरियों से अपने राजपथ बनाया करते थे।

उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में सड़क बनाने के लिए ऐस्फाल्टिक शिला का प्रथम उपयोग किया गया था। इस ऐस्फाल्ट को खदानों से प्राप्त विटुमेन में मिलाने से एक लेपी ऐस्फाल्ट (मैस्टिक ऐस्फाल्ट) प्राप्त होता है जिसका प्रयोग छत वगैरह बनाने में किया जाता है।

१९१३ में मेक्सिको में कच्चे पेट्रोलियम तेल से बिटुमेन का उत्पादन वाणिज्यिक पैमाने पर शुरू किया गया और चूँकि यह प्राकृतिक बिटुमेन से सस्ता था इसलिए मुख्य सड़कों के बनाने में इसका प्रयोग सुलभ हो गया। मोटरगाड़ियों के प्रचलन से इसको और भी प्रेरणा मिली। केवल जल डालकर पीटी हुई कंकड़ की जो सड़कें घोड़ा-गाड़ियों के यातायात के लिए उपयुक्त थीं उन पर मोटरगाड़ियों के चलने से जल्द ही गड्ढे पड़ जाने लगे, क्योंकि मोटरों के टायर कंकड़ों के बीच के बन्धन पदार्थों को अवशोषित कर लेते थे, इसीलिए अधिक धूल उड़ती और सड़कें जल्द ख़राब हो जातीं। इस कठिनाई के निवारण के लिए धूल मारनेवाले तेल एवं अपरिष्कृत अलकतरा इस्तेमाल किया जाने लगा। आगे चलकर सड़क बनाने की और उत्तम रीतियाँ प्रयुक्त होने लगीं और बालू तथा ग्रैनाइट की कंकड़ियों को तप्त बिटुमेन में मिलाकर सड़कों पर फैलाने से उनकी भली-भाँति रक्षा की जा सकी। नगरों के मार्गों में यह कठिनाई नहीं उठी क्योंकि उनके बनाने में संपीडित ऐस्फाल्ट का प्रयोग पहले ही

से होता था और उनमें टिकाऊपन का विशिष्ट गुण होने से घोड़ागाड़ियों के स्थान पर मोटरगाड़ियों के चलने से कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ा।

ऐस्फाल्टिक बिटुमेन बनाने का उद्योग बड़ा महत्त्वपूर्ण उद्योग बन गया। उसी कच्चे तेल में से न केवल पेट्रोल और मोटरगाड़ियों के लिए स्नेहक (लुब्रिकेटिंग) तेल निकाला जाता, वरन् सड़कों की सतह बनाने के लिए बिटुमेन भी प्राप्त किया जाने लगा।

प्रारम्भिक दिनों में बिटुमेन उद्योग वैज्ञानिकों के नहीं 'व्यावहारिक लोगों' के हाथ में था, फिर भी उसमें अच्छी प्रगति की जा सकी। अधिकांशतः इन 'व्यावहारिक लोगों' की सूझ-बूझ ठीक होती और कार्य में विशेष अड़चन नहीं पड़ती थी, किन्तु कभी कभी पृष्ठ-निर्माण (रोड सर्फेसिंग) में बड़ी असफलता होती, जिससे ठीकेदारों को भारी हानि उठानी पड़ती। अन्ततोगत्वा इस प्रकार की समस्याओं को हल करने के लिए विज्ञान की सहायता की आवश्यकता हुई जिससे ऐसी असफलता के ठीक ठीक कारणों का अनुशीलन करके उसके निवारण के मार्ग निकाले जा सकें। इस पर भी पहले तो अनुभव का ही आश्रय लेना पड़ा और जब एक तरीका ठीक न जान पड़ता तो दूसरा इस्तेमाल किया जाता। इस प्रकार की परीक्षाओं के लिए विशिष्ट क्षेत्र बनाये गये और सावधानी से उनका निरीक्षण किया गया। रसायनज्ञों ने कुछ ऐसे भौतिक परीक्षण निकाले जिनकी सहायता से उपयुक्त और अनुपयुक्त सामग्रियों की जाँच की जाने लगी। इन गुणों के समन्वित अनुशीलन से यह ज्ञात हुआ कि उपयुक्त असफलताएँ अति कठोर बिटुमेन का अनुपात कम होने अथवा बारीक पूरक की कमी के कारण होती थीं। प्रयोगशालाओं में किये गये नियन्त्रण एवं परीक्षण से ऐसे संतोष-जनक मिश्रणों का निर्माण संभव हुआ जिनके टिकाऊपन की समचित प्रत्याभूति दी जा सकती थी। १९३९ के पूर्व किये गये प्रयत्नों के फलस्वरूप ही ऐसे ऐसे राजमार्ग बनाये जा सके जिन पर अत्यधिक औद्योगिक यातायात सफलतापूर्वक जारी रहा, फिर भी बहुत समय तक उनकी मरम्मत की भी कोई आवश्यकता नहीं पड़ी।

अति तीव्र गति से चलनेवाली मोटर-गाड़ियों के प्रचलन से ऐसी सड़कों की आव-श्यकता हुई जिनकी सतहें अधिक फिसलने वाली न हों। इसके लिए रोलिंग ग्रैनाइट की बिटुमेन-लगी कंकड़ियों को सड़क बनाते समय उनकी सतह पर बिछा दिया जाने लगा।

आजकल ऐस्फाल्टिक बिटुमेन इस्तेमाल करनेवाला सबसे बड़ा उद्योग छत बनानेवाले नम्दे (फेल्ट) का है। एतदर्थ पैठिक तन्तु बनाने के लिए ऐसे चीथड़ों का प्रयोग किया जाता है जिनमें जंट और मैनिला तन्तुओं के साथ ऊन, कपास तथा

लिनेन का अनुपात अधिक हो। इन्हीं से कागज बनानेवाली मशीनों पर तन्तु आधार (फाइबर बेस) बनाये जाते हैं। इन्हें पहले मृदु बिटुमेन से संतृप्त करके उन पर कठोर बिटुमेन का आवरण चढ़ा दिया जाता है। परिष्कृत बिटुमेन में हवा फूँककर ही कठोर बिटुमेन बनाया जाता है। इस क्रिया से इसके गुणों में काफी परिवर्तन हो जाता है। इससे बिटुमेन का आंशिक आक्सीकरण हो जाता है और उसका द्रवणांक बढ़ जाता है। कहीं कहीं प्रयोग किये जानेवाले नम्दे के बिटुमेन की श्रेणी उस देश के जलवायु पर निर्भर करती है। इसके निर्माण में कुछ हेरफेर करके प्रायः किसी भी जलवायु के उपयुक्त नम्दा बनाना अब संभव हो गया है।

युद्धकाल में कारखानों के बनाने के लिए छतवाले नम्दे की अत्यधिक माँग हुई। साथ ही छत से आनेवाले प्रकाश को रोकने तथा बम गिरने से होनेवाली क्षति की मरम्मत के लिए इन नम्दों को टाट अथवा बोरे से और मजबूत बनाना पड़ा।

आगे चलकर बिटुमिनीकृत टाट भी बनने लगा। हवाई अड्डों पर विमानों के उतरने के लिए पट्टियों के बनाने के लिए इस तरह का लाखों गज टाट प्रयुक्त किया गया। बिजली के उत्तम इन्सुलेटर के रूप में भी बिटुमेन का व्यापक प्रयोग होता है।

धातु वस्तुओं के आरक्षण एवं जलरोधन प्रयोजनों के लिए प्रयुक्त होनेवाले रंगलेप तथा प्लास्टिक यौगिकों के बनाने के लिए यही बिटुमेन पैठिक-पदार्थ का काम करता है। इसके अलावा अनेक अन्य औद्योगिक विधाओं में इसका व्यापक प्रयोग होता है।

गत २५ वर्षों में बिटुमेन के उत्पादन में तथा सड़क एवं भवन-निर्माण तथा अन्य प्रयोजनों के लिए ऐस्फाल्टिक सामग्रियों के विकास में विज्ञान ने अद्भुत योगदान किया है। एतदर्थ अनेक उद्योगों में विज्ञानकर्मी तत्परता से लगे हुए हैं।

ग्रंथ-सूची

ABRAHAM, H. : *Asphalts and Allied Substances.* D. Van Nostrand Co., Inc.

BROOME, D. C. : *Testing of Bituminous Mixtures.* Edward Arnold & Co.

SPIELMANN, P. E. : *Bituminous Substances.* Ernest Benn, Ltd.

मृत्तिका उद्योग

मिट्टी के बर्तन, पोर्सिलेन तथा पत्थर पात्र

हैरी डब्लू० वेब, डी० एस-सी० (बर्म०), एम० आई० केम० ई०, एफ० आर० आई० सी०

अंग्रेजी का 'सिरामिक' शब्द बड़ा व्यापक है क्योंकि इसके द्वारा मिट्टी से बनी समस्त प्रकार की वस्तुओं के अलावा अनेक दूसरी तरह के पदार्थों का भी बोध होता है। अतः इस विषय के प्रतिपादन के लिए इसके निम्नलिखित विभाग किये जाते हैं—(१) काच, (२) भवन-निर्माण सामग्री, (३) ऊष्मसह पदार्थ, तथा (४) मिट्टी के बर्तन। इस विभाग में मिट्टी के बर्तन, पोर्सिलेन तथा पत्थर के बर्तनों की चर्चा की जायगी।

साधारण मनुष्य के लिए ऊपर लिखे बर्तनों के सूक्ष्म भेदों को समझना बड़ा कठिन है, क्योंकि कभी कभी तो सिरामिस्ट लोग स्वयं ही उनकी परिभाषाओं पर एकमत नहीं होते। आम तौर पर सिरामिस्ट लोग ऐसे पात्रों का वर्गीकरण रंग, काचीयता (विट्रियसनेस), पारभासकता (ट्रान्सलुसेन्सी) एवं निबन्ध (बनावट, कॉम्पोज़ीशन) इत्यादि जैसे गुणों के आधार पर करते हैं। उदाहरणार्थ साधारण मनुष्य के लिए 'पोर्सिलेन' शब्द से चाय एवं भोजों में इस्तेमाल होनेवाले श्वेत, पार-भासक तथा काचीय पात्रों अथवा फूलदानों का भान होता है। किन्तु प्रयोगशालाओं के लिए बना पोर्सिलेन यद्यपि घरेलू पोर्सिलेन की ही तरह होता है लेकिन उसके बनाने में तापसहन, मज़बूती एवं अम्ल और क्षाररोधी काचिका (ग्लेज़) के गुण उत्पन्न करने का विशेष ध्यान रखा जाता है। बिजली के काम में इस्तेमाल किये जानेवाले पोर्सिलेन में ताप-सहन और मजबूती के अलावा उत्तम इन्सुलेटर के गुणों की अपेक्षा की जाती है। इन गुणों के लिए उसकी बनावट में थोड़ा अन्तर किया जाता है और साथ ही तनिक रन्ध्रिता भी रखी जाती है। बिजली उद्योग में प्रयुक्त होनेवाले पोर्सिलेन के विविध प्रकार के निबन्ध होते हैं और उनके लिए विभिन्न प्रकार के पदार्थ इस्तेमाल किये जाते हैं। चाय तथा भोज के लिए इस्तेमाल होनेवाले सर्वोत्तम श्रेणी के पात्रों को 'बोन चाइना' कहते हैं, क्योंकि इनके निर्माण में पिसी हुई तथा निस्तप्त (कैल्साइण्ड) अस्थि (बोन) का प्रयोग होता है। यद्यपि पारभासकता, काचीयता और सफेदी में यह पोर्सिलेन की तरह होता है किन्तु उसका निबन्ध बहुत भिन्न होता है।

पत्थर-पात्रों में काचीयता तो अवश्य होती है किन्तु पारभासकता नहीं होती।

पहले केवल प्राकृतिक मिट्टी से बने पात्रों को ही पत्थर-पात्र (स्टोन वेयर) कहा जाता था तथा उनसे चटनी-अचार रखने के पात्रों तथा गरम पानी की बोतलों का ही भान होता था। कालान्तर में पिण्डोल मिट्टी तथा चीनी मिट्टी को फ्लिण्ट एवं कॉर्निश-पत्थर के साथ मिलाकर ऐसे पात्र बनाये जाने लगे, जिनसे केवल एक प्रकार की मिट्टी से बने पात्रों की तुलना में उनकी बनावट और रंग इत्यादि कहीं अधिक सुन्दर होने लगा। इसी लिए कुछ समय तक इनको 'ललित पत्थर-पात्र' कहा जाने लगा, जिनमें वेजउड, डाउल्टन तथा स्पोड जैसे निर्माताओं द्वारा निर्मित सुन्दर-सुन्दर वस्तुएँ उल्लेखनीय हैं। रासायनिक पत्थर-पात्रों के विकास से उनके निबन्ध में ऐसे संशोधन किये जा सके कि उनमें मजबूती, तापसहता तथा क्षार-अम्ल-सहता के वांछित गुणों का समावेश करना सहज हो गया।

मृत्तिका-पात्र (पॉटरी) से साधारणतया रंध्री तथा अपारभासक (नॉन-ट्रान्सलुसेण्ट) मिट्टी के बर्तनों का बोध होता है किन्तु कुम्भकार (पॉटर) स्वयं इस प्रकार की सीमाओं को नहीं मानता। मिट्टी के बर्तन बहुधा पिण्डोल मिट्टी (बाल-क्ले), चीनी मिट्टी, फ्लिण्ट तथा पत्थर से ही बनते हैं। इनके विभिन्न अनुपातों के प्रयोग से चाय और भोज के पात्र, सजावट के पात्र, स्वच्छता (सैनिटरी) पात्र, दीवालों में तथा चूल्हों में लगनेवाले टाइल इत्यादि बनाये जाते हैं। इनके निबन्ध तथा तापन में तनिक अदल-बदल करने से 'ललित पत्थर-पात्र' एवं लघु-तनाव (लो टेन्सन) वाले इन्सुलेटर भी बनाये जा सकते हैं। लाल-पात्र (रेड वेयर) प्रायः सरन्ध्र (पोरस) होते हैं और प्राकृतिक मिट्टी से बनाये जाते हैं, संभवतः उसमें थोड़ी फ्लिण्ट मिला दी जाती है।

इस संक्षिप्त विवरण से सिरामिक (मृत्तिका-उद्योग) के प्रस्तुत विभाग की वस्तुओं के निबन्ध एवं उपचार की जटिलता का थोड़ा आभास तो अवश्य मिला होगा किन्तु इस अल्प स्थान में इसका सविस्तर विवरण और इस उद्योग के वैज्ञानिक विकास की पूरी कथा लिखना नितान्त असंभव है।

बहुत समय तक चाय, भोज और सजावट के पात्रों की निर्माण-विधा बड़ी गोपनीय मानी जाती थी। यद्यपि कुछ हद तक यह प्रवृत्ति अब भी विद्यमान है किन्तु जब से यह रासायनिक उद्योग की एक शाखा बन गयी है तब से यह बात उतनी प्रत्यक्ष नहीं रह गयी। पेटेण्टों द्वारा यथेष्ट सुरक्षा प्राप्त करने की कठिनाइयाँ ही उपर्युक्त प्रवृत्ति का मुख्य कारण रही हैं।

इस उद्योग की कुछ दिशाओं में असाधारण विकास हुआ है और यह विकास धैर्य एवं बुद्धिमानी से किये गये सहस्रों प्रयोगों के अवलोकनों का ही फल है। जोसिया वेजउड इंग्लैण्ड के प्रथम वैज्ञानिक कुम्भकार कहे जाते हैं। परम सावधानी से प्रयोग

करना, बड़े धैर्य से उनका अवलोकन करना तथा बुद्धिमानी से उसका निष्कर्ष निकालना वैज्ञानिक के अत्यावश्यक गुण हैं और इस अर्थ में वेजउड अवश्य ही एक वैज्ञानिक थे। किन्तु शुद्ध विज्ञान की संकुचित परिभाषा में तो उनके वैज्ञानिक कार्यों में केवल ऊष्मा-कार्यों के मापन की रीतियाँ ही गिनी जा सकेंगी। इस दृष्टि से तो हेरमैन सेजर सर्वप्रथम प्रशिक्षित वैज्ञानिक थे जिन्होंने सिरामिक के वैज्ञानिक विकास में योगदान किया था। उनके कार्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण थे क्योंकि उनमें व्यावहारिक दृष्टि की बड़ी प्रधानता थी, तथा उनके प्रकाशन बड़े सरल थे; इससे औद्योगिक क्षेत्र में उन्हें समझने तथा व्यवहार में लाने में बड़ी सुविधा हुई। कुछ बातों में सेजर की रीतियाँ एवं उनके दृष्टिकोण लुंगे के समान थे। उन्होंने सिरामिक संबन्धी अपना काम १८६९ तक नहीं प्रारम्भ किया था, किन्तु १८७६ में जब उन्होंने अपने सहयोगी ऐरॉन के साथ 'थॉन-इण्डुस्ट्री ज़ाइटूंग' का सूत्रपात किया तब उन्हें इतनी ख्याति मिली कि बर्लिन की 'रायल पोर्सिलेन फैक्टरी' में 'केमिकल टेक्निकल एक्सपेरिमेण्ट स्टेशन' की स्थापना करके सेजर को १८७८ में उसका प्रथम संचालक नियुक्त किया गया। उनके सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण काम का निश्चय करना तो बड़ा कठिन है, किन्तु शायद मिट्टी के विश्लेषण का विकास करना तथा उसी के आधार पर सिरामिक वस्तुओं का निबन्ध (बनावट) निर्धारित करना उनका मुख्य योगदान है। इसी युक्तियुक्त प्रविधि के कारण पुराने जापानी प्रकार के पोर्सिलेन को बड़ी सरलता से बना लेना संभव हुआ। विशेष रूप से इस रीति के प्रयोग से सिरामिक पात्रों का उत्पादन बड़ा सुनिश्चित हो गया तथा उसके लिए प्रयुक्त होनेवाले कच्चे पदार्थों की संख्या में भी वृद्धि हुई। काचिकाओं का भी उसी प्रकार उपचार किया गया। १८८६ में उन्होंने उत्तापमापी (पाइरोमेट्रिक) कोनों का विकास किया, जो उनके नाम से प्रसिद्ध हैं। इस प्रकार सिरामिक अनुसन्धान को बड़ी स्फूर्ति मिली और १९०० के लगभग 'इंग्लिश सिरामिक सोसायटी' तथा 'अमेरिकन सिरामिक सोसायटी' की स्थापना हुई; विलियम जैक्सन तथा एडवर्ड ऑर्टन क्रमशः इन संस्थाओं के सेक्रेटरी थे। ठीक इसी समय इंग्लैण्ड के इस उद्योग से जे० डब्लू० मेलर, एफ० आर० एस० भी संबद्ध हो गये तथा प्रायः सभी शाखाओं में रुचि लेने लगे। यही नहीं, वरन् इसी समय लगभग सभी देशों में ऐसे सुयोग्य वैज्ञानिकों का आविर्भाव आ, जिनके काम सिरामिक की किसी न किसी शाखा से संबन्धित थे। कच्चे माल का वैज्ञानिक नियंत्रण इस उद्योग का कदाचित् सबसे बड़ा वैज्ञानिक विकास था। किसी प्रकार की सिरामिक वस्तु के बनाने में उसके संघटकों का द्रावण (फ्यूज़न) एक अपूर्ण प्रतिक्रिया होती है, और ज्यों ही पात्रविशेष में वांछित गुण आ जायँ त्यों

ही उस प्रतिक्रिया को रोक देना चाहिए। इसलिए पदार्थ के कणों के आकार एवं उसकी तल-सक्रियता जैसे उसके भौतिक गुणों का सर्वाधिक महत्त्व होता है। गत बीस वर्षों में इन बातों पर नियंत्रण करने में बड़ी तीव्र प्रगति की गयी है। मिट्टी पर ऊष्मोपचार की क्रिया को पूरी तरह समझने का विशेष प्रयत्न किया गया है तथा सुघटयता, सिकुड़न, तनाव-सामर्थ्य इत्यादि जैसे मिट्टी के महत्त्वपूर्ण भौतिक गुणों का बड़ी सावधानी से अनुशीलन किया गया है। सुनिश्चित नियंत्रण में विविध प्रकार की सिरामिक वस्तुओं के उत्पादन में भी बड़ी उन्नति की जा सकी है। पुरानी कुम्भकला की सुन्दरता के प्रशंसक कभी कभी यह भूल जाते हैं कि सैकड़ों वर्ष पूर्व जब वैज्ञानिक ज्ञान का कोई नामोनिशान न था तब रद्दी और बेकार माल को छाँटने से कितनी हानि होती थी। कुल उत्पादन का प्रायः आधा भाग इसी प्रकार नष्ट हो जाता था क्योंकि वस्तु के उत्पादन में कोई वैज्ञानिक निश्चितता तो थी नहीं। और अब तो ऐसे उत्पादन में एक आध प्रतिशत से अधिक हानि नहीं होती जब कि पहले की तुलना में उत्पादन कहीं अधिक बड़े पैमाने पर होने लगा है।

यद्यपि इस युग में विशाल पैमाने पर उत्पादन पर अधिक जोर दिया जाता है और उसका उत्तम विकास भी किया गया, फिर भी आधुनिक सिरामिस्ट लोग प्राचीन चीनी और जापानी कुम्भकारों की ललित कला को उसी रूप अथवा उससे भी सुन्दर रूप में प्रस्तुत करने में लगे रहे तथा नये नये रंग, अलंकार एवं शोभनीय वस्तुओं के उत्पादन में सफल हुए हैं। सिरामिक वस्तुओं के अग्नि-तापन में भी क्रान्तिकारी विकास किया गया है। कोयला और लकड़ी जलाकर पुरानी सविराम (इण्टरमिटेण्ट) भट्ठियों के स्थान पर आजकल इस उद्योग में अविराम चलनेवाली सुरंग-भट्ठियाँ प्रचलित हैं, जिनमें प्रोड्यूसर गैस ईंधन का काम देती है अथवा बिजली से काम लिया जाता है। इस रीति में गति, सुतथ्यता एवं नियंत्रण बढ़ गये हैं और अब ऐसे पात्र बड़ी सरलता से बनाये जा सकते हैं, जो अग्नि-तापन की पुरानी रीति से उत्पन्न नहीं किये जा सकते थे, कम से कम वाणिज्यिक पैमाने पर तो नहीं ही बनाये जा सकते थे। आज की इस रीति में धुआँ से छुटकारा मिल जाना कुछ कम उन्नति नहीं है। रासायनिक पत्थर-पात्रों में भी बड़ी उन्नति हुई है, उनकी मजबूती कई गुनी बढ़ गयी है, साथ ही साथ उष्मसहता तथा चालकता (कॉण्डक्टिविटी) रोध भी बढ़ाये जा सके हैं। बिजली के काम में प्रयुक्त होनेवाले तथा अन्य प्रकार के पोर्सिलेन में तो इतनी उन्नति हुई है कि इस लेख में उस सबका उल्लेख करना नितान्त असंभव है। विशेष आवश्यकताओं के लिए विशिष्ट प्रकार के पोर्सिलेन बनाये जा सके हैं। उदाहरणार्थ स्फुलिंग (स्पार्किंग) प्लगों से लेकर बेतारवाले घटकों के

लिए लघु हानिवाली वस्तुओं का निर्माण संभव हो गया है। यदि स्थानाभाव न होता तो विभिन्न देशों के कम से कम उन वैज्ञानिकों की चर्चा की जाती जिन्होंने इस उद्योग के विकास में योगदान किया है। उस द्रुत गति का अनुमान भी प्रायः कठिन हो जाता है, जिससे इस उद्योग की कुछ विशिष्ट शाखाओं का विकास हुआ है। उदाहरण के लिए लौह-एनामल उद्योग उल्लेखनीय है। यह परिवर्तन पहले तो कुछ बड़ी धीमी गति से चला किन्तु पिछले १०--१५ वर्षों में यह ऐसी त्वरित गति से घटित हुआ है कि उसका ठीक-ठीक अनुमान लगाना भी कठिन जान पड़ता है। वर्तमान समय में प्रायः सभी देशों में सिरामिक संबन्धी अनुसन्धान कार्य तेजी से हो रहा है। आजकल १०० से भी ऊपर सिरामिक-संबन्धी पत्र-पत्रिकाएँ प्रकाशित हो रही हैं। सभी देशों में इस विषय के शिक्षण-प्रशिक्षण देनेवाले ऊँचे विद्यालय तथा महाविद्यालय विद्यमान हैं। इन संस्थाओं से नवीन ज्ञान की सतत धारा प्रवाहित होती रहती है।

इस उद्योग में लगे कर्मियों के स्वास्थ्य को प्रभावित करनेवाली विविध परिस्थितियों में भी काफी उन्नति हुई है। पहले सीस विषायन (लेड प्वॉयज़निंग) बड़ी साधारण घटना थी किन्तु अब कारखानों की परिस्थितियों के सुधार एवं काचिकाओं (ग्लेज़ेज) में संशोधन करके इस भयंकर दशा का प्रायः पूर्ण निवारण किया जा सका है। सिलिकोसिस पर भी बड़ा अन्वेषण हुआ है और अब प्रबल आशा है कि इसका भी पूर्ण निवारण किया जा सकेगा। यह कुछ कम संतोष की बात नहीं है कि इस उद्योग में वैज्ञानिक योगदान के प्रति कृतज्ञता की भावना उत्पन्न हुई है और उससे पूरा लाभ उठाने का भी पर्याप्त प्रयत्न हुआ है। हाल में ही सिलिकेटों की संरचना का विशेष अनुशीलन किया गया है, इसमें ब्रैग के एक्स-रे कार्यों का विशिष्ट योगदान है। और अब अभ्रक (माइका) सदृश वस्तुओं का संश्लेषण प्रयोगशाला-पैमाने पर संभव हो गया है। विज्ञान ने अपेक्षाकृत बड़े कम समय में ही सिरामिक उद्योग को अतिश्रम (लेबोरिअस) एवं सीमित कच्चे मालोंवाले क्रमहीन तथा अनिश्चित काम से बदलकर एक द्रुतगामी, सुनिश्चित एवं क्रमिक उत्पादन का स्वरूप प्रदान किया है, जिससे अब प्रायः किसी भी प्रकार की वस्तु सरलता एवं निश्चितता से उत्पन्न की जा सकती है तथा उसके बनाने के लिए अनेक नये प्रकार के कच्चे पदार्थों का उपयोग किया जा सकता है।

कुछ वर्षों से इस उद्योग संबन्धी अनुसन्धान योजनाएँ 'डिपार्टमेण्ट ऑफ साइण्टिफिक ऐण्ड इण्डस्ट्रियल रिसर्च' के तत्त्वावधान में सहकारी रूप से सम्पन्न हो रही हैं। इस योजना के अनुसार प्रति वर्ष लगभग ३०,००० पौण्ड खर्च हो रहा है और

अभी तो यह केवल प्रारम्भिक क्रम है। वैज्ञानिक अनुसन्धान के सतत प्रयोग से इस उद्योग में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण विकास होगा, इसकी प्रबल आशा है।

ग्रंथ-सूची

BOURRY, E. : *Treatise on the Ceramic Industries.* Scott, Greenwood and Son.

BURTON, W. : *English Earthenware and Stoneware.* Cassell & Co., Ltd. *Porcelain.* Cassell & Co., Ltd.

CARTER, C. : *Wall and Floor Tiling.* Caxton Publishing Co., Ltd.

HECHT, H. : *Lehrbuck der Keramik.* Urban & Schwarzenburg.

RIES, H. : *Clays.* John Wiley & Sons, Inc.

SEGER, H. A. : *Collected Writings.* Chemical Publishing Co.

SINGER, F. : *Steinzeug.* Vieweg u. Sohn.

SOLON, M. L. : *History of Old English Porcelain.* Bemrose & Sons, Ltd.

काच

एस० इंग्लिश, डी० एस-सी० (शेफील्ड), एफ० आर०
आई० सी०, एफ० इन्स्ट० पी०

एक कथानक के अनुसार किसी फोनीसियन नाविक को, जिसका जहाज तूफान में टूट फूट गया था, काच (ग्लास) का अचानक पता लगा था। चाहे यह बात सच हो या न हो, इतना तो निश्चित है कि पहले असीरियनों ने और उसके बाद मिस्रियों ने विविध प्रकार के रंगीन काच बनाये थे। किन्तु रोमनों के पूर्व बोतलों तथा फूल-दानों के रूप में फूँककर बनायी गयी काच की वस्तुओं का पता न था। आगे चल कर ७० ई० में पाम्पियाई में इनकी ऐसी प्रचुरता हुई मानो इनका विकास दो तीन शताब्दी पूर्व हो चुका हो। काचनिर्माण कला का ज्ञान रोम से यूरोप के शेष भाग में फैला किन्तु इस कला का सर्वाधिक विकास वेनिस में हुआ जहाँ मध्यकालीन युग में यह उत्तमता के ऊँचे शिखर पर पहुँच गयी थी। किन्तु इस काल तक काच बनाना केवल एक कला के रूप में प्रचलित रहा। १५वीं शताब्दी के बाद यूरोप के लोगों की खगोल

विद्यासंबन्धी जिज्ञासा बढ़ी और इसके अनुशीलन के लिए अधिक उन्नत लेन्सों की आवश्यकता हुई, जिससे लेन्स निर्माण को काफी प्रेरणा मिली और अच्छे लेन्स बनने लगे। सर्वप्रथम १६१० (गैलीलियो) और १६११ (केलर) में दूरबीन बनीं और उनमें साधारण लेन्सों का प्रयोग किया गया, किन्तु उनमें गोलीय विपथन (स्फ़ेरिकल ऐबरेशन) नामक दोष था। न्यूटन का विचार था कि वर्तनाय (रिफ़ैक्टिंग) तत्त्वों से दूरबीनों में देखे जानेवाले प्रतिबिंबों के चारो ओर रंगीन धारियों का बनना प्राय: अनिवार्य था। किन्तु डोलॉण्ड (१७५८) द्वारा बनाये गये संयुक्त लेन्सों के प्रयोग से रंगीन धारियों में बड़ी कमी हो गयी और इससे आधुनिक संयुक्त एवं अवर्णक (ऐक्रोमैटिक) लेन्सों के बनाने की दिशा मिली।

१९वीं शताब्दी में फ्रौनहोफ़र, फैरेडे, हराकोर्ट, स्टोक्स, ऐबे, स्काट इत्यादि जैसे अनेक वैज्ञानिकों ने काचसंबन्धी अनुसन्धान एवं उसके निर्माण के विकास में महान् योगदान किया, फिर भी रोज़ेनहैन ने १९१५ में प्रकाशित 'ग्लास मैनुफैक्चर' नामक अपनी पुस्तक के आमुख में लिखा था कि "वैज्ञानिक दृष्टि से काच निर्माण-क्षेत्र का अधिकांश भाग 'टेरा इन्कॉग्निटा' अर्थात् 'अज्ञात-मृदा' है।"

उस समय से काचनिर्माण विज्ञान में बड़ी असाधारण प्रगति हुई है, फिर भी उसमें अभी बहुत बड़े क्षेत्र अनाविष्कृत पड़े हुए हैं। डब्लू० ए० शेनस्टोन का शुद्ध सिलिकाद्रावण-संबन्धी काम सुविख्यात है क्योंकि उसी पर स्वच्छ एवं अपारदर्शी सिलिका बनाने का उद्योग आधारित है। इसी प्रकार सर हरबर्ट जैक्सन का काम भी बड़ा महत्त्वपूर्ण है; उन्होंने प्रथम महायुद्ध काल (१९१४—१८) में रासायनिक काचपात्र उद्योग का सूत्रपात करने में महान् योगदान किया था। वर्तमान समय में शेफील्ड विश्वविद्यालय के ग्लास टेक्नॉलोजी विभाग के प्रोफेसर डब्लू० ई० एस० टर्नर तथा उनके सहयोगियों के नाम उल्लेखनीय हैं। ग्लास टेक्नॉलोजी का यह स्कूल १९१५ में प्रारम्भ हुआ था और विश्वविद्यालय स्तर की यह प्रथम संस्था थी जिसमें संपूर्ण रूप से काच प्रौद्योगिकी (टेक्नॉलोजी) एवं उसके आनुषंगिक विषयों संबन्धी शिक्षण एवं अनुसन्धान शुरू किया गया था। इसके बाद चेको-स्लोवाकिया, जर्मनी तथा संयुक्त राज्य अमेरिका में भी ऐसी संस्थाएँ खोली गयीं। अन्य देशों में काचसंबन्धी शिक्षण तथा अनुसन्धान की सुविधाएँ प्रस्तुत की गयीं किन्तु वे छोटे पैमाने पर थीं। काचनिर्माण विज्ञान में लोगों की इस बढ़ती हुई रुचि के परिणामस्वरूप अनेक टेक्निकल सोसायटियाँ बनीं। सर्वप्रथम १९१६ में इंग्लैण्ड में 'सोसायटी ऑफ ग्लास टेक्नॉलोजी' की स्थापना की गयी। तत्पश्चात् १९१८ में 'अमेरिकन सिरामिक सोसायटी' का काचविभाग (ग्लास डिविज़न) खुला और १९२२

में 'इ्वायशे-ग्लास टेक्निशे जेसेल्शाफ्ट' स्थापित किया गया। इन शिक्षण एवं अनु-सन्धान संस्थाओं और टेक्निकल सोसायटियों में रसायनज्ञों, भौतिकीविदों, इञ्जीनियरों तथा टेक्नॉलोजिस्टों ने इस विज्ञान और प्रौद्योगिकी के सर्वमुखी विकास में ऐसे योगदान किये हैं जो एक दूसरे में अन्तर्ग्रथित होकर जटिल सिलिकेट प्रौद्योगिकी के स्पष्टीकरण और उसकी प्रगति में इस प्रकार सहायक हुए हैं मानो किसी एक व्यक्ति ने उनका प्रतिपादन किया हो।

काचनिर्माण-विज्ञान की उन्नति और विकास में रसायनज्ञों द्वारा किये गये योगदान इतने अधिक एवं विशाल हैं कि इस छोटे से लेख में उन सबका विवरण प्रस्तुत करना कठिन ही नहीं असंभव है। अतः यहाँ केवल कुछ रोचक एवं विशिष्ट विकासों की ही चर्चा की जा रही है।

काच की संरचना (कॉन्स्टिट्यूशन) संबन्धी अति कठिन किन्तु आकर्षक समस्या को हल करने के लिए पिछले कुछ वर्षों में विशाल काम किये गये हैं और काच में कुछ सुनिश्चित यौगिकों के होने का प्रमाण अवश्य मिला है, लेकिन प्रश्न का अन्तिम उत्तर अभी प्राप्त नहीं हुआ। अतः उस विषय की यहाँ कोई विस्तृत समीक्षा न करके केवल निम्नलिखित तीन विषयों पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया जाता है—(क) रासायनिक टिकाऊपन, (ख) ऊष्मीय सहनशक्ति और (ग) पारदर्शकता।

रासायनिक टिकाऊपन—प्राचीन रोम और मिस्र में बने काच आज भी उत्तम अवस्था में सुरक्षित हैं और १२वीं शताब्दी के बने काच आज भी बड़े-बड़े गिर्जाघरों की खिड़कियों को सुशोभित कर रहे हैं। यही इस बात के प्रमाण हैं कि ऐसे काच का निर्माण संभव है जो यदि पूर्णतया नहीं तो अधिकांशतः वायुमण्डलिक संक्षारण (कोरोज़न) से अप्रभावित रह सकते हैं। इसके विपरीत ऐसे निबन्ध के काच भी बनाये जा सकते हैं जिन पर वायुमण्डलिक आर्द्रता का सरलता से ही आक्रमण हो सके। प्रायः यह सुविदित है कि सामान्य काच में तीन मुख्य संघटक होते हैं जिन्हें तीन ऑक्साइड (सिलिका, सोडियम ऑक्साइड और कैल्सियम ऑक्साइड) कहा जाता है। संभवतः ये संघटक सोडा और चून के सिलिकेटों के रूप में ही काच में विद्यमान होते हैं, कदाचित् संयुक्त सिलिकेट के रूप में; जिसमें अतिरिक्त सिलिका विलीन होता है।

यदि काच में सोडियम सिलिकेट का अनावश्यक रूप से अधिक अनुपात हो तो वह जल में आंशिक रूप से विलेय हो जाता है। सोडे के अधिक अनुपात से काच अपेक्षाकृत निम्न ताप पर गलने लगता है, ऐसा काच चिकना होता है तथा उसके क्रियाकरण में बड़ी सुविधा होती है। इसी लिए काचनिर्माताओं में तनिक अधिक सोडा डालने की विशेष प्रेरणा होती थी, जिससे उसके बनाने की क्रिया में आनेवाली कठि-

नाइयों का समाधान हो जाता था। १९१० से लेकर १९२० तक यह प्रवृत्ति बड़ी स्पष्ट रही क्योंकि इसी कालावधि में शीशी, बोतल तथा स्तार काच (शीट ग्लास) बनाने के लिए अर्ध स्वचालित तथा पूर्ण स्वचालित यंत्रों का आविर्भाव होने लगा था। इन मशीनों में हाथ से बनाये जानेवाले काच की अपेक्षा अधिक धीरे-धीरे जमनेवाले काच की आवश्यकता पड़ने लगी। अतः स्वाभाविकतया कैल्सियम ऑक्साइड की मात्रा कम करके सोडियम ऑक्साइड की मात्रा बढ़ाने की प्रवृत्ति हुई। इस परिवर्तन से मशीनों के उपयुक्त काच तो अवश्य बना लेकिन इससे बनी बोतलें तथा अन्य पदार्थ इतने कम टिकाऊ होने लगे कि इस्तेमाल करने के बाद अथवा यों ही रखे रहने पर उनमें संक्षारण के धब्बे पड़ जाते। रसायनज्ञों ने, विशेषकर शेफील्ड के कार्यकर्ताओं ने, इस समस्या का अनुशीलन किया और काच का टिकाऊपन जाँचने की युक्ति निकाली तथा विभिन्न प्रयोजनों के लिए उपयुक्त काच के मानक निर्धारित किये, और अन्त में इञ्जीनियरों के सहयोग से ऐसे काच का निर्माण किया जो गलकर मशीनों पर सरलता से काम आने के साथ-साथ वायुमण्डलिक संक्षारण से भी बच सके। आगे चलकर ५५०° से लेकर १४००° से० तक काचों की श्यानता (विस्कॉसिटी) मापने एवं उनके निबन्ध में क्रमिक परिवर्तनों के उनकी श्यानता पर प्रभावों के अनुशीलन से प्रयोगशाला में ऐसे निबन्ध निर्धारित किये जा सके जो विविध प्रकार की काच-मशीनों के लिए संतोषप्रद एवं उपयुक्त सिद्ध हुए।

बेलजियम के फौरकाल्ट ने जंगला-काच-मशीनों के लिए बड़ी सुन्दर और सरल पद्धति निकाली। इसमें एक सुस्थिर ऊष्मसह ईंट के नीचे बनी लम्बी नाली में से द्रवित काच को बहाकर बाहर लाये हुए काच को ऊर्ध्वाधर दिशा में (वर्टिकली) अखण्ड फीते अथवा स्तार के रूप में खींचा जाता है। इस पद्धति के क्रियाकरण के लिए धीरे-धीरे जमनेवाले ऐसे काच की आवश्यकता हुई, जो ऊष्मसह ईंट के चारो ओर अपेक्षाकृत निम्न ताप पर काफी समय तक बना रहे। सोडे की मात्रा बढ़ाने से तो प्रथम आवश्यकता पूरी हुई किन्तु जैसा ऊपर बताया जा चुका है, ऐसे काच में वायुमण्डलिक संक्षारण होता और वह काचन (ग्लेज़िंग) के लिए सर्वथा अनुपयुक्त होता। इस दोष के निवारणार्थ जब सोडे की मात्रा घटायी गयी तो विकाचरण (डिविट्रीफिकेशन) की कठिनाई उत्पन्न हो गयी, उष्मसह ईंट की निचली नाली में पुनर्केलासन होने लगा और जब काच का स्तार खींचा जाता तो उसमें खिचाव की दिशा में धारियाँ पड़ जातीं। रसायनज्ञों ने बताया कि काच के पैठिक संघटक के रूप में चून के साथ-साथ मैग्नीसिया इस्तेमाल करने से वायुमण्डलिक संक्षारण की कठिनाई का निवारण हो सकता है और साथ ही साथ काच शीघ्र जमनेवाला भी न होगा।

इसके अतिरिक्त इस सुझाव से विकाचरण का दोष भी काफी हद तक दूर हो गया किन्तु इसका अन्तिम रूप से निवारण तो काच में तनिक अलुमिना मिलाने से हुआ। इस प्रकार लगभग ७२·५% SiO_2, १०·५% CaO, २·०% MgO, १·०% Al_2O_3 तथा १३·५% Na_2O के निबन्धवाले काच से बने स्तारों में उपर्युक्त कोई भी दोष न रहे, बशर्ते उनके खींचे जाने के ताप एवं अन्य परिस्थितियों में अधिक व्यतिक्रम न हो।

रासायनिक काचपात्रों संबन्धी स्काट और उनके सहयोगियों के काम उल्लेखनीय हैं क्योंकि उन्हीं से सुविख्यात 'जीना' काच का विकास हुआ। सामान्य रासायनिक पात्रों के अलावा जीना काच से दहन (कम्बस्चन) नालों के लिए विशेष कठोर काच भी बनाये जाने लगे। किन्तु इस प्रकार के काच की विशिष्टियाँ पूरी करना भी उतना कठिन न था जितना बिजली के निरावेश दीपों (डिस्चार्ज लैम्प) के भीतरी वेष्टन (एनवेलप) के लिए कुछ वर्ष पूर्व बने काच के गुणों की पूर्ति करना था। उच्च दाब पारद निरावेश दीप का भीतरी वेष्टन तो इतना कठोर होना चाहिए कि ७००° से० ताप के नीचे किसी प्रकार मृदुल न हो सके, और फिर भी उसे ऐसा होना चाहिए कि बिना टूटे तथा बिना किसी प्रकार की बदरंगी के उसमें विद्युदग्रों को ज्वाला की सहायता से सरलता से सम्पुटित किया जा सके। सोडियम निरावेश दीपों के अन्तरवेष्टन में क्रियाकरण की परिस्थितियाँ यद्यपि प्रायः वही रहती हैं किन्तु तापसंबन्धी आवश्यकताएँ उतनी कड़ी नहीं होतीं। लेकिन संक्षारण की कठिनाई अत्यधिक बढ़ जाती है क्योंकि साधारण सिलिकेट काचों के लिए सोडियम वाष्प बड़ा संक्षारक होता है। इसलिए सिलिका की लघु मात्रा वाले काच बनाने की आवश्यकता हुई जिससे इन असाधारण कठिनाइयों का निवारण हो सके। ऐसे काच का वाणिज्यिक विकास किये बिना आज के इतनी उच्च कार्यक्षमता वाले विद्युत निरावेश दीपों का बनाना संभव न हुआ होता।

ऊष्मीय सहनशक्ति—काच सामान्यतः एक ऐसा भंगुर पदार्थ माना जाता है जिसमें ऊष्मा के प्रति विशेष दुर्बलता अन्तर्निहित होती है; किन्तु पिछले कुछ वर्षों में हुए विकासों से अब यह भावना पुरानी मानी जाने लगी है। स्काट और उनके सहयोगियों ने अपने कार्यों से यह प्रदर्शित किया था कि काच में बिना टूटे ताप-प्रवणता (ग्रैडियेण्ट) के सहन की क्षमता उसकी तनावसामर्थ्य (टेंसाइल स्ट्रेंग्थ), ऊष्मीय चालकता, ऊष्मीय प्रसरण (एक्सपैन्शन), यंग-गुणांक (यंग्स माडुलस), घनता तथा विशिष्ट ऊष्मा (स्पेसिफिक हीट) पर निर्भर करती है। इन सभी कारकों में ऊष्मीय प्रसरण सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है, कुछ तो इसलिए कि औरों की अपेक्षा यह काफी विस्तृत परास (रेञ्ज) में परिवर्तन योग्य है। ऐसा होने से ऊष्मीय सहनशक्ति

बढ़ाने के लिए काच का ऊष्मीय प्रसरण गुणांक (कौएफिशेण्ट आफ थर्मल एक्सपैन्शन) कम करने के लिए ही प्रयत्न किया गया है। यह बात मानकर कि काच के प्रत्येक संघटक ऑक्साइड का प्रति १% उसके उष्मीय प्रसरण में निश्चित राशि की वृद्धि करता है, स्काट ने बताया कि यदि किसी काच का निबन्ध और प्रत्येक संघटक के योगदायी कारक ज्ञात हों, तो उसके ऊष्मीय प्रसरण का मान जान लेना संभव है। हाल में ही काच के सामान्य संघटकों के कारकों का अधिक युक्तिसंगत आधार पर पुनर्निर्धारण किया गया है, और साधारण काच के ०° से १००° से० तक के प्रसरण गुणांक की गणना पर्याप्त सुतथ्यता से की जा सकती है। इन हाल के कामों से यह ज्ञात हुआ है कि जब काच बनाने में बोरिक ऑक्साइड इस्तेमाल किया जाता है तो यह उसका ऋणात्मक प्रसरण खण्ड (एक्सपैन्शन फैक्टर) होता है, किन्तु यह क्रम उसकी मात्रा के १२% तक रहता है, उसके बाद वह धनात्मक खण्ड हो जाता है। बोरिक ऑक्साइड ही एकमात्र ऐसा संघटक है जो इस प्रकार असंगत व्यवहार करता है। इसी लिए यह ऊष्मावरोधी सभी आधुनिक काचों के बनाने में प्रयुक्त होता है।

उपर्युक्त कार्यों के फलस्वरूप एक और विशेष बात ज्ञात हुई है कि क्षार, विशेष कर सोडियम ऑक्साइड, का प्रसरण खण्ड बड़ा ऊँचा होता है। इसलिए उन सभी काचों में, जिनमें ऊँची ऊष्मीय सहनशक्ति की आवश्यकता होती है, क्षार-संघटकों का अनुपात यथासंभव कम रखा जाता है। सिलिका का, जो अधिकांश काचों का मुख्य संघटक होता है, प्रसरण खण्ड (एक्सपैन्शन फैक्टर) बहुत कम, प्रायः नगण्य होता है, अतः यह तापसह काचों का बड़ा मूल्यवान् संघटक माना जाता है। इन तीनों तथ्यों को समन्वित करके अमेरिका की 'कार्निंग ग्लास कम्पनी' ने १९१५ में एक तापसह (हीट रेजिस्टिंग) काच का निबन्ध निर्धारित किया, जो 'पाइरेक्स' काच के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें लगभग ८०% सिलिका, १२% बोरिक ऑक्साइड और केवल ३—४% सोडियम ऑक्साइड होता है, तथा इसका रेखीय प्रसरण-गुणांक (लीनियर कोएफिशेण्ट ऑफ एक्सपैन्शन) प्रति डिग्री सेण्टीग्रेड केवल ०·०००००३५ है। इस काच ने एक ऐसा नया मानक उपस्थित किया है जिससे अन्य सभी तापसह काचों की तुलना करनी पड़ेगी। हाल में ही पासाडेना की वेधशाला में बन रही २०० इंच वाली दूरबीन का परावर्तक (रिफलेक्टर) बनाने में इसका प्रयोग किया गया है। इस परावर्तक की सुतथ्यता (प्रिसीज़न) इतनी ऊँची श्रेणी की है कि ताप परिवर्तन से होनेवाले विकार से ही यह नष्ट हो जाता है, इसलिए बड़ी जाँच-पड़ताल के बाद इसकी रचना के लिए सामग्री तैयार की गयी। 'पाइरेक्स' के प्रकार का काच इसके लिए चुना गया।

पिछले कुछ वर्षों में एक सर्वथा नवीन प्रकार का तापसह काच तैयार किया गया है, इसे दृढ़ीकृत काच (टफेण्ड ग्लास) कहते हैं। यह 'प्रिन्स रूपर्ट के ड्राप' तथा 'अटूट पात्र' (अनब्रेकेब्ल टम्ब्लर्स) का ही व्यावहारिक प्रयोग है। 'रूपर्ट्स ड्राप' में लाल काच पानी में तथा 'अनब्रेकेब्ल टम्ब्लर्स' तेल में बुझाया जाता है, किन्तु कठोरकृत काच वायु के झोंके से अभिशीतित (चिल्ड) किया जाता है। वायु की मात्रा एवं उसका ताप नियंत्रित रखा जाता है। इस प्रकार स्तार एवं ढलवाँ काच उनके तापशीतन (ऐनीलिंग) बिन्दु से ऊँचे ताप पर शीघ्रता से ठंडे किये जाते हैं, किन्तु इसकी गति इस प्रकार पूर्वनिर्धारित होती है कि ऊपरी सतह पर एकरूप संपीडन प्रतिबल (काम्प्रेशन स्ट्रेस) उत्पन्न हो; जब कि काचपिण्ड के अन्दर तनाव रहे। काच संपीडन-प्रतिबल का अवरोधी होता है अतः इस प्रकार अभिशीतित काच, जिसकी ऊपरी सतह के स्तर संपीडित हों, उस समय तक नहीं टूटते जब तक उनके तल-संपीड का क्लीवन (निराकरण, न्युट्रलाइज़ेशन) नहीं होता अथवा वह तनाव प्रतिबल (टेन्साल स्ट्रेस) द्वारा प्रतिस्थापित नहीं होता। काच को मोड़ने अथवा उसे एक तरफ से ठंडा रखकर दूसरी ओर गरम करने से उपर्युक्त निराकरण किया जा सकता है, किन्तु यह स्पष्ट है कि इस प्रकार के काच को तोड़ने के लिए साधारण काच की अपेक्षा अधिक मोड़ना पड़ेगा अथवा उसके दोनों ओर के ताप में अत्यधिक विभेद करना पड़ेगा। इस कारण से यह दृढ़ काच, जो पहले केवल अपनी मजबूती के लिए बनाया गया था अब अपनी तापसहता के लिए सुविख्यात है, और चूँकि इसकी निर्माण-प्रविधि में बराबर विकास हो रहा है, इसका मान और उपयोगिता निरन्तर बढ़ती रहेगी।

१९३९ ई० में अमेरिका की 'कार्निंग ग्लास कंपनी' की 'रिसर्च लैबोरेटरीज़' में तापसह काच उत्पादन में एक आश्चर्यजनक विकास किया गया। यह एक प्रकार के स्फटिक काच (क्वार्ट्ज़ ग्लास) से संबन्धित था, जो आज के सुज्ञात द्रावित स्फटिक (फ्यूज्ड क्वार्ट्ज़) से मिलता-जुलता है। यद्यपि इसके बनाने की रीति भिन्न है किन्तु उसी की तरह इसका प्रसरण गुणांक अत्यन्त लघु है (लगभग ०·०००००५ प्रति डिग्री से०)। द्रवित स्फटिक सीधी रीति से बनाया जाता है, अर्थात् उपयुक्त कणों वाली उत्तम श्रेणी की बालू को ऐसे उच्च ताप तक गरम किया जाता है कि वह मृदुल हो जाय या गल जाय। तापन की सीमा वांछित काच के प्रकार पर निर्भर करती है। उच्च ताप उत्पन्न किये जाने के कारण यह रीति बड़ी खर्चीली होती है तथा यह इस-लिए भी कठिन होती है कि स्फटिक सचमुच कभी द्रव नहीं होता अतः वांछित आकार प्रदान करने में विशेष कठिनाई होती है।

किन्तु नयी रीति में उपर्युक्त कठिनाइयाँ नहीं होतीं। इसके विकास में शेफील्ड के 'डिपार्टमेण्ट ऑफ ग्लास टेक्नॉलोजी' में प्रायः १५ वर्ष पूर्व किये गये काम का भी बड़ा योग है। काच के रासायनिक टिकाऊपन तथा अन्य गुणों पर बोरिक ऑक्साइड के प्रभावों का अन्वेषण करते समय यह ज्ञात हुआ कि बोरिक ऑक्साइड की अधिक मात्रा वाले काच पर उबलते हाइड्रोक्लोरिक अम्ल का सहज आक्रमण होता है और यदि यह उपचार ठीक ढंग से किया जाय तो काच का सब सोडा तथा बोरिक ऑक्साइड अम्ल में विलीन हो जाता है और केवल दृढ़ सिलिका-स्पञ्ज शेष रह जाता है। कार्निग के कार्यकर्ताओं ने तनु अम्ल का प्रयोग करके सोडा और बोरिक ऑक्साइड का निस्सारण किया और तब अवशिष्ट सिलिका-स्पञ्ज को लाल ऊष्मा (रेड हीट) तक तप्त करने पर उन्होंने अनुभव किया कि वह सिकुड़कर अपने मूल आकार का केवल दो-तिहाई रह गया तथा एक बड़ा ठोस सिलिका पदार्थ बन गया, जिसके गुण द्रवित स्फटिक से बहुत मिलते-जुलते थे। विचित्रता यह थी कि सिकुड़ने पर भी उस ठोस सिलिका का मूल रूप बना रहा। चूँकि बोरिक ऑक्साइड वाले काच सरलता से गल जाते हैं और चूँकि इसी कारण उन्हें किसी भी जटिल आकार में ढालना आसान होता है, इसलिए इस रीति में अनाश्रित रीति से द्रवित स्फटिक बनाने में उत्पन्न होने वाली दो मुख्य कठिनाइयों का निवारण हो जाता है। अतः जब यह प्रविधि पूरी तरह से सफल हो जायगी तो इससे ऐसा रोचक एवं लाभदायी विकास होगा जिसका मूल कार्य की योजना के समय कोई अनुमान भी न किया गया होगा।

प्रकाश का परागमन[1] तथा अवशोषण[2]—काच का सर्वप्रमुख गुण उसकी पारदर्शकता (ट्रान्सपैरेन्सी) है, जो कदाचित् इसका सबसे बड़ा आकर्षण भी रहा है। साथ ही साथ इसका रंग और चुनावशील अवशोषण (सेलेक्टिव ऐब्ज़ार्प्शन) भी इसके विशेष गुण हैं। रंगरहित काचों की पारदर्शकता के बारे में शायद यह सोचा जाता है कि पिछले कुछ वर्षों में इसमें कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ा है, किन्तु यह विचार सर्वथा ठीक नहीं है। अनुसन्धानों द्वारा यह ज्ञात हो जाने से कि रंजक ऑक्साइड काच के अन्दर किस प्रकार प्रवेश करते हैं, प्रकाश-काचों (ऑप्टिकल ग्लास) के बनाने में प्रयुक्त होनेवाले संघटकों की शुद्धता प्रायः विश्वासातीत सीमा तक पहुँचा दी गयी है। काच गलानेवाले पात्र भी शुद्धतर एवं अधिक संक्षारण-रोधी पदार्थों के बनने लगे हैं; भट्ठियों की गैसों से काच में उत्पन्न होनेवाली अशुद्धता को रोकने

[1] Transmission [2] Absorption

के लिए भी परम सावधानी बरती गयी है, और अन्ततः काच-घानों में भी ऐसी युक्ति लगायी गयी है जिससे ऐसे काच उत्पन्न किये जा सकें जिनका प्रकाश-अवशोषण प्रायः अमाप्य हो। उदाहरणार्थ अब कुछ ऐसे प्रकाश-काच बनने लगे हैं जिनका अवशोषण प्रकाशपथ की लम्बाई के प्रति इंच केवल ०·७ प्रतिशत होता है। शुद्धता की इस उच्च सीमा के कारण वर्णक्रम (स्पेक्ट्रम) के परानीललोहित (अल्ट्रा-वायलेट) तथा अव-रक्त (इन्फ्रारेड) दोनों क्षेत्रों में काच की पारदर्शकता स्वतः बढ़ गयी है। रसायनज्ञों एवं भौतिकीविदों के अनुसन्धानों के फलस्वरूप इन दोनों अदृश्य विकिरणों (इन्विज़िब्ल रैडियेशन) के प्रति काच की पारदर्शकता निर्धारित करनेवाले कारक ज्ञात हो गये हैं और अब ऐसे काच विशेष रूप से बनाये जा सकते हैं जो किसी प्रकार की किरणों का अवशोषण अथवा परागमन (ट्रान्समिट) कर सकें। सर विलियम क्रुक्स ने धूप के चश्मों के लिए ऐसा काच बनाया जिससे भट्ठी के आगे काम करनेवालों की आँखों की रक्षा हो सके, क्योंकि ऐसे कर्मियों की आँखें अरक्षित रहने से उनमें मोतियाबिन्द हो जाया करता था। क्रुक्स ने ऐसे काच में अव-रक्त विकिरणों के अवशोषण गुण का समावेश करना चाहा था, क्योंकि द्रावण-भट्ठियों से ऐसे विकिरण यथेष्ट मात्रा में उत्पन्न होते हैं। परानीललोहित विकिरण का अवशोषण तो अवर महत्त्व की बात थी क्योंकि साधारण द्रावण-भट्ठियों से ऐसे विकिरण प्रायः नहीं निकलते। इसके बावजूद क्रुक्स के काचों का वाणिज्यिक महत्त्व उनके परानीललोहित विकिरणों के अवशोषण गुण के कारण ही हुआ।

हाल में ही परानीललोहित परागमन काचों का वाणिज्यिक उत्पादन होने लगा है, यह वैज्ञानिक सफलता का एक नया एवं विशिष्ट चरण है। इन्हें 'विटा' प्रकार के काच कहते हैं। सूर्य के परानीललोहित विकिरण के, जो भूमितल पर केवल २९५ मिलीम्यू तक ही रह जाता है, समुचित परागमन (ट्रान्समिशन) के लिए काचों में ०·०३% से अधिक लौह ऑक्साइड नहीं होना चाहिए और यह भी यथासंभव फेरस अवस्था में ही हो।

दूसरे प्रकार का एक रुचिकारक काच 'उड' काच के नाम से प्रसिद्ध है, क्योंकि इसका आविष्कार प्रोफेसर आर० डब्लू० उड ने किया था। यह सारतः निकेल ऑक्साइड काच है और इसमें उप-परानीललोहित के परागमन की शक्ति होती है किन्तु दृश्य विकिरणों के लिए यह सर्वथा अपारदर्शी (ओपेक) होता है। अतः इससे अदृश्य संकेतन (सिग्नलिंग) किया जा सकता है और यह प्रतिदीप्ति क्रिया (फ्लुओरेसेन्स फिनॉमिना) के लिए विशेष रूप से उपयोगी है। उच्च दाब पारद वाष्प दीपों के बनाने में जो विकास हुआ है उससे 'उड' काच में भी उन्नति हुई, जिसके

फलस्वरूप ऐसे काले दीप बन गये हैं जिनसे परानीललोहित विकिरण इतनी प्रचुर मात्रा में उत्सर्जित होते हैं कि प्रतिदीप्त प्रकाश न केवल संभव ही हुआ बल्कि अत्यन्त आकर्षक हो गया।

वर्णक्रम के दूसरे सिरे की भी बड़ी रोचक कहानी है। साधारण काच के अवरक्त विकिरण के अवशोषण गुण का भी अन्वेषण किया जाने लगा और इस दिशा में विकास का यहीं से प्रारम्भ हुआ। इसी के फलस्वरूप ऐसे काच तैयार किये गये जिनमें अवरक्त विकिरण का विशेष अवशोषण होता है, किन्तु वर्णक्रम के दृश्य क्षेत्र का अधिक नहीं। ऐसे काचों का यह गुण भी उनमें लौह ऑक्साइड की थोड़ी मात्रा होने के कारण होता है, यह भी यथासंभव फेरस अवस्था में होना चाहिए। फेरस ऑक्साइड के अधिक अनुपात वाले काच, जिनमें अवरक्त, दृश्य वर्णक्रम तथा परानीललोहित का अधिक अवशोषण होता है, आजकल भट्ठी-कर्मियों तथा एसेटिलीन और चाप (आर्क) संधाताओं (वेल्डर्स) के लिए धूप चश्मा बनाने के काम आते हैं। ये काच आजकल इतनी ऊँची सुतथ्यता के बनने लगे हैं कि उन्हें उनके अवशोषण को नियंत्रित करनेवाली राष्ट्रीय विशिष्टियों के अनुसार तैयार करना कुछ कठिन नहीं है।

परानीललोहित क्षेत्रवाले 'उड' काच की ही तरह अवरक्त क्षेत्र के लिए भी एक काच है जो दृश्य प्रकाश के लिए अपारदर्शी होते हुए भी काफी मात्रा में अवरक्त विकिरण का परागमन करता है। यदि ऐसे काच को बिजली-बत्ती के सामने रखा जाय तो यह 'विद्युद्नेत्र' अथवा 'चोरघण्टी' का काम कर सकता है। इस युक्ति में छानित अतः अदृश्य अवरक्त विकिरण एक गुप्त एवं अवरक्त सुग्राही फोटो-विद्युत सेल पर पड़ता है, जिससे धारा के टूटने से एक योजित्र (रिले) प्रेरित हो उठता है जो घण्टी अथवा किसी अन्य प्रकार के संकेत को क्रियान्वित कर देता है।

अमेरिका के 'कोडक' तथा अमेरिकन ऑप्टिकल कम्पनियों की अनुसन्धानशालाओं में ऐसे नवीन काचों का आविष्कार हुआ है, जिनमें सिलिका अति न्यून या बिलकुल नहीं होता तथा जिनमें असाधारण प्रकाशीय गुण होते हैं। सिलिका काचों की अपेक्षा इन काचों के वर्तनांक (रिफ्रैक्टिव इण्डेक्स) ऊँचे तथा विक्षेपण (डिस्पर्शन) नीचे होते हैं। यदि इस तथ्य की पुष्टि हो जाय तथा इस काच के अन्य गुण एवं विशेषताएँ संतोषजनक हों तो संयुक्त लेन्सों तथा वर्तनाय (रिफ्रैक्टिंग) उपकरणों की बनावट में बड़ी उन्नति हो जायगी।

इस लेख के सीमित दायरे में यह दरसाने का प्रयत्न किया गया है कि काच उद्योग में वैज्ञानिकों ने कितना अपार सहयोग किया है जिसके कारण गत कुछ वर्षों में ही उसमें असाधारण उन्नति हुई है। रसायनज्ञों ने न केवल काच-निर्माण की परिस्थितियों

के नियंत्रण का ही काम किया है, बल्कि इस उद्योग के विकास तथा तत्संबन्धी आविष्कारों में यथेष्ट हाथ बँटाया है।

ग्रंथ-सूची

DRALLER-KEPPELER, G. : *Die Glasfabrikation.* R. Oldenbourg.

HODKIN, H. W., AND COUSEN, A. : *Text-Book of Glass Technology.* Constable & Co., Ltd.

HOVESTADT (trans, Everett) : *Jena Glass and its Scientific and Industrial Applications.* Macmillan & Co., Ltd.

MOREY, G. W. : *Properties of Glass.* Chapman & Hall, Ltd.

PHILLIPS, C. J. : *Glass—The Miracle Maker.* Pitman Publishing Co., N. Y.

काचीय एनामल

विलियम टाम्सन, एफ० आर० आई० सी०

एनामल बनाने की कला अत्यन्त प्राचीन है। कुम्भकला में चीनियों द्वारा इसके प्रयोग का उल्लेख पहले भी किया जा चुका है। मिस्रियों तथा इट्रस्कनों द्वारा भी इसका व्यवहार होता रहा और समय पाकर यह यूनानियों तथा रोमनों की भी कला बन गयी। यहाँ पर हम विशेषकर धातु एनामलीकरण की चर्चा करना चाहते हैं जो पहले-पहल पश्चिमी एशिया में आविष्कृत हुआ और ईसाब्द की प्रारम्भिक शताब्दियों में यूरोप में पहुँचा। इसका इतिहास उन लोगों के लिए बड़ा रोचक है जो इसे एक कला के रूप में देखते हैं। 'बोर्ड ऑफ एडुकेशन' द्वारा प्रकाशित, बुशेल-रचित "चाइनीज़ आर्ट" नामक ग्रन्थ में इस विषय का सुन्दर वर्णन है। चीनी लोगों के अनुसार इसके आविष्कार का श्रेय कॉन्स्टैण्टिनोपल के लोगों को है। चीनियों और बाइज़ैण्टाइन के एनामलकर्ताओं की रीतियों का प्रायः एक-सा होना इस बात की पुष्टि करता है। इस लेख में हम एनामल के कलात्मक पक्ष पर नहीं वरन् उसकी उपयोगिता पर अपने विचार संकेन्द्रित करना चाहते हैं। इस प्रकार के एनामल का उपयोग निम्नलिखित रूप से होता है--बैज अर्थात् बिल्ले और घड़ियों के अंकित मुख बनाना, रेचक (एक्ज़ास्ट) पंखों के फलक (ब्लेडस), स्नानागारों के एवं

घरेलू पात्रों तथा रासायनिक उद्योग में प्रयुक्त होनेवाले पात्रों पर एनामल चढ़ाना इत्यादि।

औद्योगिक तथा घरेलू प्रयोग में आनेवाली एनामलीकृत वस्तुएँ मुख्यतः लोहे की बनी होती हैं, चाहे वह ढलवाँ लोहे की हों या लोहे की चद्दरों की। काचीय एनामल वाले ऊष्मक (बाथ) तो केवल ढलवाँ लोहे के बनते हैं, और इनका प्रयोग प्रायः इसी शताब्दी के प्रारम्भ से होने लगा है।

प्रारम्भिक अवस्था में सीस एनामल बना करते थे, किन्तु अब तो सीस का प्रयोग एकदम बन्द कर दिया गया है और बोरैक्स तथा यशद ऑक्साइड जैसे अन्य धातवीय ऑक्साइडों का प्रयोग होने लगा है। इससे एनामलों की गलनीयता प्राप्त हुई है तथा कर्मियों की सुरक्षा भी, क्योंकि सीस का प्रयोग करने से वे सीस-विषायन से पीड़ित होते थे।

ऊष्मकों, पात्रियों तथा ब्राकेटों पर एनामल चढ़ाने के लिए ढलवाँ लोहे की बनी उपयुक्त वस्तुओं को एनामल-अवगुण्ठ (मफ्ल) में ९००°—९५०° से० तक तप्त करके उन पर एनामल चूर्ण लगाया जाता है। पूर्वोपचार के लिए, ढली वस्तु को पहले गरम करके उसमें समायी हुई गैसों को पूरी तरह से निकाल दिया जाता है और तब इस्पातकणों अथवा बालू के साथ धम-भट्ठी में तप्त किया जाता है। यह क्रिया कर्मियों के लिए थोड़ी जोखिम की होती है क्योंकि उसमें सिलिकोसिस होने का भय रहता है।

उपर्युक्त रीति से परिष्कृत की हुई ढली वस्तु को या तो एनामल चूर्ण में डुबो कर या उस पर चूर्ण छिड़ककर सुखा लिया जाता है और इस प्रकार एनामल का पहला स्तर जमाया जाता है। इस स्तर का रूप अपरिष्कृत होता है और इसका यह काम है कि वस्तु को जब अगली विधा में तप्त किया जाय तो उसकी सतह का आक्सीकरण न होने दे तथा लोहे का आसंजन (ऐडहिसन्न) बढ़ जाय। जिस क्षण तप्त वस्तु भट्ठी में से निकाली जाती है उसी समय उस पर कम्पन-चलनियों से एनामल चूर्ण लगाया जाता है। विधा की इस अवस्था पर बड़ी होशियारी तथा अनुभव की आवश्यकता होती है क्योंकि एकरूप एनामल लगाना कोई बहुत सरल कार्य नहीं है।

एनामल धूलन के बाद ढली वस्तु को पाँच मिनट के लिए पुनः भट्ठी में डाल दिया जाता है, जिससे एनामल गलकर चिकना हो जाता है। यह स्तर पतला एवं तल को पूरी तरह ढकने के लिए अपर्याप्त होता है अतः इस विधा को एक बार फिर दोहराया जाता है और तब एनामल की हुई वस्तु को ठंडा कर लिया जाता है, किन्तु ठंडा करते समय उसे हवा के झोंके तथा धूल से बचाया जाता है।

एनामल बोरोसिलिकेट काच का होता है, जिसका द्रवणांक नीचा होता है। ठंडा होने पर वस्तु पर एनामल दृढ़ रहेगा या नहीं यह बोरोसिलिकेट काच के निबन्ध पर निर्भर होता है। निबन्ध में अन्तर होने से धातु के संकुचन पर एनामल में दोष आ जाता है जिससे वह उस पर भली प्रकार जमा नहीं रह सकता।

चद्दर के बने सामानों पर सदा आर्द्र विधा से एनामल किया जाता है। पहले चद्दर से आवश्यक वस्तु बना ली जाती है, फिर उसे गरम करके या रासायनिक विलायकों (सॉल्वेण्ट) से धोकर उस पर से चिकनाई साफ कर दी जाती है। इसके बाद उसे हाइड्रोक्लोरिक अम्ल से मार्जित करके आक्साइडरहित किया जाता है और फिर अम्ल को भी धोकर अन्त में उसे क्षार विलयन से धोया जाता है। तत्पश्चात् उसे एनामल चूर्ण में डुबोकर अथवा शीकरण पिस्तौल से उस पर चूर्ण छिड़क कर प्रथम स्तर चढ़ाया जाता है। इस स्तर को सुखाने के बाद उसे ८५०°—९००° से० पर अग्नितप्त किया जाता है। भट्ठी से निकलने पर उसकी सतह काली एवं चमकदार हो जाती है। ठंडा हो जाने के बाद प्रथम स्तर पर छिड़ककर दूसरा स्तर चढ़ाया जाता है, यह सफेद या रंगीन होता है। इसे भी सुखा कर अग्नितप्त कर लिया जाता है, लेकिन इस बार ताप पहली बार से ५०°—८०° कम होता है। साधारणतया इन्हीं दो स्तरों से सुन्दर सतह प्राप्त हो जाती है।

एनामल भट्ठियों में चद्दरों को रखने के लिए घानी (स्टैण्ड) बनी होती है जिसे 'पेरेट' कहते हैं। ये घानियाँ विशिष्ट धातु की बनी होती हैं जो उच्च ताप पर न तो आक्सीकृत होती हैं और न विरूपित। यह निकेल और क्रोमियम के मिश्रधातु की बनी होती हैं। प्रथम एवं द्वितीय दोनों स्तर बोरोसिलिकेट काच के होते हैं, जिनमें ३५% पानी और काच को निलम्बित रखने के लिए ५% मिट्टी होती है।

ये एनामल सीसरहित होते हैं, ये अम्ल-सह अथवा अन-अम्ल-सह होते हैं, जो इनके प्रयोग पर निर्भर करता है। अन-अम्ल-सह एनामल बनाने में आसानी होती है और साथ ही ये अम्ल-सह एनामलों की अपेक्षा अधिक सुन्दर होते हैं और उतनी आसानी से टूटते भी नहीं।

पिछले १० वर्षों में ढलवाँ लोहे के एनामलीकरण की आर्द्र विधा का विकास किया गया है और यह अब व्यापक रूप से व्यवहृत हो रही है। यह भी स्तार एनामलीकरण की ही तरह है, अन्तर केवल इतना है कि एनामल का द्रवणांक कम होता है तथा प्रथम परिष्करण उत्स्फोटन (ब्लास्टिंग) द्वारा किया जाता है, अम्ल मार्जन से कदापि नहीं।

गैस तथा बिजली के पक्त्रों (कुकर) में लगनेवाली हलकी तथा आसानी से

विरूपित होनेवाली ढलवाँ वस्तुएँ इस वर्ग में आती हैं, क्योंकि यह विधा केवल उन्हीं कमज़ोर ढलवाँ चीजों के लिए प्रयुक्त की जाती है, धूलन विधा से उपचारित होने पर जिनका रूप ठीक नहीं बना रह पाता। इसके अलावा इस विधा से कार्य में शीघ्रता भी होती है।

ढलवाँ चीजों पर आर्द्र विधा लागू हो जाने से, उन पर विविध रंगों का प्रयोग करके उनको सजाना भी संभव हो गया है, यह धूलन विधा से संभव न था। स्तार धातु का पुनः अग्नि-तापन तो ठीक है किन्तु ढलवाँ चीजों को पुनः तप्त करना उचित नहीं, जब तक उनको ठंडा होने के तुरन्त बाद ही तप्त न किया जाय। यदि इसमें विलम्ब हो जाय तो उनमें गैसें समा जाती हैं और तब पुनः अग्नि-तप्त करने से उनमें सूक्ष्म छिद्र हो जाते हैं।

इन विधाओं में अवगुण्ठ (मफल) प्रकार की भट्ठियाँ इस्तेमाल की जाती हैं और अगर वे कोयले की खानों के निकट स्थित हों तो उनमें प्रोड्यूसर गैस जलायी जाती है। उन क्षेत्रों में जहाँ ठोस ईंधन महँगा पड़ता है वहाँ भी तेल, गैस अथवा बिजली का प्रयोग किया जाता है।

रंगदार एनामल बनाने के लिए विशेष रूप से तैयार किये गये धातवीय ऑक्सा-इडों का प्रयोग किया जाता है। इन्हें मिट्टी के साथ चक्की में पीस लिया जाता है अथवा वाणिज्यिक ऑक्साइडों को एनामल की घान में गला लिया जाता है।

ग्रंथ-सूची

ANDREWS, A. I. : *Enamels*. Twin Publishing Co.

GRUNWALD, J. : *Raw Materials of the Enamel Industry*. Charles Griffin & Co., Ltd.

—*Technology of Iron Enamelling and Tinning*. Charles Griffin & Co., Ltd.

—*Theory and Practice of Enamelling on Iron and Steel*. Charles Griffin & Co., Ltd.

HANSEN, J. E. : *Manual of Porcelain Enamelling*. Enamelist Publishing Co.

MERNAGH, L. R. : *Enamels, Their Manufacture and Application to Iron and Steel Ware*. Charles Griffin & Co., Ltd.

अध्याय १८

परिवहन

जलयान-निर्माण तथा नौ-आँगन, रेलवे; सड़क-परिवहन,

परिवहन, जलयान-निर्माण तथा नौ-आँगन

आर्थर मार्क्स, ए० एम० आई० मेक० ई०, ए० आर० सी० एस०, ए० आर० एस० एम०, एफ० आर० आई० सी०

जलयान-निर्माण भी अति प्राचीन कला है, इसका उल्लेख सहस्रों वर्ष पुराने बाइबिलसम्बन्धी अभिलेखों में मिलता है। अमेरिका के आविष्कार के लिए प्रयुक्त जलयानों के अवशेष अब भी मेसाचुसेट्स के संग्रहालय में विद्यमान हैं। इनका निर्माण कोलम्बस (१४९२) अथवा अमेरिगो वेस्पुक्काई (१४९८) द्वारा पश्चिम की यात्रा की जाने के पाँच या छः सौ वर्ष पूर्व हुआ था।

इण्डीज़ पहुँचने के लिए कोलम्बस ने जिस पोत का प्रयोग किया था वह २३० टन भारी तथा १२८ फुट लम्बा और २६ फुट चौड़ा था। इसकी तुलना मिस्रियों द्वारा ३००० ई० पू० बनायी गयी नौका से कीजिए, जो केवल ७० फुट लम्बी और २० फुट चौड़ी थी। ऐसे बेड़े पेरू के समुद्री किनारों पर अब भी देखे जा सकते हैं।

नौ-वहन की समस्याओं को हल करने के लिए रसायनविज्ञान की सहायता अभी हाल में ही ली जाने लगी है, इससे अब नौ-मार्ग में सीमेण्ट और कंकरीट चुनने से लेकर नोदक (प्रोपेलर) और जहाज के पेटे के संक्षारण तक की विभिन्न समस्याओं को हल और तत्संबन्धी अनुसन्धान करना पड़ता है।

अन्य अनेक शिल्पों की भाँति जलयान-निर्माण में अपूर्व परिवर्तन हुए हैं; लकड़ी के स्थान पर लोहे का पेटा बनाना तथा पालों की सहायता के बजाय उसे भाप से चलाना इन परिवर्तनों के कुछ उदाहरण हैं। जलयान संचालन के लिए भाप के स्थान पर डीज़ेल इंजन का प्रयोग भी होने लगा, किन्तु किसी विशिष्ट सेवा के लिए आवश्यक क्षमता तथा आर्थिक दृष्टि के आधार पर ही इस परिवर्तन का मूल्यांकन किया जा सकता है। जैसे उच्च श्रेणी के तेल इंधन से चलनेवाले डीज़ेल इंजनों का प्रयोग

छोटे एवं मध्य आकार के सामान और यात्रियों को ले जानेवाले जहाज़ों में ही किया जाता है, जब कि लम्बी-लम्बी यात्राओं के लिए भाप-टर्बाइनवाले जलयान ही काम आते हैं।

इसमें रसायनविज्ञान के प्रयोग की कहानी का प्रारम्भ संसार के तेलस्रोतों के संक्षिप्त उल्लेख एवं तेल के निबन्ध तथा भौतिक लक्षणों की चर्चा से किया जा सकता है। एतदर्थ नौ-आँगन (शिपयार्ड) की प्रयोगशाला में ऊष्मीय मान (कैलारिफिक वैल्यू) मापने के लिए ऊष्मामापी (कैलरी मीटर) से लेकर स्नेहक तेलों की श्यानता (विस्कॉसिटी) नापने के यन्त्र लगे रहते हैं।

जहाज़ में इंधन तथा स्नेहक (लुब्रिकेशन) की आवश्यकता के पहले ही रसायन विज्ञान का प्रयोग प्रारम्भ हो जाता है, क्योंकि जहाज़ का पेटा और इंजन तो ढलवाँ लोहे से ही बनता है और इनके बनाने के लिए आवश्यक ढलवाँ लोहे तथा पिग लोहे के निबन्ध (बनावट) इत्यादि का निर्धारण रसायनज्ञ को ही करना पड़ता है। डीज़ेल इंजन में लगनेवाले सिलिण्डर और पिस्टन को काफी ऊँचा ताप सहन करना पड़ता है अतः उनके लिए प्रयुक्त होनेवाले पिग-लोहे में थोड़ी मात्रा फास्फोरस की होनी चाहिए। इंजन, सिलिण्डर के अस्तर तथा पिस्टन के वलयों (रिंग्स) जैसे अन्य भागों को काफी घर्षण-रोधी होना चाहिए। इनके लिए निकेल और क्रोमियम की मिश्र-धातु का प्रयोग हो सकता है तथा आवश्यकता होने पर इसमें सल्फर डालकर इसे कठोर भी किया जा सकता है।

वाष्पित्र (ब्वायलर) तथा पेटे में लगनेवाले इस्पात के पट्टों की बनावट में भी रसायनविज्ञान का महत्त्वपूर्ण प्रयोग है। जब धातु में अधातवीय तत्त्वों का वितरण भिन्न होता है तब समुद्री जल में जहाज़ के पेटों का बड़ी तीव्र गति से संक्षारण होता है, ऐसा विशेषकर कार्बन के अनियमित वितरण के कारण होता है। रंगलेप लगे रहने पर भी पट्ट का वह भाग, जिसमें कार्बन की मात्रा कम होती है, दूसरे भागों की अपेक्षा अधिक शीघ्रता से विलीन होने लगता है। रंगलेप बहुधा सरंध्र झिल्ली की तरह होते हैं इसलिए उनसे जल का सर्वथा अपवर्जन नहीं होता। इसी लिए पुराने समय में उस लोहे के बने जहाज़, जिसमें अशुद्धियाँ कम होती थीं तथा धातुमलों का वितरण प्रायः एकरूप होता था, आधुनिक जहाज़ों की तुलना में अधिक टिकाऊ होते थे। कारण यह है कि वर्तमान इस्पात के पट्टों में अति शीघ्र उत्पादन होने से पृथक्करण (सेग्रिगेशन) की कठिनाई प्रायः होती है। अतः इस्पात की रासायनिक जाँच उसी समय से प्रारम्भ हो जाती है जब वह खुली चुल्ली-भट्ठी में द्रवित अवस्था में रहता है।

क्षार की क्रिया के कारण वाष्पित्रों के पट्टे प्रयोग-काल में ही फट जाते हैं; इस कठिनाई का निवारण करने के लिए बड़ा रासायनिक अनुसन्धान किया गया है। कुछ समय पूर्व ऐसा आविष्कार हुआ कि वाष्पित्र-जल में क्षार की थोड़ी मात्रा रहने से संक्षारण का निवारण होता है किन्तु यदि उसमें क्षार की सांद्रता अधिक हो तो वही पट्टों के भंजन का कारण हो जाता है। इस संबन्ध में भी अनेक अनुसन्धान हुए हैं। सामान्य विचार है कि आक्रमण उसी स्थान पर होता है जहाँ धातु पर अत्यधिक प्रतिबल दिया गया हो, किन्तु कुछ ऐसे निबन्धवाले इस्पातों को भी क्षार की क्रिया से कुछ ही घण्टों में विफल होते देखा गया है, जिन पर तनिक भी प्रतिबल नहीं था। इससे सिद्ध होता है कि मुख्य बात इस्पात के निबन्ध (कंपोजिशन) की है, न कि प्रतिबल[1] की।

वाष्पित्रों तथा पेटों की सुरक्षा के लिए विद्युत-रसायनविज्ञान का भी पूरा प्रयोग किया गया है। पहले वाष्पित्रों और संघनकों के अन्दर तथा कांस्य नोदकों के पीछे पेटे पर यशद के पट्टे लगाये जाते थे, किन्तु ये वाष्पित्र तथा पेटे के इस्पातपट्टों की अपेक्षा जल्दी संक्षरित हो जाते थे। इसका कारण यह था कि इस्पात की अपेक्षा यशद अधिक विद्युत्-धनात्मक होता है। किन्तु अगर यशदपट्ट प्राय. शुद्ध हों और उनमें पृथक्कृत सीस न हो तो यह रीति अधिक लाभदायी सिद्ध हो सकती है। यशद पट्टों में पृथक्कृत सीस होने से यशद और सीस में एक विद्युदंशिक (एलेक्ट्रोलिटिक) क्रिया प्रारम्भ हो जाती है, जिसके फलस्वरूप यशदपट्ट कुछ ही दिनों में संक्षरित हो जाते हैं। इसी लिए यशदपट्टों की इस प्रकार के पृथक्करण के लिए बड़ी सावधानी से परीक्षा की जाती है।

वाष्पित्र और पेटे का संक्षारण रोकने के लिए विद्युतधारा-रक्षण (प्रोटेक्शन) का भी उपयोग किया गया है। इसके लिए ऋणात्मक वाष्पित्रपट्टिका (शेल) अथवा ऋणात्मक पेटे (हल) के साथ परिपथ (सर्किट) में एक लोहे के धनाग्र (ऐनोड) का प्रयोग किया जाता है। यह विधा प्रभावी तो अवश्य है किन्तु इसका यह दोष है कि वाष्पित्र में फेरिक हाइड्राक्साइड का ऊर्ण्य अवक्षेप (फ्लॉकुलेन्ट प्रेसिपिटेंट) बन जाता है, जिसकी वजह से टर्बाइन इंजनवाले जहाजों में टर्बाइन फलक अवरुद्ध हो जाते हैं।

जलयानों में वाष्पित्र जल को बार-बार इस्तेमाल करना जरूरी होता है जिससे मुख्य टंकी अथवा उद्वाष्पक (इवैपोरेटर) में से अत्यधिक पूर्ति न करनी पड़े। इंजनों

[1] Stress

की क्षमता बढ़ाने के लिए उनमें संघनक (कॉण्डेन्सर) लगे रहते हैं, जिनमें भाप के संघनन के लिए समुद्री जल पम्प किया जाता है। संघनक की नलियों के संक्षारण के प्रश्न पर भी काफी अनुसन्धान किया गया है तथा उसके संबन्ध में अनेक सिद्धान्त निर्धारित किये गये हैं। पहले ये नलियाँ पीतल की बनी होती थीं, जिसमें से यशद संक्षारित हो जाता था और ताम्र की एक जाली सी बच रहती थी। इससे अल्फा-कला (फेज़) के साथ एक विद्युत-युग्म (कप्ल) तैयार हो जाता जो अल्फा-कला में यशद की हानि का कारण बनता था। संघनक की नलियों की अवस्थिति (पोज़ीशन) तथा समुद्री जल में वायु की उपस्थिति सदृश अन्य कारक भी संक्षारण में योग देते हैं। इसके तुलनात्मक महत्त्व को देखते हुए संघनक नलियों के संक्षारण की समस्या पर अत्यधिक वैज्ञानिक अनुसन्धान किया गया है। इस समस्या को हल करने के लिए एक-कला ताम्र-निकेल मिश्रधातु का प्रयोग उत्तम माना गया है। यद्यपि ताम्र-निकेल मिश्रधातु इस्तेमाल करने में प्रारम्भिक पूँजी-लागत थोड़ी अधिक अवश्य पड़ती है किन्तु अधिक टिकाऊ होने के कारण अन्ततोगत्वा महँगी नहीं होती।

नोदकों (प्रॉपेलर्स) के तथाकथित अपक्षरण (इरोज़न) के निवारण के लिए भी रसायनविज्ञान का महत्त्वपूर्ण प्रयोग किया गया है। लोगों ने यह अनुभव किया था कि ढलवाँ लोहे के बने नोदक बहुत जल्द नष्ट हो जाते थे जब कि काँसेवाले समुद्री जल की क्रिया से अधिक प्रभावित न होने के कारण अधिक दिन चलते थे। चूँकि ताम्र और वंग की कांस्य मिश्रधातु महँगी होती थी इसी लिए ताम्र और यशद की पीतल मिश्रधातु इस्तेमाल की जाती थी। आगे चलकर इसमें लोहा डालकर उसे और सुदृढ़ किया जाने लगा। इसके लिए पीतल में लौह-मैंगनीज़ मिश्रधातु मिलायी जाती थी। इस प्रकार मैंगनीज़ काँसे के नोदक बनने लगे, जो वस्तुतः पीतल के होते थे, जिनमें लोहा (१%) तथा लेश मात्र मैंगनीज़ केवल कठोरकरण के लिए होता था। टर्बाइन इंजनों द्वारा संचालित उच्च गतिवाले नोदकों के प्रचलन के साथ साथ उनकी सतह पर से गुजरने वाले समुद्री जल और वायु की मात्रा भी बहुत बढ़ गयी, फलतः नोदकों का संक्षारण पुनः प्रत्यक्ष होने लगा। चूँकि उच्च गतिवाले नोदकों से उनके आसपास वाले जल में खोखले कोटर बन जाते हैं, इसलिए यह समझा गया कि इनके एकाएक पिचककर समाप्त होने से अपक्षरण शक्ति उत्पन्न हो जाती है जो नोदक-फलकों में छिद्र करके उनका अपक्षारण कर देती है। इस समस्या के अनुशीलन का काम गणितज्ञों को सौंपा गया तथा यह गणना द्वारा सिद्ध किया गया कि जब कोई निर्वात कोटर (वैकुअम कैविटी) एकाएक पिचकता है तो अत्यधिक शक्ति उत्पन्न हो जाती है। किन्तु उपर्युक्त समस्या पर विचार करते समय यह नहीं

सोचा गया कि नोदक के आसपास निर्वात कोटर जैसी कोई चीज़ नहीं होती। इन कोटरों में तो पर्याप्त हवा एवं आर्द्रता भरी रहती है, और यह परिस्थिति अपक्षरण (इरोजन) के नहीं, संक्षारण (कोरोज़न) के लिए अति उपयुक्त है।

अपक्षरण सिद्धान्त के अनुसार मैंगनीज़ काँसे को और कठोर बनाया गया, इसके लिए मृदुल अल्फा-कला का निरसन, और यशद की मिलावट तथा कठोरकरण के लिए लोहे के स्थान पर निकेल का प्रयोग किया गया। इस प्रकार एक ऐसी प्रबल मिश्रधातु उत्पन्न की गयी जिसमें केवल एक कला थी और उच्च संक्षरण-रोधी गुण थे।

समुद्री जल अथवा लवण जल-वातावरण में रक्षानौकाओं में भी पीतल का संक्षारण बड़ा महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि उनमें उत्प्लावकता (ब्यायन्सी) के लिए हलकी पीतल की टंकियाँ लगी रहती हैं। निरीक्षणार्थ खोले जाने पर ये टंकियाँ फटी मिलीं। पीतल की चद्दरों का संक्षार विदरण (सीज़न-क्रैकिंग) हो गया था। इस विषय पर भी बहुत कुछ लिखा गया है और इसके अनेक कारण उपस्थित किये गये हैं। संक्षार विदरण की जाँच करने पर यह अनुमान किया गया कि उनमें दुर्बल तथा अति संक्षारक गामा-कला विद्यमान थी। यद्यपि संक्षार-विदरण का यह मुख्य कारण नहीं माना गया है किन्तु जलयान-निर्माण में इसके महत्त्व की पूरी जाँच की गयी और गामा-कला[1] की उपस्थिति निश्चित रूप से मान ली गयी। किन्तु इसके स्वीकृत न होने का कारण यह है कि प्रयोगशाला की तापशीतन परिस्थिति में प्रतिष्ठित कला-चित्र (फेज़ डायाग्राम) औद्योगिक परिस्थिति में बड़े पैमाने पर किये गये तापशीतन (ऐनीलिंग) के कला-चित्र से सर्वथा भिन्न होता है।

जलयान-निर्माण में रसायनविज्ञान के प्रयोग की विविधता बड़ी विशाल है, इसके लिए अफ्रीकी नदियों तथा आस्ट्रेलियाई बन्दरगाहों के जलों के विश्लेषण से लेकर सदोष स्वर्ण-पट्टन (प्लेटिंग) की समस्या के अनुशीलन तथा भट्ठियों की गैसों की परीक्षा तक सब कुछ करना पड़ता है। ईंधन का विश्लेषण करके उष्मा संतुलन की पूर्ति के लिए अश्व-शक्ति का निर्धारण भी इसकी परिधि के बाहर नहीं है।

[1] γ-Phase

रहे हैं। किन्तु आगे चलकर तो उन्होंने बेसेमर परिवर्तक (कन्वर्टर) से निकलने वाले प्रकाश के वर्णक्रम (स्पेक्ट्रम) में होनेवाले परिवर्तनों का वर्णक्रमदर्शी (स्पेक्ट्रास्कोप) द्वारा अध्ययन करने के लिए सर हेनरी रासको से भी सहायता ली। पहले पहल नियुक्त रेलवे रसायनज्ञ का मुख्य कर्तव्य इस्पात-निर्माण करना तथा जलप्रदायों को ठीक रखना था, किन्तु धीरे धीरे उसका कार्यक्षेत्र बढ़ने लगा और उसके सहकर्मियों की संख्या भी बढ़ी, यहाँ तक कि आजकल रासायनिक एवं आनुषंगिक कार्यों के लिए लगभग २०० व्यक्ति नियुक्त हैं, इनमें कुछ तो बड़ी उच्च शिक्षा वाले एवं अनुभवी रसायनज्ञ हैं।

इंजीनियरी विभागों में कुछ तो ऐसी समस्याएँ उठती हैं जो रेलवे क्रियाकरण से सर्वथा अभिन्न होती हैं। उदाहरणार्थ चलित्रों (लोकोमोटिव) की भट्ठी में होनेवाले दहन (कम्बस्चन) का अध्ययन एवं नियंत्रण अन्य भट्ठियों के दहन से कहीं अधिक जटिल है। चलित्रों के लिए प्रयुक्त जल का उपचार भी अति कठिन है, क्योंकि उन्हें बीसों स्थानों से विभिन्न प्रकार के जल लेने पड़ते हैं। ऐसी तथा धातुकर्म, स्नेहन (लुब्रिकेशन), काष्ठ-परिरक्षण, सुरंगों के लिए सीमेण्ट और कंकरीट, रंगलेप तथा तलों के रक्षण और सजावट के लिए अन्य लेप, गाड़ियों में रोशनी देने के लिए बैटरी बनाना, स्थायी रास्तों से घासपात नष्ट करना, बहुत देर तक जलनेवाले संकेत-दीपों के लिये तेल, तेल-गैस और कोल-गैस के निर्माण से प्राप्त उपजातों का उपयोग, पानी में उत्पन्न होनेवाली वनस्पतियों का निरसन एवं नियंत्रण, विशेषकर उन जलाशयों में जहाँ से रेलमार्ग पर चलते हुए चलित्र जल लेते हैं, लकड़ियों एवं वस्त्रों को अग्निरोधी बनाना इत्यादि जैसी अनेक अन्य समस्याओं के हल के लिए निरन्तर अनुसन्धान आवश्यक है।

विस्फोटक पदार्थ, ज्वलनशील द्रव, संपीडित एवं तरलित गैस, विषाक्त एवं संक्षारक रासायनिक यौगिक तथा जोखिमी सामानों के रेल द्वारा सुरक्षित परिवहन के लिए नियम बनाना तथा उनकी देखरेख करना रेलवे की विशेष रासायनिक समस्याएँ हैं जिनके लिए रसायनविज्ञान का प्रत्यक्ष प्रयोग किया जाता है। १८९२ में विविध रेलवे कंपनियों ने रसायनज्ञों की एक समिति नियुक्त की थी, किन्तु वर्तमान रेलवे नियम प्रायः पिछले २५ वर्षों में ही विकसित हुए हैं। उपर्युक्त समिति ने विविध वाणिज्यिक विभागों के सहयोग से काम किया और यह उसकी सफलता का बड़ा भारी प्रमाण है कि सड़क मार्ग से जोखिमी सामानों के परिवहनसंबन्धी सरकार द्वारा जो नियम जारी किये गये हैं वे अधिकांशतः रेलवे के नियमों पर ही आधारित हैं। इस प्रकार के काम के लिए व्यापक रासायनिक ज्ञान एवं अनुभव की आवश्यकता होती है,

साथ ही साथ अनेक प्रयोग तथा परीक्षण भी करने पड़ते हैं। इसके अतिरिक्त इस बात का भी विशेष ध्यान रखना पड़ता है कि नियम इतने कठोर और ख़र्चीले न हो जायँ कि भेजनेवालों के लिए रेल द्वारा ऐसे सामानों का भेजना ही असंभव हो जाय। उदाहरणार्थ किसी १० गैलन संक्षारक अम्ल के लिए सबसे सुविधायुक्त तथा कम खर्चीला धारक (कन्टेनर) काच का कार्ब्याय[1] होता है। इसमें संदेह नहीं कि इसकी अपेक्षा अन्य कोई धारक अधिक सुरक्षित होता, किन्तु इससे धारक का ही दाम इतना बढ़ जायगा कि वह उद्योगविशेष के लिए बहुत बाधक हो जायगा। इसलिए रेलवे के नियमों में यह निर्देश किया गया है कि कार्ब्याय यथासंभव मजबूत हों, तथा उनकी अन्तर्वस्तु के अनुकूल उन पर उपयुक्त डाटें बड़ी मजबूती से लगी हों और वे इस प्रकार पैक हुए हों कि उनके टूटने की न्यूनतम संभावना रह जाय। इसी तरह संपीडित एवं तरलित गैसों के परिवहन में अनेक समस्याएँ उठती हैं। सरकारी गृहविभाग (इंग्लैण्ड) ने १८९५ में एक समिति नियुक्त की, जिसने स्थायी गैसों के लिए सिलिण्डरों की सिफारिश की और रेलवे कंपनियों ने यह सिफारिश मान ली। किन्तु जब क्लोरीन, अमोनिया तथा इथिल क्लोराइड जैसी दबाव से तरल बननेवाली गैसों का वाणिज्यिक प्रचलन प्रारम्भ हुआ तो रेलवे कंपनियों को उनके धारकों के बारे में पुनः विचार करना पड़ा। समस्या-समाधान में लगे रसायनज्ञों को उनके रासायनिक गुणों के साथ साथ प्रसरणगुणांक, वाष्पदबाव तथा क्रान्तिक (क्रिटिकल) ताप जैसे भौतिक गुणों पर भी विचार करना पड़ा। उनको धारकों की मजबूती का भी ध्यान रखना था, यद्यपि स्थायी गैसों के लिए प्रयुक्त सिलिण्डरों से यह आवश्यकता पूरी हो जाती है, क्योंकि वे गैसें १८०० पौण्ड प्रति वर्ग इंच के दबाव तक संपीडित होती थीं। फिर भी व्यापारी के हित में एवं अन्तर्वस्तु के भार की तुलना में धारक का भार यथासंभव इतना कम होना चाहिए जिससे उसे उठाने-धरनेवाले कर्मियों तथा सामान्य जनता की सुरक्षा सर्वथा प्रतिभूत हो। रसायनज्ञों के विचारविमर्श एवं परीक्षणों तथा व्यापारियों से परामर्श के बाद सिलिण्डरों, ड्रमों तथा तेल-गाड़ियों की ऐसी विशिष्टियाँ निर्धारित की गयीं, जिनकी सहायता से ऐसे सामान सुरक्षापूर्वक एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाये जा सकते हैं। लेकिन जब सड़क-परिवहन का विकास हुआ तब रेलवे कंपनियों द्वारा निर्धारित नियम लागू नहीं किये जा सके और सरकारी नियमों द्वारा निर्दिष्ट सिलिण्डरों का उपयोग ही व्यावहारिक माना

[1] Carboy

गया। 'डिपार्टमेण्ट ऑफ साइण्टिफिक ऐण्ड इण्डस्ट्रियल रिसर्च' की समितियों ने जो सिफ़ारिशें जारी कीं उनके अनुसार तरलित गैसों के लिए इस्तेमाल किये जाने-वाले सिलिण्डर रेलवे कंपनियों द्वारा निर्धारित सिलिण्डरों की अपेक्षा अधिक भारी थे। एक अनुसन्धान के सिलसिले में यह पता लगा कि सिन्नामिल ग्रन्थन (लिंकेज) वाले यौगिक यदि कपड़ों पर गिर जायँ तो हवा लगने से इतने शीघ्र आक्सीकृत हो जाते हैं कि वे जल उठते हैं। ऐसे ही किसी यौगिक से भरा कनस्टर एक बक्स में काष्ठ-ऊन से पैक किया हुआ था, किन्तु कनस्टर से उसके चू जाने के कारण काष्ठ-ऊन में और फिर गाड़ी में आग लग गयी। रुचिकर बात यह थी कि भेजनेवाले तथा पानेवाले को यौगिक विशेष के इस गुण का बिलकुल पता न था यद्यपि वे वर्षों से उसका व्यापार करते आ रहे थे। इसी प्रकार का एक और रोचक आविष्कार है—सोडियम क्लोरेट विलयन से व्याप्त जूट के बोरे को जब १०५° से० पर सुखाया गया तो वह स्वतः जल उठा। यद्यपि ये बातें वैसे विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं हैं किन्तु परिवहन के संबन्ध में काफी जोखिम की हैं।

सरकारी नियमानुसार विविध प्रकार की वस्तुओं के २१ वर्ग बनाये गये हैं और रेलवे कम्पनियों को परिवहनार्थ प्रस्तुत वस्तुओं का वर्गीकरण करने के लिए कानूनन रसायनज्ञ की सेवाएँ लेनी पड़ती हैं। इसी वर्गीकरण के अनुसार उनका किराया निश्चित किया जाता है। ऐसी निरापद वस्तुओं के परिवहन में भी रसायनज्ञ के परा-मर्श की आवश्यकता पड़ती है, जो स्वतः खराब हो जानेवाली होती हैं। यातायात में खराब हो जानेवाली वस्तुओं की क्षतिपूर्ति के लिए जो दावे होते हैं उनके संबन्ध में भी काफी रासायनिक काम करना पड़ता है। मोटे तौर पर दूषित वस्तुओं के दूषणकर्ता को पहचानना पड़ता है तथा उसके संभाव्य स्रोत का पता लगाना होता है। दूषण अथवा क्षति की सीमा निश्चित करनी पड़ती है, तथा उसके नाश-रक्षण (साल-वेजिंग), पुनरनुकूलन (री-काण्डिशनिंग) अथवा ऐसे माल के बेचने या अन्य प्रकार से निकालने के बारे में सिफारिशें करनी पड़ती हैं। इसके लिए बड़े कड़े विश्लेषण, विभिन्न दूषणकर्ताओं द्वारा होनेवाली वस्तुओं की संभाव्य क्षति के बारे में प्रचुर अनुभव तथा विविध सामानों के प्रयोग के व्यापक ज्ञान की आवश्यकता होती है। दूषित एवं क्षत वस्तुओं के इस्तेमाल के तरीके निकालने का भी काम रसायनज्ञों का ही होता है।

वहन-विभागों में काम करने के लिए न केवल रासायनिक योग्यता की ज़रूरत होती है वरन् विविध वस्तुओं के बारे में वाणिज्य-ज्ञान, विशेष कर उनके निर्माण की रीतियाँ, गुण तथा इस्तेमाल जानने की आवश्यकता होती है। एतदर्थ अनुसन्धान

की कोटि की जाँच एवं परीक्षण जरूरी होते हैं। रेलवे रसायनज्ञ को वायुमण्डलिक ताप गिर जाने से ईख, ग्लूकोज़, चाकलेट, पालिश की हुई लकड़ी तथा धातुओं की चमकदार सतहों पर जम जानेवाले पानी के प्रभावों का भी अध्ययन करना पड़ता है।

वाणिज्यिक विभागों द्वारा तैयार किये गये प्रतिवेदन (रिपोर्ट) बड़े सुनिश्चित एवं संक्षिप्त होने चाहिए तथा उनकी भाषा ऐसी होनी चाहिए जो सर्वसाधारण की समझ में आ सके; उनके परिणाम तथा सिफारिशें भी निश्चित होनी चाहिए।

विश्लेषण रसायन का विशेष उल्लेख किये बिना प्रस्तुत विवरण पूरा नहीं हो सकता। उपर्युक्त कार्यकलापों में किये जानेवाले विश्लेषण अति परिशुद्ध (ऐक्यूरेट) और शीघ्रता तथा मितव्ययिता से सम्पन्न होनेवाले होने चाहिए। विश्लेषण परिणामों के लिए लोग बहुत देर तक प्रतीक्षा नहीं कर सकते क्योंकि विश्लेषणव्यय भी वस्तु के मूल्य में जोड़ दिया जाता है और क्रयविभाग इससे विशेष रूप से संबन्धित रहता है। परिशुद्धता को किसी प्रकार कम किये बिना ही रीतियों की गति बढ़ाने तथा उनका खर्च कम करने के लिए उनमें अनेक संशोधन उपस्थित किये गये हैं और बहुधा सर्वथा नयी रीतियाँ निकाली गयी हैं जिनमें से कुछ तो प्रकाशित भी की गयी हैं। विश्लेषण-कार्य का महत्त्व तो तब समझ में आता है जब हमें यह ज्ञात होता है कि वार्षिक क्रय की धनराशि करोड़ों पौण्ड के आँकड़ों में होती है और यथासंभव सभी चीजें रासायनिक विशिष्टियों के अनुसार ही खरीदी जाती हैं। वर्णक्रमदर्शिक (स्पेक्ट्रास्कोपिक) एवं विद्युत् से सम्पन्न होनेवाली नयी विश्लेषण रीतियाँ भी प्रयुक्त होने लगीं हैं और अब तो सूक्ष्म विश्लेषण का प्रयोग उत्तरोत्तर बढ़ता जा रहा है।

इस लेख में रेलवे रसायनज्ञ के कामों के बारे में केवल एक संकेत-मात्र ही दिया जा सका है क्योंकि उसके सविस्तार वर्णन करने के लिए तो इससे कहीं अधिक स्थान की आवश्यकता होती।

ग्रंथ-सूची

ARCHBUTT, L., AND DEELEY, R. M. : *Lubrication and Lubricants.* Chas. Griffin & Co., Ltd.

FANCUTT, F. : *Work of the Paint Research Laboratory of the L. M. S. Railway. J. Inst. C. E.*, Vol. 9.

LEWIS-DALE, P. : *Chemistry in the Service of the Railway. J. S. C. I.* 24th Oct., 1930.

OVERIN, R. L. : *Chemistry in the Railway Industry. Industrial Chemist*, Aug., 1936.

WILLIAMSON, J. W. : *A British Railway Behind the Scene*, pp. 191-210. Ernest Benn, Ltd., 1933.

WYATT. G. H. : *Micro-Analysis and the Railway Chemist. Micro-chemistry*, Mar., 1944.

सड़क परिवहन

ए० टी० विल्फोर्ड, बी० एस-सी० (लन्दन), ए० आर०
सी० एस०, ए० आर० आई० सी०

मोटर परिवहन तो इंजीनियरों का ऐसा अधिकारक्षेत्र है कि रसायनविज्ञान द्वारा इसमें किये गये योगदान की उपेक्षा करना बहुत स्वाभाविक है। किन्तु तनिक निकट से देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि इस उद्योग में भी अनेक ऐसी दिशाएँ हैं, जिनमें रसायनज्ञों के काम का ठोस महत्त्व है। पेट्रोल उत्पादन की आधुनिक रीतियाँ तो सर्वथा रासायनिक अनुसन्धानों पर ही आधारित हैं। इन अनुसन्धानों का मुख्य उद्देश्य प्राप्य ईंधन की उत्पत्ति बढ़ाने के साथ साथ उसकी कोटि में ऐसी उन्नति करना रहा है जिससे वह इंजनों में सुविधा से प्रयुक्त हो सके। पेट्रोल इंजनों के संपीडन अनुपात (काम्प्रेशन रेशियो) की निरन्तर वृद्धि और उसके साथ साथ शक्ति उत्पादन की वृद्धि और ईंधन खपत की कमी, ये सभी बातें रासायनिक कार्य के बिना संभव न हुई होतीं। इसी के विकास से ऐसी रीतियाँ निकलीं जिनसे कच्चे तेलों में विद्यमान हाइड्रोकार्बनों को आवश्यक प्रतिस्फोट (ऐण्टी-नॉक) गुणोंवाले प्रकार में परिवर्तित किया जा सका। संयुक्त राज्य अमेरिका में पेट्रोल की श्रेणी एक शुद्ध हाइड्रोकार्बन, आक्टेन के ऊपर निर्भर होती है तथा उसकी आक्टेन-संख्या के ऊपर ही उसका विक्रय होता है। पेट्रोल के प्रतिस्फोट गुण को बढ़ाने के लिए उसमें थोड़ी मात्रा में कुछ रासायनिक पदार्थ डाले जाते हैं, इनमें सीस टेट्रा-इथिल सुज्ञात है और अधिक व्यवहार भी इसी का होता है। पेट्रोल की कार्यक्षमता बढ़ाने के लिए इस यौगिक का आविष्कार केवल आकस्मिक नहीं था बल्कि एक ऐसे लम्बे अनुसन्धान का फल था जिसमें बहुसंख्यक कार्बनिक यौगिकों का अध्ययन किया गया था। यात्री तथा सामान ढोनेवाली गाड़ियों के लिए उच्च गतिवाले तेल-इंजनों के प्रचलन के बाद उपयुक्त दहन गुणोंवाले गैस तेल सुलभ किये गये हैं। इनके विकास में भी रसा-

यनज्ञों का बड़ा हाथ है और इनका मूल्यांकन भी एक्क दूसरे शुद्ध हाइड्रोकार्बन, सीटेन के पदों में किया जाता है।

पेट्रोल इंजनों का संपीडन अनुपात बढ़ जाने तथा उच्च गतिवाले तेल-इंजनों के द्रुत विकास से, जिनका संपीडन और भी अधिक होता है, और भी मजबूत सामान की आवश्यकता हुई जो उच्च संपीड को सफलतापूर्वक सह सके। इस माँग की पूर्ति इस्पात की उपयुक्त मिश्रधातु तैयार करके की गयी है तथा भार-शक्ति अनुपात को कम करने के लिए अलूमीनियम मैग्नेसियम मिश्रधातुओं का भी प्रयोग किया जाने लगा है। इसके अलावा उन्नत टिकाऊपन वाली भारु धातुओं (बेयरिंग मेटल्स) की भी आवश्यकता हुई और इनके लिए प्रयुक्त होनेवाली मिश्रधातुओं के बनाने में कैड-मियम, रजत एवं सोडियम जैसे अप्रत्याशित तत्त्वों का प्रयोग होता है। भार कम करने की समस्या इंजन तथा गाड़ी का ढाँचा दोनों के बनाने में महत्त्वपूर्ण है, विशेषकर उन मुसाफिर तथा सामान ढोनेवाली गाड़ियों में जिनका महत्तम भार कानूनन निश्चित होता है। इसलिए योक्त्र धान[1] तथा इंजन कूर्पर धान[2] के लिए मैग्नीसियम मिश्रधातु उत्तम सिद्ध हुई है, पट्टों (पैनेल) के लिए एक अलूमीनियम-मैग्नीसियम मिश्रधातु का प्रयोग किया जाता है तथा हस्तवंशक[3] के लिए मैग्नीसियम सहित एक दूसरी अलूमी-नियम मिश्रधातु इस्तेमाल की जाती है। गाड़ी का भार और भी कम करने के लिए क्रोम-मॉलिब्डनम इस्पात की नलियों की बनी कुर्सियाँ इस्तेमाल होने लगी हैं।

मोटर परिवहन के विकास में अफलिकनीय (नॉन-स्प्लिण्टरिंग) काच का प्रयोग भी रसायनविज्ञान का उल्लेखनीय योगदान है। जब इसका पहले पहल उत्पादन हुआ था तब इसमें काच के दो स्तरों के बीच में सेलुलायड का एक अन्तःस्तर देकर उनका बन्धन किया गया था। इस युक्ति से काच का फलिकन (स्प्लिण्टरिंग) तो सफलतापूर्वक रोका जा सका किन्तु सूर्यप्रकाश के कारण कुछ समय में ही यह बदरंग हो जाने लगा। यह कठिनाई भी अब सेलुलोज नाइट्रेट के स्थान पर सेलुलोज एसि-टेट का प्रयोग करके दूर की जा सकी है; इससे काच-स्तारों के सफल बन्धन की समस्या भी हल हो गयी है। इसका विकास यहीं समाप्त नहीं हुआ वरन् अन्तःस्तर के लिए अर्ध-प्लास्टिक विनाइल ऐस्टर रेज़ीनों का इस्तेमाल प्रारम्भ हो गया है। सुरक्षा-काच का एक और प्रकार भी व्यापक रूप से प्रयुक्त हो रहा है, इसमें अन्तःस्तर के लिए किसी प्लास्टिक पदार्थ का समावेश नहीं किया जाता, प्रत्युत काच को ही नियंत्रित

[1] Gear-box [2] Crank-cases [3] Handrails

ताप एवं समय से तप्त करने के तुरन्त बाद दोनों ओर अति शीघ्रता से ठंडा करके कठोर बनाया जाता है।

प्राकृतिक एवं संश्लिष्ट रबर के रासायनिक विकास से भी मोटर परिवहन को बड़ी सहायता मिली है। कोशाय (सेलुलर) रबर की गद्दियाँ बनने से भार भी कम हुआ, साथ ही यात्रियों की अधिक आराम मिलने लगा। भारी गाड़ियों में वायवीय (न्युमैटिक) टायरों का प्रयोग भी अब संभव हो गया है। इससे भी आराम बढ़ने के साथ साथ गाड़ियाँ अधिक भार अधिक वेग से ढो सकती हैं। इस उद्योग में विविध प्रकार के संश्लिष्ट रबर के उत्तम गुणों का भी पूरा लाभ उठाया गया है। इस प्रकार के रबर से इंजन बैठाने के गत्ते बनते हैं, क्योंकि इनके लिए प्रत्यास्कन्दन (रीसीलियेन्सी) बड़ा महत्त्वपूर्ण होता है। विकिरक (रैडियेटर) नम्यनाल जोड़ों, तेल धारण करनेवाले वलयों तथा इंधन और तेलनलों के लिए भी संश्लिष्ट रबर इस्तेमाल किया जाने लगा है। इसके प्रयोग से तापसहता और तेल अवशोषण की समस्याएँ भी बड़ी सफलता से हल हो गयी हैं।

रंगलेपों तथा तत्संबन्धी सामग्रियों का विकास भी मोटर परिवहन में रसायन विज्ञान के योगदान की एक दूसरी दिशा है। रंगलेपों के लिए केवल यही आवश्यक नहीं कि वे देखने में ही सुन्दर लगें वरन् यह भी ज़रूरी है कि वे वस्तुओं की वायु एवं जल से रक्षा करें और साथ ही सड़क की धूल, गर्द और कीचड़ से अप्रभावित रहें तथा समय समय पर अच्छी तरह धोये भी जा सकें। इन सबके ऊपर उनमें उच्च नम्यता (फ्लेक्सिबिलिटी) की भी आवश्यकता होती है। नाइट्रो सेलुलोज़ के विकास से उपर्युक्त प्रायः सभी आवश्यकताओं की पूर्ति हुई है और मोटर गाड़ियों के उत्पादन को बड़ी सहायता मिली, क्योंकि इनके प्रयोग में शीकरन रीति से रंगलेप के सूखने में कोई देर नहीं लगती। यद्यपि आजकल संश्लिष्ट रेज़ीन पीठोंवाले एनामल तथा वार्निश इस्तेमाल करने की अधिक प्रवृत्ति हो चली है, किन्तु इनके प्रयोग में भी मोटर गाड़ियों के निर्माण के लिए विशेष संशोधन करने पड़े हैं। रंगलेपों को धातु तलों पर स्थिर करने के लिए उपयुक्त अधःस्तर (अण्डरकोट) तैयार करने में भी रासायनिक रीतियों का ही आश्रय लेना पड़ा है। इसके लिए कभी कभी फास्फोरिक अथवा अन्य किसी खनिज अम्ल से धातुतल का तनिक निक्षारण (एचिंग) भी किया जाता है, अथवा दूसरी रीति में इस्पात का बन्धन (बॉण्डराइज़िंग) उपचार किया जाता है। इससे धातुतल पर मैंगनीज फास्फेट का एक दृढ़ अभिलागी (ऐडहियरेण्ट) आवरण जम जाता है, जो संक्षरण से धातु की रक्षा भी करता है। यह विशिष्ट विधा मुख्यतः मोटर गाड़ियों के बनाने के लिए ही विकसित की गयी थी।

विकिरकों (रैडियटर्स) में हिमीभवन रोकने के लिए ग्लिसरॉल, इथिलीन ग्लाइ-कोल अथवा मिथेनॉल डालने की प्रथा भी रसायनविज्ञान की ही देन है। विकिरकों को ठंडा करने के लिए प्रयुक्त जल में इन पदार्थों के छोड़ने से न केवल उसका हिमांक नीचे गिर जाता है बल्कि यदि हिम जमे भी तो उनके मिलाने से बर्फ का एक खण्ड बनने के बजाय उसके ऐसे केलास बनते हैं जिनसे नलियों के फटने का प्राय: बिल्कुल डर नहीं रह जाता। वायुदाब ब्रेक लगी गाड़ियों में अन्दर जानेवाली हवा इथिल ऐल्कोहाल पर से होकर जाती है, जिससे उसके साथ थोड़ा ऐल्कोहाल भी जाकर आर्द्रता के साथ बहिर्गामी वाल्व पर संघनित हो जाता है और ठंडी ऋतु में हिमीभवन के कारण उसके चिपकने को रोकता है।

मोटर गाड़ियों के चलाने, मरम्मत करने तथा उन्हें ठीक रखने में भी अनेक प्रकार के रासायनिक पदार्थ लगते हैं। उदाहरण के लिए सीसपट्ट-संचायक (ऐकु-मुलेटर) लगी गाड़ियों में सल्फ्यूरिक अम्ल की बराबर आवश्यकता रहती है, और बहुत सी भारी गाड़ियों तथा निजी कारों में आग बुझाने के लिए कार्बन टेट्राक्लोराइड सदा साथ रखा जाता है।

अन्त में रासायनिक सिद्धान्तों के कुछ सामान्य किन्तु बड़े व्यावहारिक प्रयोगों का उल्लेख किया जा सकता है। अन्तर्दाही इंजनों के क्रियाकरण में प्रतिक्रियाओं की एक शृंखला होती है जिनकी अन्तिम उत्पत्तियाँ रेचन गैसों के रूप में प्रकट होती हैं। जहाँ बहुसंख्यक मोटर गाड़ियाँ चलती हैं वहाँ इसी के आधार पर दहननियंत्रण की ऐसी प्रणाली निकाली गयी है, जिससे ईंधनव्यय में भारी बचत की जा सकी है; और साथ ही साथ सामान्य वातावरण में उत्सर्जित कार्बन मानोआक्साइड की मात्रा कम करके जन-स्वास्थ्य के हित में कल्याणकारी योगदान किया गया है। इस प्रक्रिया में अच्छी दशावाले किसी सामान्य मोटर के कार्बरेटर का वह अनुकूलतम संस्थापन (सेटिंग) निश्चित किया जाता है जिससे ईंधन की न्यूनतम खपत से आवश्यक शक्ति प्राप्त हो सके; साथ ही इसकी संवादी रेचन गैसों का निबन्ध भी जान लिया जाता है। जब किसी मोटर के क्रियाकरण में इन मानकों का उल्लंघन होता है तो वह उसके दोष का द्योतक माना जाता है। अनुभव से विश्लेषण करके दोष के कारण भी जाने जा सकते हैं। यह प्रणाली पहले पेट्रोल इंजनों के लिए नियोजित की गयी थी, जिनमें कार्बन मानोआक्साइड ही अपूर्ण दहन की कसौटी माना जाता है। किन्तु आजकल यात्रियों तथा सामानों के यातायात के लिए पेट्रोल इंजनों के स्थान पर उच्च गतिवाले तेल इंजन काम में आने लगे हैं। इनमें अपूर्ण दहन का माप कार्बन मानोआक्साइड से नहीं बल्कि उनसे निकलनेवाले काले धुएँ से किया जाता है। ईंधन भरनेवाले पम्प

को ठीक से लगाकर इस कठिनाई का निवारण किया जा सकता है। चूँकि निकली गैस का मुख्य संघटक कार्बन डाइआक्साइड होता है अतः उसी का अनुपात जान लेने से ईंधन-पम्प को बिना इंजन से बाहर निकाले उसकी सेटिंग की जाँच की जा सकती है। युद्ध-काल में प्रोड्यूसर गैस से चलनेवाली मोटर गाड़ियों की कार्य-क्षमता बढ़ाने के लिए गैसविश्लेषण की रीतियों का भी बड़ा उपयोग किया गया था। इसके लिए न केवल उत्सर्जित गैसों का विश्लेषण करना पड़ा वरन् प्रोड्यूसर गैस का भी परीक्षण किया जाता था। इनके अलावा कार्बन मानोआक्साइड मात्रा के लिए अनेक प्रकार की हवाओं का भी परीक्षण करना पड़ता था।

ग्रंथ-सूची

DICKSEE, C. B. : *The High Speed Compression Ignition Engine.* Blackie & Son.

DICKSEE, C. B. : *Standard Methods for Testing Petroleum and its Products.* The Institute of Petroleum.

JUDGE, A. W. : *Engineering Materials.*: Vol. I, *Ferrous Materials;* Vol. II, *Non-Ferrous Materials.* Sir Isaac Pitman & Sons, Ltd.

पारिभाषिक शब्दावली

अंकन—marking
अंडाशय—ovary
अंत:क्षेप—injection
अंतराल—gap
अंतर्दाही—internal combustion
अंतर्पेशी—intra-muscular
अंतर्वर्ती—intermediate
अंतर्शिरा—intravenous
अंत:सीमा—interface
अंतस्थ—intermediate
अकार्बनिक—inorganic
अक्षि—mesh
अग्निक्वाथन—fire boiling
अग्नितापन—fire heating
अग्निमिट्टी—fire clay
अजल—anhydrons
अजलीय—anhydrous
अणु—molecule, micro
अणजीव—micro-organism
अणुजैविकी—micro-biology
अणुरासायनिक—micro-chemical
अतितप्त—super-heated
अति संतृप्त—super-saturated
अदीप्त—nonluminons
अधस्थल—subsurface
अधिनियम—act
अधिमान्य—preferential
अधि-स्वानिकी—supersonics
अधोलेप—undercoat
अधोवाप—hopper
अध्याभूति—warranty
अनाकार—amorphous
अनावसीय—non-greasy
अनाश्रित–direct
अनुकूलतम—optimum
अनुकूलन—conditioning
अनुचित्र—positive (photography)
अनुत्रास—nuisance
अनुपूरक—supplement
अनुपूर्ति—supplement
अनुप्रभाव—side-effect; after-effect
अनुमापन—titration
अनुमाप्य—titre
अनुलम्ब—offset
अनुशीलन—study
अनुसन्धान—research
अनुस्थापन—orientation
अनुहृष—susceptible
अन्नागार—grainery
अन्वायुक्ति—fitting
अन्वेषण—investigation
अपकर्षण—repulsion

अपकेन्द्रण—centrifuging
अपकेन्द्रित्र—centrifuge
अपक्षरण—erosion
अपक्षालक—detergent
अपक्षालिता—detergency
अपघर्षण—abrasion
अपचयन—reduce, reduction
अपचयनकर्ता—reducing agent
अपचायक—reductant
अपमिश्रण—adulteration
अपररूप—allotropy
अपरिष्कृत—crude, impure
अपवर्तन—inversion
अपवृत्त—invert
अपारदर्शक—opaque
अपेक्षाकृत—comparatively, relatively
अवाष्पशील—non-volatile
अभिदेशन—reference
अभिजनन—breeding
अभिनमन—tilting
अभिपिण्ड—agglormerate
अभिपिण्डन—agglomeration
अभिशीतन—chilling
अभिसाधन—curing
अभेद्य—impervious
अम्ल—acid
अम्लकायन—acidulation
अम्लमार्जन—pickling
अयस्क—ore
अयन—ion
अयनीभवन—ionization
अयव्य unmalted
अरंजन—decolourising
अलंकरण—decoration
अलंकार—decoration, beauty
अलोप्यता—indelibility
अलौहस—non-ferrous
अल्पगतिक—oligodynamic
अवकल—differential
अवक्षेप—precipitate
अवक्षेपण—precipitation
अवगुण्ठ—muffle
अवचारण—administration (med.)
अवनाम्य—pliable
अवपंक—sludge
अवरक्त—infra-red
अवर्णक—achromatic
अवलोकन—observation
अवशोषण—absorption
अवशिष्ट—residue
अवशेष—residue, remaining
अवस्था—condition
अवह्रासन—deterioration
अवातजीवी—anaerobic
अविषालु—non-toxic
अशम्य—unslakable
अश्लेष— gluten
असंतत—discontinuous
असंतृप्त—unsaturated
असाबुनीकरणीय—unsaponifiable
अस्थायी—unstable

अस्थिवक्रता—rackets
आंतरक—core
आंतरपेशी—दे० अंतर्पेशी
आंतरशिरा—दे० अंतर्शिरा
आकार—shape
आकुंचन—contraction
आक्षीर—latex
आक्वाथ—infusion
आक्सीकरण—oxidation
आक्सीकर्त्ता—oxidising agent
आक्सीकारक—oxidant
आगणन—estimation
आग्राहिता—susceptibility
आघात—shock
आणविक—molecular
आतनन—tensile
आतिथेय—host
आत्मवाहन, आत्मवाही—auto-
mobile
आदान—input
आधान—case, container
आधारभूत—fundamental
आधारीय—basal
आनम्य—pliable
आनुभविक—empirical
आपरिवर्तन—alteration
आपात—emergency
आपाती—emergent
आपेक्षिक—relative, specific
आभा—shade (of colour)
आयतन—volume
आयताकार—rectangular
आयन—ion
आयात—import
आयाम—dimension
आयुध—munition
आरम्भक—starter
आरोग्य प्रबन्ध—sanitation
आर्द्रक—wetter, humidifier
आर्द्रता—moisture, humidity
आर्द्रताग्राही—Hygroscopic
आलम्बन—suspension
आवरण—cover, coat
आवर्तन—period
आवर्तत्व—periodicity
आवर्धन—magnification
आवसा—grease
आविष्कार—discovery; invention
आवृत्ति—frequency
आशय—reservoir
आश्च्याव—seepage
आश्लेषी—glutinous
आसंजक—adhesive
आसवक—distiller
आसवन—distillation
आसवनी—distillery
आसुत—distilled, distillate
आसोत्र—still (distilling)
आहार—diet, food
आहारिकी—dietetics

उ

उत्किरण—engraving

उत्तापमापी—pyrometer
उत्तोदन—extrusion
उत्पादन-कर—excise duty
उत्प्लावकता—buoyancy
उत्प्रवाही—effluent
उत्प्रेरक—catalytic, catalyst, catalytic agent
उत्प्रेरण—catalyse, catalysis
उत्सर्जन—emit, emission, discharge
उत्सारण—extruding, drawing, drainage
उत्स्फुरक—sparkling
उत्स्फोटन—blasting
उदग्र भट्ठी—shaft furnace
उदासीन—neutral
उदासीनीकरण—neutralization
उद्धावन—scrubbing
उद्वाष्पन—evaporation
उद्विकास—evolution
उद्विलयन—leaching
उपकरण—instrument, tool
उपक्रम—undertaking, project
उपक्रमण—initiate
उपक्रामक—initiator
उपचार—treatment
उपजात—bye-product
उपदंश—syphilis
उप-पदार्थ—दे० 'उपजात'
उपभोक्ता—consumer
उपयोक्ता—user
उपयोग—utility, use
उपलब्धि—supply
उपवृक्क—adrenal
उपस्कर—furniture
उपस्नेहक—दे० स्नेहक
उपांग—appendage
उपोष्ण देश—subtropic
उर्वर—fertile
उर्वरक—fertilizer
उल्काश्म—meteorite
उष्ण—hot
उष्ण देश—tropic
उष्मक—bath
उष्मप्लास्टिक—thermoplastic
उष्मसह—refractory
उष्मस्थाप—thermosetting
उष्मांशन—pyolysis
उष्मा—heat
उष्माक्षेपक—exothermic
उष्मीय मान—calorific value
ऊतक—tissue
ऊर्जा—energy
ऊर्णिकाय—flocculent, ऊर्ण्य
ऊर्णिकायन—(लोष्टन, ऊर्ण्यन) flocculation
ऊर्ध्वपातन—sublimation
ऊष्मा—दे० उष्मा

ऋ

ऋणाग्र—cathode
ऋतुक्षरण—weathering

ए

एकक—unit, इकाई

एककेन्द्रीय—concentric
एकप्रभाव—single effect
एकमुद्र—monotype
एकरूप—uniform
एकलन—isolation
एकसम—consistent, uniform
एकान्तरचिति—checkerwork

ओ

ओजोनीकरण—ozonization
औद्योगिक—industrial

क

कंद—tuber
कंपन—vibration
कक्ष—chamber
कट—mat
कटु—bitter
कठोरकरण—hardening
कठोरता—hardness
कण—particle, grain, granule
कबन्ध—fuselage
कर—duty
कर्तनांग—spinneret
कर्मशाला—machine-shop, workshop
कलधौत—bullion
कला—art, phase
कलिल—colloid
कलिलीय—colloidal
कलीचूना—quick lime
कवोष्ण—warm
कषाय—astringent
कसैला—astringent
कांतिद्रव्य—cosmetics
काँसा—bronze
कांच—conch
काच—glass
काचन—glazing
काचरण—vitrification
काचिका—glaze
काचीय—vitreous
कारक—factor
कार्बनिक—organic (chemistry)
कार्बनीभवन—carbonization
कार्यभाग—role, part
कार्यविधा—procedure
काष्ठफल—nut
कासीस—coppera
किण्वन—fermentation
किण्वक—fermenting agent
किण्व्यक—wort
किण्विता—alcoholic liquor
कीटमार—insecticide
कीटविज्ञान—entomology
कुंड-रंजक—vat dye
कुंडल—coil
कुंतल—spiral
कुक्कुटादि—poultry
कुट्टन—forging
कुलक—set
कुवैद्यता—quackery
कूर्पर—crank
कृत्रिम—artificial

कृमि—insect
कृषि—agriculture
कृषिकर्म—crop husbandry
केलासन—crystallization
केशिका—capillary
कोटर—cavity
कोमल—delicate
कोशा—cell
कौतुकालय—museum
कौशेय—staple (fibre)
क्रान्तिक—critical
क्रियाकरण स्थान—disposal works
क्लीवन—neutralization
क्वथन—boiling
क्वथनांक—boiling point
क्षार—alkali
क्षारीय—alkaline
क्षारीय मृदा—alkaline earth
क्षेत्रावलोकन—field observation
क्षेप्य—waste
क्षैतिज—horizontal
क्षोभण—agitation
क्षौर-साबुन—shaving-soap

ख

खंड—block, factor
खड़िया—chalk
खनन—mining
खनिज—mineral
खनिजाम्ल—mineral acid
खनिजायन—mineralization
खपत—consumption
खर्पण—cuppelation
खाद—manure
खाद्य—food, edible
खाद्यान्न—food grain
खुली चुल्ली—open hearth

ग

गंधक—sulphur
गंधकाम्ल—sulphuric acid
गंधतेल—essential oil
गंधराल—rosin
गणना—calculation
गर्तस्तंभ—pitprop
गलग्रन्थि—thyroid gland
गलन—melting
गलनांक—melting point
गलशोथ—tonsillitis
गवेषणा—investigation
गाढ़ता—consistency
गारा—mortar
गुटिकाधार—ball bearing
गुण—quality, property
गुणांक—coefficient, modulus
गुप्त उष्मा—latent heat
गुरुत्व—gravity
गूथन—interlacing
गृहादि—premises
गोचर—pasture
गोलिकाएँ—globules
ग्रन्थ—link, linkage
ग्रन्थामय—nodular, glandular
ग्रन्थि—gland

घ

घटक—component
घटना—phenomena, event
घन—cube
घनता, घनत्व—density
घर्षण—grinding
घान—batch
घातवर्ध्य—malleable
घुन—weevil

च

चक्रिक—cyclic
चमक—gloss
चयापचय—metabolism
चर्बी—lard
चर्मपत्र—parchment paper
चलिष्णु—mobile
चलित्र—locomotive
चांदी—silver
चाप—arc
चालकता—conductivity
चालन—conduction
चिति—check work
चिपकाऊपन—tackiness
चुल्ली—hearth
चुनावशील—selective
चूनपत्थर—limestone
चूना—lime
चूर्ण—powder, meal
चेता—nerve (दे० स्नायु)
चेतामयता—nervousness
चोलित—jacketed

छ

छद्मावरण—camouflage
छन्ना—filter
छबि—gloss
छबिकार—decorator, artist
छाछ—whey, butter milk
छानित—filtrate

ज

जटिल—complex
जनन—generation
जन-स्वास्थ्य—public health
जनपदमरी—pestilence
जनविश्लेषक—public analyst
जनित्र—generator
जलकल—waterworks
जलप्रदाय—water-supply
जलप्रेरित—hydraulic
जलयोजन—hydration
जलरोध—water-resistence
जलवाहन—water-carriage
जलसंक्रम—aqueduct
जलसह—water-proof
जलांशन—hydrolysis
जलाशय—water-reservoir
जलीयन—hydration
जलोढ़—alluvial
जहाज का पेटा—hull
जाति—species; strain
जीव-रसायन—biochemistry
जीवाणविक, जीवाणवीय—bacteriological

जीवाणविकी—bacteriology
जीवाणु—bacteria
जीवाणुमार—bactericide
जीवाणुहनन—sterilization
जैविक—biological
जैविकी—biology
जैविकीय—biological
जैविकीविद—biologist
ज्वलनशील—inflammable
ज्वरघ्न—antipyretic
ज्वालक—burner

झ

झंझरी—grating, झर्झरी
झिल्ली—membrane

ट, ठ

टाँका—solder
ठोसता—solidity

ड, ढ

डब्बाबन्दी—canning
डिम्भ—larva
ढलवाँ लोहा—cast iron
ढलाई घर—foundry

त

तंतु—fibre
तंतुक—fibril
तटनमन—diffraction
तड़ाग—tank
तत्त्व—element; principle
तनाव—tension
तनाव सामर्थ्य—tensile strength
तनु—dilute
तनुपट—diaphragm
तनूकरण—dilution
तनूकृत—diluted
तन्य—ductile
तप्त—heated, hot
तरंगदैर्घ्य—wave-length
तरल—liquid, fluid
तरलक—thinner
तरलन—liquefying
तरलित—liquefied
तलछटीकरण (–भवन)—sedimentation
तल्प—bed
तान—tone
ताप—temperature
तापक—heater
तापन—heating
तापदीप्त—incandescent
तापदीप्ति—incandescence
तापशीतन—annealing
तापसह—heat-resisting
तापी प्लास्टिक—thermoplastic
तांबा, ताम्र—copper
तारपीन—turpentine
ताल—palm
तालबीज—palm kornel
तिक्त, pungent
तीखा—दे० 'तिक्त'
तुला—balance
तुल्य—equivalent
तुषारित—frosted

त्रिसंयुज—trivalent
त्वरक—accelerator
त्वरण—acceleration
त्वरित—accelerated

द

दंड—beam
दंडाणु—bacillus
दन्तिचक्र—gear wheel
दबाव—pressure
दमक दीप—flash lamp
दर्वी— laddle
दलित्र—crusher
दह—caustic
दहक्षार—caustic alkali
दहन—combustion
दाब—pressure
दाबक छन्ना—filter press
दाही बम—incendiary bomb
दाह्य—combustible
दाह्यता—combustibility
दीपावार—mantle
दीप्त—luminous
दीप्ति—luminosity
दुग्धालय पदार्थ—dairy product
दूषण—contamination
दृढ़—tough, firm, rigid
दृढ़ीकरण—toughening
दृश्य—visible
दृष्टव्य—visible
देशक—pointer, indicator
दैहिक—physiological
दैहिकी—physiology
दोलक—rocker
दोलन लेखी—oscillograph
द्रव—liquid, fluid
द्रवचालित—hydraulic
द्रवण—fusion, melting
द्रवणांक—melting point
द्रवता—fluidity
द्रव्य—matter, material
द्राव—melt
द्रावक—flux
द्राववेचन—liquation
द्वितीयक—secondry; duplicate
द्विविच्छेदन—double decomposition

ध

धनाग्र—anode
धमनाड—blowpipe
धमभट्ठी—blast furnace
धातु—metal
धातुकर्म—metallurgy
धातुकर्मज्ञ—metallurgist
धातुकर्मी—metallurgist
धातुकर्मिकी—metallurgy
धातुमल—slag
धात्विकी—metalography
धान—case
धानी—stand
धान्य—corn, cereal
धारक—container, holder
धारिता—capacity

धावन—running
धाववेचन—lixiviation
धुलाईघर—laundry
धूमक—fumigant
धूमन—fumigation
धूमपान—smoking
धूलन—dusting
धूलि—dust
ध्रुवीय—polar

न

नमदन—felting
नमदा—felt
नवनीत—butter
नाड—pipe
नाभिक—nucleus
नाम्यता—flexibility
नाशरक्षण—salvaging
नाशिकीट—pest
निक्षारण—etching
निक्षेप—deposit
निक्षेपण—depositing
निगम—corporation
निपीड—pressure
निपीड तापक—autoclave
निपीडन—pressing
निबन्ध—composition
निमज्जन—dipping
नियंत्रण—control
नियतांक—constant
नियमन—regulation
निरसन—removal
निरापद्—safe
निर्धारण—determination
निर्माण—manufacture
निर्माणी—factory
निर्यात—export
निर्यास—gum
निर्वात—vacuum
निर्वाप—quench
निश्चयन—determination
निश्चेतक—anaesthetic
निश्चेतन—anaesthesia
निष्कर्ष—conclusion
निष्पन्न—made, readymade
निष्पादन—performance
निस्तापन—calcination
निस्सार—extract
निस्सारण—extraction
नोदक—propeller
नौ-आँगन—dockyard, shipyard
नौमार्ग—shipway
नौवहन—shipping
न्यास—data

प

पंक—slime
पंक्तिमुद्र—linotype
पक्त्र—cooker
पट्ट—plate
पट्टण—plating
पतंगा—moth
पत्रदली—laminated
पथ—path

पदार्थ—substance, product
पद्धति—system
पनीर—cheese
परमताप—absolute temperature
परमाणु—atom
परागमन—transmission
परा-नीललोहित—ultra-violet
परावर्तन—reflection
पराश्रयी—parasite
परास—range
परिकल्पना—hypothesis
परिचालन—circulation
परिच्छादक—bell jar
परिणामित्र—transformer
परितापन—stoving
परिनाशन—disinfectation
परिनिरीक्षा—scrutiny
परिपक्व—mature, ripe
परिपक्वन—maturing, ripening
परिपथ—circuit
परिपाचन—assimilation
परिभ्रामी—revolving
परिमल—perfume
परिमाण—size, dimension
परिरक्षण—preservation
परिरक्षी—preservative
परिरूप—finish
परिरूपण—finishing
परिवर्तक—converter
परिवर्ती—reversible; varying
परिवहन—transport
परिशुद्ध—accurate
परिष्करण—refining
परिष्करणी—refinery
परिसीमन—restriction
परिस्थिति—circumstance, condition
परीक्षण—examination, testing
पर्ण—foil
पर्पटी—crust
पर्यवेक्षण—supervision
पल्लवन—flapping
पशुखाद्य—feeding stuff
पशुप्राशन—stock-feeding
पाचन—digestion
पाचित्र—digestor
पाजन—size, sizing
पादप—plant
पानीघर—water-works
पायस—emulsion
पायसन—emulsification
पायसनकर्ता—emulsifying agent
पारगम्य—permeable
पारच्यवन—percolation
पारच्यावी छन्ना—percolating filter
पारद—mercury
पारदर्शक—transparent
पारभासक—transluscent
पाश—trap
पाशन—entrapping
पाषाणखनन—quarrying
पास्चरीकरण—pasteurization

पिंड—mass
पिंडक—ingot
पिटवां लोहा—wrought iron
पित्तलन—brazing
पिष्ट—dough
पिसाई—milling
पीठ—base
पीडित्र—press
पुंज—mass
पुनरावृत्ति—revision
पुनर्जनन—regeneration
पुनर्जनित्र—regenerator
पुनस्थापन—restoring
पुरुभाजन—polymerisation
पूतिगंधिता—rancidity
पूरक—filler
पूर्वगामी—precursor
पूर्वधारणा—prejudice
पूर्वविटामिन—provitamin
पूर्वभास—anticipation
पूर्वविधान—precaution
पूर्वेक्षण—exploration
पूर्वोपाय—precaution
पृथक्करण—separation, insulation
पृथक्त्र—separator
पृथक्कारी—separater
पेटा—hull
पैठिक—basic
पैठिक रंजक—basic dyes
पोत—caravel
पोषक—nutritive
पोषक पदार्थ—nutrient
पोषग्रन्थि—pituitary
पोषण—nutrition
पौधा—plant
प्रकंद—rhizome
प्रकार्य—function
प्रकाश—light, optic
प्रकाश उत्किरण—photogravure
प्रकीर्णन—scattering
प्रकृति—nature
प्रकेवल—absolute
प्रक्रम—stage; process
प्रक्रिया—action; process
प्रक्षेपण—projection
प्रक्षेपी—projectile
प्रचण्ड—intense
प्रजनन—reproduction
प्रजाति—genus
प्रजाल—lattice
प्रज्वलन—ignition
प्रणाली—system
प्रणोदी—propellent projectible
प्रतिआक्सीकारक—antioxidant
प्रतिकर्मक—reagent
प्रतिकारक—reactant
प्रतिक्रिया—reaction
प्रतिक्षेपी—reverberatory
प्रतिचार—response
प्रतिचित्र—negative (photography)
प्रतिदीप्त—fluorescent

प्रतिधारण—retention
प्रतिपूयन—antisepsis
प्रतिपूयिक—antiseptic
प्रतिबल—stress
प्रतिबिम्ब—image
प्रतिभूति—guarantee
प्रतिमान—scale
प्रतिरूपण—reproduction
प्रतिलिपिकरण—copying
प्रतिलिप्यधिकार—copyright, प्रकाशनाधिकार
प्रतिलोमानुपात—Inverse proportion
प्रतिवेदन—report
प्रति-संक्रामक—anti-infective
प्रति-संतुलन—counterbalancing
प्रतिस्थापक—substitute
प्रतिस्थापन—substitution
प्रतिहिम—antifreeze
प्रत्यावर्ती—alternating
प्रत्यास्कन्दन—resiliency
प्रत्यास्थता—elasticity
प्रथमक—primary, primer
प्रथा—practice
प्रद्रावण—smelting
प्रदीप्ति—fluorescence
प्रधार—jet
प्रनाड—main pipe
प्रबल—strong
प्रभरण—charging
प्रतिदीप्ति—fluorescence
प्रभव—origin, source
प्रभाग—fraction
प्रभाजन—fractionation
प्रभाजन यंत्र—fractionating apparatus
प्रभार—charge
प्रमाणिकीकरण—standardization दे० मानकीकरण
प्रमीलक—narcotic
प्रमेय—theorem
प्रयोक्ता—user
प्रयोग—use; experiment; application
प्रयोगशाला—laboratory
प्ररचना—design
प्रलाक्ष—lacquer
प्रलेप—dope
प्रलेपन—doping
प्रवणता—gradient
प्रवर्तक—originater, propounder promoter
प्रविकिरण—irradiation
प्रविधि—technique
प्रशिक्षण—training
प्रशीतक—refrigerator
प्रशीतन—refrigeration
प्रशीताद—scurvy
प्रसरण—expansion, spreading
प्रसरण गुणांक—coefficient of expansion
प्रसाधक—dresser

प्रसाधन—dressing, toilet
प्रसारक—spreader
प्रसारण—expansion
प्रस्थापन—replace, replacement
प्रस्फुटन—efflorescence
प्रस्फोटन—detonation
प्राणी—organism (जीवाणु); animal
प्राप्ति—yield
प्रारूप—type
प्रारूपिक—typical
प्रावधान—provision
प्राविधिक—technical
प्रेमानुशीली—amateur
प्रेरक—induction
प्रेषण—transmission
प्रोटीनांशिक—proteolytic
प्रोथ—nozzle, तुंड
प्रोद्धावन—elution
प्रौद्योगिक—technological
प्रौद्योगिकी—technology
प्रौद्योगिकीविद—technologist
प्लवन—floating, floatation

फ

फफूँद—mould, fungus
फफूँदमार—fungicide
फलक—blade
फलिकन—splintering
फली—pod
फुँकाई—blowing
फेन—foam
फेनक—froth

ब

बंधुता—affinity
बरूथिका—scutellum
बरूथी—mite, (गृहबरूथी) housemite
बल—force
बानगीकरण—sampling
बिम्ब—disc
बीजतः—algebraically
बुदबुद पेय—effervescent drink
बुझाया चूना—slaked lime
ब्रिटिश ऊष्मा मात्रक—British Thermal Unit (B. T. U.)

भ

भंगुर—brittle
भंजक-आसवन—destructive distillation
भंजन—cracking
भट्ठी—furnace
भस्म—ash
भागशः—partially, by stages
भाप—steam
भाप-आसवन—steam distillation
भारमितिक—gravimetric
भिन्नक—differential
भूँजना—roasting
भूपर्पटी—earth-crust
भूभौतिकी—geophysics
भृंग—beetle
भेषज—drug

भेषज क्रिया-ज्ञानी—pharmacologist
भेषजज्ञ—pharmacist
भैषजिक—pharmacist
भौतिक—physical
भौतिकी—physics
भौतिकीविद—physist
भौति-रसायन—physical chemistry
भौमिकी—geology

म

मंथन—churning
मथानी—churn
मदिरा—wine
मलप्रणाल—sewerage
मलप्रवाह—sewerage
मलफेन—scum
मलाई—cream
मसलना—mashing
मांजूफल—gall
मांसपेशी—muscle
माक्षिक—pyrites
मातृद्रव—mother liquor
मात्रा—quantity, content
मात्रात्मक—quantitative
माध्यम—medium, vehicle
मान—value
मानक—standard
मानकीकरण—standardization
मारी—epidemic
मिठाई—sweets, confectionery
मितव्ययिता—economy
मिश्रक—mixer
मिश्रण—mixture, blend, mixing, blending
मिश्रधातु—alloy
मिष्टोद—syrup
मुद्रण—printing
मुद्रलेखन—type-writing
मुर्दासंख—litharge
मूत्रवर्धक—diuretic
मूलक—radical
मूलरूप (आद्यरूप)—prototype
मूल्यांकन—evaluation
मूषा—crucible
मृदूकरण—softening, tempering
मृण्मय—argillaceous
मेल्य—miscible
मोम—wax

य

यंत्र—machine
यंत्रण—machining
यकृत—liver
यथार्थ—exact
यवासवक—brewer
यवासवन—brewing
यवासवनी—brewery
यव्य—malt, malted
यशद—zinc
यांत्रिक—mechanical
यांत्रिकी—mechanics
युग्म—couple
योक्त्र—gear

योग—recipe, formula
योगदान—contribution
योगरचना—formulation
यौगिक—compound

र

रंगद्रव्य—pigment
रंगलेप—paint
रंजक—dye
रंजक पदार्थ—dye stuff
रंभाकार—cylindrical बेलनाकार
रक्तचाप—blood-pressure
रक्षक—protective
रक्षण—protection
रचना—structure, construction
रजत—silver
रन्ध्री—porous
रसचिकित्सा—chemotherapy
रसद्रव—chemical (substance)
रसायन—chemistry
रसायनज्ञ—chemist
राजलेख—charter
राजसाहाय्य—subsidy
राजस्व—revenue
रासायनिक—chemical (adj.)
रीति—method
रेचक—purgative, exhaust
रोगनिरोध—prophylaxis
रोगाणु—pathogenic organism
रोगाणुनाशक—disinfectant
रोगाणुनाशन—disinfection
रोगोत्पादक—pathogenic
रोटीघर—bakery
रोध—resistance
रोधी—resistant
रोपण—plantation, depositing, inoculation

ल

लक्षण—character, symptom
लघु—small, light, minor
लघुक—light
लवण—salt
लवणजल—brine
लवणन—salting
लवाई—harvesting
लाक्षक—lake
लुगदी—pulp
लेखन-सामग्री—stationery
लेखा—account
लेखापाल—accountant
लेपी—paste
लोक—people, public

व

वंग—tin
वंश विचालन—poling
वनस्पति—vegetable
वनोद्योग—forestry
वपोति—adipose
वमनकारी—nauseous
वरिमा—space, दिक्, आकाश
वर्ग—group
वर्णक्रम—spectrum
वर्णक्रमदर्शी—spectroscope

वर्णक्रमलेखी—spectrograph
वर्तनांक—refractive index
वर्तनाय—refracting
वर्धन—growth
वलय—ring
वल्कनीकरण—vulcanization
वसा—fat
वसीय—fatty
वस्तिकर्म—enema
वस्त्रोद्योग—textile industry
वाणिज्यिक—commercial
वातन—aeration
वाद—doctrine
वायवीय—pneumatic
वायुमण्डल—atmosphere
वायुमण्डलीय—atmospheric
वायुयान—airship
वाष्प—vapour
वाष्पन—evaporation
वाष्पशील—volatile
वाष्पित्र—boiler
विआक्सीकरण—deoxidation
विकरण—denaturation
विकाचरण—devitrification
विकास—development
विकासक—developer
विकिरक—radiater
विकिरण—radiation
विक्षेपण—dispersion
विगोपन—expose, exposure
विचालन—stirring
वितरण नाड—service pipe
वितान्यता—extensibility
विदरण—दे० भंजन, cracking
विद्युत चुम्बक—electro-magnet
विद्युत स्थैतिक—electrostatic
विद्युदंश्य—electorlyte
विद्युदग्र—electrode
विद्युदंशन—electrolysis
विधा—दे० प्रक्रिया, process
विधातु—gangue
विधायन—processing
विधेयक—bill (legislation)
विनिमय—exchange
विनिमायक—exchanger
विन्यास—arrangement
विपथन—aberration
विभव—potential
विमलन—scouring
विमान—aeroplane
विमुक्त—liberated
विमोचन—liberation
वियवन—dissociation
वियशदन—dezincing
वियोजक—disintegrator
वियोजन—disintegration
विरंजन—bleaching
विरंजक—
विरंजनकारक—bleacher
विरंजनकर्मी—
विरचना—preparing, making
विच्छेदन—decomposition

वैधानिक—legal
विरजतन—desilvering
विलयन—solution
विलयनीकरण—solubilization
विलायक—solvent
विलास-वस्तु—luxury
विलीन करना—dissolve
विलेय—soluble
विलेयता—solubility
विवर्तनी—trunion
विवातन—deairing
विशिष्टि—specification
विश्लेषक—analyst
विश्लेषण—analysis
विषाक्त—poisonous, toxic
विषायण—poisoning
विषालता—toxicity
विसरण—diffusion
विसर्जन—discharge (elec.)
विस्तारक—extender
विस्तारोद्वाष्पन—exaporation
विस्थापन—displacement
विस्फोट—explosion
विस्फोटक—explosive
विहित—prescribed
विह्रसन—deterioration
वृक्क ग्रन्थि—adrenal gland
वेदना-हर—analgesic
वेधशाला—observatory
वेश्म—chamber
वैज्ञानिकीकरण—rationalization
वैमानिकीय—aeronautical
व्यवकलन—subtraction
व्यवकाली—subtractive
व्यवसाय—profession, vocation
व्यापार-निषेध—embargo
व्यापन—impregnation
व्यापित, व्याप्त—impregnated
व्यावहारिक—practical, applied
व्याश्लेषण—dialysis
व्युत्पत्ति—derivative
व्युत्पन्न—derived

श

शंकु—cone
शक्ति—power
शक्यशक्ति—potential power
शमक—sedative
शरावक—dish
शर्करा—sugar
शलभसह—mothproof
शलिका—shed
शल्क—scale
शल्कल—flake
शल्यक—surgeon
शल्यचिकित्सा—surgery
शस्त्रसंभार—armament
शिरोपण—tipping
शिलामुद्रण—lithography
शिल्प—craft
शिल्पकार—craftsman
शिल्पी—architect
शीकरक—sprayer

शीकरन—spraying
शीतन—cooling
शीत-संग्रहण—cold storage
शीलाचार—code of ethics
शुद्धता—purity
शुद्ध स्पिरिट—rectified spirit
शून्यक—vaccum, दे० निर्वात
शृंखला—chain
शैल—rock
शोधन—purification
शोभाचार—fashion
शोषक—drier
शोषण—drying
श्यान—viscous
श्यानता—viscosity
श्लिषीय—gelatinous
श्लेषिका—micelles
श्रीपत्र—papyrus
श्रेणी—grade, qualities, series

स

संकलन—addition
संकाच—screen
संकाचन—screening
संकाली—additive
संक्रमण (संक्रामण)—infection
संक्रामक—infecting
संक्षारण—corrosion
संक्षारक—corrosive
संगतता—compatibility
संग्रहण—storage, storing
संघटक—ingredient; constituent
संघनक—condenser
संघनन—condensation
संघर्षण—friction
संचायक—accumulator
संतत—continuous
संतन्तु—filament
संतृप्त—saturated
संधान—weld, welding
संधानक—welder
संधारण—clamping
संनाल—conduit
संपरीक्षा—experiment
संपीडन—compression
संपुंजन—sintering
संबलन—reinforcing
संमोहक—hypnotic
संयन्त्र—plant (machinery)
संयोजन—compounding, combination
संयोजकता—valency
संरक्षण—conservation
संरचना—constitution; composition
संरस—amalgam
संरसीकरण—amalgamation
संरूप—configuration
संलागी—coherent
संलेख—record
संलेखक—recorder
संलेखित्र—recording machine
संवातन—ventilation

संवादी—corresponding; sympathetic
संविरचना—fabrication
संवेष्टन—packaging
संशमन—alleviation
संशोधन—modification
संश्लिष्ट—synthetic
संश्लेषण—synthesis
संसाधन—resource
संस्करण—tempering
संस्थान—institution
संस्थापन—setting, installation
संस्पर्श—contact
संहरित—silage
संहरित-संग्रहण—ensiling
संहित—system
सक्रिय—active
सक्रियित—activated
सक्रियता—activity
सजातीय—homologous
सजातीय श्रेणी—homologous series
समांग—homogenous
समायोजन—adjustment
समारंजन—distemper
समीकरण—equation
समुच्छिष्ट—tailings
समुद्र इंजिनियरी—marine engineering
समुद्री तार—cable
समूह—group, agglomeration
सरेस—glue
सर्जन—maintenance
सर्पिल—spiral
सर्वेक्षण—survey
सविराम—intermittent
सहाय—auxiliary
सांचा ढलाई—moulding
सांद्र—solid
सांद्रण—concentration
सांद्र मुद्रण—stereo printing
सांद्रित—concentrated, concentrate
साबुनीकरण—saponification
सामर्थ्य—strength
साम्यावस्था—equilibrium
सायाम—equi-axed
सारणी—table
सार्थक—significant
सिद्धान्त—theory, principle
सीमाकर—customs duty
सीमान्त—boundry
सीस—lead (**Pb**)
सुगंध—flavour
सुग्राही—sensitive
सुग्राहीकृत—sensitized
सुग्राह्यता—sensitivity
सुघटक—plasticizer
सुघट्य—plastic
सुघट्यता—plasticity
सुघट्यन—plasticizing
सुतथ्य—precise
सुतथ्यता—precision

सुरभि—aroma
सुरभिक—aromatic
सुवास—flavour
सुवाह्य—portable
सूक्ष्म—fine
सूक्ष्मदर्शिकी—microscopy
सूक्ष्मदर्शी—microscope
सूचक—signal
सूत्र—formula
सेकाई—baking
स्कंद—clot, coagulum
स्कंदक—coagulant
स्कंदन—clotting, coagulation
स्तर—layer, level
स्तरकाष्ठ—plywood
स्तार—sheet
स्थानान्तरण—transfer
स्थापक—mordant
स्थायित्व—stability
स्थायी—stable, permanent
स्थायीकरण—stabilization
स्थिरता—fastness, fixity
स्थिरीकरण—fixation
स्थूल—coarse
स्नायविक—nervous
स्नायु—nerve
स्नेहक तेल—lubricating oil
स्नेहन—lubrication, greasing
स्पन्दन—pulsation
स्फटिक—quartz
स्फीत—inflation
स्फुलिंग—spark
स्वच्छकर्ता—cleansing agent
स्वतःचालित—automatic
स्वाच्छिक—sanitary
स्वास्थ्याधिकारी—health officer

ह

हस्तवंशक—handrale
हाइड्रोजनन—hydrogenation
हीनता, हीनाहार—deficiency
हिमांक—freezing point
हिमीकरण—freezing
हिमीकृत— frozen
हिमीभवन—freezing
हृदय-शुक्ति—cockle

अनुक्रमणिका

ख

ग